卐 अर्हं 卐

श्री शंखेश्वरपार्श्वनाथाय नमः ।

१४४४ ग्रन्थप्रणेता–जैनशासनालंकार–तर्कसम्राट्

आचार्य श्री हरिभद्रसूरीश्वरजी विरचित

卐 शास्त्रवार्त्तासमुच्चय 卐

(स्याद्वादकल्पलताव्याख्याविभूषित)

स्तवक–७

[जैन-अनेकान्तवादवार्त्ता]

व्याख्याकारः —

न्यायाचार्य महोपाध्याय श्रीयशोविजयजी महाराज

卐

अभिवीक्षणकार :—

उग्र तपस्वी, न्यायदर्शनतत्त्वज्ञ परमपूज्य जैनाचार्य श्रीमद् विजय

भुवनभानुसूरीश्वरजी महाराज

卐

हिन्दी विवेचनकार :—

षड्दर्शनविशारद पंडितराज न्याय-वेदान्ताचार्य

प्रो० श्री बदरीनाथ शुक्ल

भूतपूर्व कुलपति

संपूर्णानन्द संस्कृत विश्व विद्यालय, बनारस (यु. पी.)

卐

मूल्य २५-०० रुपये

प्रकाशक :—

दिव्य दर्शन ट्रस्ट

६८, गुलालवाडी, बम्बई–४००००४

प्रकाशकीय

दर्शनशास्त्र के अभ्यासी जैन एवं जैनेतर विद्वानों के कर कमल में इस ग्रन्थरत्न का अर्पण करते हुए अवर्णनीय आनंद का अनुभव हो रहा है।

शास्त्रवार्त्ता समुच्चय के १ से ८ स्तबक पूर्व प्रकाशित हैं किन्तु उनमें सातवाँ स्तबक अवशिष्ट था वह आज प्रकाशन की क्षितिज पर उदय प्राप्त कर रहा है। उसके उज्ज्वल प्रकाश से सारा दार्शनिक जगत् आलोकित होगा इसमें कोई संदेह नहीं।

स्तबक ९-१०-और ११ तीन शेष रह जाते हैं उनको भी यथाशीघ्र प्रकाशित करने के लिये हम कटिबद्ध हैं, शासनदेव की कृपा से यह कार्य भी पूरा हो जायेगा। पूज्यपाद न्याय-विशारद आचार्यदेव श्रीमद् विजय भुवनभानुसूरीश्वरजी महाराज की महती कृपा हमारे प्रकाशन में सातत्य अनुवर्तमान है इसे हम हमारा परम सौभाग्य समझते हैं। पंडितराज श्री बदरीनाथजी शुक्ल महोदय भी हिन्दी विवेचन के कार्य को भली भांति निभा रहे हैं जो निःशंक अभिनन्दनार्ह है।

तदुपरांत छोटे-बड़े जैन संघों की ओर से ऐसे बड़े ग्रन्थराज के मुद्रण-प्रकाशन में जो आर्थिक सहयोग मिलता आया है उसको कैसे विसर जाय ?! प० पू० मुनिराज श्री हेमरत्नविजयजी महाराज की प्रेरणा से इस सातवें स्तबक के मुद्रण में, नागपुर (महाराष्ट्र) वास्तव्य श्वे० मू० जैन संघ के ज्ञाननिधि में से हमें जो विराट् सहायता प्राप्त हुयी है एतदर्थ हम उनके प्रति कृतज्ञता अभिव्यक्त करते हैं।

इस विभाग में जैन दर्शन के अनेकान्तवाद की सयुक्तिक प्रतिष्ठा की गयी है। उसके तलस्पर्शी अध्ययन से मुमुक्षु अभ्यासी वर्ग आत्मश्रेय में आगे बढ़े यही शुभेच्छा—

दिव्य दर्शन ट्रस्ट की ओर से—

कु० चि० शाह

卐 प्रास्ताविक 卐

दिव्यदर्शन ट्रस्ट की ओर से विशालकाय शास्त्रवार्त्ता-समुच्चय के सातवें स्तबक का प्रकाशन अभिनन्दन-पात्र है।

समग्र दार्शनिक सिद्धान्तों का मूल स्रोत है सर्वज्ञ भगवान तीर्थंकरों की पियूषवाणी। गणधर भगवंतों ने उसे सूत्रबद्धस्वरूप प्रदान किया, परम्परा के निःस्पृह पंच महाव्रती आचार्यादि भगवंतों ने उसकी निर्मलता को सुरक्षित रखते हुए प्रवाहित किया। इस श्रुतगंगा में दिन रात डूबे हुये पूज्यपाद आचार्य श्री हरिभद्रसूरिजी महाराज ने शास्त्रवार्त्ता-समुच्चय ग्रन्थराज का प्रणयन किया, उपाध्याय श्री यशोविजय महाराज ने उसके ऊपर विस्तृत व्याख्या की रचना करके जैनदर्शन के साहित्य में अपूर्व शोभावृद्धि की। हमारे लिए यह कोई कम आनंद की बात नहीं है। जैनेतर वादीवृन्द एकान्त दृष्टि का सहारा लेकर अपने अपने दर्शनों का महल खड़ा कर देते हैं। एकान्तदृष्टि से वस्तुतत्त्व का संपूर्ण दर्शन हो नहीं पाता, सिर्फ किसी एक ही पहलु को देखा जा सकता है। वस्तु के किसी एक ही पहलु को देख कर यदि उसके आकार-प्रकार का वर्णन किया जाय तो वह अनन्तकाल तक भी अधूरा ही रहेगा। वस्तु का पूर्ण वर्णन करने के लिये तो उसके संभवित सभी पहलुओं की ओर गंभीर दृष्टिपात करना होगा। वस्तु का संपूर्ण दर्शन दो प्रकार से हो सकता है (१) हम स्वयं सर्वज्ञ बन कर उसका अवलोकन करें, या (२) हमारी दृष्टि को अनेकान्त का दिव्य अञ्जन लगा दे। यानी किसी एक काल में भले ही वस्तु का कोई एक पहलु दृष्टिगोचर होता हो, फिर भी वस्तु के अन्य पहलुओं को भी अच्छी तरह जाँच लेने के बाद ही हम उसके लिये यथावसर कुछ कह सकने के लिये समर्थ हो सकते हैं। जब हम किसी औषध के गुण का वर्णन करेंगे उस वक्त उसके भारी दोषों को दृष्टि से ओझल कैसे रख सकेंगे? औषध का कोई गुण दिखाना हो तो यह आवश्यक हो जाता है कि उसके दोषों को भी साथ साथ ही बतलाया जाय, अन्यथा भारी अनर्थ की सम्भावना रहेगी। दृष्टि में अनेकान्त का अंजन लगाये बिना उद्धार हो नहीं है। इस लिये जैन दर्शन में किसी भी सिद्धान्त की स्वतंत्र प्रतिष्ठा नहीं की गयी किन्तु अनेकान्तवाद-अनेकान्तसिद्धान्त की ही प्रतिष्ठा की गयी है। प्रस्तुत स्तबक में भी उसी का विस्तृत निरूपण किया गया है। दार्शनिक जगत् में विशेषतः जिन तत्त्वों को एकान्तवाद के सहारे निक्षिप्त कर लिया गया है, वे तत्त्व अनेकान्तवाद के आश्रय से ही सुस्थापित किये जा सकते हैं अन्यथा नहीं-यही इस स्तबक का मूलध्वनि है।

इस बात को दृष्टि में रखकर यदि इस स्तबक के विषयों का अवलोकन किया जाय तो उससे निम्नलिखित तथ्यों के बारे में तत्त्वबोध प्राप्त होगा -

जीवाजीवात्मक जगत् अकल्पित उत्पाद व्यय और ध्रुवता से अभिव्याप्त है। उत्पाद के दो प्रकार है प्रायोगिक और वैस्रसिक। पुरुषव्यापारजन्य उत्पाद प्रायोगिक है और उसे समुदयवाद भी कह सकते हैं क्योंकि वह मूर्तद्रव्य के अवयवों से जन्य होता है। पुरुषव्यापार से अजन्य स्वाभाविक उत्पाद को ही वैस्रसिक कहा जाता है-उसके भी दो प्रकार है समुदयकृत और ऐकत्विक। गगन में बादल आदि की उत्पत्ति स्वाभाविक समुदय कृत होती है। धर्मास्तिकायादि तीन द्रव्यों की अन्य

पुद्गलद्रव्य के अवगाहनादि पर्याय प्रयुक्त जो उत्पत्ति होती है उसे ऐकत्विक उत्पाद कहा जाता है। यह कथंचित् अनैकत्विक भी है क्योंकि पुद्गलादि द्रव्य और धर्मास्तिकायादि द्रव्य के मिलने से यह उत्पाद होता है। इस प्रसंग में व्याख्या में आकाशादि द्रव्य में सावयवत्व की सिद्धि की गयी है।

उत्पाद की तरह नाश भी द्विविध है प्रायोगिक और स्वाभाविक। उसमें समुदयकृत दोनों प्रकार में शामिल है और वह समुदयविभागजन्य होता है जैसे पट के तन्तुओं का पृथक्करण। दूसरा अर्थान्तरगमन रूप विनाश है जैसे मृत्पिंड का घट में रूपान्तरगमन।

वस्तु का अपने स्वभाव से चलित न होना यह ध्रुवता है। प्रत्येक वस्तु उत्पाद-व्यय और ध्रुवता से अन्वित होती है। ये तीनों भी परस्पर में भिन्नाभिन्नरूप होते हैं। इस प्रकार एक ही वस्तु प्रत्येक क्षण में अनंत-अनंत पर्यायों से अनुविद्ध रहती है। वस्तु उत्पादादित्रयात्मक होती है इस तथ्य के उपपादन में ग्रन्थकार ने दूसरी कारिका में सुवर्ण के घट-मुकुट का मनोहारि दृष्टान्त दिखाया है। जब सुवर्ण के घट को तोड़ कर मुकुट बनाया जाता है उस वक्त घटार्थी को शोक, मुकुटार्थी को आनंद होता है जब कि सिर्फ सुवर्ण के ग्राहक को कुछ भी नहीं होता, वह तो मध्यस्थ रहता है। शोकादि कार्य से वस्तु में उत्पादादित्रयात्मकता सिद्ध होती है। इस प्रसंग में व्याख्याकार ने सम्मतिप्रकरण गाथा की साक्षि से अनेकान्त स्वयं भी अनेकान्तगर्भित होता है इस तथ्य का सयुक्तिक उपपादन किया है।

अन्य एक रीति से अनेकान्तवाद के समर्थन में तीसरी कारिका में दूध दही और गोरसत्याग के व्रत का दृष्टान्त दिया गया है। तात्पर्य यह है कि दूध और दही में एकान्त भेद नहीं है किन्तु गोरसात्मना कथंचित् अभेद भी है इसी लिये गोरस का त्यागी न दूध पीता है न दही खाता है। दूध रूप से गोरस का विनाश, दही रूप से उत्पाद और गोरसात्मना ध्रुवता–इस प्रकार उत्पादादित्रयात्मकता की उपपत्ति होती है। यहाँ व्याख्या में अतिरिक्त नित्य सामान्यवाद का विस्तार से निरसन किया गया है। (पृ० २९ से ५२) अन्त में वस्तु सामान्य-विशेषोभयात्मक है यह स्थापित किया गया है।

कारिका चार-पांच-छह में अनेकान्तवादविरोधीयों का पूर्वपक्ष दिखाते हुए कहा है कि एक ही स्थल में एक समय में उत्पादादि का योग विरुद्ध है। शोकादि की जो बात कही गयी वह तो केवल वासनामूलक है। कारिका ७ और ८ में भी दोष दिखाते हुए कहा है कि स्याद्वाद में, किसी वस्तु का पूरा निश्चय होना अशक्य है क्योंकि प्रमाण भी इस मत में अप्रमाण होगा। तथा संसारी असंसारी भी होगा और मुक्त अमुक्त भी होगा। इस पूर्वपक्ष के प्रतिकार में का० ९–१० और ११ में विरोधादि उक्त दोषों का कैसे परिहार होता है यह कहा गया है। द्रव्यास्तिक और पर्यायास्तिक एकान्त नयों के निराकरण से यहाँ अनेकान्त सिद्ध किया गया है। 'यदि प्रत्येक नय मिथ्या है तो नयसमुदाय कैसे सम्यक् होगा ?' इस शंका का व्याख्या में सुन्दर समाधान किया है (पृ० ५८)। तथा नय को प्रमाण माने या न माने इसका भी स्पष्ट उत्तर दिया है कि नयवाक्य में यद्यपि स्वप्रकारकबोधजनकत्व अथवा समारोपव्यवच्छेदकत्व या निर्धारकत्व किंवा इतरांशाऽप्रतिक्षेपित्व स्वरूप प्रामाण्य हो सकता है किन्तु अनेकान्तस्वरूपवस्तुग्राहकरूप प्रामाण्य एक एक नय में न होने से 'नयप्रमाण से अधिगम होता है' ऐसे तत्त्वार्थसूत्र के कथन में कोई दोष नहीं है (पृ० ६०)। तथा दुर्नय में मिथ्यात्व का भी सयुक्तिक उपपादन किया गया है (पृ० ६१) द्रव्यार्थिक–पर्यायार्थिक नय के स्वरूप की यहाँ सुन्दर मीमांसा उपलब्ध है।

का० १२-१३ में उत्पादादि तीन में कैसे अविरोध है—इसका उपपादन किया गया है। यहाँ व्याख्या में स्थूलाकार प्रतिभास से अवयवी का समर्थन करके बौद्धमत का निराकरण दिखाया है। तदुपरांत उत्पाद न मानने वाले सांख्य के सत्कार्यवाद की मीमांसा की गयी है। तदुपरांत कार्य-कारण के तथा अवयव-अवयवी के एकान्त भेद मानने वाले वैशेषिकों का निराकरण विशेषतः अवयवी के विषय में उद्योतकर और शंकरस्वामी के मत का विस्तार से निराकरण किया गया है (पृ० ७४ से ८४)।

अद्वैतवादी कार्यकारणभावशून्य अद्वैत तत्त्व को ही मानता है, सांख्यवादी सिर्फ प्रधानाद्वैत तत्त्व को मानता है उसका निरसन कर के व्याख्याकार ने शब्दाद्वैतवादी भर्तृहरि के मत का विस्तार से निरूपण और मीमांसा को (पृ० ८६ से ९६) प्रस्तुत किया है। इसमें जैनमतानुसार वैखरी आदि वाणी का स्वरूप (पृ० ९५) विशेषतः मननीय है।

का० १४ में निमित्त भेद से उत्पादादित्रय की उपपत्ति को दिखा कर ग्रन्थकार ने का० १५ में लोकानुभव से भी उत्पादित्रय का प्रदर्शन किया है। यहाँ व्याख्याकार ने प्रसंगतः (पृ० ९९ से ११३ में) जैनदर्शन के निःक्षेप तत्त्व की विस्तृत मीमांसा प्रस्तुत की है। यही निःक्षेपमीमांसा व्याख्याकार ने नयरहस्य में तथा जैनतर्कभाषा में भी शामिल की है।

पहले जो पूर्वपक्षी ने उत्पादादि के निमित्त होने वाले शोकादि को वासनामूलक कहा था, उसके प्रतिकार में (का० १८—१९) कहा है कि वासना भी निर्हेतुक नहीं हो सकती क्योंकि निर्हेतुक भाव या तो शाश्वत हो बैठेगा या सर्वथा न होगा, तथा एकस्वभाव वस्तु से विचित्र वासना की उत्पत्ति भी असंगत है। इस प्रसंग में व्याख्याकार ने अनेकान्तजयपताका ग्रन्थ की दो कारिका (पृ. ११४ में) उद्धृत करके ग्रन्थकारोक्ति का समर्थन किया है। पूर्वपक्षी ने जो कहा था कि अनेकान्तमत में प्रमाण भी अप्रमाण होने से किसी वस्तु का निश्चय दुःशक्य हो जायेगा—उसके प्रतिकार में का० २० में कहा है कि अनिश्चय का मूल एकान्त ही है और निश्चय की उपपत्ति अनेकान्त के अवलम्ब से ही की जा सकती है। जैनमत में मानत्व और अमानत्व में कथंचिद् अविरोध ही है। व्याख्याकार ने यहाँ संशय के विषय में हृदयंगम ऊहापोह किया है। उपरांत, विरोध तत्त्व की भी समीक्षा करके अनेकान्तमत में उसका परिहार दिखाया है (पृ० ११७ से १२३)। तथा स्याद्वाद में एवकार के प्रयोग की सार्थकता कैसे है और एकान्तवाद में उसकी कैसे अनुपपत्ति है इसके प्रतिपादन में का० २१ में कहा है कि प्रत्यक्षादि स्वमानत्व रूप से ही प्रमाण है किन्तु अनुमानप्रमाण-स्वरूप से प्रमाण नहीं है। यहाँ विशेषण-विशेष्य-क्रिया संगत तीन प्रकार के एवकार के अर्थ की सुंदर मीमांसा व्याख्या में प्रस्तुत है (पृ. १२४ से १३२)। तदनन्तर व्याख्याकार ने विस्तार से यह दिखाया है कि—'प्रत्यक्षं मानमेव' यहाँ प्रत्यक्ष में मानत्वायोग और मानभेद का सर्वथा व्यवच्छेद एकान्तवाद में शक्य ही नहीं है (पृ० १३२ से १४०)।

का० २२ में कहा गया है कि स्वसत्त्व और परासत्त्व ये दोनों भिन्ननिमित्तवाले होने से सर्वथा एक नहीं है। व्याख्याकार ने यहाँ आपेक्षिक अणु-महत् परिमाण का दृष्टान्त दिखाया है। इस विषय में मीमांसक और नैयायिकों के परिमाणवाद की विस्तृत समालोचना की गयी है [पृ० १४१ से १४७] का. २३ में, वस्तु में परासत्त्व कल्पित होने की शंका का निरसन किया गया है। व्याख्याकार ने यहाँ नैयायिक कल्पित सत्ता जाति का निराकरण करके उत्पादादित्रययोग को ही सत्स्वरूप में स्थापित किया है और उसमें परपक्षीयों की विप्रतिपत्तियों का भी निरसन कर दिया है।

स्व की अपेक्षा से सत्त्व और पर की अपेक्षा से असत्त्व दो भंग के प्रसंग से व्याख्याकार ने विस्तार से [पृ. १५२ से १७७] जैनदर्शनप्रसिद्ध सप्तभंगी का निरूपण किया है । इसमें मुख्यरूप से तृतीय अवक्तव्य भंग की उपपत्ति यह कह कर दिखायी है कि सत्त्व-असत्त्व दोनों के एक साथ प्रतिपादन के लिये न कोई स्वतन्त्र पद है और न कोई सामासिक पद है, अतः वस्तु अवक्तव्य कही जायेगी । तदुपरांत सोलह प्रकार से तृतीय भंग का उपपादन किया है । सप्तभंगी के दो प्रकार सकलादेश-विकलादेश का और उसके अंगभूत कालादि अष्टक का निरूपण मननीय है (पृ. १७३ से १७६)। यहाँ विशेष ज्ञातव्य के रूप में कहा गया है कि स्यात् पद के बिना सिर्फ एवकार के ही प्रयोगवाले भंग दुर्नय है, स्यात् पद सहित प्रयोग करने पर वह सुनय कहा जायेगा और 'स्यात्-एव' दोनों पदों के बिना ही प्रयोग करने पर वह सुनय तो हो सकता है किंतु उससे कोई व्यवहार सिद्ध नहीं हो सकता ।

२४ वीं कारिका में पूर्वोक्त चर्चा के फलितार्थरूप में यह कहा है कि प्रमाण की सम्यग् व्यवस्था अनेकान्तवाद में ही सुघटित होने से स्याद्वादी को ही वस्तु का यथार्थ निश्चय हो सकता है । व्याख्याकार ने यहाँ, एकान्त की सिद्धि न प्रत्यक्ष से की जा सकती है न अनुमान से-इस चर्चा के अन्तर्गत मण्डनमिश्रादि विद्वानों की मान्यता का प्रत्याख्यान कर दिखाया है ।

अनेकान्तमत में संसारी असंसारी भी होगा इत्यादि जो दोष प्रगट किये गये थे उनके प्रतिकार का कारिका २५ से प्रारम्भ किया गया है और यहाँ भी कैसे अनेकान्तमत की उपपत्ति होती है यह पुष्ट किया है । कारिका २८ से ३० तक बाल-युवान अवस्था के विषय में लोकानुभव के बल पर अनेकान्त का समर्थन किया गया है । इस प्रसंग में व्याख्या में नैयायिक की इस मान्यता का-शैशवादि अवस्था शरीर की ही होती है आत्मा की नहीं-तथा अवस्थाभेद होने पर भी शरीर एक ही होता है-इसका निरसन किया है (पृ.१९२-९९) । तदुपरांत 'जीवनिकाय पृथ्वी आदि छ ही है' इत्यादि मान्यता में सम्यक्त्व हो सकता है या नहीं, होगा तो द्रव्यसम्यक्त्व या भावसम्यक्त्व-इस की चर्चा मननीय है । तथा जीव-अजीव-नोजीव-नोअजीव पदों की अर्थमीमांसा के प्रारम्भ में यह विशेष स्पष्टता की गयी है कि जीव-अजीव-नोजीव तीन राशि को माननेवाले त्रैराशिक मत एकान्त का अवलम्बन किये जाने से ही पूर्वाचार्यों ने अन्य नय से उसका खण्डन किया है, वस्तुतः अनेकान्तमत में नयभेद से त्रैराशिक मत भी मान्य ही है ।

का० (३१ से ३६) में कहा है कि द्रव्य और पर्याय पद का वाच्यार्थ क्रमशः अन्वय और व्यतिरेक है, तथा भेदाभेद सम्बन्ध से वे दोनों अन्योन्यव्याप्त ही है । व्याख्याकार यहाँ कहते है कि वास्तव में गुण भी पर्यायान्तर्गत ही है, पर्याय से भिन्न कोई स्वतन्त्र वस्तु नहीं है । साक्षिरूप में यहाँ सम्मति प्रकरण की गाथाएँ उद्धृत की गयी है । व्याख्याकार ने विस्तार से भेदाभेद की अन्योन्य व्याप्ति कैसे है इसका अनेक शंकाओं का निराकरण करते हुए प्रतिपादन किया है [पृ. २०७ से २१६] ।

उक्त रीति से विस्तार से अनेकान्त की निर्बाध सिद्धि कर दिखाने के बाद पूर्वपक्षोक्त विरोधादि दोषों के निराकरण का और एकान्तवाद में ही विरोधादि दोषों का प्रवेश दिखाने के लिये का० ३४ से उपक्रम किया गया है । का० ३८ और उसकी व्याख्या में अनवस्थादि पाँच दोषों का निरसन किया है । का० ३९-४०-४१ में ग्रन्थकार कहते हैं कि भेदरहित अभेद और अभेदरहित भेद ही जब स्वतन्त्ररूप से नहीं है तब 'जिस आकार से भेद है उस आकार से केवल भेद ही है या भेदाभेद उभय है ?' इत्यादि विकल्प जाल निरवकाश है । प्रमाण से प्रत्येक वस्तु भेदाभेदात्मक ही सिद्ध

होती है तब अनेकान्तवाद में अनवस्थादि दोषों का आपादन निर्युक्तिक है। संशय, अप्रतिपत्ति, विषय-व्यवस्था हानि इत्यादि दूषण भी अनेकान्तवाद में नहीं हैं क्योंकि नय और प्रमाण से अन्योन्यव्याप्त भेदाभेद सुनिश्चित हो जाता है। मूलग्रन्थकार ने का० ४३ से ४६ तक स्याद्वादविरोधी देवबन्धु आदि के मत का उल्लेख कर के उनकी ओर से किये गये आक्षेपों का का० ४७ से निराकरण दिखाया है। का० ४८ की व्याख्या में गुड और सूंठ के मिश्रण के दृष्टान्त से स्याद्वाद का हृदयंगम समर्थन किया गया है। आगे चलकर ग्रन्थकार का कहना है कि 'तस्य किंचित्' इत्यादिस्थल में षष्ठी प्रयोग की अनुपपत्ति से ही केवल भेद पक्ष बाधित हो जाता है (का० ५०)। इस तरह ग्रन्थकार ने स्तबक की पूर्णाहुति तक स्याद्वाद का अनेक दृष्टान्त और अनेक अकाट्य युक्तियों से सुंदर समर्थन कर दिखाया है जो ग्रन्थकार की उच्च एवं निर्मल प्रतिभा का प्रतीक है। स्याद्वादनिरूपण के उपसंहार में व्याख्याकार ने अन्त में सुंदर उपसंहार प्रस्तुत किया है जो अत्यंत मननीय है।

सम्पूर्ण सातवें स्तबक के निरूपण को पढ कर किसी भी तटस्थदृष्टि मुमुक्षु अध्येता को यह महसूस होगा कि स्याद्वाद के अध्ययन बिना, उसे अच्छी तरह समझे बिना तथा जीवन के अनेक क्षेत्रों में स्याद्वाददृष्टि को अपनाये बिना विश्व की समस्याओं का अन्त आना कठिन है। ग्रन्थकार ने भी अन्त में दिखाया है कि अन्योन्य समभाव की अनुभूति स्याद्वाद के सहारे ही हो सकती है, अन्यथा परवादीयों में तत्त्वचर्चा के बहाने झगडों का कभी अन्त आने वाला नहीं है।

सचमुच, स्याद्वाद यह एक महान् वाद है, दिव्य औषधि है, नयी रोशनी है, मानवजीवन का महंगा आभूषण है। जिन गुरुदेवों की करुणा से ऐसे महान् स्याद्वाद तत्त्व का कुछ सहोध मिला उन को कैसे भूल सकूंगा। न्यायविशारद पूज्यपाद आचार्य भगवंत श्रीमद् विजय भुवनभानुसूरीश्वरजी महाराज का, तथा उनके शिष्यरत्न समाधिसाधक स्व० प० पू० मुनिराज श्री धर्मघोषविजयजी महाराज के शिष्यालंकार गीतार्थरत्न सिद्धान्तदिवाकर आचार्यदेवश्री विजय जयघोषसूरिजी महाराज का करुणाभंडार यदि मेरे लिये बंद होता तो स्याद्वाद जैसे महान् तत्त्व से मैं तो सर्वथा अबूझ ही रह जाता। शास्त्रवार्त्ता का सुवाच्य सम्पादन भी उन्हीं पूज्य गुरुदेवों की कृपादृष्टि का एक कटाक्ष है।

आशा है कि ऐसे महान् स्याद्वाद तत्त्व का अमृतपान कर मुमुक्षु अध्येतावर्ग एकान्तवाद के विष का वमन कर देंगे और मुक्तिमार्ग में कदम बढाते रहेंगे।

लि० —
मुनि जयसुन्दरविजय

फाल्गुन शुक्ल १
वि० सं० २०४०
पाचोरा (खानदेश)

विषयानुक्रमः

पृष्ठांक	विषय
१	व्याख्याकारमंगलाचरण
१	शान्ति-पार्श्व-वीरजिनस्तवना मंगल
२	सज्जनों को निमन्त्रण
३	जैन मनीषियों का मत-उत्पादादित्रययुक्त जगत्
४	जैन मत से उत्पाद का स्वरूप
४	उत्पाद प्रयत्नजन्य न होने की शंका का निरसन
४	उत्पाद-नाश दोनों में प्रयत्नजन्यता समान
५	नाश और उत्पाद में वैषम्य शंका का निरसन
,,	घटोत्पाद भी आकाशसम्बन्ध से अतिरिक्त है
६	प्रयोगजन्यत्व को विभाजक उपाधि मानने में शंका
,,	प्रयत्नजन्यत्व के दर्शन-अदर्शन से विभाजन की उपपत्ति
७	यत्नजन्यत्व का दर्शन-अदर्शन विभागबीज है
८	विस्रसाजन्य उत्पाद का स्वरूप विवेचन
,,	स्वाभाविक उत्पादकल्पना में गौरव की व्यावृत्ति
९	स्वाभाविकोत्पाद की द्विविधता
,,	ऐकत्विक स्वाभाविक उत्पाद का स्वरूप
१०	आकाशादि द्रव्य में सावयवत्व सिद्धि
११	'इह पक्षी' इस बुद्धि की सावयवत्व पक्ष में ही उपपत्ति
,,	आलोकसामान्य की पक्षी-आधारतया प्रतीति असंभव
१२	मूर्तद्रव्याभाव में पक्षी आधारता की प्रतीति अयुक्त
१२	इन्द्रियजन्य बुद्धि में क्षयोपशम के प्रभाव से आकाश का भान

पृष्ठांक	विषय
१३	ऊर्ध्वता भेद से भिन्नाधार प्रतीति का उपपादन-पूर्वपक्ष
१३	भिन्न भिन्न स्थान से प्रत्यभिज्ञा की अनुपपत्ति की शंका
१३	भिन्न भिन्न स्थान से प्रत्यभिज्ञा की उपपत्ति
१३	निरवच्छिन्न भाग की आधारता प्रतीति पूर्वपक्ष में अनुपपन्न-उत्तरपक्ष
१४	आकाश निरंश मानने पर ऊर्ध्वतादिभेद की अनुपपत्ति
१४	पूर्व-पश्चिम आदि भेदव्यवहार से आकाशभेद
१४	'प्रयाग से काशी पूर्व में है' इस प्रयोग का दिग्द्रव्यवादीकृत अर्थ
१५	दिग्द्रव्यवादीकृत अर्थ अनुभवविरुद्ध
१५	नाश के दो प्रकार—स्वाभाविक, प्रायोगिक
१६	घटविनाश होने पर मृत्पिण्ड के उन्मज्जन का भय नहीं
१७	सारे जगत् के त्रैरूप्य की उपपत्ति
१७	उत्पादादि की परस्पर में भिन्नाभिन्नरूपता
१८	उत्पादादि त्रय के अनेक भंगों का निरूपण
१९	एकलक्षण में अनंत पर्याय कैसे ?
२०	अनंत द्रव्यसम्बन्ध का भान क्यों नहीं होता ?
२१	वस्तु को अन्य पदार्थों के धर्मों से सम्बद्ध मानने पर शंका-समाधान
२१	स्व-पर पर्यायों से वस्तु का अस्तित्व-नास्तित्व
२२	घट-मुकुट-सुवर्ण के दृष्टान्त से त्रैरूप्य की उपपत्ति

पृष्ठांक विषय

२४ सुवर्ण को घटादिविवर्त्तों से अतिरिक्त क्यों माना जाय ?
२४ सुवर्णत्वसामान्यानुभव से शोकाभाव की अनुपपत्ति
२५ घट-मुकुट दोनों के ग्राहक को शोक-हर्षयुगल की आपत्ति अशक्य
२६ रूपभेद से प्रवृत्ति होने पर भी शोक-हर्ष की अनापत्ति
२६ अनेकान्त भी अनेकान्त से उपश्लिष्ट है
२६ एक साथ एक मनुष्य को शोकादि आपत्ति का निवारण
२८ दही-दुग्ध और गोरस के दृष्टान्त से अनेकान्तसिद्धि
२८ प्रत्यभिज्ञा से गोरस ऐक्य की सिद्धि
२९ अतिरिक्त नित्य सामान्यवाद की परीक्षा का प्रारम्भ
३० नित्यत्वघटित लक्षण में अव्याप्ति
" ध्वंसादि को सत्त्वानुभव प्राप्त होने की शंका
३० खंडघटवत् ध्वंसादिघट का सत्त्व प्रामाणिक
३१ सामान्य को अनित्य मानने में स्वरूपहानि की आपत्ति का प्रतिकार
३१ उपाधिअन्तर्गत जाति से अनुगत व्यवहार का समर्थन अशक्य
३२ जाति में एकत्व की संख्याविकल्प में अनुपपत्ति
३३ एकदेश या पूर्णरूप से आश्रय में वृत्तिता का असम्भव
३३ सामान्य में कृत्स्न-एकदेश विकल्पों का असंभव नहीं है
३४ प्रसंग या स्वतन्त्रसाधन के विकल्पद्वय का निराकरण
३५ प्रत्येक घट में घटत्व की पर्याप्ति के बल से भेदापत्ति
३५ जाति का व्यक्ति के साथ सम्बन्ध दुर्घट
३७ उत्पत्ति के पूर्व द्रव्यात्मना घटसत्ता स्वीकार का प्रसंग
३७ दो पिण्ड के मध्य सामान्य के उपलम्भ की आपत्ति
३९ भिन्न पिंडों में एक-अनेक स्वभाव जाति की वृत्ति असम्भव
४० कुमारीलभट्टकृत सामान्यनिरूपण का निरसन
४२ कार्यतादि के अवच्छेदकतया जाति सिद्धि अशक्य
४३ सांकर्य जाति में बाधक नहीं हो सकता
४४ घटत्व जातिस्वरूप कैसे होगा ?
४४ पृथ्वीत्व को विभिन्न मानने में कोई आपत्ति नहीं है
४५ घटत्व को विभिन्न मानने में बाधक
४५ संयोग और अन्यद्रव्य के सामान्य कार्यकारणभाव की शंका और उत्तर
४६ अवयव पृथक् होने पर घटोत्पत्ति शक्य न होने की शंका और उत्तर
४६ खंड कपाल में कपालत्व मानना आवश्यक
४७ घटत्व विभिन्न होने का नैयायिक कृत समर्थन
४७ पृथ्वीत्वादि से संकीर्ण घटत्व जाति की सिद्धि
४८ शक्तिविशेष, स्वभावविशेष या घटकुर्वद्रूपत्व आदि का आपादन
४८ अनुभव के बल से कार्यकारणभाव की उपपत्ति में व्याघात
४९ घटत्व-कपालत्व अथवा पृथ्वीत्व एकत्वगत जाति है पूर्वपक्ष
४९ पृथ्वीत्व को एकत्वगत मानने में अधिक गुण
४९ एकत्ववृत्ति माने या रूपवृत्ति माने इस में विनिगमक
५० एकत्वज्ञानाभावदशा में भी घटत्व का भान सम्भव उत्तरपक्ष
५० वैशिष्ट्यात्मक सम्बन्ध से जातिमान् अभाव की सिद्धि

पृष्ठांक विषय

५१ ध्वंसत्व को जातिरूप न मानने पर बाधक
५१ घटत्व अखंडोपाधिरूप न मानने वाले पक्ष-लाभमत का निरसन
५१ अखंडोपाधित्व को असमवेतत्व माने तो भी क्या ?
५२ सम्बन्धांश में वैलक्षण्य का अनुभव मिथ्या है
५३ सामान्यविशेषोभयात्मक वस्तुस्वरूप की प्रतीति
५३ प्रथम दर्शन में ही व्यापकरूप से व्याप्ति लाभ का संभव
५४ एककाल में उत्पादादि परस्परविरुद्ध होने की शंका
५५ लोकादि का निमित्त है वासना
५६ स्याद्वादी को प्रमाण भी अप्रमाण होने से अनिश्चय दशा
५७ स्याद्वाद में आपादित दूषणों का निवारण
५८ एकान्त द्रव्यास्तिक मत का निराकरण
५८ एकान्त पर्यायास्तिक मत का निराकरण
६० रत्नावली दृष्टान्त की अनुपपत्ति शंका का परिहार
६० प्रमाण और नय में लाक्षणिक भेद
६१ 'स्याद् घटोऽस्ति' इस वाक्य में प्रामाण्य कल्पना अनुचित नहीं है
६१ दुर्नय में आंशिक नयत्व की आपत्ति
६२ दुर्नय में नयत्वापत्ति निराकरण
६३ नय के सापेक्षिक प्रामाण्य का मूलाधार
६४ द्रव्यार्थिक-पर्यायार्थिक नयों में भजनामूलक भेद है
६४ द्रव्यार्थिक पर्यायार्थिक नय का स्वतन्त्र विषय नहीं है
६५ अन्यमत के विषय में असत्यपन का अवधारण अयुक्त है
६६ अननुभूतरूप का आविर्भाव यही उत्पाद है
६६ अन्यरूप में परिवर्तित हो जाना यही विनाश है

पृष्ठांक विषय

६७ स्थायिता उत्पाद-विनाश की अविनाभावि है
६८ उत्पादादि के स्थैर्य-अविनाभाव का समर्थन
६८ वस्तुस्थूलाकार का अवभास मिथ्या नहीं है
६८ एकत्वाध्यवसायमूलक संशयोत्पत्ति का कथन अनुचित
६९ स्थूलाकार प्रतिभास का अपलाप अशक्य
६९ अवयवी का प्रतिभास मिथ्या नहीं है
६९ परमाणुओं के संचय का ही अपरनाम अवयवी
७० कारण कार्य के प्रत्यक्षसिद्ध भेदाभेद निषेध अनुचित
७१ एक ही वस्तु अंशभेद से प्रत्यक्ष-परोक्ष हो सकती है
७१ निरन्वय संततिविच्छेद असंभव है
७२ उत्पाद-व्यय के बिना स्थिरता का संभव नहीं
७३ सांख्य के सत्कार्यवाद की समालोचना
७३ सत्कार्य पक्ष में आवरण की अनुपपत्ति
७४ अभेदपक्ष में परिणाम-परिणामिभाव की अनुपपत्ति
७४ कार्य-कारणभेदवादी वैशेषिकमत की समालोचना
७५ उद्योतकर के मत का निराकरण
७५ अवयवी के विषय में शंकरस्वामी मत की समालोचना
७६ संयोगस्वरूप रंग में अव्याप्यवृत्तित्व की शंका का निवारण
७६ प्रतिबन्धकतारूप अभिसम्बन्धकता अवयवाव-च्छिन्न नहीं होती
७७ प्रतिबध्यतावच्छेदक कोटि में एकावयव-विषयकत्व के निवेश में दोष
७७ 'मूले वृक्षः कपिसंयोगी' इस प्रतीति का स्वाभाविक अर्थ
७९ एकात्मकत्व की अन्यथा उपपत्ति दोषग्रस्त
७९ घट में अपृथुत्व-पृथुत्वादि की प्रतीति भेद-पक्ष में दुर्घट

पृष्ठांक — विषय

८० परिमाणग्रह के संबंध में न्यायलीलावतीकार के अभिप्राय का निरसन
८० अन्य द्रव्य के दर्शन से भेदसिद्धि दूर है
८१ प्रासादादि में एकत्वप्रतीति की अनुपपत्ति
८१ अवयवी का आंशिक दर्शन अनुपपन्न
८२ अवयवी का पूर्णतया दर्शन अनुपपन्न
८२ संयुक्त अवयवसमूह ही अवयवी है
८३ अवयवभिन्न अवयवी में परोक्षता की आपत्ति का निराकरण
८३ अवयवभिन्न अवयवी में परोक्षता की आपत्ति निरवकाश
८४ अवयव-अवयवी भेदपक्ष में दूषणमाला
८४ पृथक् उत्पाद-विनाश प्रतीति से भेद शंका का निवारण
८५ शब्दतत्त्व पारमार्थिक होने का मत मिथ्या
८६ शब्दतत्त्व से भिन्न होगा या अभिन्न
८६ सांख्य का प्रधानाद्वैतवाद असंगत
८७ शब्दाद्वैतवादी भर्तृहरि का मत निरूपण
८८ त्रिविध वाणी में वैखरी वाणी का स्वरूप
८८ मध्यमा वाणी का स्वरूप
८९ पश्यन्ती वाणी का स्वरूप
९० शब्द और अर्थ में तादात्म्यसंबन्ध का समर्थन
९० शब्दमात्र से प्रपंचभेद की उपपत्ति
९० शब्दाद्वैतमात्मवादनिराकरणम्
९१ शब्दाद्वैतवाद का विस्तार से निराकरण
९१ विवक्षा के अभाव से तथा प्रयोगाभाव की आशंका का निवारण
९१ श्रवणाभाव अथवा सर्वश्रवणता की आपत्ति
९२ शब्द के नीलादि परिणाम के ऊपर विकल्पयुग
९३ शब्दगतविशदत्व से मुख्यत्वापत्ति
९३ प्रपञ्च की अविद्यामूलकता का खण्डन
९४ प्रपंच शब्दब्रह्म की अवस्था विशेषरूप नहीं है
९४ प्रपंच के मूल अविद्या का ब्रह्म से भेदपक्ष में विकल्प
९५ जैनमत में वैखरी-मध्यमा-पश्यन्ती वाक् का तात्त्विक स्वरूप
९५ उत्पादादित्रैरूप्य समर्थन का उपसंहार
९६ निमित्तभेद से उत्पादादित्रय का एकत्र अवस्थान
९७ बौद्धमत में भी त्रैरूप्य का स्वीकार
९८ उत्पादव्यय के बिना क्षणिकता दुर्घट
९८ वस्तु की क्षणिकता निरपेक्ष नहीं होती
९९ 'ये यद्भाव०' इत्यादि नियम से त्रैरूप्य की उपपत्ति
१०० उत्पत्तिकाल में 'नष्टः' प्रयोगापत्ति अज्ञान-मूलक
१०० नामादिनिक्षेपचतुष्टय से सुव्यवस्था
१०१ नामादिनिक्षेप की सर्ववस्तुव्यापकता के ऊपर आक्षेप-समाधान
१०२ केवलिप्रज्ञारूप नामनिक्षेपवाला मत अरमणीय
१०२ शुद्ध जीवद्रव्य द्रव्यजीव-यह स्थूल मत है
१०३ द्रव्यजीव की कल्पना अयुक्त
१०३ द्रव्यार्थिक-पर्यायार्थिक के अभिमत निक्षेप
१०४ संग्रहनय में, नामनिक्षेप में स्थापना का अन्तर्भाव-पूर्वपक्ष
१०४ नामनिक्षेप की व्याख्या में स्थापना का किसी तरह अन्तर्भाव नहीं है
१०५ नाम का स्थापना में अन्तर्भाव अनुचित-उत्तरपक्ष
१०५ पिता आदि का दिया हुआ नाम ही नाम-निःक्षेप है
१०६ भाव के साथ नाम और स्थापना का संबंध भिन्न भिन्न है
१०६ प्रदेशपंचकवत् निक्षेपत्रय के स्वीकार से संग्रह की विशालता अयुक्त
१०७ ऋजुसूत्रनय में द्रव्य का अस्वीकार-सिद्धसेनसूरिमत
१०८ सिद्धसेनसूरिमत अरमणीय अनाश्रमणमता-नुयायि वर्ग
१०८ भावनिक्षेप के स्वीकार में द्रव्यार्थिकत्व के के भंग का आक्षेप

पृष्ठांक विषय

११० द्रव्यार्थिकभंग के सापेक्ष का प्रतिकार
१११ भाष्यकार के द्विविध कथन का अभिप्राय
११२ भाष्यकार के द्विविध कथन का अन्य अभिप्राय
११३ शोकादि, वासनामूलक होने का कथन
११५ वासना अहेतुक होने पर बोधपरम्परा अयुक्त
११६ अनेकान्तवाद में सर्वत्र संशयापत्ति का उद्धार
११८ विरोधावधारण के तीन प्रकार
११९ नैयायिक के संशय के लक्षण की परीक्षा
१२० संशयलक्षणान्तर्गत विरोध का स्वरूप क्या है ?
१२१ दूसरे प्रकार के विरोध की समीक्षा
१२१ संशय में प्रकारविधया विरोधभान में दोष का उद्धार
१२२ 'इत्थं च'....ग्रन्थसंदर्भ का अन्य रीति से व्याख्यान
१२३ एवकारप्रयोग की अनुपपत्ति के दोष से निस्तार
१२४ न्यायमत से 'प्रत्यक्षं मानमेव' प्रयोग के उपपादन की आशंका
१२५ विशेष्यसंगत एवकार का अर्थ
१२५ विशेषणसंगत एवकार का अर्थ
१२५ क्रियासंगत एवकार का अर्थ
१२७ नव्यमत--अत्यन्तायोगव्यवच्छेद एवकार अर्थ नहीं
१२७ नव्यमत में क्रियासंगत एवकार का अर्थ
१२८ एवकार का एकमात्र अन्योन्यव्यवच्छेद ही अर्थ
१२८ अन्य योग का प्रतिभास भिन्न भिन्न रूप से
१२९ सर्वत्र अन्यसंबद्धता ही एवकार से व्यवच्छेद्य
१२९ व्यवच्छेदमात्र में शक्ति मानने में लाघव
१३० विविध प्रयोगों में एवकार के व्यवच्छेद्य का निर्देश
१३१ एवकार का अर्थ अत्यन्ताभाव अन्योन्याभाव-अन्यमत
१३२ एवकार का अर्थ अन्य और व्यवच्छेद-मतान्तर
१३३ प्रत्यक्ष में मानत्वायोग और मानभेद का सर्वथा व्यवच्छेद अशक्य-उत्तरपक्ष
१३३ विशिष्ट-शुद्ध के अभेद व्यवच्छेद की अश-क्यता-उत्तरपक्ष
१३४ अतिरिक्तपर्याप्ति मानने में अनवस्था
१३४ विशेषरूप से सामान्याभाव का प्रतिक्षेप पूर्वपक्ष
१३४ अनुमान में अनुमानत्वरूपेण मानत्वं इस प्रयोग की आपत्ति-उत्तरपक्ष
१३५ मानत्वपर्याप्त्यवच्छेदकतावच्छेदक
१३६ मानसामान्यभेद में तदन्यत्व के निवेश का प्रतिक्षेप
१३८ स्यात् पदघटित वाक्य प्रयोग का औचित्य
१३८ 'स्यात् प्रत्यक्षं मानमेव' इसी प्रयोग का औचित्य
१३९ श्यामान्यरूपवान् को व्यवच्छेद्य मानने में आपत्ति
१४० चित्रघट में 'अयं नील एव' यह प्रयोग क्यों नहीं होता ?
१४१ 'स्व का सत्त्व और पराऽसत्त्व दोनों एक नहीं है
१४२ अणु और महत् स्वतंत्र परिमाण होने की आशंका
१४२ सूक्ष्म अनेकाव्यसंसृष्ट द्रव्य के अणुकार में प्रत्यक्ष का प्रतिक्षेप
१४३ अणु महत् स्वतंत्रपरिमाणवादी को अनुभव बाध
१४४ अणुपरिमाण का अपलाप भी अशक्य
१४४ नैयायिक की ओर से परिमाणसाधक अनुमान
१४५ नैयायिक के अनुमान में हेतु में स्वरूपासिद्धि दोष
१४७ अणुद्रव्य को न मानने वाले मीमांसक का प्रतिक्षेप
१४८ सत्त्व और असत्त्व में स्व-परापेक्षत्व काल्पनिक है-नैयायिक
१४९ सत्त्वाऽसत्त्व में स्व-परापेक्षत्व की पारमार्थिकता-जैन

पृष्ठांक — विषय

१४९ अतिरिक्त सत्ता का स्वीकार तर्क से बाधित
१५० द्रव्य और जाति में सत्प्रतीति समानाकार ही है
१५० 'सत्' पद संकेतविषयतावच्छेदकरूप से सत्ता की सिद्धि दुष्कर
१५१ उत्पादादि के योग से सत्ता मानने में प्रश्न-परम्परा
१५१ अनेकान्तपक्ष में उक्त प्रश्नों को अवकाश नहीं
१५२ सापेक्षसत्त्वासत्त्व का सूचक सप्तभंगीनय
१५३ सप्तभंगी में एवकार और स्यात् पद की सार्थकता
१५४ 'स्यात् अस्ति' प्रथमभंग का अभिप्राय
१५४ 'स्यात् नास्ति' द्वितीयभंग का तात्पर्यविवरण
१५५ (१) 'स्यात् अवक्तव्य' तृतीयभंग का गर्भितार्थ
१५५ अव्ययीभावसमास की युगपत्प्रतिपादन में अशक्ति
१५५ द्वन्द्वादि समास की युगपत्प्रतिपादन में अशक्ति
१५६ 'पुष्पदन्त' शब्द से एकसाथ सूर्य-चन्द्र के बोध की आशंका का समाधान
१५७ उक्तसूत्रमत अवाच्यताबाधक नहीं है
१५७ एकान्त शक्यार्थ-लक्ष्यार्थ का युगपत् शाब्दबोध अशक्य
१५८ घटादि अर्थ का प्रतिषेध असंगत नहीं है
१५८ सांख्यमत के निषेधार्थ घटादिरूप से असत्त्व का निरूपण
१५९ (२) निक्षेपापेक्षा सप्तभंगीगत भंगत्रय का उपपादन
१६० (३) संस्थानादि से भंगत्रयापेक्षाभेदनिरूपण
१६० (४) घटाधारभेद से भंगत्रय का उपपादन
१६१ (५) वर्णभेद से भंगत्रय का उपपादन
१६१ भिन्न भिन्न इन्द्रिय की अपेक्षा से भंगत्रय-निरूपण
१६२ (७) घटादिशब्दवाच्यता रूप से भंगत्रय
१६२ (८) उपादेयादिरूप से भंगत्रय का प्रतिपादन
१६३ (९) अभिमतार्थबोधकत्वादिरूप से भंगत्रय का प्रतिपादन
१६४ (१०) घटत्वादिरूप से भंगत्रय का प्रतिपादन
१६५ (११) मध्यपर्यायादिरूप से भंगत्रय का प्रतिपादन
१६६ (१२) सत्त्वादिरूप से भंगत्रय का प्रतिपादन
१६७ (१३) संयुक्तरूपादि से भंगत्रय का प्रतिपादन
१६८ (१४) रूपादि से भंगत्रय का प्रतिपादन
१६९ (१५) मनुष्यादिरूप से भंगत्रय का प्रतिपादन
१६९ (१६) वाच्यत्वादिरूप से भंगत्रय का प्रतिपादन
१७० स्यादस्ति-अवक्तव्य-पंचमभंग
१७१ 'स्यान्नास्ति अवक्तव्य' छठा भंग
१७१ स्यादस्ति नास्ति-अवक्तव्य-सप्तमभंग
१७२ आठवें विकल्प की आशंका का निरसन
१७२ भंगविभाजक उपाधि सात से अधिक नहीं
१७४ सप्तभंगी में सकलादेश-विकलादेश
१७५ कालादि आठ का परिचय
१७६ सकलादेश के विषय में अन्य मत
१७८ सप्तभंगी प्रमाण से अनेकान्तगर्भित निश्चय
१७९ पितृत्वादि धर्म केवल आलौकिक मण्डनमिश्र
१७९ मण्डनमिश्र के कथन का निराकरण
१८० केवल धर्मभेद मानने पर पिता-पुत्रादि प्रतीतियों की अनुपपत्ति
१८० चित्राकार ज्ञानवाद में चित्राकार अर्थ की आपत्ति
१८० अनुमानादि से भी एकान्तसिद्धि अशक्य
१८१ अनेकान्तवादपक्ष की अनुमापकता का समानरूप से अभाव नहीं है
१८२ त्रिरूपवत्ता एकान्तवाद में मानने पर भी अनिस्तार
१८२ व्याप्तिनिष्ठकार्य-कारणभाव से अनुमिति-स्वनियामक शून्यता
१८३ एकान्तवादी की मान्यता से अनेकान्त का समर्थन
१८४ एकान्तवाद में साध्यस्वरूप का निर्वचन अशक्य

पृष्ठांक	विषय
१८४	अनुगतरूपता की शंका का निराकरण
१८५	अनेकान्तवाद में साध्यसिद्धि निर्दोष
१८६	एकान्तवादी द्वारा उद्भावित सभी दोषों का निराकरण
१८६	संसारी और असंसारी में अनेकान्त की उपपत्ति
१८७	दो रूपों के समावेश में विरोध की शंका
१८७	सर्वसम्मतव्यवहार के बल से शंका का निरसन
१८७	मुक्त दशा में असंसारी का व्यवहार गौण नहीं है
१८८	संसारी धर्मों का ही मुक्तधर्मों में परावर्तन
१८९	शुद्ध धर्मों के भी कथंचिद् भेद की उपपत्ति
१८९	मुक्तिकाल में भी संसारी के अभेद का उपपादन
१९१	लोकानुभव से कथंचिद् भेदाभेद का उपपादन
१९१	बाल और युवान में भी एकान्तभेद नहीं
१९२	बाल और युवान अवस्था में एकान्त अभेद भी नहीं
१९३	बाल्यादि अवस्था शरीर की नहीं, आत्मा की है
१९३	चार्वाकवाद की आपत्ति का निवारण
१९३	बाल्यादि अभेद की प्रत्यभिज्ञा सजातीयाभेदग्राहक होने की शंका का उत्तर
१९५	'युवा न बालः' प्रतीति में भेद के बदले वैधर्म्य के भान की शंका
१९५	केवल वैधर्म्य का भान मानने पर आपत्ति-उत्तर
१९६	भावसम्यक्त्व और द्रव्यसम्यक्त्व का विभाग
१९७	सम्यग्दर्शनमूलक निर्जरा के अभाव की शंका का उत्तर
१९७	गीतार्थ के ज्ञान से अगीतार्थ को मुक्तिलाभ-कैसे ?
१९८	गति स्थिति-ग्रहण-पतन-जीव-अजीवादि में अनेकान्तदृष्टि
१९९	शरीर को जीव मान लेने की आपत्ति का निवारण
२००	नैयायिक मत की नोजीव की मान्यता के निवारण का आशय
२००	जीवादिविषय में सात नय की मान्यता
२०१	घट के एक देश में अघटत्वापत्ति शंका का निवारण
२०२	क्षीर नीर के अभेद की आपत्ति का प्रत्युत्तर
२०३	द्रव्य-गुण पर्याय के विभाग की समीक्षा
२०४	सम्मतिप्रकरण में पर्याय भिन्न गुण का निरसन
२०५	भेदाभेद के बिना अन्योन्यव्याप्ति का असंभव
२०६	अन्योन्य और व्याप्ति का अर्थ
२०७	भेदाभेद के बिना अन्योन्यव्याप्तिसम्भावना का निरसन
२०८	पृथक्त्व से अतिरिक्त भेद असिद्ध है
२०८	अपृथक्त्व ही प्रत्यभिज्ञानादिनियामक तादात्म्य है
२०९	एक वस्तु में भेद-अभेद के विरोध का निरसन
२१०	भेदाभेद के बिना प्रमेय-अभिधेय का तादात्म्य दुर्घट
२१०	भिन्न भिन्न संसर्ग की कल्पना अयुक्त
२१२	समानविभक्तिवाले पदों के प्रयोग से भेदाभेद की सिद्धि
२१२	साध्य-अप्रसिद्धि दोष का निवारण
२१३	उभयरूप से साध्य करने पर कोई दोष नहीं
२१३	अर्थान्तर की आपत्ति का निवारण
२१३	व्यतिरेकव्याप्ति में व्याप्याऽप्रसिद्धि दोष का निवारण
२१३	द्रव्य पर्यायात्मना भेदाभेद का उपपादन
२१४	द्वन्द्वसमास में भेदभान के निरसन का प्रयास
२१४	द्वन्द्वसमास में भेद का भान न मानने में आपत्ति
२१५	विलक्षणधीविषय भेदसाध्य न होने की शंका का निरसन
२१५	एकान्तवादी के 'रूप-रसवान् घटः' इस प्रयोग की आपत्ति

पृष्ठांक विषय

२१६ द्वन्द्वसमास पदार्थभेदनियत मानना होगा
२१७ पूर्वपक्षोक्कल्पित द्वन्द्वनियामक में दोषोद्भावन
२१७ द्रव्यपर्याय में वास्तवभेद न होने की शंका का निवारण
२१८ भेदाभेद में विरोध उठाना जड़ता का प्रदर्शन
२१८ एकान्तभेद और अभेद में विरोध संगत
२१९ द्रव्य और उसके धर्म एक दूसरे को छोड़कर नहीं होते
२१९ परस्परनिरपेक्ष द्रव्य और धर्म असिद्ध
२२० भेद-अभेद के सामानाधिकरण्य में विरोध का अभाव
२२० भेदाभेद में सहानवस्थान का नियम असिद्ध
२२१ रूप-रसवत् भेदाभेद में भी अनवच्छिन्नत्व
२२१ रूप और गन्ध का अवच्छेदक स्वभावभेद
२२२ अनवस्थादि पाँच दोष का आपादान
२२३ अनेकान्तवाद में अनवस्थादि दोष का निराकरण
२२३ केवल भेद में शक्तिग्रह का असम्भव
२२४ एकान्तवादीकृत विकल्पों में अर्थशून्यता
२२४ एकान्तवादी के विकल्प युक्तिशून्य
२२५ संशय और अप्रतिपत्ति दोषयुगल का प्रतिकार
२२६ नय और प्रमाण से संशयादि का निरसन
२२६ वेदबन्धुआदि के मत का पूर्वपक्ष
२२८ वेदबन्धुमत का प्रतिक्षेप
२२८ भेदाभेदपक्ष में वैजात्य का निदर्शन
२२९ विजातीयवस्तु में प्रत्येक दोष का निरसन
२२९ दोष के उत्कर्ष की हानि की बात अयुक्त
२३० अनेकान्तवाद में सांकर्य का आपादन
२३० अनेकान्तवाद में संकीर्ण वस्तु का स्वीकार
२३१ उरद में स्निग्धता और उष्णता की अंशतः व्याप्ति

पृष्ठांक विषय

२३१ जात्यन्तरात्मक भेद और एकस्वभाव की व्याप्ति
२३१ 'तस्य किंचित्' अभेद अर्थ में षष्ठी वचनी
२३३ मूल वस्तु का निवृत्तिरूप परिणाम
२३४ निवृत्ति अनिवृत्ति उभयरूप वस्तु के ग्रहण की उपपत्ति
२३५ क्रमाक्रमोभयात्मक एक ज्ञान की अनुभूति
२३५ क्रमरहितज्ञानवादी के मत में ईहा की दुर्घटता
२३६ [illegible]
२३७ वस्तु के नियतानियतत्व के बिना प्रत्यभिज्ञा की अनुपपत्ति
२३८ पूर्वापर व्यक्ति का एकान्त ऐक्य मानने में प्रत्यभिज्ञा की अनुपपत्ति
२३९ विशिष्टभेद होने पर भी शुद्ध व्यक्ति का अभेद
२४० एकान्ताभेदपक्ष में विशेषण-विशेष्यभाव
२४१ पूर्वापरवर्ती ग्राहक में भी भेदाभेद असंगत
२४२ एक अनुगत नित्य सामान्य के द्वारा प्रत्यभिज्ञा की उपपत्ति असंगत
२४३ क्षणिकपक्ष में सादृश्यज्ञान की असंगति
२४४ 'यह वही है' ऐसी प्रत्यभिज्ञा अभ्रान्त है
२४४ योगिज्ञान से क्षणिकत्व की सिद्धि दुष्कर
२४५ सभी प्रत्यभिज्ञा भ्रमात्मक नहीं होती
२४५ प्रत्यभिज्ञा में प्रामाण्यसंशय का निराकरण
२४६ जितने नयवाद उतने परसमय
२४७ सांख्य-उलूक और बौद्ध दर्शन का मूल
२४८ स्याद्वाद से समभाव की सिद्धि
२४९ स्याद्वादमत का उपसंहार
२५० शुद्धि पत्रक

॥ अर्हम् ॥

हिन्दी विवेचनालंकृत

स्याद्वादकल्पलताव्याख्या विभूषित

❋ शास्त्रवार्त्तासमुच्चय ❋

[सप्तमः स्तबकः]

★

[व्याख्याकार मंगलाचरणम्]

स्वस्त्यकृताश्मनकान्तकान्तिरनिशं गीर्वाणजुष्टान्तिको,
विश्रान्तिर्घनशत्रुरस्तजननभ्रान्तिः सतां शान्तिभूः ।
शान्तिस्तान्तिमपाकरोतु भगवान् कल्याणकल्पद्रुमो,
धीरा यस्य सदा श्रयन्ति शरणं पादौ शुभप्रार्थिनः ॥१॥
आसीत् यत्पदयोः प्रणामसमये शक्रस्य चक्रभ्रमो,
लोलन्मौलिमयूखमांसलरुचां विस्तारिणीनां रयात् ।
श्रीवामातनयस्य तस्य हृदये धत्तः पदौ चेत्पदं,
तत्किं नाम सुरद्रु-कामकलश-स्वर्धेनवो नान्तिके ? ॥ २ ॥
आगच्छन्त्रिपथीनदीसमुदयद्भूभङ्गभ्रमप्रोच्छलत्-
तर्कोर्मिप्रसरस्फुरन्नयरयस्याद्वादफेनोच्चयः ।
यस्याद्यापि विसृत्वरो विजयते स्याद्वादरत्नाकरः,
तं वीरं प्रणिदध्महे त्रिजगतामाधारमेकं जिनम् ॥ ३ ॥
पीतेऽन्यशास्त्रकलुषोदकेऽपि नोच्छिद्यते तत्त्वपिपासया यः ।
आकर्णयन्त्वार्हतशास्त्रवार्त्तां कर्णामृतं संप्रति तत् सकर्णाः ! ॥ ४ ॥

[शान्तिजिन-पार्श्वजिन-वीरजिन की स्तवना-मंगल]

व्याख्याकार ने ७ वे स्तबक के मंगल प्रारम्भ में सर्वप्रथम एक पद्य से भगवान् शान्तिनाथ की महिमा का उद्भावन करते हुये उन से लोककल्याण के लिये प्रार्थना की है। पद्य का अर्थ इसप्रकार है–

जिन की कान्ति चमकते हुये सुवर्ण के समान सुन्दर है, तथा समस्त देवगण जिन के सानिध्य को अहर्निश सेवा करते हैं, जिन्होंने अपने त्रिरत्न-ज्ञानदर्शनचारित्र के चरमोत्कर्ष के पराक्रम से राग-द्वेषादि शत्रुओं का संहार कर डाला है, जिन के भवभ्रमण (जन्मपरंपरा) का अन्त हो चुका है, अथवा जिन के अनन्त-संसार जन्य एवं सर्वविध-सम्पूर्ण भ्रम सर्वथा निवृत्त हो चुके हैं, जो सत्पुरुषों के हृदय में शान्ति का सर्जन करते हैं, जो कल्याण के कल्पवृक्ष हैं, धीरपुरुष अपने मंगल लाभ के लिये सदैव जिन के चरणों की शरण ग्रहण करते हैं-वे श्री शान्तिनाथ भगवान् लोगों के समस्त संताप का निराकरण करें ॥ १ ॥

दूसरे पद्य में व्याख्याकार ने भगवान् पार्श्वनाथ की महिमा का वर्णन किया है-पद्य का अर्थ इस प्रकार है–

प्रणाम करते समय मुकुट के चमकती हुई चञ्चल किरणों की प्रसरणशील प्रगाढ प्रदीप्ति के वेग से जिन के चरणों में देवराज इन्द्र को सदैव चक्र का भ्रम होता आया है, श्रीमती वामा माता के उस सुपुत्र भगवान् पार्श्वनाथ का चरणयुगल किसी के भी हृदय में यदि पदन्यास-स्थान ग्रहण करते हैं तो क्या उस के निकट कल्पवृक्ष-कामकुम्भ-कामधेनु उपस्थित नहीं रहते ? आशय यह है कि जो व्यक्ति भगवान् के चरणयुगल का निरन्तर अपने चित्त से चिन्तन करता है, उक्त मूल्यवान् वस्तुएँ उस की सेवा में सर्वदा प्रस्तुत रहती हैं ॥ २ ॥

भगवान् के मुख से निर्गत त्रिपदी अर्थात् "उपन्नेइ वा, विगमेइ वा, धुवेइ वा" पदत्रय स्वरूप नदी से उत्पन्न होने वाले तरंगो-आगमशास्त्रों के आवर्त से उछलने वाले तर्करूपी ऊर्मियों के प्रसार से जिस में विभिन्न नयों के वेग से स्याद्वादरूपी फेनसमूह स्फुरित होता है ऐसा चतुर्दिक् वर्धमान जिस का स्याद्वादरत्नाकर आज भी सर्वोत्कृष्ट रूप से विजेता हो रहा है-त्रिलोकी के एकमात्र आधारभूत सर्वज्ञ उस भगवान् महावीर का हम प्रणिधान=संस्मरण करते हैं ॥ ३ ॥

[सज्जनों को निमन्त्रण]

चौथे पद्य में व्याख्याकार ने कर्णमधुर बात सुनने को समुत्सुक जनों से निवेदन किया है कि अन्य शास्त्रों के सिद्धान्तों की चर्चारूप मलीन जल पीने पर भी जिन के तत्त्व बोध की पिपासा निवृत्त नहीं हुई है वह श्रवणोत्सुक व्यक्तिगण अब कर्ण को अमृततुल्य जैनशास्त्रों की सैद्धान्तिक चर्चा को सुनने के लिये सावधान हो जाय ॥ ४ ॥

मूलग्रन्थ की प्रथम कारिका में जैनमत की वह बात कही गई है जो लोकहित-लोकसुख और लोकनिःश्रेयस की जननी है और अज्ञान-अन्धकार को दूर करनेवाली ज्योति समान है तथा परमतत्त्व की उपनिषद् स्वरूप है । कारिका का अर्थ इस प्रकार है

अज्ञानतिमिरध्वंसदीपिकां परमतत्त्वोपनिषद्भूतां हित-सुख-निःश्रेयसकरीमार्हतमतवार्तामाह–

मूलम्—अन्ये त्वाहुरनादीदं जीवाजीवात्मकं जगत् ।
सदुत्पादव्ययध्रौव्ययुक्तं शास्त्रकृतश्रमाः ॥ १ ॥

अन्ये तु शास्त्रकृतश्रमाः=कृतश्रमणोपनिषदध्ययनभावना जैनाः, जगत्=जगत्पद-प्रतिपाद्यम् अनादीदम्=प्रवाहापेक्षया सदातनमेव आहुः । एवकारो व्यवस्थायाम्, तेन नेश्वर-

दिकृतं नवा प्रधानपरिणामादिकृतमिति लभ्यते । तथा, जीवाऽजीवात्मकं=जीवाश्चाजीवाश्च जीवा-ऽजीवास्त आत्मानः समुदायिनो यस्य तत्, तेन चिन्मात्रादिवादनिरासः । तथा सदुत्पाद-व्यय-ध्रौव्ययुक्तम्=सन्ति पारमार्थिकानि यानि न तु कल्पितानि उत्पादव्यय-ध्रौव्याणि तद्युक्तं=तन्मयम् । "मौक्तिकादिसहिता माला-इतिवत् तत्सहितमित्यपि न दुष्यति" इत्यन्ये ।

अत्रोत्पादः 'उत्पन्नमिदम्' इति धीसाक्षिको धर्मः । स द्विविधः--१. प्रयोगजनितः, २. विस्रसाजनितश्च । पुरुषव्यापारजनित आद्यः, स च मूर्तिमद्द्रव्यारब्धावयवकृतत्वात् समुदयवादः, तत एव चालाऽपरिशुद्ध इति गीयते । तदुक्तम्--[सम्मति--१२६]

"*उप्पाओ दुवियप्पो पओगजणिओ अ वीससा चेव ।
तत्थ य पओगजणिओ समुदयवाओ अपरिसुद्धो ॥ १ ॥" इति

अत्राऽपरिशुद्धत्वं स्वाश्रयावयवोत्पादापेक्षया पूर्णस्वभावत्वम् । न ह्यपूर्णावयवो घट उत्पद्यमानः कार्त्स्न्येनोत्पन्न इति व्यवह्रियत इति । ननु न प्रयोगजन्य उत्पादः, घटादेरेव प्रयत्नजन्यत्वात्, उत्पादस्य तु तदाद्यक्षणसंबन्धरूपत्वात् प्रयत्नाजन्यत्वादिति चेत् ? न, 'मुद्गरपाताद् नष्टो घटः' इति व्यपदेशाद् नाशे मुद्गरपातजन्यत्ववत् 'पुरुषव्यापारादुत्पन्नो घटः' इति व्यवहाराद् उत्पादेऽपि पुरुषव्यापारजन्यत्वस्यावश्यकत्वात्, विधिव्यानुभूयमानत्वेनोत्पादापलापे च नाश-स्याप्यपलापप्रसङ्गात्, उत्पत्तेराद्यक्षणसंबन्धेनान्यथासिद्धौ नाशस्यापि चरमक्षणसंबन्धेनाऽन्य-थासिद्धेः सुवचत्वात्, अन्यत्र तदाधारताप्रत्ययस्योत्पत्त्याधारताप्रत्ययस्येवावच्छेदकत्वेनोपपत्तेः । 'घटप्रतियोगिकत्वेन नाशो विलक्षण एवानुभूयत' इति चेत् ? तथोत्पादोऽपीति तुल्यम् । किञ्च, एवमाद्यक्षणे 'आद्यक्षणसंबन्धवान् घटः' इतिवत् 'आद्यक्षणे उत्पन्नो घटः' इति प्रयोगो न सूपपदः स्यादिति न किञ्चिदेतत् ।

[जैन मनीषीयों का मत--उत्पादादित्रययुक्त जगत्]

अन्य विद्वान् जिन्होंने समीचीनशास्त्र में यथोचित श्रम किया है, अर्थात् भगवान् के प्रवचन= त्रिपदीमूलक उपनिषद्=आगमशास्त्र का सम्यक् अध्ययन और उस के प्रतिपाद्य अर्थ-तत्त्व की भावना-पर्यालोचना की है, ऐसे जैन मनीषियों का यह कहना है कि जगत् पद से प्रतिपादित होने वाला अर्थ-समूह अनादि-प्रवाह की अपेक्षा से निश्चितरूप से सार्वकालिक है । उनका यह कथन एवकारयुक्त यानी सावधारण है-जिस से यह सूचित होता है कि जगत् न तो ईश्वर आदि से रचित है और न प्रकृति के परिणामादि से प्रादुर्भूत है । उन मनीषियों का यह भी उपदेश है कि जगत् जीव और अजीव के समु-दायात्मक है । इस कथन से जगत् की चिन्मात्ररूपता अथवा अचिन्मात्ररूपता आदि का निषेध सूचित

* उत्पादो द्विविकल्पः प्रयोगजनितश्च विस्रसा चैव । तत्र च प्रयोगजनितः समुदयवादोऽपरिशुद्धः ॥१॥

होता है। उन मनीषियों का यह भी उपदेश है कि उत्पाद व्यय और ध्रौव्य ये तीनों जगत् का सहभावी पारमार्थिकस्वरूप है। युक्तवाद का संहित अर्थ करने वाले अन्य व्याख्याताओं का यह कहना है कि जैसे यह कहा जाता कि 'माला विभिन्न मोतीओं एवं उन्हें धारण करने वाले सूत्र से युक्त होती है, उसी प्रकार जगत् भी उत्पाद-व्यय और ध्रौव्य से युक्त है' इस कथन में भी कोई दोष नहीं है।*

[जैन मत से उत्पाद का स्वरूप]

व्याख्याकार ने जगत् के इन तीनों रूपों का निरूपण करते हुए यह कहा है कि उत्पाद यह "इदमुत्पन्नम्=यह वस्तु उत्पन्न हुई" इस प्रकार की बुद्धि से सिद्ध, वस्तु का एक धर्म है। इसके दो भेद हैं-एक प्रयोगजनित और दूसरा विस्रसाजनित (विस्रसा यानी प्रकृति अथवा स्वभाव)। प्रयोगजनित का अर्थ है पुरुषव्यापार से उत्पन्न। यह उत्पाद, मूर्त द्रव्यों से उत्पन्न अवयव द्वारा निष्पन्न होने से 'समुदयवाद' शब्द से अभिहित होता है और इसीलिये उसे अपरिशुद्ध कहा जाता है। जैसा कि सम्मति ग्रन्थ तृतीयकाण्ड की गाथा ३२ में कहा गया है कि-"उत्पाद दो प्रकार का होता है-एक प्रयोगजनित और दूसरा विस्रसाजनित। उन में प्रयोगजनित समुत्पाद समुदयवाद रूप होता है और अपरिशुद्ध होता है।"

उसे समुदयवाद कहने का यह कारण स्पष्ट है कि वह मूर्तद्रव्यों से आरब्ध अवयवों के द्वारा उत्पन्न होने के कारण समुदायरूप होता है-किन्तु उस के लिये प्रयुक्त होने वाला 'अपरिशुद्ध' पद का एक विशेष अर्थ यह है कि-उत्पन्न होने वाली वस्तु के आश्रयभूत समस्त अवयवों से निष्पन्न होने वाले उत्पाद की अपेक्षा से पूर्ण स्वभाव होना। अर्थात्, जो उत्पाद उत्पन्न होने वाली वस्तु के आश्रयभूत समग्र अवयवों से सम्पादित होने से ही पूर्ण होता है, क्योंकि घट जब अपूर्ण अवयवों से उत्पन्न होता है तो उसमें यह व्यवहार नहीं होता कि 'घट पूर्ण रूप से उत्पन्न हुआ'।

[उत्पाद प्रयत्न जन्य न होने की शंका का निरसन]

यदि यह शंका की जाय कि-"उत्पाद को प्रयोगजनित कहना उचित नहीं है, क्योंकि प्रयोग का अर्थ है पुरुष का व्यापार=प्रयत्न और उससे घटादि का ही जन्म होता है न कि उत्पाद का, क्योंकि उत्पाद आद्यक्षणसम्बन्ध रूप है उस में जो क्षणप्रवाह है वह तो क्रम से स्वयं उपस्थित होता है जब कि घट पुरुषप्रयत्न से उपस्थित होता है। अतः उन दोनों का परस्पर सम्बन्ध जहाँ दोनों से सम्पन्न होता है न कि पुरुषप्रयत्न से"-तो यह शंका ठीक नहीं है क्योंकि जैसे 'मुद्गरादि के प्रहार से घट नष्ट हुआ' इस व्यवहार से घटनाश में मुद्गरपातजन्यत्व सिद्ध होता है उसीप्रकार 'घट पुरुषव्यापार से उत्पन्न हुआ' इस व्यवहार से उत्पाद में भी पुरुषव्यापारजन्यत्व सिद्ध होना आवश्यक है।

[उत्पाद-नाश दोनों में प्रयत्नजन्यता समान]

यदि आद्यक्षणसम्बन्ध से विविक्त-विभिन्न रूप में अनुभवारूढ न होने से उत्पाद का

* तात्पर्य यह है कि मोती और सूत्र के समुदाय से माला पृथग्द्रव्य रूप नहीं होती अतः माला मोती युक्त नहीं होती किन्तु मोती-सूत्रमय होती है, फिर भी माला सुन्दर मोतीयुक्त है ऐसा व्यवहार प्रसिद्ध है, उसी प्रकार जगत् उत्पाद-व्यय-ध्रौव्यमय होने पर भी उत्पादव्ययध्रौव्ययुक्त है ऐसा व्यवहार प्रयोग अनुचित नहीं है।

अपलाप किया जायगा तो नाश के अपलाप की भी आपत्ति होगी, क्योंकि जैसे आद्यक्षणसम्बन्ध से उत्पत्ति की अन्यथासिद्धि अर्थात् अपलाप होता है, उसीप्रकार चरमक्षणसम्बन्धनाश से घटनाश की भी अन्यथासिद्धि सुलभ हो सकती है। आशय यह है कि जैसे घटाधिकरणक्षण के ध्वंस का अनधिकरण और घट का अधिकरण ऐसा जो क्षण वह घट का आद्यक्षण होता है और उस क्षण के साथ घट के सम्बन्ध से अतिरिक्त घटोत्पाद नहीं होता, उसी प्रकार घटनिष्ठ प्रागभावध्वंस का अधिकरणक्षण घट का चरमक्षण होता है और उस क्षण के साथ घट का सम्बन्ध चरमक्षणसम्बन्ध होता है। अतः उसके नाश से अतिरिक्त घटनाश की भी सिद्धि नहीं हो सकती।

[नाश और उत्पाद में वैषम्य शंका का निरसन]

यदि यह शंका की जाय कि-"यदि चरमक्षण के साथ सम्बन्धनाश से अतिरिक्त घट का नाश नहीं होगा तो चरमक्षणसम्बन्धनाश की उत्पत्ति घट में होगी, कपाल में नहीं होगी। तो फिर 'इह कपाले घटो नष्टः=यहाँ कपाल में घटनाश हुआ' इसप्रकार जो कपाल में घटनाश की आधारता की प्रतीति होती है वह न हो सकेगी" तो यह शंका ठीक नहीं है, क्योंकि जैसे आद्यक्षणसम्बन्ध से अतिरिक्त उत्पत्ति न मानने पर घट में होनेवाले आद्यक्षणसम्बन्ध का अवच्छेदक होने से कपाल में 'इह कपाले घटो जातः' इसप्रकार घटोत्पत्ति की आधारता की प्रतीति होती है, उसीप्रकार घट में रहने वाले चरमक्षणसम्बन्ध के नाश का अवच्छेदक होने से कपाल में 'इह कपाले घटो नष्टः' इस प्रकार नाश की आधारता की प्रतीति हो सकती है।

[घटोत्पाद भी आद्यक्षणसम्बन्ध से अतिरिक्त है]

यदि यह कहा जाय कि-'चरमक्षणसम्बन्धनाश से विलक्षण घटनाश अनुभवसिद्ध है, क्योंकि 'घटो नष्टः=घट नष्ट हुआ' और 'घटनाशो जातः=घट का नाश हुआ' इसप्रकार नाश का घटप्रतियोगिकत्वेन अनुभव होता है। यदि चरमक्षणसम्बन्धनाश से भिन्न घटनाश न होगा तो चरमक्षणसम्बन्धनाश में घटप्रतियोगिकत्व न होने से इस अनुभव की उपपत्ति न हो सकेगी। अतः चरमक्षणसम्बन्धनाश से भिन्न घटनाश मानना आवश्यक होने से घटनाश का अपलाप नहीं किया जा सकता'-तो यह ठीक नहीं है, क्योंकि इस तरह की युक्ति आद्यक्षणसम्बन्ध से भिन्न घटोत्पत्ति के सम्बन्ध में भी दी जा सकती है। अर्थात्, घटोत्पत्ति को भिन्न न मानने पर 'घट उत्पन्नः=घट उत्पन्न हुआ' अथवा 'घटस्योत्पत्तिर्जाता=घट की उत्पत्ति हुई' इसप्रकार घटप्रतियोगिकत्वेन उत्पत्ति का भी अनुभव तो होता है, किन्तु यह अनुभव घटोत्पत्ति को आद्यक्षणसम्बन्ध से भिन्न न मानने पर नहीं होगा, क्योंकि घट में जो आद्यक्षण का सम्बन्ध होता है वह घटानुयोगिकाद्यक्षणप्रतियोगिक होता है, क्योंकि 'घट में आद्यक्षणसम्बन्ध हुआ' इसीप्रकार का व्यवहार होता है, न कि 'आद्यक्षण में घट का सम्बन्ध हुआ' यह व्यवहार होता है। अतः वह आद्यक्षणप्रतियोगिक होता है घटप्रतियोगिक नहीं होता। इसलिये इस से भिन्न घटोत्पाद मानना आवश्यक है। इस संदर्भ में यह भी विचारणीय है कि यदि घट की उत्पत्ति आद्यक्षणसम्बन्ध से भिन्न न होगी तो जैसे 'आद्यक्षणे आद्यक्षणसम्बन्धवान् घटः=घट प्रथमक्षण में प्रथमक्षणसम्बन्धी है' इस प्रकार का प्रयोग नहीं होता उसीप्रकार 'आद्यक्षणे उत्पन्नो घटः=प्रथमक्षण में घट उत्पन्न हुआ' यह भी प्रयोग नहीं हो सकेगा, क्योंकि अतिरिक्त उत्पत्ति को न मानने पर उक्तप्रयोग में 'उत्पन्नः' शब्द का भी अर्थ आद्यक्षणसम्बन्धी यही होगा। इसलिये 'घट का उत्पाद आद्यक्षणसम्बन्ध से भिन्न नहीं है'-यह कथन अकिञ्चित्कर है।

यत्तु-'एवं नाशवदुत्पादस्य जन्यत्वेऽपि तत्र प्रतियोग्यतिरिक्तकृतविशेषाभावात्, भावेऽपि सर्वस्येश्वरप्रयत्नजन्यत्वात् प्रयोगजनितत्वं न विभाजकम्' इति-तत्तुच्छम्, नाशेऽपि सामान्यापेक्षया भावांशमादाय कारणकृतविशेषदर्शनादेव तदभ्युपगमात्, ईश्वरस्य निरासाच्च । न चैवम्, व्यापारजन्यत्वमपोह्य यत्नजन्यत्वेन स्वयमेवोपपादितः कृताऽकृतविभागो घटाङ्कुरादौ दुर्घटः स्यात् । यत्नजन्यताविशेषेण तदुपपादने च व्यापारजनितत्वविशेषेणापि तदुपपत्तेः, यथाऽप्रतिसंधानेऽपि विलक्षणस्वभावोत्पादानुभवसाम्राज्याच्च । अत एव 'देवकुलादावनुभूयमानं विलक्षणोत्पादवत्स्वरूपं विशिष्टकार्यत्वमेव यत्नजन्यतानियतम्, न तु कार्यसामान्यम्', इति शिपिविष्टखण्डनेऽभिहितमिति ।

पुरुषव्यापाराऽजन्य उत्पादो द्वितीयः । पुरुषेतरकारकव्यापारजन्यत्वं तु स्वरूपकथनमस्य, न तु लक्षणम्, प्रायोगिकेऽतिव्याप्तेः ।-'तन्मात्रजन्यत्वं गुरुत्वाद्दोषेण विश्राम्यति, इति प्रायोगिकस्यापि द्रव्यापेक्षया स्वाभाविकत्वाद् नैतद् युक्तम्'-इति स्वपाणिनलयस्याभिधानम्, तदपेक्षयोत्पादस्याऽभावादेव ।-''प्रायोगिक-स्वाभाविकयोरन्यतरयोर्भेदे प्रायोगिककाले यत्नेतरकारणानां सत्त्वे स्वाभाविकोत्पादापत्तिवारणाय तत्र यत्नप्रतिबन्धकत्वादिगौरवात् कल्पित एवायम्'' इति चेत् ? न, अभ्रादौ विलक्षणोत्पादस्यानुभवसिद्धत्वेन तत्प्रतिबन्धकत्वादिकल्पनागौरवस्याबाधकत्वात्, यत्नेतरहेतूनां स्वभावोत्कर्षाभावेन प्रायोगिककाले स्वाभाविकानुत्पत्त्या तत्प्रतिबन्धकत्वाऽकल्पनाच्चेति ।

[प्रयोगजन्यत्व को विभाजक उपाधि मानने में शंका]

प्रस्तुत विचार में कतिपय विद्वानों का यह कहना है कि-नाश के समान उत्पाद को जन्य मानने पर भी उस में प्रतियोगी से अतिरिक्त किसी पदार्थ द्वारा कोई विशेष नहीं होता । अर्थात् उत्पाद चाहे वह पुरुषव्यापार से जन्य हो या चाहे विस्रसा = स्वभाव से जन्य हो उत्पादसामान्य में कोई अन्तर नहीं होता । यदि होता है तो उसे घट मेघादि उत्पद्यमान पदार्थों से उन का पार्थक्य करने पर ही होता है । अर्थात् 'घटस्योत्पादः' 'मेघस्योत्पादः' इसप्रकार प्रयोग से ही उत्पाद में वैलक्षण्य की प्रतीति होती है । अतः उत्पाद में प्रयोग और विस्रसा रूप कारणकृतविशेष का दर्शन न होने से, कारण के आधार पर उत्पाद का प्रयोगजनितत्व और विस्रसाजनितत्व रूप से विभाग नहीं हो सकता । यदि यह कहा जाय-'घट-पट आदि के उत्पादों में कुलाल तन्तुवाय आदि विभिन्न पुरुषों के प्रयत्नजन्यत्व का दर्शन होने से और अभ्रादि के उत्पाद में उस का दर्शन न होने से उत्पाद का उक्त विभाग हो सकता है' तो-यह ठीक नहीं है क्योंकि ईश्वरप्रयत्न कार्यमात्र का जनक होने से सभी उत्पादों में प्रयत्नजन्यत्व समान है । अतएव प्रयत्नजन्यत्वरूप प्रयोगजनितत्व किसी उत्पाद का व्यावर्तक न होने से विभाजक नहीं हो सकता । -

[प्रयत्नजन्यत्व के दर्शन-अदर्शन से विभाजन की उपपत्ति]

किन्तु यह कथन तुच्छ है-क्योंकि नाश के समान उत्पाद का विभाग भी हो सकता है ।

कहने का आशय यह है कि नाश में भी सामान्य की अपेक्षा भावांश को लेकर ही कारणकृतविशेष देखा जाता है, वह नाश के साथ अनुगत भावांश के द्वारा ही होता है। तात्पर्य यह है कि तन्तुओं के पृथक्करण से पट का नाश होता है। तब पृथक्कृत तन्तु में पुरुष प्रयत्न जन्यत्व का दर्शन होता है किन्तु जब वायु के तीव्र आघात से मेघपटल का नाश होता है तब उस में किसी भी प्रकार से पुरुषजन्यत्व का दर्शन नहीं होता और इसप्रकार कारणकृत विशेषदर्शन और उस के अदर्शन के आधार पर ही नाश का प्रयोगजन्यत्व और विस्रसाजनितत्वरूप में विभाग होता है सो जैसे उक्तरीति से नाश के विभाग की उपपत्ति होती है उसीप्रकार उत्पाद के विभाग की भी उपपत्ति हो सकती है। क्योंकि प्रयोगजनित और विस्रसाजनित उत्पाद में उत्पादसामान्य की दृष्टि से कोई भेद न होने पर भी उत्पद्यमान घट-पट आदि में कारणकृत विशेष का दर्शन होता है। आशय यह है कि घटपटादि में पुरुषप्रयत्नजन्यत्व का दर्शन होने से उत्पाद में भी पुरुषप्रयत्नजन्यत्व गृहीत होता है किन्तु विस्रसाजनित उत्पादस्थल में उत्पद्यमान में पुरुषप्रयत्नजन्यत्व का दर्शन न होने से उस उत्पाद के ईश्वरप्रयत्नजन्य होने पर भी प्रयत्नजन्यत्व का दर्शन नहीं होता। अतः पुरुषप्रयत्नजन्यत्व के दर्शन और अदर्शन के आधार पर उत्पाद का भी प्रयोगजनितत्व और विस्रसाजनितत्व रूप विभाग होने में कोई बाधा नहीं हो सकती। सच बात तो यह है कि ईश्वर में जगत्कर्तृत्व प्रमाणाभाव होने से असिद्ध है, अतः विस्रसाजनित में भी ईश्वरप्रयत्नजन्यत्व बता कर उस की अव्यावर्त्तकता बताते हुये उस के विभाजकत्व का निराकरण नहीं किया जा सकता।

[यत्नजन्यत्व का दर्शन-अदर्शन विभाग बीज है]

यदि प्रयत्नजन्यत्व के दर्शन और अदर्शन के आधार पर उत्पाद का घट और अंकुरादि में क्रमशः कुलालादि के कपालसंयोजकरूपव्यापारजन्यत्व और मेघ के जलवर्षणरूपव्यापारजन्यत्व होने के कारण, व्यापारजन्यत्व का त्याग कर यत्नजन्यत्व से जो कृत और अकृत का विभाग किया गया है उसकी उपपत्ति न हो सकेगी क्योंकि उक्तपक्ष में यत्नजन्यत्व दोनों में समान है। अन्तर केवल इतना ही है कि घटादि में यत्नजन्यत्व का दर्शन होता है और अंकुरादि में नहीं होता। अतः यत्नजन्यत्व के दर्शन और अदर्शन के आधार पर उक्तरूप से किये गये उत्पाद के विभाजन का निराकरण नहीं किया जा सकता। इस के विपरीत यदि यह कहा जाय कि "घट-अंकुरादि में कृताऽकृत का जो विभाग किया गया है वह यत्नजन्यत्व के दर्शन या अदर्शन के आधार पर नहीं किन्तु यत्नजन्यता के वैलक्षण्य से किया गया है। अर्थात् घटादि यह यत्न की असाधारणजन्यता का आश्रय होने से कृत कहा जाता है और यत्न की साधारणजन्यता होने से अंकुरादि अकृत कहा जाता है।"— सो यह ठीक नहीं, क्योंकि इस स्थिति में व्यापारजन्यत्व का त्याग करना निर्युक्तिक हो जायगा क्योंकि घटादि में चेतनव्यापारजन्यत्व और अंकुरादि में अचेतनव्यापारजन्यत्व होने से व्यापारजन्यता के वैलक्षण्य से भी उन में कृताऽकृत विभाग की उपपत्ति हो सकती है। दूसरी बात यह है कि प्रयत्नजन्य और विस्रसाजन्य उत्पाद में उत्पद्यमान से अतिरिक्त पदार्थगत विशेष का प्रतिसंधान नहीं होता है तो भी दोनों उत्पत्ति में विलक्षणस्वभावता का अनुभव होता ही है। अत एव उत्पत्ति के स्वभाववैलक्षण्य के आधार पर उक्त रीति से उत्पाद के विभाग में कोई बाधा नहीं है। इसीलिये 'देवमन्दिरादि में जो विलक्षणोत्पाद का अनुभव होता है तद्रूपविशिष्टकार्यत्व ही यत्नजन्यता का व्याप्य होता है, कार्यत्वसामान्य व्याप्य नहीं होता'-यह बात शिव के जगत्कर्तृत्व के निराकरण के अवसर पर सम्मति आदि ग्रन्थों में कही गई है।

[विस्रसाजन्य उत्पाद का स्वरूप विवेचन]

द्वितीय-विस्रसाजनित उत्पाद का लक्षण है पुरुषव्यापाराजन्य उत्पाद। यद्यपि इस उत्पाद में पुरुषेतर जो कारक, तद्व्यापारजन्यत्व रहता है, तथापि वह उसका स्वरूपकथन हो सकता है- लक्षण नहीं हो सकता, क्योंकि उसे लक्षण मानने पर प्रायोगिक उत्पाद में अतिव्याप्ति हो जायगी, कारण, वह जैसे पुरुषव्यापारजन्य होता है उसीप्रकार पुरुषेतरकारकव्यापारजन्य भी होता है। यदि पुरुषेतरकारकव्यापारमात्रजन्यत्व लक्षण किया जाय तो गौरव होगा। अतः पुरुषव्यापाराजन्यत्व में ही उस की विश्रान्ति होती है, क्योंकि पुरुषेतरकारकव्यापारमात्रजन्यत्व का अर्थ होगा 'पुरुषेतरकारकव्यापार से जो इतर व्यापार उस से अजन्य होते हुये पुरुषेतरकारकव्यापार से जन्य होना'। यहाँ पुरुषेतरकारकव्यापार से इतरव्यापार पुरुषव्यापार ही होगा। अतएव तादृशेतरव्यापार का अजन्यत्व पुरुषव्यापाराजन्यत्वरूप ही होगा। अत एव इतने को ही लक्षण मानना उचित है। क्योंकि लक्षणशरीर में पुरुषेतरकारकव्यापारजन्यत्व का निवेश गौरवापादक है।

कुछ लोगों का यह कहना है कि "प्रायोगिकोत्पाद भी द्रव्य की अपेक्षा स्वाभाविक यानी पुरुषव्यापाराऽजन्य होता है, अतः स्वाभाविक उत्पाद का उक्तलक्षण प्रायोगिक में अतिव्याप्त है" इस के उत्तर में व्याख्याकार का कहना है कि उक्त कथन नयानभिज्ञ पुरुष का कथन हो सकता है, क्योंकि द्रव्यापेक्षया उत्पाद होता ही नहीं। अतः प्रायोगिक उत्पाद में द्रव्यापेक्षया स्वाभाविकोत्पादत्व का कथन असम्भव है।

[स्वाभाविक उत्पादकल्पना में गौरव की व्यावृत्ति]

यदि यह शंका की जाय कि 'प्रायोगिक और स्वाभाविक उत्पाद में भेद मानने पर प्रायोगिक उत्पादकाल में यत्न से इतर कारणों के रहने से स्वाभाविकोत्पाद की भी आपत्ति होगी। क्योंकि यत्नेतरकारण स्वाभाविकउत्पाद के जनक होते हैं, अतः इस आपत्ति का वारण करने के लिये स्वाभाविक-उत्पाद में प्रयत्न के प्रतिबन्धकत्व की कल्पना और स्वाभाविकोत्पाद में प्रतिबन्धका-भावविधया प्रयत्नाभावजन्यत्व की कल्पना में गौरव होगा। अतः उत्पाद का उक्तभेद कल्पित-असङ्गत है"-तो यह उचित नहीं है। क्योंकि भेद आदि में घट-पट आदि के उत्पाद से विलक्षणोत्पाद अनुभवसिद्ध है। अतः उत्पादों में उक्त भेद आवश्यक होने से स्वाभाविकोत्पाद में प्रयत्न के प्रति-बन्धकत्व आदि की कल्पना से होनेवाला गौरव उक्तभेद की सिद्धि में बाधक नहीं हो सकता। दूसरी बात यह है कि यत्न से इतर हेतुओं का स्वभावोत्कर्ष होने पर ही उन से स्वाभाविक उत्पाद होता है। प्रायोगिकोत्पादकाल में उन हेतुओं का स्वभावोत्कर्ष नहीं होता, इसीलिये प्रायोगिककाल में स्वाभाविकोत्पाद की आपत्ति नहीं होती। अतः स्वाभाविकोत्पाद में प्रयत्न के प्रतिबन्धकत्व की कल्पना भी अनावश्यक है।

स च द्विविधः—समुदयजनितः ऐकत्विकश्च। तत्र मूर्तिमद्द्रव्यावयवारब्धः समुदयजनितः, इतरस्त्वैकत्विकः। आद्योऽभ्रादीनामुत्पादः, घटादीनामस्य प्रयत्नजतया विशिष्टनाशस्य विशिष्टोत्पादनियतत्वात्। न हि मूर्तावयवसंयोगकृतत्वं समुदयजनितत्वम्, विभागकृतपरमाण्वाद्युत्पादेऽव्याप्तेः, किन्तु मूर्तावयवनियतत्वम्। तच्च तदवस्थावयवस्याप्यवस्थाविशेषात् संभवीति।

द्वितीयस्तु गगन–धर्मा–ऽधर्मास्तिकायानामवगाहक–गन्तृ–स्थातृद्रव्यसंनिधानतोऽवगाहन–गति–स्थितिक्रियोत्पत्तेरनियमेन स्यात्परप्रत्ययः, मूर्तिमदमूर्तिमदवयवद्रव्यद्वयोत्पाद्यत्वात् अवगाहनादीनां स्यादैकत्विकः स्यादनैकत्विकश्चेति भावः । तदुक्तम्–[सम्मति ३०-१३०]

"* साभाविओ वि समुदयकओ व्व एगत्तिओ व्व होज्जाहि ।
आगासाईआणं तिण्हं परपच्चओऽणियमा ॥ १ ॥" इति ।

[स्वाभाविकोत्पाद की द्विविधता]

स्वाभाविकोत्पाद के दो भेद हैं- (१) समुदयजनित और (२) ऐकत्विक । उन में जो उत्पाद मूर्तिमद्द्रव्यात्मक अवयवों से निष्पन्न होता है वह समुदयजनित कहा जाता है । उस से भिन्न स्वभावजनितोत्पाद को ऐकत्विक कहा जाता है । इन में प्रथम है अभ्रादि का उत्पाद । यहाँ यह विशेष ज्ञातव्य है कि घटादि द्रव्य भी द्वितीयतृतीयादि क्षणों में पहले के जैसा ही नहीं रहता किन्तु पूर्वक्षणोत्पन्नपर्यायविशिष्टात्मना उत्तरक्षण में उस का नाश होता है और विशिष्ट का नाश विशिष्टोत्पादव्याप्य होता है इसलिये उन क्षणों में नवीनपर्यायविशिष्ट घटादि का उत्पाद भी होता है और यह उत्पाद पुरुषव्यापार से अजन्य और मूर्तिमद्द्रव्यात्मक अवयवों से आरब्ध होता है अतः यह भी स्वाभाविक समुदयजनित उत्पादरूप है । यह भी जान लेना जरूरी है कि मूर्तिमद्द्रव्यावयवारब्धत्वरूप जो समुदयजनितत्व है वह मूर्तावयवसंयोगाकृतत्व रूप नहीं हो सकता क्योंकि ऐसा मानने पर स्थूलद्रव्य के विभाग से होनेवाले परमाणु आदि के उत्पाद में अव्याप्ति होगी । किन्तु, मूर्तावयवनियतत्वरूप है और विभक्तावस्थ परमाणुरूप अवयव में भी अवस्था विशेष की अपेक्षा मूर्तावयवनियतत्व है । आशय यह है कि किसी स्थूलद्रव्य का विभाग होने पर जब उस के परमाणु विकीर्ण हो जाते हैं-उस अवस्था में उन में मूर्तावयव का सम्बन्ध नहीं रहता किन्तु वह जिस स्थूलद्रव्य के विभाग से विकीर्ण हुआ है उस स्थूलद्रव्य की अवस्था की अपेक्षा मूर्तावयव से सम्बद्ध होता है क्योंकि उस स्थूलद्रव्य के अविभक्तावस्था में उस के घटक सभी परमाणु परस्पर सम्बद्ध होते हैं ।

[ऐकत्विक स्वाभाविक उत्पाद का स्वरूप]

ऐकत्विक स्वाभाविक उत्पाद कथञ्चित् परप्रत्यय यानी अन्याधीनवृत्तिक होता है, क्योंकि आकाश, धर्म और अधर्म रूप अस्तिकाय द्रव्यों में अवगाहक, गन्ता और स्थाता द्रव्य के सन्निधानमात्र से, अर्थात् अवगाहनादि क्रियाओं के आधारतापर्याय के बिना अवगाहन, गति और स्थितिरूप क्रियाओं की उत्पत्ति का नियम नहीं है । तात्पर्य यह है कि अवगाहनादि क्रियाएँ मूर्तिमदवयव द्रव्य और अमूर्तिमदवयव द्रव्यरूप द्रव्यद्वय से उत्पन्न होती हैं, इसलिये ऐकत्विकस्वाभाविक उत्पाद केवल ऐकत्विक ही नहीं होता किन्तु कथञ्चित् ऐकत्विक और कथञ्चित् अनैकत्विकरूप होता है । कहने का आशय यह है कि आकाशादि में अवगाहकादि द्रव्य के संनिधान से आकाशादि द्रव्य में अवगाहनादि-अधिकरणतारूप पर्याय उत्पन्न हो जाने पर यदि तादृश पर्याय विशिष्ट गगनादि में ही कारणत्व की विवक्षा की जाय तो उस विवक्षा से आकाशादि का उत्पाद ऐकत्विक है और उक्त अधिकरणतारूप

---

* स्वाभाविकोऽपि समुदयकृतो वैकत्विको वा भविष्यति ।
आकाशादिकानां त्रयाणां परप्रत्ययोऽनियमात् ॥ १ ॥

पर्याय के अवगाहकादि द्रव्यों के संनिधान की अभावदशा में उत्पन्न न होने के कारण यदि उन अवगाहकादि द्रव्यों में भी कारणत्व की विवक्षा की जाय तो उक्त अधिकरणता पर्याय विशिष्ट आकाशादि और उक्त पर्याय के सम्पादक संनिधान के प्रतियोगी अवगाहकादि द्रव्य दोनों में कारणत्व की विवक्षा से कथञ्चित् अनैकान्तिक होता है । जैसा कि सम्मतितर्क ग्रंथ (तीसरे काण्ड-गाथा १३०) में कहा गया है-'स्वाभाविक उत्पाद भी समुदयकृत और ऐकान्तिक होगा । आकाश, धर्म और अधर्म इन तीन अस्तिकाय द्रव्य का उत्पाद अनियम से कथञ्चित् परप्रत्यय (अनैकान्तिक) होता है ।'

अथाकाशादीनां मूर्तिमद्द्रव्यानारब्धत्वे निरवयत्वमेव स्यादिति तदुत्पादोऽनेकान्त इति चेत् ? न, प्रदेशव्यवहारस्याकाशेऽपि दर्शनेन तस्य सावयवत्वात् । न च 'आकाशस्य प्रदेशाः' इति व्यवहारो मिथ्या, आरोपनिमित्ताभावात् । न चाऽव्याप्यवृत्तिसंयोगाधारत्वकृतस्तदध्यारोपः, तथा सति तत्र तस्यैवानुपपत्तेः, अवयविनि देशेन संयोगस्यावयवावच्छिन्नत्वनियमात्, वृक्षादौ तथादर्शनात्, अन्यथा मूलादेरिवान्यस्याप्यवच्छेदकत्वापत्तेः । नन्वेवं परमाणोरपि षड्दिक्संयोगात् षडंशता स्यादिति चेत् ? स्यादेव, द्रव्यार्थतयैव तस्य निरंशत्वात्, पर्यायार्थतया तु सांशताया अप्यभ्युपगमात् । अत एव 'सावयवमाकाशम्, समवायिकारणत्वात्, पटवत्' इत्यपि प्रसङ्गापादनं संगच्छते । संगच्छते च 'सावयवमाकाशम्, हिमवद्-विन्ध्यावरुद्धभिन्नदेशत्वात्, तदपरप्रदेशभूभागवत्' इत्यादि ।

[आकाशादि द्रव्य में सावयवत्व सिद्धि]

शंका हो सकती है कि 'आकाशादि अस्तिकायद्रव्य यदि मूर्तिमद्द्रव्य से अनारब्ध होते हैं तो वे अवश्य निरवयव ही होंगे, अतः उन का उत्पाद अनेकान्त गर्भित नहीं हो सकता'-किन्तु यह ठीक नहीं है, क्योंकि आकाश में भी प्रदेशव्यवहार देखा जाता है, अतः वह सावयव है । यदि यह कहा जाय कि-'आकाश में प्रदेशव्यवहार मिथ्या है'-तो यह ठीक नहीं है क्योंकि आकाश को निष्प्रदेश मानने पर उस में प्रदेशवत्ता के आरोप का निमित्त कौन ? कोई निमित्त नहीं है । यदि यह कहा जाय कि-'आकाश में जो अव्याप्यवृत्तिसंयोग की आधारता होती है वही आरोप का निमित्त है'-तो यह ठीक नहीं है, क्योंकि आकाश को निष्प्रदेश मानने पर उस में वह आधारता ही नहीं उपपन्न हो सकती । क्योंकि अवयवीगत अव्याप्यवृत्तिसंयोग में अवयवावच्छिन्नत्व का नियम सिद्ध है क्योंकि वृक्षादि में अवयवावच्छिन्न संयोग की ही उपलब्धि होती है । यदि यह नियम न माना जायगा तो जैसे वृक्ष के मूलादि भाग में वृक्ष में होनेवाले संयोग की अवच्छेदकता होती है उसी प्रकार वृक्ष के अनवयव में भी वृक्षवृत्तिसंयोग के अवच्छेदकत्व की आपत्ति होगी । इस पर यदि यह शंका की जाय कि "उक्त नियम मानने पर परमाणु को भी षडंश मानना होगा क्योंकि उस में छः दिशाओं का अव्याप्यवृत्ति संयोग होता है ।" इस का उत्तर यह है कि परमाणु में पर्यायार्थिकनय से षडंशता अभिमत है, द्रव्यार्थिकनय से ही वह निरंश होता है । यह भी ज्ञातव्य है कि जैसे वृक्षादि में अव्याप्यवृत्तिसंयोग में अवयवावच्छिन्नत्व का नियम सिद्ध है इसीप्रकार पटादि अवयवी द्रव्यों में समवायिकारणत्व में सावयवत्व का नियम भी सिद्ध है । अतः आकाश को शब्द का समवायिकारण मानने वाले नैयायिक के प्रति यह प्रसङ्गापादन भी सङ्गत हो सकता है कि आकाश यदि समवायिकारण

होगा तो वह सावयव भी होगा। तथा यह अनुमान भी संगत हो सकता है कि-"आकाश सावयव है, क्योंकि वह हिमालय और विन्ध्याचल पर्वतों से देशभेद से अवरुद्ध है। जो देशभेद से अवरुद्ध होता है वह सावयव होता है जैसे उन्हीं अवयवों द्वारा देशभेद से अवरुद्ध भूखण्ड।"

किञ्च, आकाशस्य सावयवत्वाभावे 'इह पक्षी' इति धीरनुपपन्ना स्यात्। न च 'इह' इत्यालोकमण्डलमेव प्रतीयत इति वाच्यम्, तदालोकव्यक्तेरन्यत्र गतावपि तद्दर्शनात्। न चालोकान्तरं तद्विषयः, 'तत्रैव' इति प्रत्यभिज्ञानात्। न चालोकत्वेनैव तदाधारत्वाद् न तदनुपपत्तिरिति वाच्यम्, आलोकाभावेऽपि 'तत्रैव' इति प्रत्यभिज्ञानात्। न च मूर्तद्रव्याभावाधारत्वेन तदुपपत्तिः, आलोके सति तदभावात्। न च निबिडमूर्तद्रव्याभावस्तदाप्यस्त्येवेति वाच्यम्, तस्यान्यत्रापि सत्त्वेनान्यत्र गतेऽपि पक्षिणि प्रत्यभिज्ञापत्तेः, देशविशेषमवच्छेदकं प्रतीत्यैव 'इह पक्षी' इति प्रयोगाच्च। न चाकाशदेशस्यातीन्द्रियत्वेनावच्छेदकप्रतीत्यनुपपत्तिः, अवग्रहे तादृशस्यापि क्षयोपशमविशेषेण विशेष्यानुकूलतया भावात्।

['इह पक्षी' इस बुद्धि की सावयवत्व पक्ष में ही उपपत्ति]

इस के साथ ही यह भी ज्ञातव्य है कि यदि आकाश सावयव न होगा तो आकाश में 'यहाँ पक्षी है' इस बुद्धि की उपपत्ति भी न होगी। क्योंकि इस प्रकार की बुद्धि सावयव द्रव्य में ही होती है। जैसे पर्वत में 'यहाँ अग्नि है', वृक्ष में 'यहाँ वंदर है' इत्यादि।

यदि यह कहा जाय कि "उक्त बुद्धि में 'यहाँ' इस शब्द से आकाश का कोई भाग नहीं प्रतीत होता किन्तु आलोकमण्डल प्रतीत होता है अर्थात् आकाश में 'यहाँ पक्षी है' इस का अर्थ होता है आकाश में 'इस आलोकमण्डल में पक्षी है'।"-तो यह ठीक नहीं है क्योंकि जिस आलोक व्यक्ति में उक्त बुद्धि मानी जायगी उस आलोकव्यक्ति के अन्यत्र चले जाने पर भी उसी स्थान में जहाँ पहले आकाश में 'यहाँ पक्षी है' यह बुद्धि हुई थी वहाँ ही पुनः भी उसी प्रकार की बुद्धि होती है। बाद में होने वाली उक्त बुद्धि में यदि अन्य आलोक का पक्षी के अधिकरणरूप में मान माना जायगा तो आकाश में 'इस समय भी पक्षी वहीं ही है जहाँ पहले था' इस प्रकार की जो प्रत्यभिज्ञा होती है उस की उपपत्ति न हो सकेगी क्योंकि पूर्वकाल में उत्पन्न उक्त बुद्धि का पक्षी के अधिकरणरूप में विषयभूत आलोकव्यक्ति और उत्तरकाल में होनेवाली उक्तबुद्धि का पक्षी के अधिकरणरूप में विषयभूत आलोकव्यक्ति भिन्न है।

[आलोक सामान्य की पक्षी-आधारतया प्रतीति असंभव]

यदि यह कहा जाय कि-"विभिन्न आलोकव्यक्ति को आलोकत्वसामान्यरूप से पक्षी का आधार मानने पर उक्त प्रत्यभिज्ञा की अनुपपत्ति नहीं हो सकती क्योंकि आलोकत्वसामान्यरूप से आलोक को पक्षी के आधाररूप में उक्त प्रतीति का विषय मानने पर उक्त प्रत्यभिज्ञा का इस समय भी 'आलोक में ही पक्षी है' यह अर्थ होगा और इस में कोई अनुपपत्ति नहीं है'।-तो यह ठीक नहीं है क्योंकि आलोक का अभाव हो जाने पर भी दिन में पक्षी जहाँ देखा गया था-रात्रि में भी यदि किसी साधन से उस स्थान में पक्षी देखा जाता है तो उस के आधारदेश की इस रूप में प्रत्यभिज्ञा होती है कि

'दिन में जहाँ पक्षी था-इस समय रात में भी पक्षी वहाँ ही है' इसप्रकार की प्रत्यभिज्ञा होती है, अतः प्रत्यभिज्ञा का उक्त अर्थ स्वीकार करने पर भी उस की उपपत्ति नहीं हो सकती। क्योंकि रात के समय पक्षी आलोकसामान्यनिष्ठ है ही नहीं।

[मूर्त्तद्रव्याभाव में पक्षी-आधारता की प्रतीति अयुक्त]

यदि मूर्त्तद्रव्याभाव को पक्षी का आधार मान कर उक्तप्रतीति और प्रत्यभिज्ञा की उपपत्ति की जाय तो यह भी ठीक नहीं हो सकता, क्योंकि आलोक के रहने पर मूर्त्त द्रव्य का अभाव न होने से दिन में उक्त प्रतीति की उपपत्ति न हो सकेगी। निबिडमूर्त्तद्रव्याभाव आलोक के रहने पर भी रहता है अतः पक्षी के आधाररूप में उस का भान मान कर भी उक्त प्रतीति और प्रत्यभिज्ञा की उपपत्ति नहीं की जा सकती, क्योंकि ऐसा मानने पर प्रातःकाल जहाँ पक्षी देखा गया था-मध्याह्नकाल में उस स्थान से पक्षी के अन्यत्र चले जाने पर भी इसप्रकार प्रत्यभिज्ञा की आपत्ति होगी कि-'प्रातःकाल जहाँ पक्षी देखा गया था इससमय (मध्याह्न) में भी पक्षी वहाँ ही है' इसप्रकार की प्रत्यभिज्ञा की आपत्ति होगी, क्योंकि इस पक्ष में उक्त प्रत्यभिज्ञा का यह अर्थ होगा कि प्रातःकाल जिस निबिड-मूर्त्तद्रव्याभाव में पक्षी था-मध्याह्न में भी उसी निबिडमूर्त्तद्रव्याभाव में पक्षी है और इस में कोई अनुपपत्ति नहीं है, क्योंकि अधिकरणभेद से अभावभेद न होने के कारण जिस स्थान में पूर्वकाल में पक्षी देखा गया था मध्याह्नकाल में वहाँ से हट जाने पर भी जिस दूसरे स्थान में पक्षी की उपलब्धि होती है, पक्षी के आधाररूप से भासित होनेवाला निबिडमूर्त्तद्रव्याभाव उन दोनों स्थान में एक ही है।

[इन्द्रियजन्य बुद्धि में क्षयोपशम के प्रभाव से आकाश का भान]

दूसरी बात यह है कि 'इह पक्षी' यह प्रयोग अवच्छेदकरूप में देशविशेष को ग्रहण करनेवाली प्रतीति के अनन्तर ही होता है। अतः इस प्रयोग की प्रेरक प्रतीति को पक्षी के अवच्छेदकरूप में देशविशेष की ही ग्राहक मानना होगा जो आकाश को निष्प्रदेश मानने पर असम्भव है। यदि यह शंका की जाय कि 'यदि उक्त प्रयोग को पक्षी के अवच्छेदकरूप में देशविशेष को ग्रहण करनेवाली प्रतीति पर ही निर्भर किया जायगा तो आकाश को प्रदेशवान् मानने पर भी उस की उपपत्ति नहीं होगी क्योंकि आकाश का प्रदेश अतीन्द्रिय होता है अतएव पक्षी के अवच्छेदकरूप में उस को विषय करनेवाली प्रत्यक्षात्मक प्रतीति नहीं हो सकती'-तो यह ठीक नहीं है क्योंकि इन्द्रियजन्य बुद्धि में अतीन्द्रिय देश का भी क्षयोपशमविशेष से विशेष्य के सम्बन्धीरूप में भान होता है, जैसे न्यायमत में ज्ञानलक्षणा सन्निकर्ष से चन्दन के चाक्षुष प्रत्यक्ष में उस के सुगन्ध का भान होता है।

एतेन 'पृथिवीभागोर्ध्वत्वादिभेदापेक्षया तत्रैव मूर्त्तद्रव्याभावे भेदाभेदव्यवहारोपपत्तिः, अत एवान्यत्र गतेऽपि पतत्रिणि पूर्वानुभूताधःस्थितपृथिव्यादिभागोर्ध्वताभ्रमे 'तत्रैव पतत्री' इति भवति प्रत्यभिज्ञानम्' इति **निरस्तम्**, 'इह गगने पतत्री' इत्यत्र निरवच्छिन्नसंयोगावच्छेदकस्य स्फुरणात् आकाशदेशभेदाभावे पृथिवीभागोर्ध्वत्वादिभेदस्यैवानुपपत्तेश्च। एवं च नानाप्राच्यादिव्यवहारभेदेनाप्याकाशभेदसिद्धिः, 'ततः प्राच्यामयम्' इत्यत्र तदपेक्षया संनिहितोदयाचल-संयोगावच्छिन्नाकाशवृत्तिरयम्' इत्यर्थात् दिशोऽनतिरेकात्, तदपेक्षत्वस्य संनिहितत्वस्य च तथास्वभावविशेषत्वात्। 'प्रयागात् प्राच्यां काशी' इत्यत्र 'प्रयागनिष्ठोदयाचलसंयुक्तसंयोग-

पर्याप्तसंख्यापर्याप्त्यनधिकरणोदयाचलादियुक्तसंयोगशालिमूर्तवृत्तिः काशी' इत्यन्वयस्तूच्छ्रू-ढानां कल्पनामात्रम्, तथाननुभवात्, अनुभवप्रवचनाभ्यामाकाशस्यैव सर्वाधारत्वेन स्वतन्त्रतया दिक्त्वेन मूर्तस्यानाधारत्वाच्चेति दिक्।

[ऊर्ध्वता भेद से भिन्नाधार प्रतीति का उपपादन-पूर्वपक्ष]

कुछ विद्वान पृथ्वी के उच्चावच भाग रूप अवधि भेद से तथा एकाधिक ऊर्ध्वता के तारतम्य से एक ही मूर्तद्रव्याभाव में भेद और अभेद व्यवहार की उपपत्ति करते हैं। जैसे, पृथ्वी के किसी एक भाग की ऊर्ध्वता की दृष्टि से उस में अभेदज्ञान और अभेद व्यवहार होता है। तथा, उस भाग की ऊर्ध्वता के तारतम्य से एवं पृथ्वी के अन्यभाग की ऊर्ध्वता की दृष्टि से उस में भेदज्ञान और भेद-व्यवहार होता है। ऐसा मानने से पूर्वकाल में जिस स्थान में पक्षी दृष्ट होता है उस से भिन्न स्थान में पक्षी के चले जाने पर 'जहाँ पूर्वकाल में पक्षी था वहाँ ही इस समय भी पक्षी है' इसप्रकार की प्रत्यभिज्ञा की आपत्ति नहीं हो सकती क्योंकि पूर्वकाल में द्रष्टा से अधिष्ठित भूभाग से पक्षी जितनी ऊँचाई पर दीखता था-स्थानान्तर में चले जाने पर वह पक्षी द्रष्टा से अधिष्ठित स्थान की ऊँचाई से भिन्न, समान न्यून अथवा अधिक ऊँचाई पर दीखता है, अतः ऊर्ध्वता के भेद से पक्षी के आधाररूप में प्रतीत होनेवाले मूर्तद्रव्याभाव में भेद हो जाने से आधार परिवर्तित हो जाता है।

[भिन्न भिन्न स्थान से प्रत्यभिज्ञा की अनुपपत्ति की शंका]

इस पक्ष में यह शंका हो सकती है कि "कोई मनुष्य कुछ समय पूर्व पृथ्वी के जिस निम्नभाग से पक्षी को जिस स्थान में देखता है, थोड़े समय बाद वह मनुष्य उस निम्नभाग को छोड़कर अभिमुख पृथ्वी के ऊर्ध्व भाग पर पहुँचने पर भी पक्षी को वहाँ ही देखता है और उसे इस प्रकार की प्रत्यभिज्ञा होती है कि 'थोड़े समयपूर्व पक्षी जहाँ था इससमय भी पक्षी वहाँ ही है'। उक्त पृथ्वी भाग से ऊर्ध्वता के तारतम्य से मूर्तद्रव्याभाव में भेद मानने पर इस प्रत्यभिज्ञा की उपपत्ति न हो सकेगी। क्योंकि थोड़े समय पूर्व पृथ्वी के जिस भाग से पक्षी देखा गया था, थोड़े समयबाद पृथ्वी के ऊँचेभाग से जब पक्षी दीखता है तब पृथ्वी के दोनों भाग से पक्षी के आधाररूप में प्रतीत होनेवाले मूर्तद्रव्याभाव में ऊर्ध्वता के तारतम्य से भेद हो जाता है।"

[भिन्न भिन्न स्थान से प्रत्यभिज्ञा की उपपत्ति]

इस शंका का उत्तर यह है कि मनुष्य को पूर्व समय में जितनी ऊँचाई पर पक्षी दीखा था-पक्षी के आधाररूप में प्रतीत होनेवाले मूर्तद्रव्याभाव में उतनी ही ऊर्ध्वता का उत्तरकाल में भ्रम हो जाने से थोड़े समय पूर्व पृथ्वी के अधोभाग से पक्षी के आधाररूप में दीखनेवाले मूर्तद्रव्याभाव में और थोड़े समयबाद पृथ्वी के ऊर्ध्व भाग से पक्षी के आधाररूप में दीखनेवाले मूर्तद्रव्याभाव में भेद व्यवहार नहीं हो सकने के कारण उक्त प्रत्यभिज्ञा में कोई बाधा नहीं हो सकती।-

[निरवच्छिन्न भाग की आधारताप्रतीति पूर्वपक्ष में अनुपपन्न-उत्तर पक्ष]

किन्तु यह मत इस युक्ति से निरस्त हो जाता है कि 'इह गगने पक्षी=आकाश में इस भाग में पक्षी है' इस प्रतीति में आकाश में पक्षी की आश्रयता के अवच्छेदक रूप में भासित होनेवाला भाग निरवच्छिन्न ही भासित होता है। किन्तु यदि इस प्रतीति में अवच्छेदकरूप से भासित होनेवाले भाग को

मूर्त्तद्रव्याभावरूप माना जायगा और पक्षी की आधेयता के अवच्छेदकरूप में उक्तप्रतीति में निरवच्छिन्न-रूप में भान माना जायगा तो 'इस समय पक्षी यहाँ है, वहाँ नहीं है' इस प्रतीति की उपपत्ति न हो सकेगी क्योंकि 'यहाँ-वहाँ' इन दोनों शब्दों से मूर्त्तद्रव्याभाव ही गृहीत होगा और वह यहाँ-वहाँ उभयत्र एक ही है। अतः इस प्रतीति की उपपत्ति के लिये यहाँ शब्द से पृथ्वी की एतद्भागावधिक ऊर्ध्वता विशिष्ट मूर्त्तद्रव्याभाव और वहाँ शब्द से अन्यभूभागावधिकोर्ध्वताविशिष्ट मूर्त्तद्रव्याभाव का ग्रहण करना होगा। अतः मूर्त्तद्रव्याभावरूप अवच्छेदक का तत्तदूर्ध्वता से अवच्छिन्न रूप में ही भान होने से 'आकाश में इस भाग में पक्षी है'-इस प्रतीति में निरवच्छिन्नावच्छेदकभाव की उपपत्ति न हो सकेगी।

[आकाश निरंश मानने पर ऊर्ध्वतादिभेद की अनुपपत्ति]

इस के अतिरिक्त इस मत में दूसरा दोष यह है कि आकाश में देशभेद न मानने पर पृथ्वी भाग से ऊर्ध्वतादि का भेद उपपन्न ही नहीं हो सकता। क्योंकि ऊर्ध्वता का भेद उसी में उपपन्न हो सकता है जिस में आपेक्षिक उच्चावच भाव हो। मूर्त्तद्रव्याभाव तो एक और निरंश होने से उस में उच्चावच भाव नहीं है, अतः उस में ऊर्ध्वता का तारतम्य भेद नहीं हो सकता और यदि इस के लिये उसे प्रदेशवान् माना जायगा तो केवल नाममात्र में ही विवाद रह जायगा क्योंकि ऐसे पदार्थ को पूर्वपक्षी प्रदेशवान् मूर्त्तद्रव्याभाव कहता है और सिद्धान्ती प्रदेशवान् आकाश कहता है।

[पूर्व-पश्चिम आदि भेदव्यवहार से आकाशभेद]

इसीप्रकार जैसे 'यहाँ आकाश में पक्षी है-यहाँ नहीं है' इस व्यवहार से आकाशभेद की अर्थात् प्रदेशभेद भिन्न आकाशभेद की सिद्धि होती है उसीप्रकार पूर्व-पश्चिम आदि के व्यवहारभेद से भी आकाशभेद की सिद्धि होती है। क्योंकि 'ततः प्राच्यामयम्= यह उस से पूर्व में है' इस व्यवहार का आकाश से भिन्न दिशारूप पदार्थ जैन मत में न होने से यह अर्थ होता है कि 'यह उस की अपेक्षा संनिहित उदयाचलसंयोगावच्छिन्नाकाश में रहा हुआ है'। इस अर्थ में उदयाचल में प्रतीत होनेवाला तदपेक्षत्व अर्थात् 'उसकी अपेक्षा' और 'संनिहितत्व' यानी 'उस से समीपस्थ होना'-यह उदयाचल का स्वभावविशेष है।

['प्रयाग से काशी पूर्व में है' इस प्रयोग का दिग्द्रव्यवादीकृत अर्थ]

कुछ लोगों की यह मान्यता है कि 'प्रयागात् प्राच्यां काशी = काशी प्रयाग से पूर्व में है' इस व्यवहार का अर्थ यह है कि प्रयाग में जितने उदयाचलसंयुक्तसंयोग हैं उन में जो संख्या पर्याप्ति-सम्बन्ध से विद्यमान है उस संख्या के पर्याप्तिसम्बन्ध से अनधिकरणभूत उदयाचलसंयुक्तसंयोग के आश्रयभूत भूभाग में काशी है। आशय यह है कि प्रयाग और उदयाचल के मध्य में जितने मूर्त्तद्रव्य हैं उतने मूर्त्तद्रव्यों में उदयाचलसंयुक्त दिक् का संयोग है। इसीप्रकार काशी और उदयाचल के मध्य जितने मूर्त्तद्रव्य हैं उन में भी उदयाचलसंयुक्त दिक् का संयोग है। स्पष्ट है कि प्रयाग और उदयाचल के मध्यवर्त्ती मूर्त्तद्रव्यों की संख्या से काशी और उदयाचल के मध्यवर्त्ती मूर्त्तद्रव्य की संख्या न्यून होने से प्रयाग और उदयाचल के मध्यवर्त्ती मूर्त्तद्रव्य संयोगों की संख्या से काशी और उदयाचल के मध्यवर्त्ती मूर्त्तद्रव्य संयोग की संख्या न्यून है अतः न्यूनसंख्यक संयोग, अधिक संख्या वाले संयोगों में पर्याप्तिसम्बन्ध से विद्यमान संख्या का पर्याप्तिसम्बन्ध से अनधिकरण है। तथा इन संयोगों का, स्वाश्रयदिक्संयोगसम्बन्ध से अधिकरण, वह भूखण्ड है जहाँ काशी बसी हुई है।

[दिग्द्रव्यवादीकृत अर्थ अनुभवविरुद्ध है]

किन्तु व्याख्याकार ने ऐसे लोगों को उपहासास्पद कहते हुये उन की इस मान्यता को इस आधार पर निर्युक्तिक दिखाया है-कि उक्त व्यवहार से ऐसे अर्थ का बोध आनुभविक नहीं है किन्तु 'काशी प्रयाग की अपेक्षा संनिहित उदयाचल संयोगावच्छिन्न आकाश में है' इस प्रकार का बोध ही आनुभविक है ।

दूसरी बात यह यह है कि अनुभव और आगम से आकाश ही सर्वाधार रूप में सिद्ध है अतः आकाश से भिन्न दिक्पदार्थ में कोई प्रमाण न होने से मूर्तपदार्थ को दिगुपाधि मान कर दिग् मानना और उस में किसी की आधारता मानना उचित नहीं है । अतः काशी को उक्त प्रकार के भूखण्ड में आश्रित बताना असङ्गत है ।

व्ययोऽपि स्वाभाविकः प्रयोगजनितश्चेति द्विविधः । तदुदयातिरिक्तस्य वस्तुनोऽभावात्, पूर्वावस्थाविगमव्यतिरेकेणोत्तरावस्थोत्पत्त्यनुपपत्तेः । न हि बीजादीनामविनाशेऽङ्कुरादिकार्यप्रादुर्भावो दृष्टः । न चावगाह-गति-स्थित्याधारत्वं तदनाधारत्वस्वभावप्राक्तनावस्थाध्वंसमन्तरेण संभवतीति । तत्र समुदयजनित उभयत्रापि द्विविधः-समुदयविभागरूप एकः, यथा पटादेः कार्यस्य तन्त्वादिकारणपृथक्करणम् । अन्यश्चार्थान्तरभावगमनलक्षणः, यथा मृत्पिण्डस्य घटार्थान्तरभावः । नाशत्वं चास्याजनकत्वस्वभावाऽपरित्यागे जनकत्वस्याऽयोगात् । न चैवं घटविनाशे मृत्पिण्डप्रादुर्भावप्रसक्तिः, पूर्वोत्तरावस्थयोः स्वभावतोऽसंकीर्णत्वात् वस्त्वन्तररूपे वस्त्वन्तररूपस्यापादयितुमशक्यत्वात् । ऐकत्विकनाशश्चैकत्विकोत्पादवद् वैस्रसिकभेद एवेति । तदुक्तम्-

*"विगमस्स वि एस विही समुदयजणियम्मि सो उ दुविअप्पो ।
समुदयविभागमेत्तं अत्थंतरभावगमणं च ॥" [सम्मति १३१] इति ।

[नाश का दो प्रकार:- स्वाभाविक-प्रयोगजनित]

स्वाभाविक और प्रयोगजनित रूप में उत्पाद के समान दो प्रकार का नाश भी प्रामाणिक है क्योंकि उत्पत्ति और नाश से मुक्त वस्तु का अस्तित्व नहीं होता । पूर्वावस्था के विनाश हुये बिना उत्तरावस्था की उत्पत्ति नहीं होती । जैसे बीज आदि का विनाश हुये बिना अङ्कुर आदि कार्य का प्रादुर्भाव कहीं नहीं देखा जाता । आकाश धर्म और अधर्म द्रव्य में अवगाह-गति और स्थिति के प्राक्तन आधारताभाव का विनाश हुये बिना अवगाह-गति-स्थिति की आधारतारूप पर्याय का उदय नहीं होता । उक्त द्विविध विनाश समुदयजनित होता है और वह विनाश दो प्रकार का होता है- (१) समुदयविभागरूप-जैसे पट आदि कार्य का तन्तु आदि कारणों से पृथक्करण और (२) अर्थान्तररूप में वस्तु का गमन । अर्थात् पूर्ववस्तु की उत्तरावस्था की प्राप्ति जैसे मृत्पिण्ड का घटरूप अर्थान्तर में गमन । अर्थात् पिण्डावस्था का परित्याग कर मृद्द्रव्य द्वारा घटावस्था का ग्रहण । वस्तु

*विगमस्याप्येष विधिः समुदयजनिते स तु द्विविकल्पः । समुदयविभागमात्रमर्थान्तरभावगमनं च ॥

के अवस्थान्तरगमन को यद्यपि उत्पाद ही कहना उचित प्रतीत होता है–नाश कहना उचित नहीं लगता, किन्तु फिर भी इसे नाश इसलिये कहा जाता है कि अजनकस्वभाव का नाश हुये बिना जनकता नहीं होती; अर्थात् किसी वस्तु का अवस्थान्तरगमन पूर्वावस्था के नाश से नियत होता है अत एव नाश शब्द से उस का व्यपदेश होता है ।

[घटविनाश होने पर मृत्पिंड के उन्मज्जन का भय नहीं]

इस पर यह शंका नहीं की जा सकती कि जैसे मृत्पिण्ड का विनाश होने पर घटरूपअर्थान्तरभाव की प्राप्ति होती है इसी प्रकार घट का विनाश होने पर मृत्पिण्ड का प्रादुर्भाव होना चाहिये"–इस शंका के निषेध का कारण यह है कि पिण्डरूप पूर्वावस्था और घटरूपोत्तरावस्था ये दोनों अवस्थायें स्वभावतः असंकीर्ण होती हैं। अर्थात् उन में अव्यवस्थित पौर्वापर्य का अभाव होता है। इसीलिये किसी एक वस्तु का अन्य वस्तु रूप में आपादन नहीं हो सकता अर्थात् घट का नाश होने पर कपालादि अन्य वस्तु का प्रादुर्भाव होता है, अतः कपालादि (एक वस्तु) का पिंड रूप (अन्य वस्तु) में आपादन नहीं हो सकता। नाश के उक्त विभाग के सम्बन्ध में इस प्रकार की शंका नहीं की जा सकती कि–"नाश का एक और भेद है जिसे ऐकत्विकनाश कहा जाता है–उक्त विभाग में इस का परिगणन न होने से नाश का उक्तविभाग असंगत है"। कारण यह है कि जैसे ऐकत्विकोत्पाद स्वाभाविकउत्पाद-विशेषरूप ही होता है, स्वाभाविक होने से वह बहिर्भूत नहीं होता, उसीप्रकार ऐकत्विकनाश भी स्वाभाविक नाश विशेषरूप ही है। अतः स्वाभाविक नाश के मध्य में उस का समावेश हो जाने से उक्तविभाग में कोई असंगति नहीं है जैसा कि सम्मतिग्रन्थ की तृतीयकाण्ड की गाथा ३२ में कहा गया है कि–"जो उत्पाद की स्थिति है वही विगम (नाश) की भी स्थिति है, अर्थात् उत्पाद के जो दो भेद हैं वे विनाश के भी हैं, किन्तु अन्तर इतना है कि समुदयजनित विनाश के दो भेद हैं समुदय-विभागमात्र और अर्थान्तर गमन"। यहाँ समुदयजनितविनाश में उत्पाद का यह अन्तर बताने से यह अर्थतः प्राप्त होता है कि समुदयजनित उत्पाद का एक ही भेद है अर्थान्तरभावगमन और वह दो तरह से होता है, कोई समुदयविभाग से होता है और कोई समुदायसंयोग से होता है, जैसे पट का तन्तु से पृथक्करणरूप समुदयविभाग से पटावच्छेदेन तन्तु का पटानवच्छेदेन तत्तद्रूप अवस्थान्तर में गमन होता है और तन्तु का जो परस्परसंयोग से पटावच्छेदेनतत्तद्रूप अवस्थान्तर में गमन होता है वह समुदयसंयोगजनित है ।

स्थितिश्चाविचलितस्वभावरूपत्वाद् न विभज्यते तद्युक्तत्वं च जगतः कथञ्चित्तद्रूपत्वात्; तथाहि–त्रयोऽप्युत्पादादयो भिन्नरूपावच्छेदेन भिन्नकालाः, घटोत्पादसमये घटविनाशस्य घटविनाशसमये घटोत्पादस्य, तदुत्पाद-विनाशयोरुत्पत्तिविनाशानवच्छिन्नकालसंबन्धरूपायास्तत्स्थितेश्चैकत्र विनाशविशिष्टघटरूपमृत्स्थित्योर्वा विरोधात्; तथा, प्रत्येकमपि देश-कार्त्स्न्याभ्यां भिन्नकालाः, उत्पद्यमानस्यापि घटस्य देशेनोत्पन्नत्वात्, देशेन चोत्पत्स्यमानत्वात्, प्रबन्धेन चोत्पद्यमानत्वात्, विगच्छतोऽपि देशेन विगतत्वात्, देशेन च विगमिष्यत्वात्, प्रबन्धेन च विगच्छत्त्वात्, तिष्ठतोऽपि देशेन स्थितत्वात्, देशेन च स्थास्यत्वात्, प्रबन्धेन च तिष्ठत्त्वादिति । एकरूपत्वात् द्रव्यादर्थान्तरभूतादभिन्नकालाश्चैतेऽविशिष्टाः सन्तो भिन्न-

प्रतियोगिविशिष्टा वा, कुशूलनाश-घटोत्पाद-मृत्स्थितीनामेककालत्वादिति, ततोऽनर्थान्तरभूता अपीति । एवं चोत्पादादिश्चयेण त्रैकाल्येन भेदा-ऽभेदाभ्यां भंगसंततिर्व्यस्य भावनीया सूक्ष्मधिया, त्र्यात्मक-त्रिकालात्मकतयाऽनन्तपर्यायात्मकत्वादेकवस्तुनः ।

स्थिति यानी ध्रुवता अविचलितस्वभावरूप होती है अर्थात् उस में कुछ परिवर्तन नहीं होता क्योंकि सभी पर्याय (भाव) में द्रव्य अपने निजरूप में सदा अविकृत रहता है । अतः उस में कोई विभाग नहीं होता ।

[सारे जगत् के त्रैरूप्य की उपपत्ति]

जगत् में जो उत्पाद–व्यय–ध्रौव्य-युक्तता पहले बतायी गयी है वह इसलिये कि जगत् कथञ्चित् उत्पाद-विनाश-ध्रौव्यात्मक है । आशय यह है कि उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य ये तीनों ही विभिन्नरूप से विभिन्नकालिक हैं क्योंकि घटोत्पाद के समय घट विनाश का एवं घटविनाश के समय घटोत्पाद का विरोध है और इसीप्रकार घटोत्पाद और घटविनाश का क्रम से उत्पत्ति-विनाशानवच्छिन्नकाल-सम्बन्धरूप घटस्थिति के साथ विरोध है, क्योंकि, घटोत्पाद और घटोत्पादानवच्छिन्नकालसम्बन्ध एवं घटविनाश और घटविनाशानवच्छिन्नकालसम्बन्ध एक काल में नहीं रहते । अथवा इस विरोध को इस रूप में समझा जा सकता है कि घटविनाशविशिष्टमृत्स्थितिरूप घटस्थिति का घटोत्पाद के साथ विरोध है और घटावस्थाविशिष्ट मृत् की स्थितिरूप घटस्थिति का घटविनाश के साथ विरोध है ।

इस संदर्भ में यह ध्यान देने योग्य है कि जैसे उत्पादादि तीनों में परस्पर में विभिन्नरूप से विभिन्नकालिकता नहीं है किन्तु प्रत्येक में देश और साकल्यभेद से स्व में स्व की भी भिन्नकालता है । जैसे देखिये उत्पाद्य घट किसी अंश से प्रथमक्षण में ही उत्पन्न हो जाता है अर्थात् जिस अंश से उत्पाद हो गया उस अंश से वह उत्पाद भूतकालीन हुआ और किसी अंश से उस की उत्पत्ति भविष्यकालिक होती है किन्तु साकल्येन पूछा जाय तो वह उत्पद्यमान होता है । अर्थात् साकल्येन घटोत्पाद वर्त्तमानकालीन होता है । इसी प्रकार जब घट का क्रम से नाश होता है तब घट का जो अंश नष्ट हो जाता है उस अंश से घट भी नष्ट हो जाता है अतः उस अंश से घटनाश भूतकालीन हुआ और घट का जो अंश नष्ट होनेवाला होता है उस अंश से घट भी नष्ट होनेवाला होता है । इसप्रकार घटनाश उस अंश से भविष्यकालीन हो जाता है और विभिन्न अंशों से नाश के समय वह साकल्येन नष्ट होता रहता है इसलिये साकल्येन घटनाश वर्त्तमानकालीन हो जाता है । इसीप्रकार घट जब किसी अंश से स्थित हो जाता है तो उस अंश से घट की स्थिति भूतकालिक हो जाती है और जिस अंश से स्थित होनेवाला है उस अंश से घट की स्थिति भाविकालीन हो जाती है और घट की स्थिति न साकल्येन अतीत हो सकती है या न साकल्येन भावी है उस समय घटस्थिति वर्त्तमानकालिक होती है ।

[उत्पादादि की परस्पर में भिन्नाऽभिन्नरूपता]

इसीप्रकार उत्पाद, विनाश और स्थिति ये तीनों परस्पर में अर्थान्तरभूत भी होते हैं और अनर्थान्तरभूत भी होते हैं अर्थात् परस्पर में भिन्न भी होते हैं और अभिन्न भी होते हैं । जैसे एकस्वरूप द्रव्य, जैसे घटादि किसी एक द्रव्य से विशिष्ट उत्पाद-विनाश-स्थिति ये तीनों भिन्नकालिक होने से परस्पर भिन्न होते हैं और अविशिष्ट होने पर जैसे शुद्ध उत्पाद विनाश स्थिति अथवा भिन्नप्रतियोगी-भिन्नद्रव्य से विशिष्ट होकर एककालिक होते हैं । जैसे कुशूलनाश घटोत्पाद और मृत्स्थितिरूप

में एककालिक होते हैं। अतः परस्पर में अभिन्न भी हैं। क्योंकि एकदेशस्थ एककालिक पदार्थों में परस्पर अभेद होता है।

एक ही वस्तु के उत्पादादि त्रय उपरोक्त प्रकार से परस्पर में कालभेद से कथञ्चिद्भिन्नाभिन्न होने से उत्पाद-विनाश-स्थिति तथा वर्त्तमान, भूत और भविष्यकाल तथा भेद और अभेद से अनेक भंगों की निष्पत्ति होती है जो इस प्रकार है

[उत्पादादि त्रय के अनेक भंगों का निरूपण]

(१) मृद्द्रव्य का घटात्मना उत्पाद, वर्त्तमानकाल में नाश और स्थिति से भिन्न है।
(२) मृद्द्रव्य का घटात्मना उत्पाद वर्त्तमानकाल के विनाश और स्थिति से अभिन्न है।
(३) घट की उत्पत्ति भूतकाल में विनाश और स्थिति से भिन्न है।
(४) घट की उत्पत्ति भूतकाल में विनाश और स्थिति से अभिन्न है।
(५) घट की उत्पत्ति भविष्यकाल में स्थिति और विनाश से भिन्न है।
(६) घट की उत्पत्ति भविष्यकाल में स्थिति और विनाश से अभिन्न है।

इस प्रकार उत्पत्ति के स्थान में विनाश को लेने से छः भङ्ग और स्थिति को लेने से छः भङ्ग की निष्पत्ति हो सकती है।

इन भङ्गों का तात्पर्यार्थ यह है कि प्रथम भङ्ग में मृद्द्रव्य का घटात्मना वर्त्तमानकालीनोत्पाद यह उत्पत्ति अनवच्छिन्नकालसम्बन्धरूप स्थिति और स्वनाश दोनों से भिन्नकालिक होने से भिन्न है।

द्वितीय भङ्ग में घट का वर्त्तमानकालीनोत्पाद उत्पादकालावच्छिन्नस्वस्थिति से तथा कुशूलनाश से अभिन्न है।

तृतीयभङ्ग में उत्पन्नदेश से जो भूतकालीन घटोत्पाद है वह अनुत्पन्न देश से स्वस्थिति से भिन्न है तथा स्वनाश से भिन्न है।

चतुर्थभङ्ग में अतीतोत्पादावच्छिन्नस्वस्थिति से और कुशूलनाश से उत्पन्न देश से भूतकालीनोत्पाद अभिन्न है।

पञ्चमभङ्ग में अनुत्पन्नदेश से जो घटोत्पाद है वह अतीतोत्पादावच्छिन्न स्वस्थिति से भिन्न है और स्वनाश से भिन्न है।

षष्ठभङ्ग में अनुत्पन्नदेश से घटोत्पाद अनुत्पन्नदेशीन स्थिति और कुशूलनाश से अभिन्न है। इसी प्रकार विनाश और स्थिति के साथ भी भङ्गों की कल्पना की जा सकती है।

कारण, एक ही वस्तु उत्पाद-व्यय-ध्रौव्यात्मक और अतीत-वर्त्तमान भावीकालात्मक होने से अनन्तपर्यायों से युक्त होती है।

न चैवमनन्ते काले भवतोऽनन्तपर्यायात्मकैकद्रव्यस्योपपत्तावप्येकक्षणे कथं तदुपपत्तिः ? इति शंकनीयम्, एकक्षणेऽप्यनन्तानामुत्पादानां, तत्समानां विगमानां, तन्नियतस्थितीनां च संभवात्। तथाहि-यदैवानन्तानन्तप्रदेशिकाहारभावपरिणतपुद्गलोपयोगोपजातरसरुधिरादिपरिणत(? ति)दशाविर्भूतशिराऽङ्गुल्याद्यङ्गोपाङ्गभावपरिणतस्थूल--सूक्ष्म--सूक्ष्मतरादिभिन्नावयव्यात्म-

कस्य कायस्योत्पत्तिः, तदैवानन्तानन्तपरमाणूपचितमनोवर्गणापरिणतिलक्षणमनउत्पादोऽपि, तदैव च वचनस्यापि कायाकृष्टान्तरवर्गणोत्पत्तिप्रतिलब्धवृत्तिरुत्पादः, तदैव च काया-ऽऽत्मनोरन्योन्यानुप्रवेशाद् विषमीकृतासंख्यातात्मप्रदेशे कायक्रियोत्पत्तिः, तदैव च रूपादीनामपि प्रतिक्षणोत्पत्तिनश्वराणामुत्पत्तिः, तदैव च मिथ्यात्वाऽविरति-प्रमाद-कषायादिपरिणतिसमुत्पादितकर्मबन्धनिमित्तागामिगतिविशेषाणामप्युत्पत्तिः, तदैव चोत्सृज्यमानोपादीयमानानन्तानन्तपरमाण्वापादितत्प्रमाणसंयोग-विभागानामुत्पत्तिः, तदैव च तत्तज्ज्ञानविषयत्वादीनामुत्पत्तिः, किं बहुना ? यदैवैकद्रव्यस्योत्पत्तिः, तदैव त्रैलोक्यान्तर्गतसमस्तद्रव्यैः सह साक्षात् पारम्पर्येण वा संबन्धानामुत्पत्तिः, सर्वद्रव्यव्याप्तिव्यवस्थिताकाश-धर्मा-ऽधर्मादिद्रव्यसंबन्धात् ।

[एकक्षण में एक द्रव्य में अनंत पर्याय कैसे ?]

यदि यह शंका की जाय कि–"एक द्रव्य जो अनन्तकाल में विभिन्नपर्यायों से उत्पन्न होता है उसमें अनन्तकाल में तो अनन्तपर्यायात्मकता उपपन्न हो सकती है किन्तु एक ही क्षण में उसमें अनन्तपर्यायात्मकता कैसे होगी ?"–तो इस शंका का उत्तर यह है कि एकक्षण में भी अनन्तोत्पाद-अनन्तनाश और अनन्तस्थिति पर्याय होते हैं, क्योंकि जिस समय देह की उत्पत्ति होती है उसी समय मन की, वचन की, देहक्रिया की, देहगतरूपादि की और आगामी गतिविशेषों की, परमाणुओं के संयोगविभाग की तथा तत्तज्ज्ञानविषयता की, तदुपरांत त्रैलोक्य में विद्यमान समस्त द्रव्यों के साथ उसके साक्षात् अथवा परम्परा से कई सम्बन्धों की उत्पत्ति होती है। इन में काय की उत्पत्ति में अनेकोत्पत्ति का अन्तर्भाव है–जैसे देखिये, अनन्तानन्तपरमाणु पुद्गलों का आहार-भाव में परिणमन रूप उत्पत्ति, उसके उपयोग से रस रुधिरादि की उत्पत्ति, उसके परिणाम से शिर अङ्गुलि आदि अङ्गोपाङ्ग भावों की परिणति से स्थूल-सूक्ष्म सूक्ष्मतरादि विभिन्न अवयवों की उत्पत्ति होने से 'समस्त अवयवसमष्टि' रूप कायात्मक अवयवी की उत्पत्ति होती है।

इसी प्रकार मन की उत्पत्ति में भी अनेक उत्पत्ति का समावेश है, जैसे–मनोवर्गणा के अनन्तानन्त परमाणुओं की परिणति अर्थात् अनन्तानन्त परमाणुओं में एक मन के रूप में परिणाम-नाहलारूप पर्यायों की उत्पत्ति। इसी प्रकार वचन की उत्पत्ति भी अनन्त उत्पत्तिओं से अन्तर्निविष्ट है, जैसे काययोग से आकृष्ट किये गये भाषावर्गणा रूप आन्तरवर्गणा के अनन्त परमाणुओं की वचनरूप से परिणमनाहलारूप पर्यायों के रूप में अनन्त उत्पत्ति। इस प्रकार कायक्रिया की उत्पत्ति में भी अनेक उत्पत्तिओं का संनिवेश है क्योंकि काया और आत्मा के विलक्षण संयोग से सम्पन्न अन्योन्य तादात्म्यरूप अन्योन्यानुप्रवेश के द्वारा आत्मा के असंख्य प्रदेशों में विषमीभावकरण से कायक्रियोत्पादकसामर्थ्य में संबन्ध..स्पुराधिवद का उदय होने से कायक्रिया की उत्पत्ति होती है।

एवं प्रतिक्षण-उत्पत्ति विनाशशील रूपादि की उत्पत्ति उपवस्थान के भेद से होती है। इसी प्रकार काय की उत्पत्ति के समय मिथ्यात्व-अविरति-प्रमाद और कषाय से जो कर्मबन्ध पहले उत्पन्न हो चुके हैं और जो वर्तमानभव में उदय–योग्य होते हैं तन्निमित्तक आगामी गतिविशेषों का अर्थात् उन कर्मों की क्रमप्राप्ति-फलोन्मुखता का उदय होता है। यह उदयरूप उत्पत्ति गतिविशेषों के भेद से अनेक होती है। इसी प्रकार काया की उत्पत्ति के समय कायानुप्रविष्ट आत्मा, काया के

उपचय के अनन्तानन्त परमाणुओं का त्याग और ग्रहण करता है, इस प्रकार उन परमाणुओं के समसंख्य संयोग विभागों की आत्मा में उत्पत्ति होती है। यह उत्पत्ति भी बहुसंख्य है-अनन्त है। इसी प्रकार काय की उत्पत्ति के समय काय में विभिन्न सर्जनों के अगणित ज्ञानविषयत्व की उत्पत्ति होती है। इस प्रकार विभिन्नरूप से उत्पत्तिओं के आनन्त्य का वर्णन कहाँ तक किया जाय-एक शब्द में उत्पत्ति आनन्त्य को इस प्रकार समझा जा सकता है कि जब किसी एक द्रव्य की उत्पत्ति होती है उसी समय त्रैलोक्य में विद्यमान समस्त द्रव्य के साथ उस उत्पन्नद्रव्य के साक्षात् तथा परम्परा से अगण्य सम्बन्धों की उत्पत्ति होती है क्योंकि आकाश-धर्म और अधर्म आदि द्रव्यों का समस्तद्रव्यव्यापी सम्बन्ध होता है।

ईदृशप्रतिपत्त्यभावश्चास्मदाद्यध्यक्षस्य तथा तथोल्लेखेन निरवशेषधर्मात्मकवस्त्वग्राहकत्वात्, त्रैलोक्यव्यावृत्तस्वलक्षणान्यथानुपपत्त्याऽनुमीयते तु निर्बाधमेव तथात्वम्, इतरप्रतियोगिकत्वे-नेतरासिपृथग्भूतानां व्यावृत्तीनां स्ववृत्तित्वेन स्वाऽपृथग्भूतत्वात्। न चैवं घटे स्वोत्पादादिवद-न्योत्पादादिकमपि प्रतीयेतेति वाच्यम्, व्यावृत्तिद्वारेष्टत्वात्, अनुवृत्त्या तु तदभावादेव। अत एव 'स्व-परविभागोऽप्येवमुच्छिद्येत' इति निरस्तम्, स्ववृत्त्यनुवृत्तिप्रतियोगित्वेन स्वस्य, स्ववृत्तिव्यावृत्तिप्रतियोगित्वेन च परत्वस्य व्यवस्थितेः। अत एव परत्रापि स्वसंबन्धिताभिव्य-वहारो व्युत्पन्नानामबाध एव, उक्तं च भाष्यकृता—[वि० आ० भा० गाथा ४८४]

*"जेसु अणाएसु तओ ण णज्जए, णज्जए अ णाएसु।
किह ते ण तस्स धम्मा घडस्स रूवाइधम्म व्व ॥ १ ॥" इति।

[अनंत द्रव्य संबंध का भान क्यों नहीं होता ?]

इस मान्यता के सम्बन्ध में यदि यह शंका की जाय कि—'यदि उत्पन्न होने वाले एक द्रव्य का त्रैलोक्यवर्ती समस्त द्रव्यों के साथ साक्षात् और परम्परा से सम्बन्ध होता है तो उत्पन्न द्रव्य में उन की प्रतिपत्ति क्यों नहीं होती ?'- तो इसका उत्तर यह है कि असर्वज्ञ मनुष्यों का प्रत्यक्ष तत्तद्धर्मोल्लेख से एक द्रव्यनिष्ठ सभी धर्मों का उल्लेखपूर्वक अशेषधर्मात्मक वस्तु के ग्रहण में स्वभावतः असमर्थ होता है। किन्तु उत्पन्नद्रव्य का जो त्रैलोक्यसम्बन्धता स्वरूप है उसकी अन्यथा उपपत्ति न होने से उसमें त्रैलोक्यसम्बन्धता का निर्बाध अनुमान होता है, क्योंकि व्यावृत्ति इतरप्रतियोगिकस्वरूप से इतरानुवृत्ति से पृथक् होती है और वह स्ववृत्ति होने से स्व से अपृथग्भूत-अभिन्न होती है। इसलिये किसी भी वस्तु का स्वस्वरूप त्रैलोक्यवर्ती समस्त वस्तुओं के सम्बन्ध के बिना नहीं उपपन्न हो सकता। स्व में अनुवृत्त वस्तुओं का स्व के साथ साक्षात् सम्बन्ध होता है और स्व में अननुवृत्त वस्तुओं का परम्परा से अर्थात् व्यावृत्ति द्वारा सम्बन्ध होता है। इस प्रकार वस्तु के त्रैलोक्यव्यावृत्त स्वलक्षणवस्तुस्वरूप की अन्यथानुपपत्ति से उसमें त्रैलोक्यवर्ती समस्त वस्तुओं के सम्बन्ध के अनुमान में कोई बाधा नहीं हो सकती।

---

*येष्वज्ञातेषु ततो न ज्ञायते ज्ञायते च ज्ञातेषु। कथं ते न तस्य धर्माः ? घटस्य रूपादिधर्मा इव ॥१॥

[वस्तु को अन्य पदार्थों के धर्मों से सम्बद्ध मानने पर शंका-समाधान]

वस्तु को अपने उत्पादादि के समान अन्य पदार्थों के उत्पादादि स्वरूप मानने पर यह शंका होती है कि "जैसे घट में अपने उत्पादादि की प्रमा होती है उसी प्रकार अन्य पदार्थों के उत्पादादि की भी प्रमा होनी चाहिये।" किन्तु यह शंका इसलिये निर्मूल हो जाती है कि व्यावृत्ति द्वारा घट में अन्य पदार्थों के उत्पादादि की प्रमा होती है। और अनुवृत्ति के द्वारा इसकी प्रमा का आपादन इसलिये नहीं हो सकता कि घट में अन्य पदार्थों के उत्पादादि की अनुवृत्ति का अभाव है। ऐसी शंका-"वस्तु को स्व-पर सभी धर्मों से साक्षात् अथवा परम्परा से सम्बद्ध मानने पर स्व-पर का विभाग उच्छिन्न हो जायगा क्योंकि जब सभी धर्म सबके होंगे तो उन में कोई विभाजक न हो सकेगा"-भी निराधार है क्योंकि स्ववृत्तिअनुवृत्ति के प्रतियोगित्वरूप से स्व का यानी स्ववृत्तिधर्म का, तथा स्ववृत्ति-व्यावृत्ति के प्रतियोगित्वरूप से पर का यानी पर धर्मों का निर्वचन हो सकता है। सब धर्मों का सब वस्तुओं में सम्बन्ध होता है यह मानने से 'पर धर्म में स्वसम्बन्धिता का और स्व में परधर्मसम्बन्धिता के व्यवहार का भी आपादन करना उचित नहीं है क्योंकि जिन्हें वस्तु की अनन्तधर्मात्मकता विदित है उन्हें उक्त व्यवहार अबाधितरूप से सम्पन्न होता ही है। अतः उक्त आपादन इष्ट होने से दोषरूप नहीं हो सकता। जैसा कि विशेषावश्यक भाष्य की ४८५ गाथा में कहा गया है कि-

"जिन धर्मों के अज्ञात होने पर जो पदार्थ ज्ञात नहीं होता और जिनके ज्ञात होने पर ज्ञात होता है वे उस में व्यावृत्त होने पर भी उसके धर्म क्यों नहीं होंगे? जब कि ऐसे रूपादि-स्वरूपधर्म उस घटादि पदार्थ के धर्म होते हैं।" कहने का आशय यह है कि वस्तु का ज्ञान कतिपय धर्मों की अनुवृत्ति से और अनेक धर्मों की व्यावृत्ति से ही यथावत् सम्पन्न होता है। जो धर्म वस्तु में अनुवृत्त ज्ञात होते हैं वे उस के साक्षात् धर्म होते हैं और जो धर्म वस्तु में व्यावृत्त गृहीत होते हैं वे स्वप्रतियोगिकव्यावृत्तिरूप परम्परा सम्बन्ध से उस वस्तु के धर्म होते हैं। ऐसे सभी धर्मों के ज्ञात होने पर ही वस्तु पूर्णतया गृहीत होती है और यदि उन द्विविध धर्मों में कोई धर्म गृहीत नहीं होता तो वस्तु का साकल्येन ज्ञान नहीं होता।

तैश्च परपर्यायैर्विसदृशैः पटत्वादिभिर्नास्ति घटद्रव्यम्, सदृशैस्तु सत्त्व-द्रव्यत्व-पृथिवीत्वादिभिर्व्यञ्जनपर्यायैरस्त्येव, साधारणाऽसाधारणस्य सामान्यविशेषरूपस्य वस्तुनो गुण-प्रधानभावेन सदादिशब्दवाच्यत्वात्। अर्थपर्यायैस्तु ऋजुसूत्राभिमतैः सदृशैरपि नास्ति, अन्योन्य-व्यावृत्तस्वलक्षणग्राहकत्वात् तस्य। स्वपर्यायैरपि प्रत्युत्पन्नैस्तत्समयेऽस्त्येव, विगत-भविष्यद्भि-स्तु कथञ्चिदस्ति, कथञ्चिद् नास्ति, तत्काले तच्छक्त्या तदैकत्वात्, तद्व्यक्त्या च भिन्न-त्वादिति। प्रत्युत्पन्नैरप्येकगुणकृष्णत्वादिभिरनेकगमभञ्जनेति। एवं स्वतः परतो वाऽनुवृत्ति-व्यावृत्त्याद्यनेकशक्तियुक्तोत्पादादिमल्लक्षणलक्षणमनेकान्तात्मकं जगद् विभावनीयम् ॥६॥

[स्व-पर पर्यायों से वस्तु का अस्तित्व-नास्तित्व]

इन धर्मों के सम्बन्ध में यह ज्ञातव्य है कि जो जिस पदार्थ के विसदृशपर्याय होते हैं जिन्हें परपर्याय कहे जाते हैं ऐसे धर्मों से पदार्थ का अस्तित्व नहीं होता-जैसे पटत्वादि रूप से घटद्रव्य का

अस्तित्व नहीं होता है, किन्तु जो सदृश पर्याय होते हैं अर्थात् वस्तु में जो अनुगत धर्म होते हैं जैसे घटद्रव्य में सत्ता-द्रव्यत्व-पृथ्वीत्वादि, ये घटद्रव्य के स्वपर्याय कहे जाते हैं इन धर्मों से घटद्रव्य का अस्तित्व होता है। वस्तु साधारण-असाधारणरूप अर्थात् सामान्यविशेषात्मक होती है। उस के इन सामान्यविशेषात्मक रूपों में गुण-प्रधानभाव की विवक्षा से वस्तु सद् आदि सामान्यशब्द से और घटादि विशेषशब्द से वाच्य होती है। ऋजुसूत्र नय के अनुसार सदृश अर्थपर्यायों से भी वस्तु का अस्तित्व नहीं होता क्योंकि वह नय परस्परव्यावृत्त स्वलक्षणवस्तु का ग्राहक होता है। अत एव वर्तमान समय में विद्यमान स्वसदृशपर्याय से ही वस्तु का अस्तित्व होता है। अतीत और भावी स्वसदृशपर्यायों से वस्तु का कथञ्चित् अस्तित्व और कथञ्चित् नास्तित्व दोनों होता है क्योंकि वस्तु अपनी शक्ति-अपने द्रव्यांशरूप से वर्तमानकाल में, भूतकाल में और भावीकाल में भी अभिन्न होती है। किन्तु तत्तत्काल में विद्यमान तत्तत्व्यक्तिरूप से भिन्न होती है। विद्यमान भी स्वसदृश अनेकविध एक गुण-द्विगुणकृष्णत्वादि धर्मों से वस्तु की भजना अर्थात् अनेकान्तरूपता होती है। इस प्रकार जगत् स्वतः अनुवृत्ति और परतः व्यावृत्ति आदि अनेक शक्तियों से युक्त उत्पाद व्यय-ध्रौव्यरूप लक्षणत्रय से आश्लिष्ट अनेकान्तरूप है।

इस सन्दर्भ में यह ज्ञातव्य है कि सत्त्व द्रव्यत्वादि त्रिकालवर्ती वस्तु के सामान्यधर्मों को व्यञ्जनपर्याय और वस्तु के वर्त्तमानकालमात्रवृत्तिरूप को अर्थपर्याय कहने का क्या आशय है? विचार से यह आशय ज्ञात होता है कि वस्तु का जो रूप प्रवृत्ति-निवृत्ति में उपयोगी होता है अर्थात् जिस रूप से वस्तु में इष्टसाधनता और अनिष्टसाधनताज्ञान से भावी वस्तु में प्रवृत्ति और भावी वस्तु से निवृत्ति होती है वह रूप व्यंजन-पर्याय कहा जाता है क्योंकि उस रूप से वस्तु में इष्टानिष्ट अर्थक्रिया की योग्यता की व्यक्ति होती है। किन्तु जिस रूप से वस्तु अर्थक्रिया की उत्पादक होती है, वह वस्तु का सामान्यरूप न होकर उस का वर्तमानकालमात्रवृत्तिविशेषरूप होता है, ऐसे रूप को अर्थपर्याय कहा जाता है। इसप्रकार अर्थपर्याय शब्द का 'वस्तु में अर्थक्रियोपधायकता का प्रयोजक पर्याय' यह अर्थ किया जा सकता है ॥१॥

दूसरी कारिका में वस्तु के उत्पाद-व्यय और ध्रौव्य एतत्त्रितयरूप होने में युक्ति बतायी गई है-

उत्पादादित्रयात्मकत्वे उपपत्तिमाह—

मूलम्—घटमौलिसुवर्णार्थी नाशोत्पादस्थितिष्वयम् ।
शोकप्रमोदमाध्यस्थ्यं जनो याति सहेतुकम् ॥ २ ॥ *

अयमधिकृतो जनः, सामान्यापेक्षमेकवचनम्, एकस्यैकदा त्रिविधेच्छाऽभावात्, कालभेदेनेच्छात्रयस्य च व्यात्मकैकनिमित्तत्वाऽप्रयोजकत्वादिति द्रष्टव्यम्। घट-मौलि-सुवर्णार्थी सन्=प्रत्येकं सौवर्णघट-मुकुटसुवर्णान्यभिलषन् एकदा तन्नाशोत्पादस्थितिषु सतीषु शोक-प्रमोदमाध्यस्थ्यं सहेतुकं याति। तदैव हि घटार्थिनो घटनाशात् शोकः, मुकुटार्थिनस्तु तदुत्पादात् प्रमोदः, सुवर्णार्थिनस्तु पूर्वनाशाऽपूर्वोत्पादाऽभावाद् न शोको न वा प्रमोदः, किन्तु माध्यस्थ्यमिति दृश्यते।

* दूसरी और तीसरी कारिका आप्तमीमांसा ग्रन्थ में ५९-६० क्रमांक से विद्यमान हैं।

इदं च वस्तुनस्त्रैलक्षण्यलक्षणं विना दुर्घटम्, घटनाशकाले मुकुटोत्पादानभ्युपगमे तदर्थिनः शोकानुपपत्तेः [? प्रमोदानुपपत्तेः], घटादिभिन्नस्थितिमत्सुवर्णानभ्युपगमे च सुवर्णार्थिनो माध्यस्थ्यानुपपत्तेः। न च सुवर्णसामान्यार्थिनो यत्किञ्चित्सुवर्णनाशेऽपि शोकाभावात्, अपूर्वेच्छाऽभावेन च प्रमोदाभावादर्थादुपपद्यते माध्यस्थ्यमिति वाच्यम्, तथापि घटनाशानन्तरमेव मुकुटोत्पादाभ्युपगमेऽन्तरा यावत्सुवर्णाभावे शोकस्यैव प्रसङ्गात्, दोषविशेषात् तदननुभवेन शोकाभावेऽपि विशेषदर्शिनो दुर्घटः। न च सुवर्णसामान्याभावोऽपि सुवर्णसामान्येच्छाविघातकज्ञानविषय एकः परस्य युज्यते, अनुभवेन तदैक्याभ्युपगमे च तत्तद्व्यक्त्यनुगतसुवर्णसामान्यस्याप्यनुभवसिद्धस्य प्रत्याख्यातुमशक्यत्वात्, गौणीकृतविशेषायास्तद्विषयकेच्छाया एव *तद्विषयकप्रवृत्तिहेतुत्वादिति।*

कारिका में 'जन' शब्द में एकवचन विभक्ति का प्रयोग 'जनत्व' सामान्य की अपेक्षा किया गया है, व्यक्ति की अपेक्षा नहीं। क्योंकि एक व्यक्ति को एककाल में त्रिविध इच्छा नहीं हो सकती। अर्थात् एकव्यक्ति एक ही वस्तु को एककाल में तीन रूपों में पाने की इच्छा नहीं कर सकता। यदि कालभेद से एकव्यक्ति में इच्छात्रय की उपपत्ति की जायगी तो इसप्रकार के इच्छात्रय से एककाल में उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य एतत्त्रितयात्मक एकवस्तु की सिद्धि नहीं हो सकती। क्योंकि एकवस्तु यदि एककाल में उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य एतत्त्रितयात्मक न हो, तो भी कालभेद से इच्छात्रय की उपपत्ति हो सकती है अतः 'जन' पद को सामान्य की अपेक्षा से एकवचनान्त मानने पर कारिका का यह अर्थ निष्पन्न होता है कि—

[घट-मुकुट-सुवर्ण के दृष्टान्त से त्रैरूप्य की उपपत्ति]

एक मूलद्रव्य से सौवर्णघट, सौवर्णमुकुट और केवल सुवर्ण को एककाल में अभिलाषा करने वाले तीन मनुष्यों को, एककाल में घट का नाश, मुकुट की उत्पत्ति और सुवर्ण स्थिति होने पर उन्हें क्रम से शोक, हर्ष और शोकहर्षोभयविरहरूप माध्यस्थ्य की प्राप्ति होती है। क्योंकि मूलद्रव्य एक ही काल में घटरूप में नष्ट होता है और मुकुटरूप में उत्पन्न होता है एवं सुवर्णद्रव्यरूप में अवस्थित रहता है। अतः घटार्थी को घटरूप से मूलद्रव्य का नाश होने से शोक होता है, मुकुटार्थी को उसी मूलद्रव्य की मुकुटरूप में उत्पत्ति होने से हर्ष होता है और सुवर्णार्थी को शोक और हर्ष कुछ नहीं होता क्योंकि उसे घटरूप अथवा मुकुटरूप में मूलद्रव्य की कामना नहीं है किन्तु सुवर्णरूप में कामना है, और मूलद्रव्य घट एवं मुकुट दोनों दशा में अथवा घट और मुकुट दोनों के अभाव की दशा में सुवर्णरूप से सुलभ है।

एकमूलद्रव्य के सम्बन्ध में विभिन्न मनुष्यों को ये तीन अनुभूति, वस्तु को एककाल में त्रैलक्षण्य से लक्षित न मानने पर असम्भव है। क्योंकि यदि मूलद्रव्य घटरूप से अपने नाशकाल में मुकुटरूप से उत्पन्न नहीं होगा—मुकुटरूप में उस को प्राप्ति के चाहक मनुष्य को हर्ष नहीं होगा। यदि एवं घटमुकुट आदि विभिन्न विवर्त्त-आकार से अतिरिक्त सुवर्णद्रव्य का अस्तित्व न माना जायेगा तो घट के नाश और मुकुट के अनुत्पाद दशा में सुवर्णार्थी में शोक हर्षविरह रूप माध्यस्थ्य उपपन्न न होगा। क्योंकि घट के नष्ट होने से घटरूप में सुवर्ण रहा नहीं, मुकुट की उत्पत्ति न होने से मुकुटरूप में भी

नहीं रहा और उन आकारों से अतिरिक्त सुवर्णद्रव्य का अस्तित्व नहीं है, अतः उस दशा में सुवर्ण प्राप्ति की आशा समाप्त हो जाने से सुवर्णार्थी को शोकप्राप्ति अनिवार्य होगी।

[सुवर्ण को घटादि विवर्त्त से अतिरिक्त क्यों माना जाय ?]

यदि यह कहा जाय कि–'जो सामान्यरूप से सुवर्ण का इच्छुक है उसको किसी एक आकार से सुवर्ण नाश होने पर भी अन्याकार में सुवर्ण की प्राप्ति सम्भव होने से शोक नहीं होगा और मुकुटाकार सुवर्ण की उत्पत्ति होने पर भी उसे हर्ष नहीं होगा क्योंकि मुकुटादि अपूर्व आकाररूप में उसे सुवर्ण की आकांक्षा नहीं है। अतः घट-मुकुटादि से अतिरिक्त सुवर्णद्रव्य की सत्ता न मानने पर भी सुवर्णार्थी में शोकहर्षशून्यतारूप माध्यस्थ्य होने में कोई बाधा नहीं हो सकती'-तो यह ठीक नहीं है। क्योंकि जिस सुवर्णद्रव्य से, पहले से ही घट बना हुआ है उस सुवर्णद्रव्य से घटनाश के बाद ही मुकुट की उत्पत्ति हो सकती है, अतः घटनाश और मुकुटोत्पाद के मध्यकाल यावत् सुवर्ण का अभाव होने के कारण सुवर्णप्राप्ति की आशा न होने से सुवर्णार्थी को शोक होना अनिवार्य है। यदि यह कहा जाय कि "शोक के उदय में यद्यपि यावत् सुवर्ण के अभाव का अनुभव कारण है, किन्तु सुवर्णार्थी को घटनाश और मुकुटोत्पाद के मध्य अत्यन्त लघुकाल में सुवर्ण की तीव्रतर आकांक्षारूप दोष से यावत्सुवर्ण के अभाव का अनुभव नहीं होता। अत एव उस में शोक का अभाव सम्भव होता है।" किन्तु यह कथन ठीक नहीं है क्योंकि जैसे उसे यावत्सुवर्णाभाव का अनुभव नहीं होता उसी प्रकार उसे सुवर्ण के अस्तित्व का भी अनुभव नहीं होता क्योंकि उसे घट-मुकुटादि आकारों से अतिरिक्त सुवर्ण के अभाव का निश्चय रहता है। अतः यावत्सुवर्णाभाव के अनुभव के न होने मात्र से शोकाभाव नहीं हो सकता। क्योंकि शोकाभाव के लिये किसी रूप में सुवर्ण के अस्तित्व का ज्ञान भी अपेक्षित है। जो तत्तदाकारों से अतिरिक्त सुवर्णद्रव्य के अस्तित्व में आस्थाहीन व्यक्ति को घटनाश और मुकुटोत्पाद के मध्यकालीन अवधि में सम्भव नहीं है।

[सुवर्णत्वसामान्यानुभव से शोकाभाव की अनुपपत्ति]

यदि यह कहा जाय कि "घट मुकुटादि तत्तदाकारों से अतिरिक्त सुवर्णद्रव्य के अस्तित्व का अनुभव सुवर्ण सामान्यार्थी को घटनाश और मुकुटोत्पाद के मध्यकाल में भले न हो किन्तु घट मुकुटादि विभिन्न आकारों में अनुगत सुवर्णसामान्य-सुवर्णत्वजाति के अस्तित्व का अनुभव हो सकता है। और वह उस सुवर्णसामान्य का ही इच्छुक होता है। अतः उसे शोकहीन होने में कोई बाधा नहीं है क्योंकि सुवर्णसामान्य का निश्चय भी सुवर्णसामान्य की इच्छा का विषयसिद्धिविधया विघातक है।"-तो यह ठीक नहीं है क्योंकि ऐसे सुवर्णसामान्य की सिद्धि में कोई युक्ति नहीं है और यदि घट-मुकुटादि भिन्न सुवर्णाकारों में सुवर्णसामान्य-सुवर्णत्वजाति के अनुभव के बल उसका अभ्युपगम किया जायगा तो घटमुकुटादि विभिन्न आकारों में एक सुवर्णद्रव्यसामान्य की अनुवृत्ति के अनुभव के अनुरोध से तत्तदाकारों से अतिरिक्त एकद्रव्यात्मक सुवर्णसामान्य का भी प्रत्याख्यान नहीं हो सकता। घट-मुकुटादि तत्तद्विशेषाकार को गौण कर सुवर्णद्रव्यसामान्य का प्रधानरूप से अवगाहन करने वाली इच्छा को सुवर्णसामान्यार्थी की प्रवृत्ति का हेतु भी माना जा सकता है। अतः इस प्रवृत्ति के अनुरोध से द्रव्यात्मक सुवर्णसामान्य के अतिरिक्त जात्यात्मक सुवर्णसामान्यकल्पना अयुक्त है।

न च शोकादिकं निर्हेतुकमिति वक्तुं युक्तम्, नित्यं सत्त्वस्याऽसत्त्वस्य वा प्रसङ्गात्। न च दुःखादिकमपि तत्र घटमुकुटोभयार्थिना युगपच्छोकप्रमोदोत्पाद इति वक्तव्यम्, एकस्मै-

मयाधिप्रश्रययोगात् । एकत्र देशे तत्प्रवृत्तौ चोभयस्य कथञ्चित्प्रत्येकातिरेकेण दोषाभावात्, येन रूपेण यत्रेच्छा तेन रूपेण तन्नाशो-त्पाद-स्थितिज्ञानानामेव शोक-प्रमोद-माध्यस्थ्यहेतुत्वात्, अनेकान्तस्याप्यनेकान्तानुविद्धैकान्तगर्भत्वात् । तदुक्तम्—

'*भयणावि हु भइयव्वा जह भयणा भयइ सव्वदव्वाइं ।
एवं भयणा नियमो वि होइ समयाविराहणया ।।" [सम्मति प्र० १२४] इति ।

अत एव "[1]रयणप्पहा सिय सासया, सिय असासया" इत्यनेकान्तवाक्ये तदनुविद्धं "[2]दव्वट्ठयाए सिय सासया, पज्जवट्ठयाए सिय असासया" इति व्यवस्थितम् । एतेन "उत्पाद-स्थिति-भङ्गानामेकत्र समवायतः प्रीतिमध्यस्थताशोकाः स्युर्न स्युरिति दुर्घटम्" इत्यभिप्रायाऽपरिज्ञानविजृम्भितं मण्डनमिश्रकृतखण्डनमपास्तम् । न हि घट-मुकुटरूपापेक्षायुत्पादनाशावेव सुवर्णरूपापेक्षावपि, येनाऽव्यवस्था स्यादिति । न चानेकान्तवादे तत्सत्त्वेऽपि तदभावज्ञानात् प्रवृत्त्यव्यवस्थया प्रीत्याद्यव्यवस्थापि, येन रूपेणेच्छा तेन रूपेण तदभावज्ञानस्यैव प्रवृत्तिविघातकत्वात् । एतेनापि—

"नैकान्तः सर्वभावानां यदि सर्वविधा गतः ।
अप्रवृत्ति-निवृत्तीदं प्राप्तं सर्वत्र ही जगत् ॥ [ ]

इति सर्वस्वहानिजनित इव महान् मण्डनमिश्रगृहशोको निवारितः ! । परिहरिष्यते च पूर्वपक्षोद्भावितोऽनिश्चयप्रसङ्गः स्वयमेव ग्रन्थकृता, इति तत्रैवाधिकं विवेचयिष्यते ॥ २ ॥

[घट-मुकुट दोनों के चाहक को शोक-हर्ष युगल की आपत्ति अशक्य]

यदि यह कहा जाय कि—'घटनाशादि से विभिन्न मनुष्यों को जो शोकादि होता है वह निर्हेतुक है अत एव उसके हेतुरूप में एक काल में उत्पादादित्रितयात्मक वस्तु की सिद्धि नहीं हो सकती'— तो यह ठीक नहीं है, क्योंकि शोकादि को निर्हेतुक मानने पर, या तो नित्यपदार्थों के समान उसके सर्वदा सत्त्व का प्रसंग होगा या तो शशविषाणादि के समान उसके सार्वदिक असत्त्व का प्रसङ्ग होगा। यदि यह शंका की जाय कि—एक काल में वस्तु को उत्पादव्ययध्रौव्य एतत्त्रितयात्मक मानने के पक्ष में भी घट-मुकुट उभय की कामना करने वाले व्यक्ति को घटनाश और मुकुटोत्पाद होने पर एक साथ ही विषय में शोक और हर्ष दोनों की उत्पत्ति का प्रसङ्ग होगा। क्योंकि जिस द्रव्य को वह घटरूप में चाहता था, घट का नाश हो जाने पर वह द्रव्य उसे घटरूप में प्राप्त नहीं हो सकता, इसलिये उस द्रव्य के विषय में शोक, और उसी द्रव्य को वह मुकुटरूप में प्राप्त करना चाहता था अतः मुकुटरूप में उसकी उत्पत्ति होने से उस रूप में उसकी प्राप्ति सुलभ होने के कारण उसी मूलद्रव्य के

---

*भजनापि खलु भक्तव्या यथा भजना भजति सर्वद्रव्याणि ।
एवं भजना नियमोऽपि भवति समयाऽविराधनया ।। १ ।।

१. रत्नप्रभा स्याच्छाश्वती, स्यादशाश्वती । २. द्रव्यार्थतया स्याच्छाश्वती, पर्यायार्थतया स्यादशाश्वती ।

विषय में हर्ष की उत्पत्ति, अनिवार्य है।'-तो यह ठीक नहीं है, क्योंकि घट और मुकुट उभयार्थी एक ही मनुष्य की एक द्रव्य में प्रवृत्ति नहीं होती।

[रूपभेद से प्रवृत्ति होने पर भी शोक-हर्ष की अनापत्ति]

यदि यह कहा जाय कि—"घटमुकुटोभयार्थी की एकरूप से एक द्रव्य में प्रवृत्ति न होने पर भी रूपभेद यानी घटाकार-मुकुटाकार से प्रवृत्ति हो सकती है" तो इस का उत्तर यह है कि ऐसी स्थिति में उक्त दोष प्रसक्त नहीं हो सकता क्योंकि इस स्थिति में प्रवृत्ति का विषयभूत द्रव्य रूपभेद से एक दूसरे से भिन्न हो जाता है। अतः यह प्रवृत्ति सर्वथा एकविषयक न रह कर भिन्नविषयक हो जाती है। अतः इसके अंशभेद से विफल और सफल होने पर होनेवाला शोक और हर्ष भिन्न-विषयक हो जाता है।

[अनेकान्त भी अनेकान्त से उपश्लिष्ट है]

आशय यह है कि जिस रूप से मनुष्य को जिस वस्तु की इच्छा होती है उस रूप से उसके नाश का ज्ञान शोक का, उत्पाद का ज्ञान हर्ष का और स्थिति का ज्ञान माध्यस्थ्य का हेतु होता है, क्योंकि जो वस्तु उत्पाद व्यय और ध्रौव्य रूप होने से अनेकान्तात्मक है वह वस्तु एक एक रूप से एक ही समय केवल नाशादि एक एकात्मक ही है। जैसे घटरूप से नाश और मुकुटरूप से उत्पाद और सुवर्णरूप से ध्रौव्ययुक्त द्रव्य जिस क्षण घटस्व रूप से नष्ट होता है उस समय वह घटस्वरूप से उत्पाद अथवा स्थिति से युक्त नहीं होता। इस प्रकार अनेकान्त भी अनेकान्त से अनुविद्ध एकान्त से घटित है। अतः एक सुवर्णद्रव्य में घटमुकुट की इच्छा से होने वाली प्रवृत्ति घटस्वरूप से उसका नाश और मुकुट-स्वरूप से उसका उत्पाद होने पर घटस्वरूप से उसमें प्रवृत्ति की निष्फलता और मुकुटस्वरूप से प्रवृत्ति की सफलता होने से वह वस्तु विभिन्नरूप से शोकप्रद और विभिन्नरूप से हर्षप्रद होती है—ऐसा मानने में कोई विरोध नहीं है।

अनेकान्त की एकान्तगर्भितता में सम्मतिग्रन्थ तीसरे काण्ड की २९ वीं गाथा भी साक्षी है जिसका अर्थ यह है कि-'भजना = अनेकान्त की भी भजना यानी अनेकान्तरूपता होती है। इसलिये जैसे अनेकान्त सभी द्रव्यों का अनेकान्तात्मना ग्राहक होता है उसी प्रकार अपना भी अनेकान्तरूप से ग्राहक होता है। इसलिये अनेकान्त में एकान्त भी होता है और यह सिद्धान्त के अविरुद्ध है क्योंकि अनेकान्त का घटक एकान्त भी अनेकान्त से अनुविद्ध होता है।'

इसीलिये, अनेकान्त के एकान्तगर्भित होने से ही "रत्नप्रभा पृथ्वी कथंचिद् शाश्वत और कथंचिद् अशाश्वत है" यहाँ पृथ्वी की अनेकान्तरूपता का बोधक इस आगम वाक्य के साथ 'द्रव्यार्थिकनय से पृथ्वी शाश्वत ही है और पर्यायार्थिक नय से अशाश्वत ही है' यह पृथ्वी की एकान्तात्मकता का बोधक भगवान के आगम का वचन सङ्गत होता है।

[एक साथ एक मनुष्य को शोकादि आपत्ति का निवारण]

मण्डनमिश्र ने इस सिद्धान्त के विरोध में जो यह कहा है कि-'एक वस्तु में उत्पाद-स्थिति और नाश का एककाल में अस्तित्व मानने पर एक ही काल में उस वस्तु की उत्पत्ति, स्थिति और नाश होने से एक ही मनुष्य को एक ही समय उत्पद्यमान आकांक्षितरूप से उस वस्तु से हर्ष और अनुवर्तमान सामान्यरूप से उस वस्तु के सम्बन्ध में माध्यस्थ्य और नश्यद्रूप से उस वस्तु के सम्बन्ध

में शोक की आपत्ति होगी। वस्तु को एक काल में उत्पादादित्रितयात्मक मानने पर एक व्यक्ति को एक वस्तु के सम्बन्ध में प्रीति आदि का न होना दुर्घट है।"-किन्तु यह कथन इसलिये मूल्यहीन है कि इस कथन का मूल है वस्तु को उत्पादादित्रितयात्मक मानने के उक्त अभिप्राय का अज्ञान। आशय यह है कि घट और मुकुट में जो आकार की उत्पाद और विनाश अपेक्षा से होता है वह सुवर्णरूप की भी अपेक्षा से नहीं होता। यदि घटमुकुटरूप से उत्पत्ति-विनाश के साथ सुवर्णरूप से भी उत्पाद और विनाश होता, तब यह उक्त दोष हो सकता था, किन्तु ऐसा नहीं है। इस पक्ष में यदि यह शंका की जाय कि-'अनेकान्तवाद में वस्तु का अस्तित्व होने पर भी उसके अभाव का ज्ञान हो सकता है इसलिये प्रवृत्ति की अव्यवस्था होगी क्योंकि तत्तद्वस्तुविषयक प्रवृत्ति के प्रति तत्तद्वस्तु के अभाव का ज्ञान प्रतिबन्धक होता है। फलतः तत्तद्वस्तुओं की प्राप्ति व अप्राप्ति से प्रीति और दुःखादि की उपपत्ति न हो सकेगी'- तो यह ठीक नहीं है क्योंकि जिस रूप से जिस वस्तु की इच्छा होती है उस रूप से उस वस्तु के अभाव का ज्ञान ही प्रवृत्ति का विरोधी होता है।

वस्तु को उत्पादादित्रितयात्मक मानने पर मण्डनमिश्र को घर बैठे जो सर्वस्वहानि से होनेवाली चिन्ता जैसी चिन्ता हुई कि यदि सम्पूर्ण पदार्थों को सब प्रकार से अनेकान्तरूप माना जायगा तो समस्तविश्व प्रवृत्तिनिवृत्ति शून्य होकर मृतकल्प यानी असत्कल्प हो जायगा। जैसे, इस मत में जो वस्तु रजतरूप है वह कथञ्चित् अरजतरूप भी है, इसलिये रजतात्मकता के ज्ञान से उस वस्तु के अरजतात्मक होने से उस वस्तु में होने वाली निवृत्ति का विरोध करेगा और उसकी अरजतात्मकता के ज्ञान से उसमें रजतात्मकता के ज्ञान से होने वाली प्रवृत्ति का विरोध होने से उस वस्तु के विषय में मनुष्य की न तो प्रवृत्ति होगी, न निवृत्ति होगी। यही स्थिति जगत् की सर्ववस्तु के सम्बन्ध में होगी।"-ऐसी चिन्ता भी उक्त उत्तर से समाप्त हो जाती है। क्योंकि जिस रूप से जिस वस्तु की इच्छा होती है उस रूप से उस वस्तु के अभाव का ज्ञान ही प्रवृत्ति का विरोधी होता है। इस सिद्धान्त में पूर्वपक्षीओं द्वारा वस्तु के अनिश्चय की भी आपत्ति दी जाती है किन्तु ग्रन्थकार इसका स्वयं परिहार करेंगे अतः उसी अवसर पर इस सम्बन्ध में और विवेचन किया जायगा ॥२॥

तीसरी कारिका में वस्तु की एककाल में त्रितयात्मकता की उपपत्ति के लिये एक अन्य उदाहरण प्रदर्शित किया गया है-

एतदुपपत्त्यैव दृष्टान्तान्तरमाह-

मूलम्—पयोव्रतो न दध्यत्ति न पयोऽत्ति दधिव्रतः।

अगोरसव्रतो नोभे तस्मात्तत्त्वं त्रयात्मकम् ॥ ३ ॥

पयोव्रतः=क्षीरभोजनव्रतः, न दध्यत्ति=न दधि भुङ्क्ते। यदि च दध्नः पयस एकान्ताऽभेदः स्यात् तदा तस्य दधि भुञ्जानोऽपि न व्रतभंगः स्यात्। तथा, दधिव्रतः=दधिभोजनव्रतः, पयः=दुग्धम् अत्ति। पयसो दध्न एकान्ताऽभेदे च तद् भुञ्जतो न दधिभोजनव्रतभङ्गः स्यात्। ततो दधिपयसोः कथञ्चिद्भेदः। तथा अगोरसव्रतः=आल(?र)नालादिभोजनव्रतः, उभे=दुग्धदधिनी नात्ति इति गोरसभावेन द्वयोरभेदः, अन्यथा कृतगोरसप्रत्याख्यानस्य दुग्धाद्येकैकभोजनेऽपि न व्रतभङ्गः स्यादिति। तस्मात्=द्रव्यपर्यायोभयात्मकत्वात् त्रया-

त्मकम्-उत्पाद-व्यय-ध्रौव्याऽपृथग्भूतं वस्तु । तथा च समयपरमार्थवेदिनः—[सम्मती-गाथा १२]

*दव्वं पज्जवविउअं दव्वविउत्ता य पज्जवा णत्थि ।
उप्पाय-ट्ठिइ-भंगा हंदि ! दवियलक्खणं एयं ॥ १ ॥ इति ।

[दही, दुग्ध और गोरस के दृष्टान्त से अनेकान्तसिद्धि]

जो व्यक्ति पयोव्रती होता है अर्थात् दुग्धमात्र के भोजन का नियम ले लेता है वह दही नहीं खाता। यदि दही और दूध में एकान्त अभेद होता तो दही खाने पर भी उसके व्रत का भङ्ग नहीं होना चाहिये, किन्तु होता है। इसी प्रकार जो व्यक्ति दधिव्रती होता है केवल दही खाने का नियम ले लेता है वह दूध नहीं लेता। यदि दूध में दही का एकान्त अभेद हो तो दूध लेने से दही के व्रत का भङ्ग नहीं होना चाहिये किन्तु होता है। अतः दही और दूध में कथंचिद् भेद सिद्ध होता है। और इसी प्रकार जो व्यक्ति अगोरसव्रत होता है-गोरस रहित वस्तु के ही भोजन का नियम लेता है वह दूध और दही दोनों ही वस्तु को नहीं लेता। इसलिये इन दोनों में गोरसरूप से अभेद सिद्ध होता है। यदि दूध और दही में गोरसरूप से अभेद न होता तो जिसने गोरस के त्याग का नियम लिया है, दूध अथवा दही किसी एक का भोजन करने पर भी उसके व्रत का भङ्ग नहीं होगा, किन्तु हो जाता है अतः गोरसरूप से दोनों में अभेद आवश्यक है। निष्कर्ष यह है कि वस्तु द्रव्यपर्याय उभयात्मक होती है। उसमें द्रव्यांश स्थिर होता है और पर्याय उत्पत्ति-विनाशशाली होते हैं। प्रतिक्षण किसी पर्याय का विनाश और किसी पर्याय का उदय होता है। अतः वस्तु प्रतिक्षण विनश्यत् पर्याय के रूप में नष्ट होती है, उत्पद्यमान पर्याय के रूप में उत्पन्न होती है और द्रव्य के रूप में स्थिर रहती है। इस प्रकार वस्तु उत्पाद-विनाश और स्थैर्य से कभी पृथग्भूत नहीं होती। जैसा कि सिद्धान्त रहस्यवेदी श्री सिद्धसेनसूरि के सम्मतिग्रन्थ कांड १ गाथा-१२ में कहा गया है कि "द्रव्य कभी भी पर्यायों से मुक्त नहीं होता और पर्याय भी कभी द्रव्य से मुक्त नहीं होते। अतः 'उत्पाद-स्थिति और विनाश' यह द्रव्य मानी वस्तु का सुनिश्चित लक्षण है।"

ननु दुग्ध-दध्नोरेकान्तेन भेद एव इति तयोरुत्पाद-व्ययौ युक्तौ, ध्रौव्यं तु गोरसत्व-सामान्यस्यैव न तु गोरसस्येति चेत् ? न, 'इदमेव गोरसं दुग्धभावेन नष्टम्, दधिभावेन चोत्पन्नम्' इत्येकस्यैवैकदोत्पाद-व्ययाधारत्वलक्षणध्रौव्यभागितया प्रत्यभिज्ञायमानस्य पराकर्तुमशक्यत्वात् ।

[प्रत्यभिज्ञा से गोरस के ध्रौव्य की सिद्धि]

यदि यह शंका की जाय-"कि दूध और दही में एकान्त भेद ही है-अतः उनका उत्पाद और विनाश युक्तिसंगत है किन्तु उनका ध्रौव्य युक्तिसंगत नहीं है, क्योंकि उन दोनों में अनुगत कोई गोरसात्मक अतिरिक्त द्रव्य नहीं है, जिस रूप से उन्हें ध्रुव माना जा सके। ध्रुव रहने वाला तो उन दोनों में गोरसत्व नामक सामान्य रहता है, जो उन दोनों से अत्यन्तभिन्न है और ध्रुव है।"-किन्तु यह ठीक नहीं है क्योंकि 'जो गोरस दूध के रूप में नष्ट होता है वही गोरस दही के रूप में उत्पन्न होता है' इस प्रकार एक ही गोरस में एक ही काल में एक रूप से उत्पत्ति दूसरे रूप से नाश और

*द्रव्यं पर्यायवियुतं द्रव्यवियुक्ताश्च पर्याया न सन्ति । उत्पाद-स्थिति-भङ्गा हन्त ! द्रव्यलक्षणमेतत् ॥

उभयानुगतरूप से ध्रौव्य की प्रत्यभिज्ञा होती है। अतः विभिन्नरूपों से उत्पन्न होने वाले पर्यायों में अनुगत एक सामान्य स्थिर द्रव्य का निराकरण नहीं किया जा सकता।

न च विशेषेभ्योऽत्यन्तव्यतिरिक्तं ध्रुवं सामान्यमस्ति, तदव्यवस्थितेः। तथाहि—"नित्यमेकमनेकसमवेतं सामान्यम्" इति तल्लक्षणमाचक्षते परे। अत्र 'एकम्' इति स्वरूपाभिधानं न तु लक्षणम्—इत्येके। 'नित्यमेकम्' इत्येकं लक्षणम्, लक्षणान्तरं वा समवायित्वे सत्यनेकसमवेतत्वमिति [illegible]—इत्यन्ये। 'अनेकवृत्तित्वमनेकाधारकत्वम्, तथाभाव-समवाययोरपि, इत्यत उक्तम्—'एकम्'—असहायम्, अभाव-समवाययोश्च प्रतियोगिसंबन्धिनौ सहायौ' इत्यपरे।

तत्र नित्यत्वं तावत् श्यामत्व-रक्तत्वाद्युपाधीनामिव दधित्व-दुग्धत्वादीनां साक्षादेवोत्पाद-विनाशानुभवादसिद्धम्। 'दुग्ध-दध्नोरेवोत्पाद-विनाशानुभवोऽस्ति, न दधित्व-दुग्धत्वयोरि'ति चेत्? तर्हि श्यामरक्तयोरेव तदनुभवः, न तु श्यामत्व-रक्तत्वयोः, इति तयोरपि नित्यत्वं किं न स्यात्?। 'श्यामाद्युत्पादाद्यनुभवो भ्रान्तः, तत्कारणाभावात्' इति तु न युक्तम्, दण्डादिकं विनापि खण्डघटादिवत् तदुत्पादादिसंभवात्। 'सहेतुकत्वाच्छ्यामरूपादेर्न नित्यत्वम्' इत्यत्रापि विवादकलह एव। 'भावकार्यत्वस्य नाशनियमाद् न तत्र नित्यत्वमि'ति चेत्? अनुत्तरमेतदपि, कार्यत्वस्यैवेत्थमसिद्धेः। किञ्च, एवं लाघवाद् भावस्यैव नाशनियमाज्जातेरपि नित्यत्वक्षतिरस्तु। 'अनित्यत्वे सति प्रतिव्यक्ति भिन्नं सत् सामान्यं सामान्यरूपतां जह्यादि'ति चेत्? उपाधिरप्यनुगतव्यवहारनियामिकां तां किं न जह्यात्?। 'उपाधावपि परम्परया जातिरेवानुगमिका, प्रमेयत्वादेरपि परम्परासंबन्धेन प्रमात्वादिरूपत्वादि'ति चेत्? न, घटे घटत्वादेरिव प्रमेयत्वादेरपि साक्षादेवानुभवात्।

[अतिरिक्त नित्य सामान्यवाद की परीक्षा का प्रारम्भ]

यह जो कहा गया कि सामान्य अपने विभिन्नाश्रयों से अत्यन्त भिन्न और ध्रुव होता है वह सत्य नहीं है क्योंकि इस प्रकार का सामान्य असिद्ध है। जैसे देखिये,—वस्तु की सिद्धि लक्षण और प्रमाण से होती है किन्तु सामान्य का जो लक्षण बताया गया है वह परीक्षा करने पर निर्दोष नहीं हो पाता। उदाहरणार्थ—'नित्यमेकमनेकसमवेतं सामान्यम्' इस लक्षण की परीक्षा की जा सकती है। इस लक्षण में आये हुए 'एक' पद के सम्बन्ध में कतिपय विद्वानों का कहना है कि यह लक्षणघटक नहीं है किन्तु सामान्य वस्तुतः आश्रयभेद होने पर भी एक होता है अतः वस्तु के इस स्वरूप का अभिधायक है। अन्य विद्वानों का कहना है कि 'एक' पद इस बात की सूचना देता है कि 'नित्यमनेकसमवेतं' यह सामान्य का एक लक्षण हुआ-इसी प्रकार उसका दूसरा लक्षण भी है जैसे 'असमवायित्वे सति समवेतत्वम्'। इस लक्षण में 'असमवायित्वे सति' यह अंश घटादिभिन्न द्रव्यों में और एकत्व-भिन्नसंख्या में अतिव्याप्तिवारण के लिए है। 'अनेक' पद विशेष में अतिव्याप्ति वारण करने के लिये है। वृत्तित्व न कहकर समवेतत्व का कथन अत्यन्ताभाव में अतिव्याप्तिवारण करने के लिये है।

कुछ ऐसे भी विद्वान् हैं जो 'एक' पद को लक्षणघटक मानते हुये उसका अर्थ 'असहायम्' ऐसा करते हैं। 'असहायम्' का अर्थ है अन्यनिरपेक्ष। उनके मत से उक्तलक्षण में अनेकसमवेतत्व का अर्थ है अनेकवृत्तित्व अर्थात् अनेकाऽऽधारकत्व, यह अभाव और समवाय में भी है, अतः नित्यत्वसहित उतने मात्र को लक्षण मानने पर अत्यन्ताभाव और समवाय में अतिव्याप्ति होती है। अतः एकपद से अन्य-निरपेक्षत्व का निवेश करना आवश्यक है। यह निवेश करने पर अभाव और समवाय में अतिव्याप्ति नहीं हो सकती क्योंकि अभाव प्रतियोगिसापेक्ष और समवाय सम्बन्धीसापेक्ष होने से अन्यनिरपेक्ष नहीं होता है।

[नित्यत्वघटित लक्षण में अव्याप्तिदोष]

सामान्य का नित्यत्वघटित यह लक्षण अव्याप्तिग्रस्त हो जाता है क्योंकि जैसे श्यामत्व (श्यामरूप)–रक्तत्व (रक्तरूप) आदि उपाधियों के उत्पाद और विनाश का अनुभव होने से उन में नित्यत्व असिद्ध है, उसी प्रकार दधित्व और दुग्धत्व आदि के भी साक्षात् उत्पाद-विनाश का अनुभव होने से उनमें भी नित्यत्व असिद्ध है। यदि यह कहा जाय कि 'दुग्ध और दधि के ही उत्पाद-विनाश का अनुभव होता है-दधित्व और दुग्धत्व के उत्पाद-विनाश का अनुभव नहीं होता' तो यह कहना उचित नहीं हो सकता क्योंकि ऐसा मानने पर श्यामत्व और रक्तत्व के विषय में भी यह कहा जा सकता है कि श्याम और रक्त के ही उत्पत्ति-विनाश का अनुभव होता है-श्यामत्व और रक्तत्व के उत्पाद-विनाश का अनुभव नहीं होता। अतः श्यामत्व और रक्तत्व में भी नित्यता की प्रसक्ति होगी।

[श्यामादि का उत्पादानुभव भ्रान्त होने की शंका]

यदि श्याम और रक्त के सम्बन्ध में यह कहा जाय कि "श्यामादि (यानी श्यामरूपवान्-आदि) के जो उत्पादादि का अनुभव होता है वह भ्रम है-क्योंकि जिस समय श्यामादि में उत्पादादि का अनुभव दिखाया जाता है उस समय श्याम आदि के उत्पाद कारणों का अभाव होता है। जैसे कोई मिट्टी का बना हुआ बर्तन पकाने पर श्याम हो जाता है और कोई रक्त हो जाता है और उसके फलस्वरूप 'श्याम उत्पन्न हुआ'-'रक्त उत्पन्न हुआ' ऐसा अनुभव होता है, किन्तु उस समय श्याम अथवा रक्त की उत्पत्ति नहीं मानी जा सकती क्योंकि उस समय जो श्याम और रक्त स्वरूप में प्रतीत होता है वह पहले से ही उत्पन्न है। पाक से केवल उसके मूलवर्ण का परिवर्तन होकर उसमें नये वर्ण का उदय होता है। उस समय उस द्रव्य की उत्पत्ति नहीं होती। क्योंकि असत्कार्यवादी के मत में वस्तु का प्रागभाव भी वस्तु का कारण होता है किन्तु उस समय वस्तु का प्रागभाव नहीं रहता क्योंकि उस वस्तु के पहले ही उत्पन्न हो जाने से उसका प्रागभाव पहले ही नष्ट हो जाता है। तथा मिट्टी के बने घट आदि पात्र दण्ड चक्र-कुलाल आदि के संनिधान में उत्पन्न होते हैं। पाक के समय उनका संनिधान नहीं होता अतः श्यामादि की उत्पत्ति उस समय नहीं मानी जा सकती। अत एव श्यामादि के उत्पादादि का अनुभव निःसन्देह भ्रमरूप है।"–

[खण्डघटवत् श्यामादिघट का उत्पाद प्रामाणिक]

किन्तु यह कथन भी ठीक नहीं है क्योंकि जैसे पूर्णघट के किसी अंश का भङ्ग होने पर दण्डादि के बिना भी खण्डघट की उत्पत्ति होती है, उसी प्रकार दण्डादि के अभाव में भी श्यामघटादि की उत्पत्ति हो सकती है, तथा जैसे घट के दण्डादि सापेक्ष होते हुये भी दण्डादि के अभाव में भी

रूपघट की उत्पत्ति हो जाती है उसी प्रकार प्रागभाव के अभाव में भी श्यामघटादि की उत्पत्ति हो सकती है। अथवा यह भी कहा जा सकता है कि जो घट पाक से श्याम होता है उस घट का श्यामत्वविशिष्टघटप्रतियोगिक प्रागभाव भी रहता है।

यदि यह कहा जाय कि 'श्यामत्वादि में जो नित्यत्व की आपत्ति दी गई वह उचित नहीं है क्योंकि श्यामरूपादि सहेतुक होने से नित्य नहीं हो सकता क्योंकि सहेतुकत्व अनित्यत्व का व्याप्य है।'–तो यह भी ठीक नहीं है क्योंकि सहेतुक वस्तु नित्य नहीं होती यह भी कोई नियम नहीं है, क्योंकि सहेतुक भी ध्वंस न्यायमतानुसार नष्ट नहीं होता, इसी प्रकार सहेतुक होने पर भी श्यामरूपादि की नित्यता-अनश्वरता हो सकती है। यदि यह कहा जाय कि-जो भाव कार्य होता है वह नष्ट होता है यह नियम है। प्रस्तुत में श्यामरूपादि भावकार्य है अत: ध्वंस के दृष्टान्त से उस में नित्यता-अनश्वरता का समर्थन नहीं किया जा सकता,-तो यह कथन भी उत्तराभास है, क्योंकि श्यामत्वाश्रय (घटादि) के उत्पादादि से श्यामत्व (श्यामरूप) के उत्पादादि को अन्यथासिद्ध करने पर उनमें कार्यत्व ही असिद्ध हो जाएगा।

यदि भावकार्यत्व में नश्वरता की व्याप्ति मानकर श्याम रूपादि में नित्यता का निराकरण किया जायगा तो लाघव से भावत्वमात्र में नश्वरता की व्याप्ति मानने से जाति के भी नित्यत्व की हानी हो सकती है।

[सामान्य को अनित्य मानने में स्वरूपहानि की आपत्ति का प्रतिकार]

इसके विरोध में यदि यह कहा जाय कि–"सामान्य को अनित्य नहीं माना जा सकता, क्योंकि अनित्य मानने पर वह आश्रयभेद से भिन्न होगा इसलिये उसकी सामान्यरूपता की हानी हो जायगी, क्योंकि जो आश्रयभेद होने पर भी अभिन्न होता है उसे ही सामान्य कहा जाता है, अत: भावत्वमात्र में नश्वरता का नियम मानकर सामान्य में अनित्यत्व का आपादन नहीं हो सकता।" तो यह भी ठीक नहीं है क्योंकि उपाधि भी अनुगतव्यवहार की नियामक होती है। जैसे विभिन्न श्यामघट में श्यामाकार अनुगत व्यवहार का नियमन 'श्यामत्व' उपाधि से ही होता है किन्तु वह अनित्य माना जाता है। यदि अनित्य का आश्रयभेद से भेद होगा तो श्यामत्व के भी सामान्यरूपता की हानि हो जायगी।

[उपाधिअन्तर्गत जाति से अनुगत व्यवहार का समर्थन अशक्य]

यदि यह कहा जाय-"जो उपाधि अनुगत व्यवहार की नियामक होने से सामान्यात्मक प्रतीत होती है वह अपने स्वरूप से सामान्यात्मक नहीं होती किन्तु उस में भी एक अनुगत सामान्य होता है, उसीसे इस में सामान्यरूपता आती है। श्यामत्व (--श्यामरूप) आश्रयभेद से भिन्न ही है किन्तु उन सभी में रूपत्वव्याप्य श्यामत्व नामक एक नित्यसामान्य है उसी से श्यामरूपात्मक विभिन्न उपाधियों का अनुगम होकर उन उपाधियों से अनुगत व्यवहार का उदय होता है। यदि इस के विरोध में यह कहा जाय कि-'प्रमेयत्वादि उपाधि प्रमाविषयत्वरूप होती है और विषयता आश्रयभेद से भिन्न होती है। सम्पूर्ण प्रमाविषयता में कोई एक अनुगत जाति भी नहीं हो सकती क्योंकि अभावादिनिष्ठ प्रमाविषयता अभावादिरूप होती है और अभाव में कोई नित्य सामान्य नहीं माना जाता। अत: नित्यसामान्य के द्वारा उपाधियों में अनुगतव्यवहार की नियामकता का उपपादन नहीं किया जा सकता। क्योंकि प्रमेयत्व किसी नित्यसामान्य से युक्त न होने पर भी अनुगत प्रमेयव्यवहार का निया-

मक होता है ।"-तो यह विरोध ठीक नहीं है, क्योंकि प्रमेयत्व जो विभिन्न पदार्थों में अनुगत प्रतीत होता है वह प्रमाविषयत्वरूप न होकर स्वाश्रयविषयत्व सम्बन्ध से प्रमात्वरूप है। वही अनुगत प्रमेयव्यवहार का नियामक है और स्वरूपतः एक है।"–

तो यह कथन भी ठीक नहीं है, क्योंकि घट में जैसे घटत्व का साक्षात् सम्बन्ध से अनुभव होता है उसी प्रकार विभिन्न पदार्थों में (प्रमेयत्व का) भी अनुभव साक्षात्सम्बन्ध से ही आनुभविक है। अतः उस अनुभव को परम्परासम्बन्ध से प्रमात्वविषयक नहीं माना जा सकता।

एकत्वमपि न तत्र संख्यारूपम्, अनभ्युपगमात्। नाप्याश्रयभेदकृतभेदाऽप्रतियोगित्वादिकम्, आश्रयभेदेन तद्भेदावश्यकत्वात्। अन्यथाऽणवेकत्वादावप्याश्रयभेदकृतभेदे मानाभावाद् तद्व्यावृत्त्यनिरासात्। असहायत्वरूपमेकत्वमपि तत्र प्रतिनियतव्यक्तिव्यङ्ग्यत्वाभ्युपगमाद् दुर्वचम्। अनेकसमवेतत्वमपि समवायनिरासाद् निरस्तमेव।

[जाति में एकत्व की संख्यादिरूप में अनुपपत्ति]

द्रव्यत्व घटत्वादि सामान्य में नित्यत्व का उपपादन न हो सकने से नित्यत्वघटित सामान्यलक्षण का समर्थन दुष्कर है। उसीप्रकार एकत्व का निर्वचन न हो सकने से भी लक्षण में एकत्व का प्रवेश करने पर उसका समर्थन दुष्कर हो सकता है- जैसे, सामान्यलक्षणघटक एकत्व को संख्यारूप नहीं मान सकते क्योंकि संख्या गुण है और गुण नियम से द्रव्य में ही रहता है अतः संख्यारूप एकत्व द्रव्यभिन्न सामान्य में नहीं रह सकता। उसे आश्रयभेदमूलकभेद का अप्रतियोगित्व रूप भी नहीं माना जा सकता क्योंकि आश्रयभेद से द्रव्यत्व-घटत्वादि का भेद आवश्यक होता है अतः उनमें आश्रयभेदमूलक भेद का अप्रतियोगित्वरूप एकत्व नहीं रह सकता। यदि आश्रयभेद से द्रव्यत्व-घटत्वादि का भेद न माना जायगा तो परमाणुओं के एकत्वादि में भी भेद नहीं हो सकेगा क्योंकि आश्रयभेद को छोड़कर अन्य कोई उनकी भिन्नता का साधक नहीं है। अतः एकत्व के निवेश से परमाणु आदि के एकत्वादि में सामान्य के लक्षण की अतिव्याप्ति का निवारण नहीं हो सकता। क्योंकि आश्रयभेद से आश्रित में भेद न मानने पर परमाणुगत एकत्व भी नित्य और आश्रयभेदमूलकभेद का अप्रतियोगी-रूप एक, तथा उस स्थिति में अनेकसमवेत हो जाता है। एकत्व को असहाय स्वरूप भी नहीं माना जा सकता क्योंकि असहायत्व का अर्थ है अन्यनिरपेक्षत्व। अतः वह भी सामान्य में सम्भव नहीं है क्योंकि स्वाश्रय में ही नियम से गृहीत होने के कारण वह भी स्वाश्रयसापेक्ष होता है।

लक्षणघटक 'अनेकसमवेतत्व' अंश भी निरस्तप्रायः है क्योंकि उसका समर्थन समवाय की प्रामाणिकता पर निर्भर है और उसका निराकरण पहले ही किया जा चुका है।

किञ्च, सामान्यस्यैकव्यक्तावेकदेशेन वृत्तिर्भवेत्, सर्वात्मना वा ? । सर्वात्मना वृत्तावेकस्मिन्नेव पिण्डे सर्वात्मना परिसमाप्तत्वात् यावन्तः पिण्डास्तावन्ति सामान्यानि स्युः, न वा सामान्यम्, एकपिण्डवृत्तित्वात्, रूपादिवत्। एकदेशवृत्तावपि न सामान्यं स्यात्, सामान्यस्य निरंशत्वेनैकदेशाऽसंभवात्, संभवेऽपि तस्य ततो भेदाऽभेदविकल्पानुपपत्तेः। न च सामान्यस्यानुवृत्तैकरूपत्वात् कार्त्स्न्यैकदेशशब्दयोस्तत्राऽप्रवृत्तिः, निरवयवैकरूपेऽपि व्याप्त्यव्याप्तिशब्दयोर्भवतैवाभ्युपगमात्, तत्र च कृत्स्नैकदेशपक्षोक्तदोषाणां समानत्वात्।

[एकदेश या पूर्णरूप से आश्रय में वृत्तिता का असम्भव]

सामान्य को स्वीकार करने में एक और बाधा यह है कि-एक ही सामान्य के अपने अनेक आश्रयों में वर्तन की अनुपपत्ति। जैसे सामान्य के वर्तन के सम्बन्ध में दो सम्भावनाएं उपस्थित होती हैं। एक यह कि सामान्य अपने आश्रयभूत एक व्यक्ति में एकदेश से रहे अथवा सर्वात्मना रहे। किन्तु ये दोनों ही सम्भावना दोषग्रस्त है क्योंकि यदि सामान्य एक व्यक्ति में सर्वात्मना रहेगा तो एक ही व्यक्ति में वह सर्वात्मना परिसमाप्त हो जाने से अन्य व्यक्ति निःसामान्य हो जायगा, अतः व्यक्तिभेद से सामान्य में भेद मानना होगा, क्योंकि जो सामान्य एक एक व्यक्ति में ही सर्वात्मना समाहित यानी व्याप्त हो जायगा उसका अन्य व्यक्ति में रहना संभव नहीं हो सकता, जब कि वह सर्वात्मना एक एक व्यक्ति में परिसमाप्त होगा तो उसकी सामान्यरूपता भी समाप्त हो जायगी क्योंकि जो एक व्यक्ति में सर्वात्मना रहता है वह सामान्यरूप नहीं होता जैसे तत्तद् घट का रूपादिगुण।

एक देश से भी उसका वर्तन नहीं माना जा सकता, क्योंकि एकदेश में वर्तन मानने पर उसे सांश मानना होगा और सांश मानने पर वह सामान्यस्वरूप नहीं हो सकता क्योंकि सामान्य निरंश होता है। अतः जो सामान्य रूप होगा उसका एकदेश से वर्तन नहीं हो सकता। यदि सामान्य में भी कथञ्चिद् एक देश की कल्पना की जाय तो उससे सामान्य का भेद अथवा अभेद नहीं उपपन्न हो सकता जैसे-गोत्व सामान्य जिस एक देश से एक गोव्यक्ति में रहता है यदि उसे उसके एक देश से भिन्न माना जायगा तो उसके एक देश के रहने पर भी उसका अपना वर्तन न हो सकेगा। यदि उससे अभिन्न होगा तो एक देश के साथ ही वह एक व्यक्ति में परिसमाप्त हो जायगा। अतः सर्वात्मना वर्तन पक्ष में कहे गये दोष की इस पक्ष में भी आपत्ति होगी। अतः एक देश से सामान्य का भेद अथवा अभेद दोनों ही सम्भव न होने से उसका अस्तित्व ही समाप्त हो जायगा, क्योंकि कोई भी वस्तु किसी एक से भिन्न अथवा अभिन्नरूप में ही अस्तित्व धारण करती है। अतः सामान्य यदि अपने एक देश से न भिन्न होगा और न अभिन्न होगा तो फिर उसका अस्तित्व ही नहीं हो सकेगा।

[सामान्य में कृत्स्न-एकदेश विकल्पों का असंभव नहीं है]

यदि यह कहा जाय कि-'कार्त्स्न्यं यानी सर्वात्मना-पूर्णरूप से और एक देश, ये दोनों शब्दों का प्रयोग सावयव वस्तु में ही होता है किन्तु सामान्य देशतः और कालतः विप्रकृष्ट विभिन्न व्यक्तियों में एक अनुगत धर्मरूप होता है अतः निरवयव होने के कारण उसके सम्बन्ध में कृत्स्न और एकदेश शब्द का प्रयोग सम्भव न होने के कारण 'सामान्य एक देश से रहता है अथवा सर्वात्मना रहता है' इस प्रकार का प्रश्न ही नहीं खड़ा हो सकता।'-तो यह ठीक नहीं है क्योंकि निरवयव एकचित्ररूप में व्याप्ति और अव्याप्ति शब्द का, जो कार्त्स्न्य और एक देश शब्द के समान हैं, उसका प्रयोग सामान्यवादी स्वयं ही स्वीकारते हैं। जैसे-चित्ररूप के सम्बन्ध में उनका मत है कि वह रूप अपने आश्रय में अव्याप्त हो कर नहीं रहता अर्थात् एक देश से नहीं रहता किन्तु व्याप्त होकर अर्थात् सर्वात्मना रहता है क्योंकि यदि चित्ररूप अपने आश्रय के एक देश में रहेगा तो एकरूप वाले भाग में भी चित्रव्यवहार की आपत्ति होगी। अतः वह व्याप्त होकर अर्थात् सर्वात्मना अपने पूरे आश्रय में रहता है। इस प्रकार जब सामान्य और चित्ररूप दोनों निरंश होते हैं तो सामान्य के कृत्स्नरूप से अथवा एक देश से वृत्ति मानने के पक्ष में जो दोष होते हैं वह चित्ररूप पक्ष में भी समान है। इसलिये यदि चित्ररूप का एकदेशेन अवर्तन और कार्त्स्न्येन वर्तन का व्यवहार हो सकता है तो ऐसे व्यवहार

का प्रसङ्ग सामान्य पक्ष में भी सर्वथा सम्भव है और जिसे उक्त दोषों के कारण नहीं माना जा सकता ।

एतेन 'किमनेन प्रसङ्ग आपाद्यते परस्य, आहोस्वित् स्वतन्त्रसाधनम् ? इति । न तावत् प्रसङ्गसाधनम्, पराभ्युपगमेनैव तस्य वृत्तेः । न च परस्य कार्त्स्न्येन, एकदेशेन वा निरंशस्य वृत्तिः सिद्धा, किन्तु वृत्तिमात्रं समवायस्वरूपं सिद्धम्, तच्च विद्यत एव, समवायस्य प्रमाणतः सिद्धेः । तद् न प्रसंगसाधनमेतत् । स्वतन्त्रं तु साधनं न भवति, सामान्यलक्षणस्य धर्मिणोऽसिद्धेर्हेतोराश्रयासिद्धिप्रसङ्गात् । धर्मिसिद्धौ वा तत्प्रतिपादकप्रमाणबाधितत्वात् तदभावसाधकप्रमाणस्याऽप्रवृत्तिरेव' इति निरस्तम्, लोक-शास्त्रसिद्धकार्त्स्न्यै-कदेशवृत्तिविशेषनिषेधेन वृत्तिसामान्याभावस्य परं प्रत्यापादनात्, समवायवृत्तावपि संयोग-रूपादौ द्वैरूप्यस्य सिद्धत्वात् ।

[प्रसंग या स्वतंत्रसाधन के विकल्पद्वय का निराकरण]

इस संदर्भ में सामान्यवादी का यह कहना है कि "कार्त्स्न्येन और एकदेशेन वर्तन मानने पर जो दोषोद्भावन किया गया है वह नहीं घट सकता । क्योंकि एक देश से वृत्ति मानने पर सांशता का और सर्वात्मनावृत्ति मानने पर एक व्यक्ति में ही परिसमाप्तता का जो उद्भावन किया गया है वह क्या प्रसङ्गापादन है ? अथवा स्वतन्त्रसाधन है ? ये दोनों किसी भी रूप में युक्तिसंगत नहीं हो सकते क्योंकि सामान्य का वर्तन सामान्यवादी की अभिमत रीति से ही होता है । सामान्य निरंश होने से सामान्यवादी को उसका कार्त्स्न्येन अथवा एकदेशेन वर्तन अभिमत नहीं है किन्तु सर्वात्मना और एकदेश इन विकल्प से शून्य केवल शुद्धवृत्ति अभिमत है । सामान्य की वृत्ति समवायस्वरूप है । अतः समवाय के प्रमाणतः सिद्ध होने से सर्वात्मना अथवा एकदेशेन वर्तन प्रसङ्गसाधनरूप नहीं हो सकता, क्योंकि प्रसंग का अर्थ है आपत्ति और आपत्ति के प्रति कारण होता है 'आपादक में आपाद्यव्याप्ति का निश्चय, तथा धर्मी में आपादक का निश्चय' । प्रकृत में सामान्य में सांशत्व है आपाद्य और एकदेशेन वर्तन है आपादक, अथवा परिसमाप्तत्व है आपाद्य और कार्त्स्न्येन वर्तन है आपादक, किन्तु सामान्यवादी को यह द्विविध वर्तन सामान्य में मान्य नहीं है । अतः धर्मी में आपादक का निश्चय न होने से उसे प्रसङ्गसाधन नहीं कहा जा सकता । सामान्य में उक्तरीति से विकल्पितवर्तन, सांशत्व अथवा परिसमाप्तत्व का स्वतन्त्र साधन अर्थात् अनुमापक लिंग भी नहीं हो सकता क्योंकि सामान्य को पक्ष करके एकदेश से वर्तन अथवा सर्वात्मना वर्तन से सांशत्व अथवा एक व्यक्तिमात्रपरिसमाप्तत्व का साधन करने पर आश्रयासिद्धि होगी । क्योंकि सामान्यरूप धर्मी असिद्ध है । तथा, यदि सामान्य सिद्ध होगा तो सामान्यसाधक प्रमाण से बाध हो जाने के कारण सामान्याऽभावसाधक प्रमाण की प्रवृत्ति ही नहीं हो सकती ।"

किन्तु यह कथन ठीक नहीं है क्योंकि लोक और शास्त्र में दो ही प्रकार की वृत्ति प्रसिद्ध है कार्त्स्न्येन और एकदेशेन । अतः इन दोनों वृत्तिविशेषों के अभाव से सामान्य में वृत्तिसामान्याभाव ही आपादनीय है । अतएव उक्तरूप से विकल्पित वर्तन प्रसङ्गसाधन के रूप में विनियुक्त (पुरस्कृत) हो सकता है । उसके अतिरिक्त यह भी ज्ञातव्य है कि समवाय की वृत्ति में, संयोग और रूपादि में द्विरूपता सिद्ध है, जैसे- संयोग का समवाय संयोग के आश्रय में एकदेश से रहता है और

रूपादि का समवाय रूपवान् में सामस्त्येन रहता है । इसी प्रकार सामान्य की वृत्ति में भी उक्त द्विरूपता ही मान्य हो सकती है । उसके अभाव में उस में वृत्तित्वसामान्याभाव की आपत्ति दुष्परिहार्य है ।

अथ व्याप्यवृत्त्य-ऽव्याप्यवृत्त्योर्वृत्तित्वेऽनवच्छिन्नत्वमवच्छिन्नत्वं चेति कार्त्स्न्यैकदेशविशेषौ नापरः । तत्र च सामान्यस्यापि व्याप्यवृत्तित्वादेकत्राप्यनवच्छिन्नवृत्तित्वरूपं कार्त्स्न्येन वृत्तित्वमुपगम्यत एव । न चैवं यावद्व्यक्तिभेदापत्तिः, ज्ञानेऽनेकविषयत्ववज्जातावनेकवृत्तित्वस्याप्यविरोधादिति चेत् ? न, 'एकत्वमेकत्रैव पर्याप्तम्, न द्वयोः' इति धियैकत्व-द्वित्वयोरेकत्रोभयोश्च पर्याप्तिवद् 'घटत्वमत्र पर्याप्तम्' इति धिया घटत्वस्यापि प्रत्येकं पर्याप्तिस्वीकारे एकत्व-द्वित्वावच्छिन्नपर्याप्तिकयोरेकत्व-द्वित्वयोरिव तत्तद्व्यक्तित्वावच्छिन्नपर्याप्तिकत्वेन तद्भेदस्याप्यावश्यकत्वात् ।

किञ्च, उत्पद्यमानेन पिण्डेन सह संबध्यमानं सामान्यं किमन्यत आगत्य संबध्यते, उत तत्पिण्डेन सहोत्पादात्, आहोस्वित् पिण्डोत्पत्तेः प्रागेव तद्देशावस्थानात् ? । नाद्यः, अमूर्तस्य पूर्वाधारवृत्तित्वभावाऽपरित्यागेनान्यत्राऽऽगमनाऽसंभवात् । न द्वितीयः, अनुत्पन्नस्वभावत्वाभ्युपगमात् । न तृतीयः, तद्देशे घटात्प्राक् स्थितस्यापि 'घटः' इत्यनुगतधीव्यपदेशप्रसङ्गात् । तदुक्तम्— [प्र० वा० ३-१५२/१५४]

"नाऽऽयाति न च तत्रासीदस्ति पश्चाद् न चांशवत् ।
जहाति पूर्वं नाधारमहो ! व्यसनसंततिः ॥ १ ॥"

तथा—"यत्रासौ वर्तते भावस्तेन संबध्यते न च ।
तद्देशं न च व्याप्नोति किमप्येतद् महाद्भुतम् ॥ २ ॥" इति ।

[प्रत्येक घट में घटत्व की पर्याप्ति के बल से भेदापत्ति]

यदि यह कहा जाय कि—"कार्त्स्न्येन वर्तन का अर्थ है व्याप्यवृत्ति पदार्थ की अनवच्छिन्न वृत्तिता और एक देश से वर्तन का अर्थ है अव्याप्यवृत्ति की अवच्छिन्नवृत्तिता । इससे अतिरिक्त कार्त्स्न्य-एकदेश का कोई अर्थ नहीं है । अतः सामान्य के व्याप्यवृत्ति होने से उसमें अनवच्छिन्नवृत्तितारूप कार्त्स्न्येन-वृत्तित्व माना जा सकता है । ऐसा मानने पर यह भी शंका नहीं हो सकती कि सामान्य का इस प्रकार वर्तन मानने पर आश्रयभेद से सामान्य में भेद की आपत्ति होगी । क्योंकि जैसे एकज्ञान में अनेक विषयत्व अर्थात् विषयतासम्बन्ध से अनेकवृत्तित्व होता है उसी प्रकार जाति में भी अनेकवृत्तित्व मानने में कोई विरोध नहीं हो सकता"—तो यह कथन भी ठीक नहीं है क्योंकि 'एकत्वं एकत्रैव पर्याप्तं न द्वयोः= एकत्व एक व्यक्ति में ही पर्याप्त होता है दो में नहीं है' इसी प्रकार 'द्वित्वं द्वयोरेव पर्याप्तं न त्वेकत्र= द्वित्व दो में ही पर्याप्त होता है एकमात्र में नहीं' इस प्रतीति से जैसे एक में एकत्व की और दो में द्वित्व की पर्याप्ति सिद्ध होती है, उसी प्रकार 'घटत्वं अत्र पर्याप्तं' घटत्व इस घटव्यक्ति में पर्याप्त है' इस बुद्धि से घटत्व की भी प्रत्येक घट में पर्याप्ति माननी होगी । अतः जैसे पर्याप्ति के एकत्व-द्वित्वरूप

'अनुत्पन्नेऽपि घटे घटपदवाच्यत्ववद् घटत्वसमवायसत्त्वात् तदुत्पत्तौ तदभिव्यक्तेर्न दोषः' इत्यप्यनालोचिताभिधानम्, द्रव्यार्थतया सत्त्वाभ्युपगमं विना 'अनुत्पन्नो घटः' इत्यभिधानस्यैव कुत्सितत्वात्, यत एव निमित्तात् तद्व्यक्तिषु तदाधारतानियमस्तत एव तदन्यथासिद्धेश्च ।

[उत्पत्ति के पूर्व द्रव्यात्मना घट सत्ता स्वीकार का प्रसंग]

यदि यह कहा जाय कि जैसे-"घटो भविष्यति'=घट उत्पन्न होगा' इस व्यवहार के अनुरोध से अनुत्पन्न घट में भी घटपदवाच्यत्व होता है उसीप्रकार अनुत्पन्न घट में भी घटत्वसमवाय रहता है क्योंकि उसमें घटत्वसमवाय के रहे बिना वह घटपदवाच्य ही नहीं हो सकता । इसप्रकार घटत्वसमवाय घटोत्पत्ति के पहले से ही रहता है । घटोत्पत्ति होने पर उसकी केवल अभिव्यक्ति होती है । अतः सामान्य की मान्यता के सम्बन्ध में उपर्युक्त दोष नहीं हो सकता ।"–किन्तु यह कथन भी विचारपूर्ण नहीं है । क्योंकि द्रव्यार्थिकनय से घट की सत्ता माने बिना 'अनुत्पन्न घट' इसप्रकार का शब्दप्रयोग ही अशक्य है । क्योंकि इस शब्द द्वारा 'घट में उत्पत्ति का अभाव' बोधित होता है और अभाव का निरधिकरणक बोध अनुभवविरुद्ध है । दूसरी बात यह है कि गोत्वादि सामान्य की आधारता सीमित व्यक्तियों में ही होती है सर्वत्र नहीं होती अतः गोत्वादि सामान्य की आधारता के नियम का कोई निमित्त मानना होगा । और वह निमित्त ऐसा ही हो सकता है जो समस्त गोआदिव्यक्तियों में रहे और उनसे भिन्न में न रहे । ऐसा कोई निमित्त आवश्यक है तो उसीसे सामान्य अन्यथासिद्ध हो जाता है क्योंकि सामान्य की अनुगतप्रतीति अनुगतव्यवहारादि समस्त कार्य उसीसे सम्पन्न हो सकते हैं ।

किञ्च, पिण्डेभ्योऽव्यतिरिक्तं यद्यनुस्यूतं सामान्यमभ्युपगम्येत तदैकपिण्डोपलम्भे तस्याभिव्यक्तत्वात् पिण्डान्तरालेऽप्युपलब्धिः स्यात् । न च तदुपलम्भहेतोश्चक्षुःसंयुक्तसंयोगस्याभावात् तदनुपलम्भ इति सांप्रतम्, अन्तराले चक्षुःसंयोगे तदापादनात् । न च तत्र तदभावान् तदनुपलम्भः, तत्संबन्धसत्त्वे तदभावायोगात्, तत्र तदभावकाले तत्र तद्विशिष्टबुद्ध्यनुत्पादेऽपि तदुभयसमूहालम्बनस्य दुर्निवारत्वात् । एतेन 'अन्तरालशब्देन किं पिण्डान्तरमश्वादिरूपमभिधीयते, आहोस्वित् मूर्त्तद्रव्याभावः, उताकाशादिप्रदेशः ? इति विकल्पाः । यद्यश्वादिपिण्डान्तराभिधानम्, तदा तत्र गोत्वसामान्यस्य प्रत्तेरग्रहणमुपपन्नमेव । न हि यद् यत्र नास्ति तत्तत्र गृह्यत इति परस्याभ्युपगमः । एवं मूर्त्तद्रव्याभावाऽऽकाशादिदेशयोरपि तदग्रहणमभावादेव' इति निरस्तम् । न च चक्षुःसंयोगावच्छेदकावच्छेदेन तस्याऽसमवेतत्वात् तदग्रहणम्, अव्याप्यवृत्तिद्रव्यसमवेतत्वस्य एव तथाहेतुत्वकल्पनात् । यैरपि 'समवायोऽपि नैकः, जलादेर्गन्धादिमत्ताप्रसङ्गात्' इत्यादिना समवायनानात्वं स्वीक्रियते, तेषामपि घटत्व-सत्त्वादिसमवायनानात्वाभावादयं दोषस्तदवस्थ एव ।

[दो पिण्ड के मध्य सामान्य के उपलम्भ की आपत्ति]

इस संदर्भ में यह भी ज्ञातव्य है कि घटत्वसमवाय यदि एक एक घटव्यक्ति से पृथक् हुये बिना

असम्बद्ध हुये बिना ही समस्त घटव्यक्तियों में अनुस्यूत यानी विद्यमान होगा तो एक घट व्यक्ति का उपलम्भ होने पर घटत्वसमवाय के अभिव्यक्त हो जाने पर विभिन्न घटव्यक्तियों के अन्तराल देश में भी घटत्व के प्रत्यक्ष की आपत्ति होगी। यदि यह कहा जाय कि-'अन्तरालदेश में चक्षुःसंयोग न होने के कारण उसमें घटत्व की उपलब्धि नहीं हो सकती क्योंकि तत्तद्व्यक्ति में घटत्वोपलम्भ के प्रति तत्तद्व्यक्ति के साथ चक्षु-संयोग कारण होता है।" तो यह ठीक नहीं है क्योंकि अन्तरालदेश में चक्षुःसंयोग होने पर उक्त आपत्ति दुर्निवार है। इसके समाधान में यह भी नहीं कहा जा सकता कि-'तत्तद्व्यक्ति में तत्तद्धर्म के उपलम्भ के प्रति तत्तद्व्यक्ति में तद्धर्म का अस्तित्व कारण होता है। अतः अन्तरालदेश में घटत्व का अभाव होने से वहाँ घटत्व का प्रत्यक्ष नहीं हो सकता'। क्योंकि जब एक ही घटत्वसमवाय विभिन्नघटव्यक्तियों में किसी भी व्यक्ति का परित्याग न करते हुये अनुस्यूत होता है तो विभिन्न घटों के अन्तराल में घटत्वसमवाय की सत्ता होने के कारण वहाँ घटत्वाभाव नहीं माना जा सकता।

यदि यह कहा जाय कि-"अभाव नित्य और अधिकरणभेद होने पर भी अभिन्न होता है अतः विभिन्न घटव्यक्तियों के अन्तरालदेश में भी घटत्वाभाव है। अत एव उस देश में घटत्वाभाव का प्रत्यक्ष हो जाने से उस देश में घटत्वप्रत्यक्ष की उपपत्ति नहीं हो सकती'-तो यह कथन भी ठीक नहीं है क्योंकि अन्तरालदेश में घटत्वाभावज्ञानरूप प्रतिबन्धक के उत्पन्न हो जाने के बाद उस देश में घटत्वविशिष्ट की बुद्धि भले न हो किन्तु घटत्वाभाव और घटत्व दोनों के समूहालम्बन प्रत्यक्ष का प्रस्तुत पक्ष में परिहार नहीं हो सकता। यदि यह कहा जाय कि "अन्तरालशब्द से अश्वादिरूप गोभिन्नपिण्ड को अथवा मूर्त्तद्रव्याभाव को किंवा आकाशादि के प्रदेश को ग्रहण कर उनमें गोत्वप्रत्यक्ष का आपादन नहीं हो सकता। क्योंकि अश्वादि पिण्डों में गोत्व नहीं रहता और जो जहाँ नहीं रहता वहाँ उसका प्रत्यक्ष सामान्यवादी को मान्य नहीं है, अतः अश्वादि में गोत्वसामान्य की वृत्ति का प्रत्यक्ष न होना ही युक्तिसङ्गत है। इसीप्रकार मूर्त्तद्रव्याभाव और आकाशादि प्रदेश में भी गोत्व का अभाव होने से वहाँ भी गोत्वप्रत्यक्ष न होना ही न्यायसंगत है।-"यह कथन भी हमारे उक्त कथन से निरस्त हो जाता है क्योंकि समस्त गोव्यक्तियों में एक गोत्व सामान्य को अनुस्यूत मानने पर विभिन्न गोव्यक्तियों के अन्तराल में गोत्वसमवायरूप गोत्वसम्बन्ध अपरिहार्य होने से वहाँ गोत्वाभाव बताना असंगत है।

यदि उक्त आपत्ति के परिहार में यह कहा जाय कि-'जिस व्यक्ति में चक्षुःसंयोग यद्देशावच्छेदेन होता है तद्देशावच्छेदेन उस व्यक्ति में तद्धर्म का समवाय ही उस व्यक्ति में तद्धर्म के प्रत्यक्ष का कारण है। गोव्यक्ति में चक्षुःसंयोग जिस जिस देश से होता है उस उस देश से गोव्यक्ति में गोत्व का समवाय ही गोत्व प्रत्यक्ष का कारण होता है। क्योंकि गोत्व समग्र गो में समवेत होता है अतः एक गो में गोत्व का प्रत्यक्ष होना उचित है, किन्तु अन्तरालदेश में यद्देशावच्छेदेन चक्षुःसंयोग होता है तद्देशावच्छेदेन अन्तरालदेश के साथ गोत्व का समवायसम्बन्ध होने में कोई प्रमाण न होने से अन्तरालदेश में गोत्व के प्रत्यक्ष की आपत्ति नहीं हो सकती' तो यह ठीक नहीं है क्योंकि यह कार्यकारणभाव द्रव्य में अव्याप्यवृत्तिसमवेत पदार्थ के प्रत्यक्ष के प्रति ही माना जाता है। गोत्वादिसामान्य अव्याप्यवृत्ति नहीं है, अतः उसके प्रत्यक्ष के प्रति ऐसे कारण की कल्पना नहीं हो सकती।

जो लोग जलादि में गन्धादि की सत्ता के वारणार्थ समवाय को एक न मान कर अनेक मानते हैं उनके मत में भी उक्त आपत्ति का परिहार नहीं हो सकता, क्योंकि उनके मत में भी गन्धादि

अन्य पदार्थों का ही समवाय अनेक होता है। कारण, उत्पन्न होने वाले भावपदार्थों के समवाय को एक मानने पर जलादि में भी गन्ध का सम्बन्ध सम्भव होने से उसमें भी गन्ध की उत्पत्ति का प्रसङ्ग होगा। गन्धादि के समवाय को अनेक मानने पर यह प्रसंग नहीं हो सकता, क्योंकि गन्धादि के समवाय के अनेकत्व पक्ष में यह उत्तर दिया जा सकता है कि जलादि में गन्ध का प्रागभाव न होने से गन्ध का समवाय सम्भव नहीं है एवं जहाँ जिस कार्य का सम्बन्ध सम्भव होता है वहाँ ही उसकी उत्पत्ति मानी जाती है। किन्तु घटत्व, सत्त्व आदि के समवाय को घटादि भेद से भिन्न मानने में कोई युक्ति नहीं है, बल्कि अनावश्यक गौरव है। अतः विभिन्न घटादि व्यक्तियों के अन्तराल में घटत्वादि समवाय के सम्भव होने से इस मत में भी अन्तराल में घटत्वादि के प्रत्यक्ष की आपत्ति दुर्निवार है।

अपि च, अव्यापिकव्यापकैकस्वभावत्वे सामान्यं किं येनैव स्वभावेनैकस्मिन् पिण्डे वर्तते तेनैव पिण्डान्तरे ? आहोस्वित् स्वभावान्तरेण ? । यदि तेनैव, ततः सर्वपिण्डानामेकत्वप्रसक्तिः, एकदेशकाल-स्वभावनियतपिण्डवृत्त्यभिन्नसामान्यस्वभावक्रोडीकृतत्वात् तेषाम्, प्रतिनियतदेश-काल-स्वभावैकपिण्डवत्। अथ स्वभावान्तरेण, तदानेकस्वभावयोगात् सामान्यस्यानेकत्वप्रसक्ति-रिति न किञ्चिदेतत्।

[भिन्न पिंडों में एक-अनेक स्वभाव से जाति की वृत्ति असंभव]

अतिरिक्त सामान्य की सिद्धि में एक और भी बाधक है जैसे, सामान्यवादी सामान्य को नित्य और अनेकव्यक्तिसमवेत एकस्वभाव मानते हैं। अतः इसके वर्तन सम्बन्ध में दो विकल्प खड़े होते हैं। एक यह कि सामान्य जिस स्वभाव से एक पिण्ड में रहता है उसी स्वभाव से अन्य पिण्ड में भी रहता है ? और दूसरा यह कि अन्य स्वभाव से अन्य पिण्ड में रहता है ? इस में प्रथम विकल्प स्वीकार्य नहीं हो सकता क्योंकि सामान्य जिस स्वभाव से एक पिण्ड में रहता है उसी स्वभाव से अन्य पिण्ड में रहेगा तो सभी पिण्डों में ऐक्य की आपत्ति होगी। क्योंकि उस स्वभाव में सामान्य की आश्रयता में एक पिण्डव्यक्तिरूप अधिकरण में उस पिण्डव्यक्ति का जो नियतदेश काल और तन्नियत पिण्ड-अभेद की व्याप्ति दृष्ट है। अर्थात् इस प्रकार का व्याप्तिग्रह है कि स्वनियामकस्वभाव से नियम्य जो स्वाश्रय-निष्ठवृत्तिता, तादृशवृत्तितानिरूपकत्व सम्बन्ध से जो एतद्देशकालस्वभावनियतपिण्डनिरूपितवृत्ति-तावान् होता है वह एतद्देशकालस्वभावनियत पिण्ड से अभिन्न होता है, जैसे एतत्पिण्ड। यहाँ स्वपद से एतत्पिण्डनिरूपितवृत्तिता, उसका नियामकस्वभाव गोत्व का स्वभाव, उस स्वभाव से नियम्य जो स्वाश्रयवृत्तिता अर्थात् उक्तवृत्तिता के आश्रयभूत गोत्व में रहनेवाली वृत्तिता, तादृशवृत्तितानिरूपकत्व उक्तपिण्ड में है और उक्त पिण्ड का अभेद भी उक्तपिण्ड में है। अब यदि गोत्व में अन्यगोपिण्डनिरू-पितवृत्तिता भी यदि गोत्वनिष्ठ एतत्पिण्डनिरूपितवृत्तिता के नियामक स्वभाव से ही नियम्य होगी तो अन्य गोपिण्ड भी उक्तसम्बन्ध से एतत्पिण्डनिरूपितवृत्तितावान् होगा। जैसे, स्व का अर्थ होगा एतत्पिण्डनिरूपित गोत्वनिष्ठवृत्तिता, उसका नियामक स्वभाव होगा गोत्वस्वभाव, उससे नियम्य स्वा-श्रयनिष्ठवृत्तिता होगी अन्यपिण्डनिरूपितवृत्तिता, उस वृत्तिता का निरूपकत्व अन्य पिण्ड में रहेगा। अतः अन्य पिण्ड में एतत्पिण्ड के अभेद की आपत्ति हो सकती है।

दूसरा विकल्प भी स्वीकार्य नहीं हो सकता क्योंकि एक गोपिण्ड में गोत्व जिस स्वभाव से रहेगा यदि उस स्वभाव से भिन्न अन्य स्वभाव से दूसरे पिण्ड में रहेगा तो गोत्व में अनेक स्वभाव का सम्बन्ध होने से अनेकत्व की आपत्ति होगी। कहने का आशय यह है कि यदि उन दोनों स्वभावों का आश्रय एक होगा तो धर्म और धर्मी में अभेद होने से उन स्वभाव में भेद न हो सकेगा। अतः एक स्वभाव से सामान्य में एकपिण्डवृत्तिता का और अन्यस्वभाव से पिण्डान्तरवृत्तिता का नियमन नहीं हो सकेगा। अतः स्वभावों में भेद की उपपत्ति के लिए सामान्य में भेद मानना आवश्यक होगा।

एतेन—

[1]पिण्डभेदेषु गोबुद्धिरेकगोत्वनिबन्धना। गवाभासैकरूपाभ्यामेकगोपिण्डबुद्धिवत् ॥ ४४ ॥
न शाबलेयाद् गोबुद्धिस्ततोऽन्यालम्बनापि वा। तदभावेऽपि सद्भावाद् घटे पार्थिवबुद्धिवत् ॥४५॥
प्रत्येकसमवेतार्थविषया वापि गोमतिः। प्रत्येकं कृत्स्नरूपत्वात् प्रत्येकव्यक्तिबुद्धिवत् ॥ ४६ ॥
प्रत्येकसमवेतापि जातिरेकैकबुद्धितः। नञ्युक्तेष्विव वाक्येषु ब्राह्मणादि निवर्तनम् ॥ ४७ ॥
नैकरूपा मतिर्गोत्वे मिथ्या वक्तुं च शक्यते। नापि कारणदोषोऽस्ति बाधकः प्रत्ययोऽपि वा ॥४८॥

इत्यादि [श्लो० वा० वनवादे] कुमारिलोक्तमपास्तम्, उक्तरीत्या स्फुटदोषत्वात्।

[कुमारिलभट्टकृत सामान्यनिरूपण का निरसन]

व्याख्याकार ने इस संदर्भ में सामान्य साधन के प्रसङ्ग की कुमारीलभट्ट की पांच कारिकाओं का उल्लेख कर उनके कथन में भी उक्तरीति से दोषयुक्तता को स्फुट कर उसे निरस्त कर दिया है। [१] भट्ट की उन कारिकाओं में प्रथम कारिका से विभिन्न गोपिण्डों में होनेवाली गोबुद्धि में एकगोत्व-निमित्तकत्व का साधन किया गया है। भट्टाभिमत अनुमान प्रयोग इस प्रकार है-विभिन्न गोपिण्डों में होनेवाली गोबुद्धि (१) एकगोत्व निमित्तक है अर्थात् 'स्वप्रकारकत्व, स्वभिन्नगोत्वप्रकारकत्वसम्बन्धावच्छिन्नप्रतियोगिताकस्वाभाववत्त्व' इस उभयसम्बन्ध से गोत्ववत् है। (हेतु-) क्योंकि गोबुद्धि है अथवा (२) एकरूप है अर्थात् एकानुपूर्विकशब्द से अभिलाप्य है। जैसे एक गोपिण्ड व्यक्ति में गोबुद्धि। आशय यह है कि जिन के मत में गोत्व निखिल गोपिण्डों में रहनेवाला एक सामान्यरूप नहीं है किन्तु स्वाश्रयस्वरूप है अथवा एकव्यक्तिमात्रवृत्ति धर्म है उनके मत में भी एक गोपिण्डविषयकबुद्धि में उक्त उभयसम्बन्ध से गोत्व है। क्योंकि उनके मत में भी उस बुद्धि में एक ही गोत्व प्रकार है। अतः गोत्व का स्वप्रकारकत्व सम्बन्ध और स्वभिन्नगोत्वप्रकारकत्वसम्बन्धावच्छिन्नप्रतियोगिताकस्वाभाववत्त्व सम्बन्ध विद्यमान है। अब यदि इन दोनों सम्बन्धों से विभिन्न गोपिण्डों में होनेवाली गोबुद्धि में गोत्व का साधन किया जाय तो सकल गो में एक ही गोत्व सिद्ध होगा। क्योंकि समस्त गो में एक ही गोत्व मानने पर स्वभिन्नगोत्वप्रकारकत्व घटत्वादि का ही सम्बन्ध होता है,-गोत्व का तो व्यधिकरण सम्बन्ध हो जाता है। अतः उस सम्बन्ध से गोत्व का अभाव गोत्वप्रकारकबुद्धि में रह सकता है। और गोत्व को अनेक मानने पर उस बुद्धि में उक्त उभयसम्बन्ध से गोत्व की सिद्धि नहीं हो सकती।

---

१. श्लोकवार्तिकमुद्रितपुस्तके 'तस्मात् पिण्डेषु गो' इति पाठः। २. श्लोक. 'क्तेष्वपि वा'। ३ श्लोक. 'नात्र का'।

[२] दूसरी कारिका से भट्ट ने अनेक गोपिण्डों में होने वाली एक गोबुद्धि की सदृशगोविषयकत्व से उपपत्ति का निराकरण किया है। आशय यह है–कि अनेक गोपिण्डों में होने वाली गोबुद्धि का यदि उस बुद्धि को एकवर्ण के गोपिण्डों को निमित्त मान कर यदि उपपत्ति की जाय, तो वह भी सम्भव नहीं है क्योंकि अनेक गोपिण्ड में गोबुद्धि किसी एक ही वर्ण के अनेक गोपिण्ड में नहीं होती किन्तु विभिन्नवर्ण के गोपिण्डों में भी होती है। इसीलिये जैसे शाबलेय=चित्र गोरूप निमित्त से अनेक गोपिण्डों में एक गोबुद्धि की उपपत्ति नहीं की जा सकती इसी प्रकार चित्र से अन्य शुक्लादिवर्णों के गो को निमित्त मान कर भी उस बुद्धि की उपपत्ति नहीं की जा सकती क्योंकि वह बुद्धि चित्र गोपिण्ड में भी होती है। इस निराकरण का आधार–'जो बुद्धि यादृश अनेक व्यक्तिओं में होती है वह बुद्धि तादृशव्यक्तिनिमित्तक होती है' इस नियम का व्यभिचार है, जो–विभिन्नवर्णों के घटों में होने वाली पार्थिव बुद्धि में दृष्ट है क्योंकि वह बुद्धि भी समानवर्णवद्घटनिमित्त नहीं होती।

[३] तीसरी कारिका में गोबुद्धि में प्रत्येक में समवायसम्बन्ध से परिसमाप्तार्थविषयकत्व का साधन करके यह बताया गया है कि विभिन्न गोपिण्डों में जो गोबुद्धि होती है उसमें विशेषणविधया भासित होने वाला गोत्व प्रत्येक गोव्यक्ति में समवायसम्बन्ध से परिसमाप्त होता है। अनुमान प्रयोग इस प्रकार है–विभिन्न गोपिण्डों में होने वाली गोबुद्धि प्रत्येक गोपिण्ड समवायसम्बन्ध से परिसमाप्त अर्थ को विषय करती है क्योंकि प्रत्येक पिण्ड में पूर्णाकारतया अनुभूत होती है। अर्थात् एक गोव्यक्ति को देखने पर भी 'गां पूर्णामनुभवामि=गाय को पूर्णरूप में देखता हूँ' इस प्रकार का अनुभव होता है। और यह नियम है–जो बुद्धि प्रत्येक में पूर्णाकार होती है वह प्रत्येक में समवेतार्थ को विषय करती है। जैसे एक एक व्यक्ति की बुद्धि, अर्थात् 'यह एक है' इस प्रकार की बुद्धि।

[४] चौथी कारिका में प्रत्येक गोपिण्ड में समवायसम्बन्ध से परिसमाप्त भी गोत्व में एकत्वबुद्धि से एकत्व का साधन किया गया है। अनुमान प्रयोग इस प्रकार है–प्रति गोपिण्ड में समवेत गोत्व एक है क्योंकि प्रति गोपिण्ड में एकत्वेन ज्ञात होता है। जैसे तत्पुरुष अर्थात् 'शूद्रादिः अब्राह्मणः' इस वाक्य में अब्राह्मण पद से एक एक शूद्रादि में परिसमाप्त प्रतीत होनेवाला ब्राह्मणभेद विभिन्नाश्रयों में एकत्वेन ज्ञायमान होने से एक होता है।

[५] पाँचवी कारिका में गोत्व में एकत्वबुद्धि के मिथ्यात्व का यह कहकर निराकरण किया गया है कि मिथ्यात्व की सिद्धि कारणदोष अथवा बाधकप्रत्यय से होती है किन्तु गोत्व में जो एकत्व बुद्धि होती है उसमें कोई कारणदोष नहीं है और न उसका कोई बाधक प्रत्यय है।

इन कारिकाओं से कुमारील ने सामान्य को सिद्ध करने का जो प्रयास किया है वह पूर्वोक्त दोषों से निरस्त हो जाता है।

इत्थं च कार्यकारणतावच्छेदकतया जातिसिद्धिरप्यपास्ता, कार्य-कारणयोः कथंचिदैक्येनापि कार्यकारणभावनिर्वाहात्। किञ्च, एवं गगनादौ सत्तायां मानमन्वेषणीयं स्यादायुष्मता, द्रव्यजन्यतावच्छेदकतया सिद्धस्य सत्त्वस्य तत्राभावात्। न च द्रव्यत्वादिना साङ्कर्यभिया तत्र सत्तास्वीकारः, सत्तया तद्रूपाऽपरिज्ञानात्। न चौपाधिसांकर्यस्येव जातिसांकर्यस्यापि दोषत्वे बीजमस्ति। 'जात्योः सांकर्ये गोत्वा-ऽश्वत्वयोरपि तथात्वापत्तिस्तद्दोषत्वे बीजमि'ति

चेत् ? न, आपादकाभावात् । न हि संकीर्णयोर्जातित्वं गोत्वाऽश्वत्वसामानाधिकरण्येन व्याप्तम् । 'तथापि शङ्का भविष्यती'ति चेत् ? सा यदि स्वरसवाहिनी, तदा लोकयात्रामात्रोच्छेदकतया न दोषाय । यदि च जातित्वसाधारणधर्मदर्शनजन्या, तदा प्रत्यक्षायां गवि विरोधावधारणादेव निवर्तते अन्यथोपाधिसांकर्यदर्शनजन्या सास्नाकेसरादिसांकर्यशंका दुरुच्छेदैव स्यात् ।

[कार्यतादि के अवच्छेदकतया जातिसिद्धि अशक्य]

कार्यता और कारणतादि के अवच्छेदक रूप से भी जाति की सिद्धि नहीं हो सकती है क्योंकि कार्य और कारण में कथञ्चित् ऐक्य मानकर कार्य-कारणभाव का निर्वाह कर सकते हैं- अर्थात् कथञ्चित् तत्तत्कार्यैक्य को तत्तत्कार्यनिरूपकता का निर्वाहक मानकर घटत्व-पटत्वादि से पटादि-कारणता की आपत्ति का परिहार किया जा सकता है । दूसरी बात यह है कि यदि पदार्थों के सत्त्व की उपपत्ति यदि सत्ता के समवाय से की जायगी तो गगनादि का सत्त्व सिद्ध करने के लिये सामान्य-वादी को प्रमाणान्तर का अन्वेषण करना होगा, क्योंकि 'समवायसम्बन्ध से जन्य सत् के प्रति तादात्म्यसम्बन्ध से द्रव्य कारण होता है' इस कार्यकारणभाव के आधार पर द्रव्यजन्यतावच्छेदकतया सत्ता सिद्ध होती है । अतः अजन्य गगनादि में उसका समवाय नहीं हो सकता । यदि यह कहा जाय कि-"गगनादि में सत्ता न मानने पर सत्ता में द्रव्यत्व का सांकर्य हो जायगा, अतः गगनादि में भी सत्ता मानना आवश्यक है"-तो यह ठीक नहीं है क्योंकि सत्ता को सांकर्य भय का ज्ञान नहीं है जिससे वह सांकर्य से भीत होकर गगनादि में रहने लग जाय ।

इसके अतिरिक्त एक दूसरी बात यह है कि जैसे उपाधिसांकर्य दोष नहीं होता उसी प्रकार जातिसांकर्य को भी दोष मानने में कोई बीज नहीं है । यदि यह कहा जाय कि-'जाति में सांकर्य मानने पर गोत्व-अश्वत्व में भी सांकर्य की आपत्ति होगी अतः यह आपत्ति ही जातिसांकर्य में दोषत्व का बीज है'-तो यह ठीक नहीं है क्योंकि गोत्व-अश्वत्व में सांकर्य का कोई आपादक नहीं है । कारण, 'संकीर्णवृत्तिजातित्व में गोत्व-अश्वत्व का सामानाधिकरण्य हो' ऐसी व्याप्ति नहीं है । यदि यह कहा जाय कि-'संकीर्णनिष्ठ जातित्व में गोत्व । अश्वत्व के सामानाधिकरण्य की व्याप्ति न होने से आपत्ति न हो किंतु गोत्व-अश्वत्व में परस्पर सामानाधिकरण्य की शंका हो सकती है'-तो यह ठीक नहीं है क्योंकि यह शंका यदि स्वाभाविक मानी जायगी तो ऐसी शंका सर्वत्र सम्भव होने से लोक-यात्रा मात्र का उच्छेद हो जायगा, आहार में प्राणघातकत्व की शंका होने से जीवितार्थी की आहार-ग्रहण में प्रवृत्ति न हो सकेगी । इसप्रकार सर्व प्रवृत्ति के लोप का प्रसङ्ग होगा । यदि यह कहा जाय कि 'उक्त शंका स्वाभाविक नहीं है किन्तु जातित्व जो पृथ्वीत्व और द्रव्यत्व में सामानाधिकरण्य का समानाधिकरण है एवं घटत्व और पटत्व में असामानाधिकरण्य का समानाधिकरण है उसके दर्शन से गोत्व और अश्वत्व में असामानाधिकरण्य की शंका हो सकती है'-तो यह ठीक नहीं है क्योंकि प्रत्यक्ष गो में गोत्व और अश्वत्व में अश्वत्वाऽसामानाधिकरण्यरूप विरोध का निश्चय होने से उसी से उन में सामानाधिकरण्यशंका का प्रतिबन्ध हो जायगा । यदि ऐसा नहीं माना जायगा तो भूतत्व-मूर्तत्वादि उपाधियों में सांकर्य के दर्शन से सास्नादिमत्त्व और केसरादिमत्त्वरूप उपाधिओं में भी सांकर्यशंका का परिहार असम्भव होगा ।

अथ जात्योः परस्परविरहसमानाधिकरणत्वस्य परस्परविरहव्याप्यतावच्छेदकत्वात् पर-

स्परविरहसमानाधिकरणौ धर्मौ यदि जाती स्याताम्, परस्परविरहव्याप्यौ स्यातामिति बाधकमिति चेत् ? न, परस्परविरहसमानाधिकरणत्वस्यैकस्याभावेन गोत्वाभावसमानाधिकरणत्वे गोत्व-समानाधिकरणात्यन्ताभावप्रतियोगित्वादिकमेवाश्वत्वादौ [illegible] [illegible] कल्प-नीयमिति न संकीर्णयोरजातित्वम्, मानाभावात्, समानाधिकरण्यग्राहकमानविरोधाच्च ।

[सांकर्य जाति में बाधक नहीं हो सकता]

यदि यह कहा जाय कि जातियों में जो परस्पराभावसामानाधिकरण्य होता है वह परस्परा-भाव का व्याप्यतावच्छेदक होता है । जैसे गोत्व और अश्वत्व जाति में परस्पराभाव का सामानाधि-करण्य है और वह परस्पराभाव का व्याप्यतावच्छेदक भी है, क्योंकि परस्पराभाव की समानाधि-करण उक्त दोनों जाति परस्पराभाव की व्याप्य है । इसप्रकार यह आपत्ति हो सकती है कि परस्प-राभाव के समानाधिकरण कोई भी दो धर्म यदि जातिरूप होंगे तो परस्पराभाव के व्याप्य होंगे । फलतः, यह आपत्ति ही संकीर्ण धर्मों के अर्थात् परस्परविरहसमानाधिकरण होते हुये परस्परसमा-नाधिकरण धर्मों के जातित्व में बाधक है'-तो यह ठीक नहीं है । क्योंकि गोत्व और अश्वत्व में जो परस्पराभावसामानाधिकरण्य है वह एक नहीं है क्योंकि गोत्वनिष्ठ अश्वत्वाभाव का सामानाधिकरण्य अश्वत्वाभावाधिकरणवृत्तित्वरूप है । अतः वह अश्वत्वाभावाधिकरण गोरूप निरूपक के भेद से भिन्न है । एवं अश्वत्व में जो गोत्वाभावसामानाधिकरण्य है वह गोत्वाभावाधिकरणाश्वनिरूपित-वृत्तित्वरूप है । अतः वह भी अश्वरूप निरूपक के भेद से भिन्न है । इसलिये उनमें कोई भी परस्परा-भाव का व्याप्यतावच्छेदक नहीं है किन्तु अश्वत्व में गोत्वविरोधिता और गोत्व में अश्वत्वविरोधिता का अवच्छेदक रहता है और वह क्रम से गोत्वाभावसमानाधिकरणत्वे सति गोत्वसमानाधिकरणात्य-न्ताभावप्रतियोगित्व, एवं अश्वत्वाभावसमानाधिकरणत्वे सति अश्वत्वसमानाधिकरणात्यन्ताभाव-प्रतियोगित्वरूप है । गोत्वविरोधिता 'वृत्तिमत्त्वे सति गोत्व का असामानाधिकरण्य' रूप है । एवं अश्वत्वविरोधिता 'वृत्तिमत्त्वे सति अश्वत्वासामानाधिकरण्य' रूप है । गगनादि अवृत्तिपदार्थों में गोत्वादि की विरोधिता का व्यवहार नहीं होता है अत एव गोत्वादिविरोधिता के शरीर में वृत्तिमत्त्व' का निवेश है । उस निवेश के कारण ही गोत्वादिविरोधितावच्छेदक की कुक्षि में गोत्वा-भावसमानाधिकरणत्व का निवेश आवश्यक है । अन्यथा गोत्वसमानाधिकरणात्यन्ताभावप्रतियोगित्व गगनादि में अतिप्रसक्त होने के कारण केवल तावन्मात्र गोत्वादिविरोधिता का अवच्छेदक नहीं हो सकता । अतः उक्त आपत्तिरूप बाधक को दोषा कर संकीर्ण धर्मों में जातित्वाभाव का समर्थन नहीं हो सकता । क्योंकि जातिनिष्ठ परस्पराभावसामानाधिकरण्य परस्पराभावव्याप्यता का अवच्छेदक होने में कोई प्रमाण नहीं है । अपि तु परस्पराभावसमानाधिकरण जिन जातियों में जिस प्रमाण से पर-स्परसामानाधिकरण्य का ग्रह होगा उस के विरोध से परस्पराभावसमानाधिकरण में परस्पराभाव-व्याप्यता की सिद्धि नहीं हो सकेगी, क्योंकि उसके निश्चय में प्रतिबन्ध लग जायेगा ।

किञ्च, संकीर्णयोरजातित्वे घटत्वमपि जातिर्न स्यात्, पृथिवीत्वेन परापरभावानुपपत्तेः । अथ पृथिवीत्वादिव्याप्यं नानैव घटत्वम्, कुलालत्वघणकारादिजन्यतावच्छेदकतया तथानात्व-स्यावश्यकत्वात् । अत एव घटत्वव्याप्यं पृथिवीत्वादिकमेव किं न स्यात् ? इति नाऽविनिगमः,

तथात्वे तज्जन्यतावच्छेदकनीलत्व-गन्धत्व-भास्वरत्वादिनानात्वापत्तेः, अनुगतधीस्तु कथञ्चित्सौसादृश्यादिति चेत् ? न, नीलादौ नीलादेरसमवायिकारणत्वेनानतिप्रसंगे पृथिवीत्वेन तथाऽहेतुत्वात्, भावकार्ये समवायिकारणकत्वनियमाभावात्, भावे वा जन्यसत्त्वावच्छिन्नं प्रति द्रव्यत्वेन हेतुतयैवोपपत्तेः, घटत्वस्य नानात्वे तज्जनकतावच्छेदकसंयोगनिष्ठजातिनानात्वस्याभिघातत्वादेस्तद्व्याप्यत्वस्य कल्पने चातिगौरवात् ।

[घटत्व जातिस्वरूप कैसे होगा ?]

दूसरी बात यह है कि यदि संकीर्ण धर्म को जाति न माना जायगा तो घटत्व भी जाति रूप न हो सकेगा क्योंकि पार्थिव और सौवर्ण द्विविध घटों में घटत्व के रहने से उसमें पृथ्वीत्व के साथ व्याप्यव्यापकभाव न होने से पृथ्वीत्व का सांकर्य है ।

यदि यह कहा जाय कि 'पृथ्वीत्व और तैजसत्व का व्याप्य घटत्व भिन्न भिन्न है । क्योंकि पार्थिव घट की कुलाल से और सौवर्ण घट की स्वर्णकार से उत्पत्ति होने के कारण कुलालजन्यतावच्छेदक घटत्व और स्वर्णकारजन्यतावच्छेदकघटत्व में भेद आवश्यक है । पृथ्वीत्वादि का व्याप्य घटत्व भिन्न है । इस संदर्भ में इस प्रकार का विनिगमनाविरह का उद्भावन नहीं किया जा सकता कि 'पृथ्वीत्वादिव्याप्य घटत्व भिन्न भिन्न माना जाय अथवा घटत्वव्याप्य पृथ्वीत्वादि भिन्न भिन्न माना जाय, क्योंकि यद्यपि दोनों ही पक्षों में घटत्व-पृथ्वीत्व के सांकर्य का वारण हो सकता है तथापि घटत्व के नानात्व में विनिगमना यह है कि कुलाल एवं स्वर्णकार के जन्यतावच्छेदक होने से घटत्व में विभिन्नता आवश्यक है । एवं पृथ्वीत्व के विभिन्नत्व में बाधक भी है, जैसे, पृथ्वीत्व को भिन्न भिन्न मानने पर पृथ्वी के जन्यतावच्छेदक नीलत्व और गन्धत्व में एवं तेज के जन्यतावच्छेदक भास्वरत्व में विभिन्नत्व की आपत्ति होगी, क्योंकि नीलत्वादि को एक मानने पर नीलत्वाद्यवच्छिन्न के प्रति विभिन्न पृथ्वीत्वावच्छिन्न को कारण मानने पर व्यतिरेकव्यभिचार होगा । क्योंकि एक पृथ्वीत्वावच्छिन्न के अभाव में भी अन्य पृथ्वीत्वावच्छिन्न से नीलत्वाद्यवच्छिन्न की उत्पत्ति हो जाती है । अतः घटत्व के विभिन्नत्व में कोई बाधक न होने से उसको जाति मानने में कोई बाधा नहीं हो सकती, क्योंकि पृथ्वीत्वादिव्याप्य घटत्व में पृथ्वीत्वादि का सांकर्य नहीं हो सकता । तथा, समस्त घटों में एकत्व के न होने पर भी पार्थिव और स्वर्णघट में आकार का अतिशय साम्य से घटाकार अनुगतबुद्धि की उपपत्ति हो सकती है ।"–

[पृथ्वीत्व को विभिन्न मानने में कोई आपत्ति नहीं है]

किन्तु यह प्रतिपादन ठीक नहीं है, क्योंकि पृथ्वीत्वादि को विभिन्न मानने पर भी पृथ्वी के जन्यतावच्छेदक नीलत्वादि में विभिन्नत्व का आपादन नहीं किया जा सकता । क्योंकि नीलत्वाद्यवच्छिन्न के प्रति पृथ्वीत्वेन पृथ्वी को कारणता ही नहीं है । क्योंकि नीलत्वाद्यवच्छिन्न के प्रति पृथ्वीत्वावच्छिन्न को कारण न माना जाय तो भी अवयवीगत नीलादि में अवयवगत नीलादि असमवायीकारण के अभाव से ही नीलत्वाद्यवच्छिन्न की उत्पत्ति की आपत्ति का परिहार हो सकता है । भावात्मककार्य अवश्यमेव समवायिकारणजन्य होता है इस नियम के अनुरोध से भी पृथ्वीत्वाद्यवच्छिन्न को नीलत्वाद्यवच्छिन्न का समवायी कारण मानना उचित नहीं है, क्योंकि 'भाव कार्य समवायिकारणजन्य ही होता है' इस नियम में कोई प्रमाण नहीं है, बल्कि इस नियम को न मानने में लाघव है ।

यदि भावकार्यत्व में समवायिकारणजन्यत्व के सहचारग्रह और व्यभिचार के अग्रह से उक्त नियम माना भी जाय, तो भी उसके अनुरोध से नीलत्वावच्छिन्न के प्रति पृथ्वीत्वावच्छिन्न को कारण मानना आवश्यक नहीं है क्योंकि समवायसम्बन्ध से जन्यभावमात्र के प्रति तादात्म्यसम्बन्ध से द्रव्यसामान्य कारण है इस कार्यकारणभाव से भी उक्त नियम की उपपत्ति हो सकती है। अतः 'पृथ्वीत्वव्याप्य घटत्व विभिन्न है अथवा घटत्वव्याप्य पृथ्वीत्व विभिन्न है' इस में कोई विनिगमक न होने से दोनों ही पक्ष नहीं सिद्ध हो सकते।

[घटत्व को विभिन्न मानने में बाधक]

इस के अतिरिक्त घटत्व के विभिन्नत्व में बाधक भी है। वह यह कि यदि घटत्व विभिन्न होगा तो उस के जनकतावच्छेदक कपालद्वयसंयोगनिष्ठजाति को भी विभिन्न मानना होगा। क्योंकि यदि घटजनकीभूत कपालद्वयसंयोगमात्र में एक जाति मानकर तज्जातिपुरस्कारेण कपालद्वयसंयोग को विभिन्नघटत्वावच्छिन्न के प्रति कारण माना जायगा तो व्यभिचार होगा और अभिघातत्वादि को संयोगनिष्ठघटजनकतावच्छेदकीभूत विभिन्नजातियों का व्याप्य मानना होगा। अन्यथा उन जातियों में अभिघातत्व आदि का सांकर्य हो जायगा। जैसे भेरीदण्डाभिघात में अभिघातत्व रहता है किन्तु घटजनकतावच्छेदकीभूत संयोगनिष्ठजाति उस में नहीं रहती। एवं उक्तजाति नोदनात्मक कपालजनकसंयोग में रहती है किन्तु उस में अभिघातत्व नहीं रहता-और अभिघातत्व एवं उक्त जाति दोनों जातियां घटजनकीभूताभिघातात्मकसंयोग में रहती हैं। इस प्रकार घटत्व को विभिन्न मानने पर संयोगनिष्ठ घटजनकतावच्छेदकजाति में नानात्व और अभिघातत्वादि में उक्तजातिव्याप्यत्व मानने पर अभिघातत्वादि में विभिन्नत्व की कल्पना करने में अत्यन्त गौरव होगा।

न च जन्यद्रव्यजनकतावच्छेदिकैव संयोगनिष्ठा जातिरुपेयते, न तु घटादिजनकतावच्छेदिकापि, यत्र कपालयोः संयोगविशेषाद् द्रव्यान्तरं भवति तत्र कपालत्वस्यैवाऽस्वीकारेण घटोत्पत्त्यनापत्तेरिति वाच्यम्; तत्रापि तदुत्तरकालं संयोगविशेषेण घटारम्भदर्शनात्। न चोत्तरकालं द्व्यणुकादिलक्षणकिञ्चिदवयवापगमात् खण्डकपालान्तरमुत्पद्यते तत्रैव घटजनकतावच्छेदिका जातिरिति वाच्यम्; तत्र किञ्चिदवयवापगमात् खण्डकपालोत्पत्तिः, किञ्चिदवयवसंश्लेषाद् महाकपालोत्पत्तिर्वेति विनिगन्तुमशक्यत्वात्, ततः कपालान्तरोत्पत्तेरपि तत्र कपालत्वस्वीकारं विना दुर्घटत्वात्। "हन्त ! एवं घटत्वस्य नानात्वे घटसामान्ये कपालत्वेनापि हेतुत्वं भज्यत" इति चेत् ? भज्यताम्, किं नश्छिद्यते ! न ह्यत्रार्थे वेदोऽस्ति। न च घटजनकसंयोगविशेषं प्रत्यपि कपालत्वेन हेतुत्वमुपेयमिति घटत्वनानात्वमावश्यकमिति वाच्यम्; कपालत्वेन तदुपादानत्वे घटत्वघटजनकसंयोगनिष्ठजात्यादिनानात्वकल्पने गौरवात्, तदुपादानतावच्छेदिकाया एवैकस्याः स्वीकर्तुमुचितत्वात्।

[संयोग और जन्यद्रव्य के सामान्य कार्यकारणभाव की शंका और उत्तर]

यदि यह कहा जाय कि—"घटादि के प्रति संयोगविशेष को कारण न मानकर जन्यद्रव्यसामान्य के प्रति संयोग सामान्य को ही कारण मानने में लाघव है। अतः संयोग में जन्यद्रव्य की

अन्यतावच्छेदक ही जाति होती है-घटादि की अवयवतावच्छेदक जाति नहीं होती । अतः घटत्व को नाना मानने पर संयोगनिष्ठघटजनकतावच्छेदकजाति में विभिन्नत्वकल्पनाप्रयुक्त गौरव नहीं हो सकता । घटादि के प्रति संयोगविशेष को कारण न मानने पर भी कपालद्वय के संयोगविशेष से जहाँ द्रव्यान्तर की उत्पत्ति होती है वहाँ घटोत्पत्ति की आपत्ति नहीं दी जा सकती । क्योंकि कपालनाम से व्यवहृत किये जानेवाले जिन द्रव्यों के संयोगविशेष से द्रव्यान्तर की उत्पत्ति होती है उन में कपालत्व ही नहीं है । अतः उन में घटोत्पत्ति का आपादन नहीं किया जा सकता, क्योंकि घट के प्रति कपाल कारण होता है और वे द्रव्य कपाल से भिन्न हैं ।"—तो यह ठीक नहीं है । क्योंकि जिन कपालसंज्ञक द्रव्यों के संयोगविशेष से द्रव्यान्तर की उत्पत्ति होती है उस संयोग का और द्रव्यान्तर का नाश हो जाने पर, उन्हीं द्रव्यों के संयोगविशेष से घटोत्पत्ति देखी जाती है । अतः उन्हें कपालभिन्न नहीं कहा जा सकता ।

[अवयव पृथक् होने पर घटोत्पत्ति शक्य न होने की शंका और उत्तर]

इसके प्रत्युत्तर में यदि यह कहा जाय कि कपालसंज्ञक जिन द्रव्यों के संयोग से द्रव्यान्तर की उत्पत्ति होती है, द्रव्यान्तर के उत्पादक उस संयोग का और द्रव्यान्तर का, नाश हो कर उनके पुनः संयोगविशेष से जब घटोत्पत्ति होती है तब उन द्रव्यों से द्व्यणुकादि यत्किञ्चिदवयवों के अलग हो जाने से खण्ड द्रव्यान्तर की उत्पत्ति होती है और उस खण्डद्रव्य में कपालत्व जाति रहती है । अतः उनके संयोग से उनमें घटोत्पत्ति होना उचित है । किन्तु द्व्यणुकादि यत्किञ्चिदवयवों के पृथक होने के पूर्व उन द्रव्यों में कपालत्व नहीं रहता अतः उनके संयोग से द्रव्यान्तर की उत्पत्ति के समय घटोत्पत्ति का आपादन नहीं हो सकता"—तो यह ठीक नहीं है क्योंकि 'यत्किंचिदवयवों के पृथक् हो जाने से खण्डकपाल की उत्पत्ति होती है अथवा यत्किञ्चिदवयवों के संयोग होने से महाकपाल की उत्पत्ति होती है' इस में कोई विनिगमना नहीं है । तथा यह कहा नहीं जा सकता कि—'उक्त दोनों में विनिगमना न होने से दोनों ही पक्ष मान्य हो सकते हैं । कारण, कहीं तो यत्किञ्चिदवयवों के पृथक् होने से खण्डकपाल की, और कहीं यत्किञ्चिदवयवों के संश्लेष से महाकपाल की उत्पत्ति होती है और तत्तत्स्थलों में उत्पन्न होनेवाले खण्डकपालद्वय के अथवा महाकपालद्वय के संयोग से घट की उत्पत्ति होती है ।'—क्योंकि द्व्यणुकादि यत्किञ्चिदवयवों के पृथक् होने से उत्पन्न होने वाले द्रव्य में अथवा द्व्यणुक आदि यत्किञ्चिदवयवों के संयोग से उत्पन्न होनेवाले द्रव्य में कपालत्व न मानने पर कपालत्व का कोई नियामक न हो सकेगा ।

[खंड कपाल में कपालत्व मानना आवश्यक]

दूसरी बात यह है कि द्व्यणुकादि यत्किञ्चिदवयवों के पृथक् होने पर अथवा संयोग होने पर जिस से कपालान्तर की उत्पत्ति होती है उस में कपालत्व मानना आवश्यक है क्योंकि यदि उसे कपाल न माना जायगा तो उस से कपालान्तर की उत्पत्ति न हो सकेगी, क्योंकि खण्डकपाल के प्रति महाकपालनाश और महाकपाल के प्रति लघुकपाल के अवयवों में अवयवान्तर का संयोग कारण होता है । अतः घटादि के प्रति भी संयोगविशेष को कारण मानना आवश्यक होने से घटत्व के विभिन्नत्वपक्ष में संयोगनिष्ठघटजनकतावच्छेदकजाति में जो विभिन्नत्व का आपादन किया गया है वह दुर्निवार है । यह भी ज्ञातव्य है कि घटत्व के विभिन्नत्वपक्ष में घटसामान्य के प्रति कपालत्वरूप से कपाल को

कारणता का भी भङ्ग हो जायगा क्योंकि इस पक्ष में निखिलघट में एक घटत्व है नहीं और विभिन्न-घटत्वावच्छिन्न के प्रति कपालत्वेन कारणता मानने में अन्यव्यभिचार होगा।

[घटत्व विभिन्न होने का नैयायिक कृत समर्थन]

नैयायिक की ओर से यदि यहाँ ऐसा समाधान किया जाय कि–"उक्त कार्यकारणभाव का भंग होने पर भी नैयायिक को कोई क्षति नहीं है, क्योंकि उक्त कार्यकारणभाव का बोधक कोई वेद नहीं है जिसके अनुरोध से उक्त कार्यकारणभाव मानना ही पड़े। इसके अतिरिक्त घटत्व में विभिन्नत्व के समर्थन के लिये नैयायिक यह भी कह सकता है कि घटसामान्य के प्रति यदि कपालत्वेन कपाल को और यत्किञ्चित् एक जाति पुरस्कारेण कपालद्वयसंयोग को तथा घटजनकविजातीयसंयोग के प्रति कपालत्वेन कपाल को कारण माना जाय तो भी घटत्व को विभिन्न मानना आवश्यक है क्योंकि घटत्व को यदि एक मान कर घटत्वावच्छिन्न के प्रति कपालत्वेन कपाल को और यत्किञ्चित् एकजाति पुरस्कारेण कपालद्वयसंयोग को कारण माना जायगा तो सौवर्ण घट और पार्थिवघट के प्रति कोई पृथक् कारण न होने से इस कार्यकारणभाव के बल से ही सौवर्ण और पार्थिवघट की उत्पत्ति माननी होगी। इस स्थिति में सौवर्ण कपालद्वयसंयोग से पार्थिवघट की और पार्थिव कपालद्वयसंयोग से सौवर्ण घट की उत्पत्ति की आपत्ति होगी। अतः पृथ्वीत्व और तैजसत्व के व्याप्य घटत्व को भिन्न भिन्न मानकर पृथ्वीत्वव्याप्य घटत्वावच्छिन्न के प्रति पार्थिव कपाल और पार्थिवकपालद्वयसंयोग को एवं तैजसत्वव्याप्य घटत्वावच्छिन्न के प्रति तैजसकपाल और तैजसकपालद्वयसंयोग को कारण मानना आवश्यक है। अतः घटत्व में पृथ्वीत्वादि का सांकर्य बताते हुये उसे जाति मानकर संकीर्णधर्म मात्र में जातित्व का समर्थन नहीं किया जा सकता"—

[पृथ्वीत्वादि से संकीर्ण घटत्व जाति की सिद्धि]

किन्तु नैयायिक का यह कथन ठीक नहीं है क्योंकि न्यायमत में कपालत्वरूप से कपाल को घट का उपादान मानने पर घटत्व और घटजनकसंयोगनिष्ठजाति तथा कपालत्व में विभिन्नत्व की कल्पना करने में गौरव होगा। अतः पार्थिव-सौवर्ण सभी घटों में एक घटत्व मान कर कपाल को घटसामान्य की उपादानता का अवच्छेदक करना ही उचित है। इस पक्ष में जो यह पार्थिवकपाल और पार्थिवकपालद्वयसंयोग से सौवर्णघट की एवं सौवर्णकपाल और सौवर्णकपालद्वयसंयोग से पार्थिव-घट की उत्पत्ति बतायी गई है वह नहीं हो सकती क्योंकि जन्यतेजस्त्वावच्छिन्न के प्रति तेजस्त्वेन तेज उपादानकारण होता है और जन्यपृथिवीत्वावच्छिन्न के प्रति पृथिवीत्वेन पृथ्वी उपादान कारण है। सौवर्णघट जन्यतेज है और पार्थिवघट जन्यपृथ्वी है। अतः सौवर्णघट की उत्पत्ति में जन्यतेजस्त्वाव-च्छिन्न की सामग्री की अपेक्षा होने से और पार्थिवघट की उत्पत्ति में जन्यपृथ्वीत्वावच्छिन्न की सामग्री की अपेक्षा होने से अपार्थिवकपाल में पार्थिवघट की और अतैजस कपाल में तैजस घट की उत्पत्ति की आपत्ति नहीं हो सकती। इस प्रकार लाघव से पृथ्वीत्वादि से संकीर्ण एक घटत्वजाति की सिद्धि अनिवार्य होने से सांकर्य को जातिबाधक नहीं माना जा सकता।

किञ्च, एवं सामयिकः शक्तिविशेषः, अभावविशेषो वा घटहेतुः स्यात्, स्याद् वा घट-कुर्वद्रूपत्वेनैव घटहेतुत्वम्, अत्यभिज्ञानुरोधस्य सर्वथैवोपेक्षितत्वात्। यदि चानुभवोऽनुरुध्यते, तदा भेदाभेदविचित्रशक्त्यनुविद्धसामान्यविशेषभावाभ्युपगमं विना दुर्घट एव हेतु-हेतुमद्भावः।

[शक्तिविशेष, अभावविशेष या घटकुर्वद्रूपत्व आदि का आपादन]

इस संदर्भ में यह विचारणीय है कि यदि घटत्व और कपालत्वरूप से सामान्य कार्यकारणभाव की उपेक्षा कर घटत्व को विभिन्न मानना है तब तो यह भी कहा जा सकता है कि घट के प्रति सामयिक यानी तत्समयभावी शक्तिविशेष अथवा अभावविशेष ही कारण है। जिससे, जब घट की उत्पत्ति होती है उस समय उसमें ही शक्तिविशेष अथवा अभावविशेष मानने से कालान्तर में अन्य वस्तु से घटोत्पत्ति आपत्ति का परिहार हो सकता है। अथवा यह भी कहा जा सकता है कि घट के प्रति घटकुर्वद्रूपत्वरूप से ही कपालादि को कारणता है। ऐसा मानने पर यद्यपि घट के कारणीभूत कपालादि में क्षणिकत्व प्रसक्त होता है और क्षणिकत्वपक्ष में प्रत्यभिज्ञा की अनुपपत्ति होती है किन्तु इस अनुपपत्ति का उद्भावन विभिन्न घटत्ववादी की ओर से नहीं किया जा सकता क्योंकि उसने स्वयं सौवर्णसादृश्य से प्रत्यभिज्ञा की उपपत्ति करके प्रत्यभिज्ञा के अभेदग्राहित्व की उपेक्षा कर दी है।

[अनुभव के बल से कार्यकारणभाव की उपपत्ति में स्याद्वाद]

यदि नैयायिक की ओर से यह कहा जाय कि-'कपालादि की उत्पत्ति होने पर घटादि की उत्पत्ति होती है और कपालादि के अभाव में घटादि की उत्पत्ति नहीं होती यह अनुभव है अत एव इसके अनुरोध से घटत्व के विभिन्नत्वपक्ष में कपालत्वादि का भी विभिन्नत्व स्वीकार कर विभिन्न घटत्वावच्छिन्न के प्रति विभिन्नकपालत्वाद्यवच्छिन्न को कारण मानना आवश्यक है, अतः इस अनुभवसिद्ध कार्यकारणभाव का अपलाप कर सामयिक शक्तिविशेष अथवा अभावविशेष किंवा घटकुर्वद्रूपत्वविशिष्ट को घट का कारण मानना उचित नहीं है"-तो नैयायिकों को इस बात का भी ध्यान रखना आवश्यक है कि अनुभवसिद्ध ऐसे कार्य और कारण में कथञ्चिद् भेदाऽभेद एवं विचित्रशक्ति से अनुविद्ध सामान्य-विशेषभाव के अभ्युपगम के बिना हेतु-हेतुमद्भाव भी अत्यन्त दुर्घट है। क्योंकि कार्यकारण में यदि अत्यन्तभेद होगा तो घट के प्रति तन्तु को और पट के प्रति कपालादि को भी कारणता की आपत्ति होगी। यदि अत्यन्तअभेद होगा तो जैसे स्व के प्रति स्व को कारणता नहीं होती है उसी प्रकार घटादि को भी कारणता नहीं हो सकती। इसीप्रकार घटादि को सामान्यविशेषात्मक अर्थात् मृद्रूप से सामान्यात्मक और घटत्वादिरूप से विशेषात्मक माने बिना भी घट-कपालादि में कार्यकारणभाव उसी प्रकार नहीं हो सकता जैसे घटतन्तु आदि में कार्यकारणभाव नहीं होता। ऐसा मानने पर नैयायिक के कार्यकारणभाव की सारी मान्यता ही समाप्त हो जाती है क्योंकि उन्हें इष्ट कार्यभाव अभिमत है जो कार्यकारणभाव के भेदपक्ष में नहीं बन सकता।

एतेन—"घटत्व-दण्डत्वादिकमेकत्वशक्ति कार्यकारणतयोरवच्छेदकम्, मृत्त्वादिकमेकमेव चैकत्वशक्ति घटत्वादिकं तु सर्वत्रोपोत्पन्नकपृथिवीवृत्ति, कार्यकारणभावानां बहूनां साक्षात्समानाधिकरणेनावच्छेदकत्वात्, कुम्भकारस्वर्णकारादेर्विजातीयकृतिमत्त्वेन, चक्रादि-तन्त्वादेश्च कथञ्चिद्विजातीयसंयोगव्यापारकत्वेन हेतुत्वम्, अन्यथा चक्रादिकं विना क्वचित् मृदादिघटस्याप्युत्पत्तेर्व्यभिचारो दुर्वारः स्यात्। 'रूपादिवत्स्येव तत् किं न स्यात्?' इति चेत्? रूपादौ नीलत्व-चित्रत्व-सुरभित्व-कठिनत्वादिना सांकर्यात् ह्रस्व-दीर्घत्वादेरनन्तत्वात्, आश्रयभेदा-

घटेऽग्रहाच्च; एकपृथक्त्वस्यावधिज्ञानव्यङ्ग्यत्वेन विलम्बोपस्थितिकत्वात्, नव्यमते गुणत्वाभावाच्च"--इत्यादि निरस्तम्, दीपादेरेकत्वाऽग्रहेऽपि घटत्वग्रहात्, घटे घटत्वस्यानेकसंनिकर्षग्रहप्रसङ्गात्, चक्षुःसंयुक्ते स्वाश्रयसंबन्धेन वृत्तित्वस्य संनिकर्षत्वे गौरवात्, एकत्वस्याग्रहापत्तेश्चेति न किञ्चिदेतत् ।

[घटत्व-दण्डत्व अथवा पृथ्वित्व एकत्वगत जाति है-पूर्वपक्ष]

कुछ विद्वानों का कहना है कि-

घटत्व-दण्डत्वादि को द्रव्यवृत्ति मानने पर पृथ्वीत्वादि के सांकर्य से घटत्वादि के जातित्व की अनुपपत्ति होती है। अतः घटत्व-दण्डत्वादि द्रव्यनिष्ठ न होकर घट-दण्डादिगत एकत्व में रहने वाली जाति है। यह स्वाश्रयाश्रयत्वसम्बन्ध से क्रमशः कार्यता और कारणता का अवच्छेदक है। अथवा घटत्व-दण्डत्वादि अनेक जातियों को एकत्ववृत्ति मानने की अपेक्षा पृथ्वित्व-तेजस्त्व आदि एक एक को ही एकत्व वृत्ति मानना चाहिये। ऐसा मानने पर घटत्वादि को अपने अभिव्यंजक पृथ्वी आदि में वृत्ति माना जा सकता है। इस पक्ष में भी घटत्वादि में पृथ्वीत्वादि का सांकर्य नहीं हो सकता क्योंकि घटत्वादि द्रव्यवृत्ति है और पृथ्वीत्वादि एकत्वसंख्यात्मक गुण में वृत्ति है। अतः दोनों में सामानाधिकरण्य नहीं है।

[पृथ्वीत्व को एकत्वगत मानने में अधिक गुण]

प्रथमपक्ष की अपेक्षा यह पक्ष अधिक युक्तिसंगत है क्योंकि प्रथमपक्ष में घटत्व-दण्डत्वादि को स्वाश्रयाश्रयत्वरूप परम्परासम्बन्ध से कार्यता एवं कारणता का अवच्छेदक मानना पड़ता है और इस पक्ष में साक्षात् समवायसम्बन्ध से उन्हें कार्यता और कारणता का अवच्छेदक मान सकते हैं, लाघव से यही उचित भी है। कुम्भकार और स्वर्णकार के अन्यतावच्छेदकरूप से घटत्व को विभिन्न मानने की आवश्यकता नहीं है, क्योंकि घटसामान्य के प्रति विजातीयकृतिमत्त्वरूप अनुगतधर्म से कुम्भकार और स्वर्णकार को कारणता हो सकती है। इसी प्रकार चक्रादि कुलाल के उपकरण और वर्तुल आदि स्वर्णकार के उपकरणों को भी विजातीयसंयोगव्यापारकत्वरूप अनुगतधर्म से घट-सामान्य के प्रति कारणता मानी जा सकती है। यही उचित भी है, क्योंकि-चक्रादि को पार्थिवघट के प्रति चक्रत्वादि रूप से कारण मानने पर चक्रस्थानीय साधनान्तर से भी घट की उत्पत्ति होने से व्यभिचार की प्रसक्ति होती है। किन्तु विजातीयसंयोगव्यापारकत्वरूप से कारण मानने पर व्यभिचार नहीं हो सकता क्योंकि विजातीयसंयोगव्यापारकत्व चक्र और चक्रस्थानीय अन्य साधन, सभी में साधारण है।

[एकत्ववृत्ति माने या रूपवृत्ति माने इसमें विनिगमक]

पृथ्वीत्वादि को एकत्ववृत्ति मानने पर इस प्रकार विनिगमनाविरह का आपादन नहीं किया जा सकता कि-'पृथ्वीत्वादि को एकत्ववृत्ति ही क्यों माना जाय? रूपादिवृत्ति क्यों न माना जाय?'-क्योंकि पृथ्वीत्व को रूपवृत्ति मानने पर नीलत्व के साथ, रसवृत्ति मानने पर तिक्तत्व के साथ, गन्धवृत्ति मानने पर सुरभित्व के साथ और स्पर्शवृत्ति मानने पर कठिनत्व के साथ सांकर्य होता है। द्वित्व और द्विपृथक्त्वादि में भी पृथ्वीत्व की सत्ता नहीं मानी जा सकती क्योंकि अपेक्षाबुद्धि

के भेद से द्वित्वादि में आनन्त्य होने के कारण एकत्व को पृथ्वीत्व का आश्रय मानने की अपेक्षा द्वित्वादि को पृथ्वी का आश्रय मानने में गौरव है।

दूसरी बात यह है कि पृथ्वीत्व का ज्ञान आश्रयभेद का ज्ञान न रहने पर भी होता है किन्तु द्वित्वादिवृत्ति मानने पर आश्रयभेद के अज्ञानदशा में द्वित्वादि का ग्रह न हो सकने से उस समय पृथ्वीत्व का ज्ञान न हो सकेगा। पृथ्वीत्व को एकत्ववृत्तित्व और एकपृथक्त्ववृत्तित्व को लेकर भी विनिगमना विरह का उद्भावन नहीं किया जा सकता क्योंकि एकपृथक्त्व अवधि के ज्ञान से ग्राह्य होने के कारण विलम्ब से उपस्थित होता है। दूसरी बात यह है कि नव्यमत में पृथक्त्व का भेद में अन्तर्भाव होने से उसमें गुणत्व का अभाव है। अतः एकपृथक्त्व अभावात्मक होने से पृथ्वीत्वादि-जाति का आश्रय नहीं हो सकता।

[एकत्वज्ञानाभावदशा में भी घटत्व का ज्ञान संभव-उत्तरपक्ष]

किंतु यह मत भी निम्नलिखित कारणों से निरस्त हो जाता है जैसे,–

दोषवश घट में एकत्व का ज्ञान न होने पर भी घटत्व का ज्ञान होता है किन्तु घटत्व को एकत्ववृत्ति मानने पर उसकी उपपत्ति न हो सकेगी। एवं घटत्व को एकत्ववृत्ति मानने पर घट में घटत्व-इन्द्रियसंनिकर्ष न होगा। अतः घट में घटत्व का ज्ञान नहीं हो सकता। यदि घटत्वज्ञान में चक्षुःसंयुक्तनिरूपित स्वाश्रयसम्बन्धावच्छिन्नवृत्तित्व को संनिकर्ष माना जायगा तो चक्षुःसंयुक्तनिरूपित समवायसम्बन्धावच्छिन्नवृत्तित्व को संनिकर्ष मानने की अपेक्षा गौरव होगा। तथा दूसरी बात यह कि यदि चक्षुःसंयुक्तनिरूपित स्वाश्रयसम्बन्धावच्छिन्नवृत्तित्व को संनिकर्ष माना जायगा तो यह संनिकर्ष घट द्वारा एकत्वत्व के साथ भी हो सकेगा अतः घट में एकत्वत्व के प्रत्यक्ष की भी आपत्ति होगी। अतः यह मत तुच्छ है।

किञ्च, अतिरिक्तसामान्यवत् तत्संबन्धोऽपि वैशिष्ट्याख्योऽतिरिक्तः स्वीक्रियताम्, इति भावाभावसाधारणजात्यनभ्युपगमे विनाऽपसिद्धान्तं किं बाधकम्? कथं वा ध्वंसादावनुगतव्यवहारः? कथं वा तादात्म्येन जन्यसतः प्रतियोगितया ध्वंसत्वं जन्यतावच्छेदकम्? न हि जन्याभावत्वं तत्, जन्यत्वस्य ध्वंसगर्भत्वेनात्माश्रयात्। न च कालिकेन घटत्वपटत्वादिमत्त्वं तत्, अनन्तकार्यकारणभावप्रसङ्गात्। यदि चाखण्डोपाधिरूपमेव ध्वंसत्वादिकम्, तदा घटत्वादिकमप्यखण्डोपाधिरूपमेवास्तु, इति जातिविलय एवायातो देवानांप्रियस्य!।

[वैशिष्ट्यनामक सम्बन्ध से जातिमान् अभाव सिद्धि]

इस संदर्भ में यह भी विचारणीय है कि जैसे विशेष सामान्यों से अतिरिक्त सामान्य का अस्तित्व माना जाता है उसीप्रकार उस का वैशिष्ट्य नामक अतिरिक्त सम्बन्ध भी माना जा सकता है। तथा यह सम्बन्ध भाव अभाव दोनों का होगा और उसी से सामान्यादि के आश्रयों में सामान्यप्रकारक बुद्धि और भूतलादि में घटाद्यभावप्रकारक बुद्धि की भी उपपत्ति होगी। यदि यह कहा जाय कि– 'सामान्य का भावाभावसाधारण सम्बन्ध मानने पर जाति भी भावाभावसाधारण होगी। अतः ऐसे सम्बन्ध की कल्पना अनुचित है'– सो यह ठीक नहीं है क्योंकि भावाभावसाधारण जाति के अभ्युपगम में नैयायिक द्वारा स्वीकृत 'अभाव में जाति नहीं होती' इस सिद्धान्तभंग के अतिरिक्त और

कोई बाधक नहीं है और यह सिद्धान्त युक्तिसंगत न होने से इस के भङ्ग के भय से प्रतिपक्षीओं को भावाभावसाधारण जाति का अभ्युपगम न करने के लिये विवश नहीं किया जा सकता।

[ध्वंसत्व को जातिरूप न मानने पर बाधक]

दूसरी बात यह है कि यदि जाति को अभावनिष्ठ न माना जायेगा तो ध्वंसादि में अनुगत-व्यवहार की उपपत्ति भी न होगी। उस के साथ ही, प्रतियोगितासम्बन्ध से ध्वंस के प्रति तादात्म्य-सम्बन्ध से जन्यभाव कारण है- यह कार्यकारणभाव भी न बन सकेगा क्योंकि ध्वंसत्व को जाति न मानने पर उसे जन्यतावच्छेदक कहना सम्भव न हो सकेगा। जैसे कि ध्वंस-अभावसाधारण 'जन्यत्व' को कार्यतावच्छेदक नहीं कहा जा सकता क्योंकि- तज्जन्यत्व तत्प्रतियोगित्वाभावानिरूपकत्वे सति तदव्यवहितोत्तरक्षणवृत्तित्वरूप होता है और तदव्यवहितोत्तरत्व तदधिकरणक्षणध्वंसाधिकरणक्षण-ध्वंसानधिकरणत्वे सति तदधिकरणक्षणध्वंसाधिकरणत्व रूप होता है। इस प्रकार जन्यत्व के शरीर में ध्वंस का प्रवेश होने से ध्वंसत्व को जन्याभावत्वरूप मानने पर आत्माश्रय हो जायगा।

कालिकसम्बन्ध से घटत्व-पटत्वादिविशिष्टभावत्व को भी तादात्म्यसम्बन्ध से जन्यभाव रूप कारण निरूपित प्रतियोगितासम्बन्धावच्छिन्नकार्यता का अवच्छेदक नहीं माना जा सकता क्योंकि ऐसा मानने पर घटत्व-पटत्वादि रूप कार्यतावच्छेदक के आनन्त्य से अनन्त कार्यकारणभाव की आपत्ति होगी। यदि ध्वंसत्वादि को अखण्डोपाधिरूप मान कर उसे अनुगतव्यवहार का नियामक तथा उक्त जन्यता का अवच्छेदक माना जायगा तो ध्वंसत्वादि के समान घटत्वादि को भी अखण्डोपाधिरूप मानना सम्भव होने के कारण जाति का सर्वथा लोप ही हो जायगा। अतः उक्त प्रयास जातिवादी की मूढता का ही द्योतक होगा।

यत्तु–'घटत्वादेर्जातित्वे घटे समवायेन तद्बुद्धिव्यपदेशादिकमिति लाघवम्, अखण्डोपाधित्वे तु स्वरूपसंबन्धेनेति गौरवम्' इति पद्मनाभादिभिरभिदधे, तत्तुच्छम्, स्वरूपसंबन्धस्याप्युपाधिरूपत्वेऽनुगतत्वेन लाघवाऽक्षतत्वात्, समवायापेक्षया स्वरूपसंबन्धस्य गुरुत्वेऽननुगमस्यैव बीजस्य भवताऽभ्युपगमात्।

[घटत्व अखंडोपाधिरूप न मानने वाले पद्मनाभमत का निरसन]

इस संदर्भ में पद्मनाभादि नैयायिकों का यह कहना है कि-"घटत्वादि को अखण्डोपाधि नहीं माना जा सकता क्योंकि अखण्डोपाधि मानने पर उस का स्वरूपसम्बन्ध मानना होगा। स्वरूप-संबन्ध मानने पर घटत्वादि अनन्तधर्मों में सम्बन्धत्व की कल्पना में गौरव होगा। अतः घटत्वादि को जाति मानकर समवायसम्बन्ध से ही घटत्वादिमत्ता की बुद्धि और व्यवहार का उपपादन करने में लाघव है। क्योंकि घटत्व-पटत्वादि समस्तजातियों का एक ही समवायसम्बन्ध होता है।"-किन्तु यह कथन भी तुच्छ है। क्योंकि स्वरूपसम्बन्ध को भी उपाधिरूप मान लेने पर वह घटत्व-पटत्वादि सभी अखण्डोपाधिओं का एक अनुगत सम्बन्ध हो जायगा। अत एव स्वरूप-सम्बन्ध के अभ्युपगम पक्ष में भी लाघव की हानि नहीं होगी। समवाय की अपेक्षा स्वरूपसम्बन्धपक्ष में जो गौरव होता है उसका बीज अननुगम ही माना जाता है जो स्वरूपसम्बन्ध को उपाधिरूप मान लेने से निरस्त हो जाता है।

यदपि 'जात्यखण्डोपाधित्वापादने फलतोऽसमवेतत्वमेवापाद्यते, तच्चाशक्यम् , समवेतत्वस्य तत्र प्रत्यक्षसिद्धत्वात्' इति, तदपि न, समवेतत्वस्य त्वदतिरिक्तेनाऽननुभवात् , संबन्धांशे विलक्षणप्रतीतेरप्यसिद्धेः, 'इह घटत्वम्' 'इह भावत्वम्' इति धियोर्वैलक्षण्याऽसिद्धेः । इष्यते च भावत्वमखण्डोपाधिरूपं नवीनैः–द्रव्यादौ सत्तादौ च 'भावः–भावः' इत्यनुगतधियः संबन्धांशे वैलक्षण्याननुभवेन समवाय–स्वाश्रयसमवायान्यतरसंबन्धेन सत्तैव भावत्वम्–इति प्राच्यमतस्य दूषणादिति न किञ्चिदेतत् ।

[अखण्डोपाधित्व को असमवेतत्व माने तो भी क्या ?]

कुछ लोगों का यह कहना है कि–"ध्वंसत्व के समान घटत्वादि जातियों में अखण्डोपाधित्व का साधन फलतः असमवेतत्व के साधन में ही पर्यवसित होता है क्योंकि जाति और अखण्डोपाधि में केवल इतना ही अन्तर होता है कि अखंडोपाधि असमवेत होती है और जाति समवेत होती है। तो फिर जब अखण्डोपाधित्व के साधन का पर्यवसान असमवेतत्व के साधन में ही होता है तो वह शक्य नहीं हो सकता, क्योंकि घटत्वादि में समवेतत्व प्रत्यक्षसिद्ध है अत एव समवेतत्व के प्रत्यक्ष से असमवेतत्वसाधन का बाध हो जायगा।"–किन्तु यह कथन भी ठीक नहीं है, क्योंकि घटत्वादि में अखण्डोपाधित्व के साधन का उक्त रीति से प्रतिवाद करने वालों को छोड़कर किसी अन्य को घटत्वादि में समवेतत्व का प्रत्यक्ष आनुभाविक नहीं है।

[संबन्धांश में वैलक्षण्य का अनुभव मिथ्या है]

यदि यह कहा जाय कि–'अखण्डोपाधि की प्रतीति से जाति की प्रतीति सम्बन्धांश में विलक्षण होती है अतः जाति प्रतीति को समवायसम्बन्धविषयक और अखण्डोपाधि की प्रतीति को स्वरूपसम्बन्धविषयक मानना उचित है'-तो यह भी ठीक नहीं है क्योंकि "इह घटत्वम्=इसमें घटत्व है" और "इह भावत्वम्=इसमें भावत्व है" इन घटत्वरूप जाति और भावत्वरूप अखण्डोपाधि विषयक प्रतीतियों के सम्बन्धांश में वैलक्षण्य असिद्ध है। यदि यह कहा जाय कि–'इह भावत्वम्' यह प्रतीति भी जाति विषयक ही है, क्योंकि भावत्व सत्ताजाति से अतिरिक्त नहीं है'–तो यह भी ठीक नहीं है क्योंकि नवीन नैयायिकों ने भावत्व को अखण्डोपाधिरूप माना है। द्रव्यादि में जो 'द्रव्यादिकं भावः' और सत्तादि में 'सत्तादिकं भावः' यह अनुगताकारबुद्धि होती है उस में सम्बन्धांश में वैलक्षण्य का अनुभव नहीं होता। अतः 'द्रव्यादि में समवायसम्बन्ध से सत्ता ही भावत्व है' यह प्राचीन मत दोषग्रस्त है।

तस्मात् सामान्यविशेषरूपमेव वस्तु स्वीकर्तव्यम् , यद् अविशिष्टं प्रतिव्यक्त्यनुगतं विशिष्टं च विशिष्टानुगतमविशिष्टत्व–पर्यायापन्नं स्वभावत एव विज्ञक्षयोपशमवशाद् गुण–प्रधानभावेन परस्परकरम्बितं भासते। अत एव घटत्वांश इव घटांशेऽप्यनुगताकारा धीः। अत एव च महानसीय धूम एवाभिमुखीभूते सामान्यतो गृह्यमाणा व्याप्तिः पर्वतीयधूमेऽपि पर्यवस्यति, संवृतविशेषाकारे धूमसामान्य एव तद्ग्रहात् । न हि तदुत्तरं सामान्यप्रत्यासत्त्या सकलधूमविशेष्यकं व्याप्तिज्ञानं जायमानमनुभूयते, किन्तु प्रथममेव, तथाक्षयोपशमवशात् । सामान्यप्रत्या-

सत्त्वादिकल्पनागौरवेणैकव्यक्तेरेव कथञ्चित्प्रतिनियतव्यक्त्यभेदस्य प्रत्यभिज्ञासिद्धस्य स्वीकर्तु-मुचितत्वादिति । तस्मात् सामान्यविशेषरूपतया गोरसदृष्टान्तेनोत्पाद-व्यय-ध्रौव्यात्मकं वस्तु सिद्धम् ॥ ३ ॥

[सामान्यविशेषोभयात्मक वस्तुस्वरूप की प्रतीति]

उक्त विचारों के निष्कर्षस्वरूप यही मानना उचित है कि वस्तु सामान्यविशेष उभयात्मक ही होती है । विशेषानात्मक सामान्य का और सामान्यानात्मक विशेष का अस्तित्व अप्रामाणिक है । सामान्यविशेषात्मक वस्तु ही विशेषांश की प्रधानरूप से विवक्षा न होने पर प्रति आश्रय में अनुगत होती है, और विशेषांश की प्रधानरूप से विवक्षा करने पर वह विशिष्ट वस्तु में अनुगत होती है, जो कि अविशिष्ट स्व और पर से व्यावृत्त होती है । यह उसका स्वभाव है कि चित्रक्षयोपशम अर्थात् कभी विशेषांश का आवरण करते हुये सामान्यांश के ज्ञानावरण का, और कभी सामान्यांश का आवरण करते हुये विशेषांश के ज्ञानावरण का क्षयोपशम होने से कभी विशेष को गौण और सामान्य को प्रधान, और कभी विशेष को प्रधान और सामान्य को गौण करके परस्पर मीलितरूप में वस्तु भासित होती है । जैसे वह्नि महानसीयत्व आदि धर्मों से विशिष्ट होने से विशेषात्मक और वह्नित्वरूप सामान्यधर्म से विशिष्ट होने से सामान्यात्मक होता है । तथा महानसीयत्व आदि विशेषरूप की प्रधानरूप से विवक्षा न होने पर वह्निसामान्यरूप सभी वह्नि में अनुगत होता है और महानसीयत्व आदि की प्रधान रूप से विवक्षा होने पर महानसीयत्वादि विशिष्ट वह्निसामान्य विभिन्न महानसीय वह्नियों में अनुगत होता है और अविशिष्ट वह्निसामान्य का अव्यापक होने से अविशिष्ट, 'स्व' से व्यावृत्त और घटपटादि 'पर' से व्यावृत्त होता है । तथा जब महानसीयत्वादि विशेषांश का संवरण करते हुये वह्निसामान्यांश के ज्ञानावरण का क्षयोपशम होता है तब महानसीयवह्नि का वह्निसामान्याकारेण प्रतिभास होता है और जब सामान्यांश का संवरण-प्रधानरूप से अविवक्षापूर्वक विशेषांश के ज्ञानावरण का क्षयोपशम होता है तब केवल वह्निसामान्यरूप से आभास न होकर महानसीय-वह्नि रूप से आभास होता है ।

इसी प्रकार वस्तु को सामान्यविशेषात्मक मानने पर ही घटविषयक बुद्धि में घटत्व के समान घटांश में भी अनुगताकारता सम्पन्न होती है । एवं महानसीयधूम के अभिमुख होने पर धूमसामान्य में वह्निसामान्य की व्याप्ति का ग्रहण पर्वतीयादि धूम में भी पर्यवसन्न होता है । क्योंकि उस समय धूम के महानसीयत्वरूप विशेषाकार का संवरण होकर धूमसामान्य में ही वह्निव्याप्ति का ग्रहण होता है ।

[प्रथम दर्शन में ही व्यापकरूप से व्याप्तिज्ञान का उदय]

इस संदर्भ में नैयायिकों का यह कहना कि-'महानसीयधूम में महानसीयवह्नि का व्याप्ति-ज्ञान होने के बाद सामान्यलक्षणाप्रत्यासत्ति से समस्त धूम और वह्नि की उपस्थिति होकर सकल धूम में सकल वह्नि का व्याप्तिज्ञान होता है'-ठीक नहीं है क्योंकि पहले महानसीयधूम में महानसीयवह्नि का व्याप्तिज्ञान और बाद में धूमसामान्य में वह्निसामान्य के व्याप्तिज्ञान का होना आनुभविक नहीं है किन्तु महानसीय धूम के अभिमुख होने पर क्षयोपशम विशेष से अर्थात् महानसीयत्व का संवरण होकर धूमसामान्य और वह्निसामान्य के ज्ञानावरण के क्षयोपशम से महानसीयत्व का

ज्ञान न होकर धूमसामान्य और वह्निसामान्य का व्याप्तिज्ञान पहले ही हो जाता है। अतः सामान्यलक्षणाप्रत्यासत्ति आदि की कल्पना में गौरव होने से नैयायिक कथित रीति से व्याप्तिज्ञान का अभ्युपगम उचित नहीं है। दूसरी बात यह है कि एक धूमव्यक्ति को ही कथञ्चिद् अन्य समस्त धूमव्यक्तियों से अभिन्नरूप में प्रत्यभिज्ञा होती है अतः उसके अनुरोध से एक धूमव्यक्ति में अन्य समस्त धूमव्यक्तियों का अभेद मानना उचित है और वह धूमव्यक्तियों को सामान्यविशेषात्मक मानने पर ही सम्भवित हो सकता है। आशय यह है कि समस्त धूम तत्तद्व्यक्तिस्वरूप से परस्पर भिन्न है और धूमसामान्यरूप से अभिन्न है।

इस प्रकार वस्तुमात्र सामान्यविशेषरूप होने से गोरस के दृष्टान्त से एककाल में ही एकवस्तु में जो उत्पाद-व्यय-ध्रौव्यरूपता बतायी गई है वह सर्वथा सुसंगत है ॥३॥

चौथी कारिका में बौद्धों की ओर से वस्तु की उत्पाद व्यय एवं ध्रौव्यरूपता का प्रतिवाद किया गया है -

अत्र परेषां पूर्वपक्षवार्त्तामाह-

मूलम्—अत्राप्यभिदधत्यन्ये विरुद्धं हि मिथस्त्रयम् ।
एकत्रैवैकदा नैतद् घटां प्राञ्चति जातुचित् ॥ ४ ॥

अत्रापि=स्याद्वादेऽपि अन्ये=सौगतादयः अभिदधति, यदुत—विरुद्धं हि=विरुद्धमेव, मिथः=परस्परम्, त्रयम्=उत्पादादि। यत एवम्, अत एकत्रैव वस्तुनि, एकदा=एकस्मिन् काले, एतत्=त्रयम्, जातुचित्=कदाचित् न घटां प्राञ्चति=न घटते ॥ ४ ॥

'उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य ही वस्तु का तात्त्विकरूप है' इस सिद्धान्त के संदर्भ में बौद्धादि प्रतिवादी का यह कहना है कि उत्पाद व्यय और ध्रौव्य ये तीनों परस्परविरुद्ध ही है क्योंकि एकवस्तु में, एक काल में ये तीनों कदापि उपपन्न नहीं हो सकते ॥ ४ ॥

५ वीं कारिका में उत्पादादित्रय में परस्पर के विरोध को स्पष्ट किया गया है-

मिथो विरोधमेवोपदर्शयति—

मूलम्—उत्पादोऽभूतभवनं विनाशस्तद्विपर्ययः ।
ध्रौव्यं चोभयशून्यं यदेकदैकत्र तत्कथम् ? ॥५॥

उत्पादोऽभूतभवनम्=असतः सामग्रीबलादात्मलाभः । विनाशस्तद्विपर्ययः=भूतस्यानन्तरमभावः । ध्रौव्यं चोभयशून्यम्=उत्पाद-विनाशरहितम् यत्=यस्मात्, तत्=तस्मात् एकत्र वस्तुनि एकदा=एकस्मिन् काले कथम् ? ॥ ५ ॥

[एककाल में उत्पादादि परस्परविरुद्ध होने की शंका]

उत्पाद का अर्थ है अभूतभवन अर्थात् जो पहले असत् है (नहीं था) बाद में कारणसामग्री के बल से उसे स्व स्वरूप यानी सत्ता की प्राप्ति होती है। विनाश उत्पाद के विपरीत है अतः उसका स्वरूप है पूर्व में विद्यमान का बाद में विनाशक सामग्री के संनिधान से अभाव होना। ध्रौव्य का अर्थ

है–उत्पाद और विनाश से शून्य होना । इस स्थिति में एकवस्तु में एककाल में ये तीनों कैसे सम्भव हैं ? आशय यह है कि एककाल में उत्पाद और व्यय तथा ध्रौव्य होने का अर्थ है उसीकाल में सत्ता को प्राप्त करना एवं उसी काल में सत्ता से रहित होना तथा उसीकाल में सत्ता की प्राप्ति और सत्ता का राहित्य दोनों से असम्पृक्त होना । स्पष्ट है कि ये तीनों परस्पर विरुद्ध होने से एकवस्तु में एककाल में घटित नहीं हो सकते ।।५।।

छट्ठी कारिका में इस आर्हतमत का कि "एकवस्तु में एककाल में उत्पाद का कार्य प्रमोद, विनाश का कार्य शोक और उत्पादविनाशराहित्यरूप ध्रौव्य का कार्य माध्यस्थ्य देखा जाता है। अतः जब उत्पादादित्रय का कार्य एक काल में एकवस्तु में होता है तो उनके कारणों के भी एक वस्तु में एककाल में होने में कोई विरोध नहीं हो सकता क्योंकि प्रमाणसिद्ध अर्थ में विरोध नहीं हो सकता ।"- प्रतिवाद किया गया है—

ननु्वेकस्मिन्नेकदोत्पादादित्रयकार्यशोक-प्रमोद-माध्यस्थ्यदर्शनाद् न विरोधः, प्रमाणसिद्धेऽर्थे विरोधाऽप्रसरात्, इत्यत आह—

मूलम्—शोक-प्रमोद-माध्यस्थ्यमुक्तं यच्चात्र साधनम् ।
तदप्यसांप्रतं यस्माद्वासनाहेतुकं मतम् ॥ ६ ॥

यच्चात्र=त्रयात्मकत्वे जगतः, शोक-प्रमोद-माध्यस्थ्यं साधनमुक्तम्, 'घट-मौलि-सुवर्णार्थी' [का० २] इत्यादिना, तदप्यसांप्रतम्= अविचारितरमणीयम्, यत्=यस्मात्, तत्=शोकादिकम्, आन्तरवासनानिमित्तम् मतम्=अभीष्टम्, न वस्तुनिमित्तम्, वस्तुदर्शनेनान्तरशोकादिवासनाप्रबोधादेव घटनाशादिविकल्पात् शोकाद्युत्पत्तेः । यदि च वस्तुनिमित्तमेव शोकादिकं स्यात् तदा राजपुत्रादिवदन्यस्याप्यविशेषेण तत्प्रसङ्गः ॥ ६ ॥

[शोकादि का निमित्त है वासना]

प्रस्तुत स्तबक की 'घटमौलिसुवर्णार्थी' इस दूसरी कारिका से जो यह स्थापना की गई है कि "सौवर्णघट के इच्छुक को जिस समय घटात्मना सुवर्ण का नाश होने से शोक होता है उसी समय मुकुटार्थी को मुकुटात्मना सुवर्ण के उत्पाद से प्रमोद होता है और सुवर्णसामान्य के इच्छुक को शोक-प्रमोदविरहरूप माध्यस्थ्य होता है क्योंकि घट की आकांक्षा न होने से उसे घटविनाश से शोक नहीं होता और मुकुट की इच्छा न होने से मुकुटोत्पाद से प्रमोद भी नहीं होता है । इस प्रकार एक ही सुवर्णद्रव्य में एक ही काल में शोक, प्रमोद और माध्यस्थ्यजनकता होने से उसी काल में उसका किसी एक रूप से विनाश, किसी अन्यरूप से उत्पाद और किसी रूप से उसका स्थैर्य सिद्ध होता है। इस प्रकार सम्पूर्ण जगत् उत्पाद-व्यय-ध्रौव्यरूपात्मक है ।"–यह स्थापना भी विचार न करने तक ही रमणीय प्रतीत होती है । कारण, घटात्मना सुवर्ण के नाश और मुकुटात्मना सुवर्ण के उत्पाद एवं सुवर्णात्मना उसके स्थैर्य से जो शोक-प्रमोद और माध्यस्थ्य होने की बात कही गयी है वह अन्तर-वासनामूलक है, वस्तुमूलक नहीं है ।

आशय यह है कि जिसे यह वासना है कि घटनाश से शोक होता है, मुकुटोत्पाद से प्रमोद होता है और दोनों ही दशा में सुवर्णसामान्य के स्थिर रहने से सुवर्णार्थी को माध्यस्थ्य होता है–

उसी को वस्तु दर्शन से उक्त वासनाओं का प्रबोध होने से घटनाशादि के ज्ञान से शोकादि की उत्पत्ति होती है। अतः शोकादि की उत्पत्ति घटनाशादि वस्तु से नहीं होती किन्तु उक्तवासना के उद्बोध से सहकृत घटनाशादि के ज्ञान से होती है। शोकादि यदि वासना निमित्तक न होकर वस्तुनिमित्तक होगा तो जैसे मुकुटार्थी राजपुत्र को मुकुटोत्पाद होने से हर्ष होता है उसी प्रकार जो मुकुटार्थी नहीं है उसे भी मुकुटोत्पाद से हर्ष होना चाहिये, क्योंकि यदि मुकुटोत्पाद ही राजपुत्र के हर्ष का कारण है तो मुकुटोत्पाद राजपुत्रवत् अन्य के प्रति भी समान है अतः अन्य को भी उससे हर्ष की उत्पत्ति होनी चाहिये। किन्तु ऐसा होता नहीं है, अतः शोकादि वस्तुनिमित्तक नहीं किन्तु वासनामूलक है इसलिये शोकादि से वस्तु की उत्पाद-व्यय-ध्रौव्यात्मकता नहीं सिद्ध हो सकती ॥ ६ ॥

७वीं कारिका में वस्तु के उत्पादादित्रयात्मकता मत में दोष का उपचय बताया गया है—

उपचयमाह—

मूलम्—किञ्च स्याद्वादिनो नैव युज्यते निश्चयः क्वचित् ।
स्वतन्त्रापेक्षया तस्य न मानं मानमेव यत् ॥७॥

किञ्च इति दूषणान्तरे, स्याद्वादिन क्वचित्=अधिकृते वस्तुनि निश्चयो नैव युज्यते यत्=यस्मात् तस्य स्वतन्त्रापेक्षया=स्वसिद्धान्तापेक्षया, मानं=प्रमाणम् मानमेव न=प्रमाणमेव न, अनेकान्तव्याघातात् । एवं चानेकान्तानुरोधादप्रमाणीभूतं प्रमाणं न निश्चायकं घटादिवत् ॥ ७ ॥ किञ्च,

[स्याद्वादी को प्रमाण भी अप्रमाण होने से अनिश्चयदशा]

'वस्तु उत्पादादित्रयात्मक होती है' इस मत में केवल यही दोष नहीं है कि वस्तु की उत्पादादित्रयात्मकता का साधक कोई प्रमाण नहीं है, अपितु उसमें यह भी दोष है कि स्याद्वादी के मत में किसी भी वस्तु का निश्चय नहीं हो सकता क्योंकि उसके सिद्धान्त की अपेक्षा प्रमाण भी केवल प्रमाण ही नहीं है क्योंकि प्रमाण को एकमात्र प्रमाणस्वरूप ही मानने पर वस्तु की अनेकान्तात्मकता का व्याघात होगा, अतः अनेकान्त के अनुरोध से प्रमाण भी अप्रमाण रूप होता है और अप्रमाण हो जाने पर वह अप्रमाणभूत घटादि के समान कोई भी वस्तु का निश्चायक नहीं हो सकता ॥ ७ ॥

८वीं कारिका में भी उक्त प्रकार के ही अन्य दोष का प्रदर्शन किया गया है –

मूलम्—संसार्यपि न संसारी मुक्तोऽपि न स एव हि ।
तत्तद्रूपभावेन सर्वमेवाऽव्यवस्थितम् ॥ ८ ॥

संसार्यपि संसार्येव न, एकान्तप्रसङ्गात् । मुक्तोऽपि हि=निश्चितम्, 'न स एव'=मुक्त एव न, तत एव । एवं च सर्वमेव तत्त्वम् तत्तद्रूपभावेन=तत्तत्स्वभावत्वेन, अव्यवस्थितम्= अनिश्चितमिति ॥ ८ ॥

[संसारी-असंसारी मुक्त-अमुक्त व्यवस्था का अभाव]

अनेकान्तवादी जैन के मत में संसारी जीव भी केवल संसारी ही नहीं है क्योंकि उसे केवल संसारी मानने पर एकान्तवाद की प्रसक्ति होने से वस्तु की अनेकान्तात्मकता का व्याघात होगा। अतः संसारी को असंसारी (मुक्त) भी मानना होगा। एवं मुक्त जीव को भी अनेकान्तव्याघात भय से केवल मुक्त ही नहीं माना जाता किन्तु उसे अमुक्त (संसारी) भी मानना होगा। इस प्रकार अनेकान्तवाद में कोई भी वस्तु सत्स्वभाव अथवा असत्स्वभावरूप में निश्चित नहीं हो सकती ॥८॥

९वीं कारिका में सिद्धान्ती अर्थात् अनेकान्तवादी की ओर से उक्त आपत्तिओं का परिहार किया गया है–

अत्र सिद्धान्तवार्तामाह—

मूलम्—ते आहुस्तु मुकुटोत्पादो न घटनाशधर्मकः ।
स्वर्णान्न चान्य एवेति न विरुद्धं मिथस्त्रयम् ॥९॥

ते=जैनाः आहुः तु मुकुटोत्पादो न घटनाशधर्मकः–धर्मपदस्य स्वभावार्थत्वात्, नञ्प्रश्लेषाच्च न घटनाशाऽस्वभाव इत्यर्थः, तुल्यहेतुप्रभवयोर्द्वयोस्तयोरेकस्वभावत्वात्। न च स्वर्णात् अन्वयिनः स्वाधारभूतात् अन्य एव। इति हेतोः मिथस्त्रयम्=उत्पादादिकम् न विरुद्धम्, एकत्रैकदा प्रमीयमाणत्वादिति ॥ ९ ॥

[स्याद्वाद में आपादित दूषणों का निवारण]

'घटानाशधर्मक' शब्द में धर्म पद का स्वभाव अर्थ है और नाश पद के पूर्व में पठित नञ्पद की नाशपद के उत्तर और धर्मपद के पूर्व आसक्ति है, अतः घटानाशधर्मक का अर्थ है घटनाशास्व-भावक, अर्थात् घटनाश जिस का अस्वभाव है। तात्पर्य यह है कि जैन विद्वानों के अनुसार मुकुट का उत्पाद यानी मुकुटरूप में सुवर्ण का उत्पाद यह घटनाशाऽस्वभावक नहीं है किन्तु घटनाशस्व-भावक है और घटमुकुटादि विभिन्न पर्यायों में अन्वयी अपने आधारभूत सुवर्ण से अन्य भी नहीं है। इसप्रकार मुकुटोत्पाद घटनाशस्वभावक है और सुवर्ण से अभिन्न है। इसलिये सुवर्णरूप एक द्रव्य में एककाल में घटात्मना विनाश, मुकुटात्मना उत्पाद और सुवर्णात्मना ध्रौव्य की प्रमा होने से उन तीनों को एक काल में एक वस्तु में विरुद्ध नहीं कहा जा सकता ॥ ९ ॥

१० वीं कारिका में पूर्वकारिका के अर्थ का समर्थन किया गया है—

एतदेव समर्थयन्नाह—

मूलम्—न चोत्पादव्ययौ न स्तो ध्रौव्यवत्तद्धिया गतेः ।
नास्तित्वे तु तयोर्ध्रौव्यं तत्त्वतोऽस्तीति न प्रमा ॥१०॥

न चोत्पादव्ययौ न स्तः=न विद्येते, कल्पितत्वादिति वाच्यम्, कुतः? इत्याह–ध्रौव्यवत् तद्धिया=स्वबुद्ध्या गतेः=परिच्छेदात्। तथापि नास्तित्व एव तयोरुपगम्यमाने

ध्रौव्यं तत्त्वतः=परमार्थतः अस्तीति न प्रमा, उत्पाद–व्ययप्रतीतितुल्ययोगक्षेमत्वात् ध्रौव्यधियः। एतेन द्रव्यास्तिकमतं निराकृतम् ॥ १० ॥

[एकान्त द्रव्यास्तिक मत का निराकरण]

द्रव्यास्तिक— द्रव्यमात्र का ही अस्तित्व पारमार्थिक है' ऐसा मानने वाले का यह कथन है कि 'उत्पाद और व्यय कल्पित है अतः उनका अस्तित्व नहीं है, अस्तित्व केवल अकल्पित होने से ध्रौव्य का ही है।'- किन्तु यह कथन ठीक नहीं है क्योंकि जैसे ध्रौव्यविषयक बुद्धि से ध्रौव्य की सिद्धि होती है उसीप्रकार उत्पादव्यय की बुद्धि की सिद्धि से उत्पादव्यय की सिद्धि भी आवश्यक है। और यदि ध्रौव्यबुद्धि और उत्पादादि बुद्धि में साम्य होने पर भी ध्रौव्य का अस्तित्व और उत्पाद-व्यय का नास्तित्व माना जायगा तो ध्रौव्य भी परमार्थतः सिद्ध न हो सकेगा। अर्थात् यदि उत्पादव्यय की प्रतीति को अप्रमा कह कर वे कल्पित माने जायेंगे तो ध्रौव्य की प्रतीति को भी अप्रमा कह कर ध्रौव्य को भी कल्पित कहा जा सकता है। क्योंकि उत्पाद-व्यय की प्रतीति और ध्रौव्य प्रतीति का योगक्षेम तुल्य है। अतः उनमें किसी एक को प्रमा और अन्य को अप्रमा नहीं कहा जा सकता ॥१०॥

११वीं कारिका में एकान्त पर्यायास्तिक मत का निराकरण किया गया है—

पर्यायास्तिकमतं निराचिकीर्षुराह—

मूलम्—न नास्ति ध्रौव्यमप्येवमविगानेन तद्गतेः।
अस्याश्च भ्रान्ततायां न जगत्यभ्रान्ततागतिः ॥ ११ ॥

एवम्=उत्पाद–व्ययवत् ध्रौव्यमपि नास्तीति न, अविगानेन=अबाधितत्वेन तद्गतेः=ध्रौव्यपरिच्छेदात्। अस्याश्च=ध्रौव्यगतेश्च भ्रान्ततायामुच्यमानायाम् जगति=त्रैलोक्ये अभ्रान्ततागतिः=अभ्रान्तताप्रकारः नास्ति कश्चित्।

[एकान्त पर्यायास्तिक मत का निराकरण]

पर्यायास्तिकवादी का यह कहना है कि–"जैसे उत्पाद और व्यय की प्रतीति अप्रमा होती है अतः उत्पादव्यय तात्त्विक नहीं होता, उसी प्रकार ध्रौव्य की प्रतीति भी अप्रमा है अतः ध्रौव्य का भी अस्तित्व पारमार्थिक नहीं होता"–किन्तु यह ठीक नहीं है क्योंकि ध्रौव्य की बुद्धि अबाधित है, अतएव उसे अप्रमा नहीं कहा जा सकता। यदि अबाधित होने पर भी उसे अप्रमा कहा जायगा तो त्रैलोक्यगत किसी भी वस्तु की बुद्धि को अभ्रान्त कहने के लिये कोई युक्ति न मिलेगी। अतः वस्तुमात्र का ज्ञान अप्रमा हो जाने से किसी भी वस्तु की सिद्धि न हो सकेगी।

ननु यद्येवं द्रव्यास्तिक–पर्यायास्तिकयोर्द्वयोरपि प्रत्येकं मिथ्यात्वं तदा सिकतासमुदाये तैलवत् तत्समुदायेऽपि सम्यक्त्वाभावात् कथं "प्रमाण–नयैरधिगमः" [त० सू० १-६] ? इति चेत् ? सत्यम्, न ह्यत्र दलप्रचयलक्षणः समुदाय उच्यते, पर्यायस्याऽदलत्वात्, इतरेतरविषयाऽपरित्यागवृत्तीनां ज्ञानानां समुदायाभावात्, क्वचित् क्रमिकतत्समुदायस्याऽव्यापक-

स्वाच्च; किन्त्वितरनयविषयीकृतरूपाऽव्यवच्छेदकत्वम्, तदेव चान्योन्यनिश्रितत्वं गीयते। इदमेव च प्रवृत्तिनिमित्तीकृत्य तत्र सम्यक्त्वपदं प्रवर्तते। तदिदमुक्तम्-[सम्मति गाथा २१]

"* तम्हा सव्वे वि णया मिच्छद्दिट्ठी सपक्खपडिबद्धा।
अण्णोण्णणिस्सिआ उण हवंति सम्मत्तसब्भावा[1] ॥ १ ॥" इति।

[नयसमुदायरूप स्याद्वाद में सम्यक्त्व का उपपादन]

द्रव्यास्तिक और पर्यायास्तिक एक-एक मत को उक्तरूप से मिथ्या मानने पर यह शंका हो सकती है कि–'यदि उक्त मतों में प्रत्येक मत मिथ्या है तो उनके समुदाय में सम्यक्त्व किसी प्रकार नहीं रह सकता। जैसे एक एक वालुका कण में अविद्यमान तैल वालुकाकणसमुदाय में नहीं रहता। तथा इस स्थिति में 'प्रमाण और नय से वस्तु की सिद्धि होती है' यह तत्त्वार्थसूत्र (१-६) का कथन भी कैसे उपपन्न हो सकेगा ?'–किन्तु इस शंका का समाधान यह है कि द्रव्यास्तिक और पर्यायास्तिक का समुदाय यह वर्णों का प्रचय यानी घटकों की समष्टिरूप नहीं है, क्योंकि पर्याय वस्तुरूप नहीं है, (अपितु ज्ञानस्वरूप है)। ज्ञान स्वभावतः अपने विषय का परित्याग नहीं करता। अतः पर्यायास्तिक और द्रव्यास्तिक का समुदाय नहीं बन सकता, क्योंकि पर्यायास्तिक अपने विषयभूत ध्रौव्यांश में कल्पनात्मक रहेगा और द्रव्यास्तिक अपने विषयभूत ध्रौव्यांश में कल्पनात्मक रहेगा और द्रव्यास्तिक अपने विषयभूत ध्रौव्य में पारमार्थिक होगा। अतः यह सम्भव नहीं है कि एक ही विषय को पारमार्थिक और कल्पित बतानेवाले ज्ञानों का समुदाय बन सके। कहीं क्रम से उपपन्न होने पर दोनों का समुदाय हो सकता है किन्तु यह अव्यापक होगा। अर्थात् सर्वत्र उनका क्रमिक उदय न होने से 'उनके समुदाय से सर्वत्र वस्तु की सिद्धि होती है' यह कथन उपपन्न न हो सकेगा। अतः द्रव्यास्तिक और पर्यायास्तिक का समुदाय वस्तुप्रचयरूप नहीं है किन्तु परस्पर के विषयों का अव्यवच्छेदकरूप है अर्थात् जब द्रव्यास्तिक यह पर्यायास्तिक के विषय का निरास न करते हुये उसे गौणरूप में स्वीकार करता है एवं पर्यायास्तिक द्रव्यास्तिक के विषय का निरास न करते हुये उसे गौण रूप से स्वीकार करता है तब उस अवस्था में प्रत्येक नय अन्य नय से समुचित हो जाता है। इसी को जैन परिभाषा में अन्योन्य निश्रित अर्थात् अन्योन्य सापेक्ष कहा जाता है। फलतः द्रव्यास्तिक पर्यायास्तिक की अपेक्षा और पर्यायास्तिक द्रव्यास्तिक की अपेक्षा से वस्तु का साधक होता है। यह अन्योन्यसापेक्षता ही द्रव्यास्तिक और पर्यायास्तिक में सम्यक्त्व का प्रवृत्ति निमित्त है।

जैसे कि सम्मतितर्क ग्रन्थ में स्पष्ट किया गया है कि–सभी नय केवल अपने विषय में नियन्त्रित (संकुचित) होने पर मिथ्यादृष्टि हो जाते हैं और परस्पर सापेक्ष होने पर सम्यग्दृष्टिरूप हो जाते हैं। (सम्मति काण्ड-१ गाथा २१)

ननु यद्येवं, तदा यथा बहुमूल्यान्यपि रत्नान्यननुस्यूतानि 'रत्नावली' इति व्यपदेशं न लभन्ते, अनुस्यूतानि च तान्येव 'रत्नावली' इति व्यपदेशं लभन्ते जहति च प्रत्येकसंज्ञाः,

---

1. तस्मात् सर्वेऽपि नया मिथ्यादृष्टयः स्वपक्षप्रतिबद्धाः।
अन्योन्यनिश्रिताः पुनर्भवन्ति सम्यक्त्वसद्भावाः ॥ १ ॥

तथा नया अपि प्रत्येकं सम्यक्त्वव्यपदेशं न लभन्ते, समुदितास्तु तं लभन्ते, जहति च दुर्नयसंज्ञाः, इति कथं दृष्टान्तः ? इति चेत् ? निमित्तभेदेन व्यपदेशभेद एवायं दृष्टान्तः, न तु प्रत्येकसमुदायभाव इति दोषाभावात् ।

[रत्नावली दृष्टान्त की अनुपपत्ति शंका का परिहार]

उक्त व्यवस्था के सम्बन्ध में यह शंका हो सकती है कि—"नयों के निरूपणार्थ जो रत्नावली का दृष्टान्त दिया जाता है वह उपपन्न नहीं हो सकेगा । आशय यह है कि जैसे बहुमूल्य विभिन्नजातीय रत्नों को जब तक किसी एक तार में ग्रथित नहीं किया जाता तब तक वे रत्नावली शब्द से व्यवहृत नहीं होते । किन्तु जब उन्हें ग्रथित कर लिया जाता है तब वे रत्नावली शब्द से व्यवहृत होते हैं । और विभिन्न संज्ञाओं से उनका व्यवहार निवृत्त हो जाता है । इसीप्रकार नय भी असमुदित अवस्था में सम्यक् पद से व्यवहृत नहीं होते किन्तु समुदित होने पर सम्यक् पद से व्यवहृत होने लगते हैं और दुर्नय शब्द से व्यवहृत होने की अवस्था पार कर जाते हैं । किन्तु यदि उक्तरीति से नयों का समुदाय न मान कर अन्योन्यानिश्रितत्व के आधार पर ही उन्हें सम्यक् पद से व्यवहृत किया जायगा तो रत्नावली का दृष्टान्त संगत नहीं हो सकेगा"-किन्तु यह ठीक नहीं है । क्योंकि उक्त दृष्टान्त केवल 'निमित्तभेद से व्यवहारभेद होता है' इतने ही अंश में है, प्रत्येक–समुदाय भाव दिखाने में नहीं है । अतः दृष्टान्तानुपपत्तिरूप दोष नहीं हो सकता । तात्पर्य यह है कि जैसे रत्नों में एकतार में संग्रथनरूप निमित्त से रत्नावली शब्द का व्यपदेश होता है और असंग्रथनरूप निमित्त से विभिन्न जातीयरत्नबोधक विभिन्न नाम से व्यवहार होता है उसीप्रकार अन्योन्यनिश्रितत्वरूप निमित्त से नयों में सम्यक् पद का व्यपदेश और अन्योन्यनिश्रितत्वविरहरूप निमित्त से दुर्नय शब्द से व्यपदेश होता है ।

तथापि नयानां प्रमाणत्वे "प्रमाण-नयैः" इति पुनरुक्तं स्यात् अप्रमाणत्वे चाऽपरिच्छेदकत्वं स्यादिति चेत् ? न, नयवाक्ये तद्वति तत्प्रकारकबोधजनकत्वस्य समारोपव्यवच्छेदकत्वस्य निर्धारकत्वस्य वा, इतरांशाऽप्रतिक्षेपित्वस्य वा प्रामाण्यस्य सत्त्वेऽप्यनेकान्तवस्तुग्राहकत्वरूपस्य प्रमाणवाक्यनिष्ठस्य प्रामाण्याऽभावेन 'नयप्रमाणैः' इति पृथगुक्तेः ।

[प्रमाण और नय में लाक्षणिक भेद]

इस संदर्भ में दूसरी शंका यह हो सकती है कि 'नयों को यदि प्रमाण माना जायगा तो तत्त्वार्थ सूत्र (१-६) में प्रमाण और नय शब्द का जो एक साथ उपादान किया गया है उसमें पुनरुक्ति दोष प्रसक्त होता है । यदि नयों को प्रमाण न माना जायगा तो वे स्वविषय के निश्चायक न हो सकेंगे ।'–किन्तु यह भी ठीक नहीं है क्योंकि प्रामाण्य दो प्रकार का होता है-एक नयवाक्यगत और दूसरा प्रमाणवाक्यगत । इन में पहला-तद्वाक्य में तत्प्रकारकबोधजनकत्व, समारोपनिवर्तकत्व, स्वविषयनिर्धारकत्व अथवा इतरनय द्वारा प्रस्तुत किये जानेवाले अंश का अविरोधित्वरूप है । दूसरा प्रामाण्य अनेकान्तवस्तुग्राहकत्वरूप है जो प्रमाणवाक्य में ही रहता है—नयवाक्य में नहीं रहता । उक्त तत्त्वार्थ सूत्र में नय शब्द के साथ प्रयुक्त प्रमाणशब्द द्वितीय प्रामाण्य के अभिप्राय से प्रयुक्त है ।

अतः प्रमाण और नय का एक साथ अभिधान करने में पुनरुक्ति दोष नहीं है क्योंकि द्वितीय प्रामाण्य के अभिप्राय से प्रयुक्त 'प्रमाण' शब्द से नय का लाभ नहीं हो सकता ।

एतेन "'घटोऽस्ति' इत्यादिवाक्ये लोकसिद्धं प्रामाण्यं परित्यज्य 'स्याद् घटोऽस्ति' इत्यादावेव प्रामाण्यं परिकल्पयतामपूर्वा चातुरी" इत्यव्युत्पन्नकल्पना निरस्ता । निरस्ता च शुक्तौ रजतभ्रमे इदमंशे प्रामाण्यवद् दुर्नयेऽप्यधिकृतांशे प्रमाणत्वेन नयत्वापत्तिः, लोकसिद्धप्रामाण्याऽपरित्यागादंशव्याप्यस्य प्रमाणत्वस्याऽप्रमाणावकाशसंभवेऽपि समूहव्याप्यस्य नयत्वस्यांशावकाशाऽसंभवात् ।

['स्याद् घटोऽस्ति' इस वाक्य में प्रामाण्यकल्पना अनुचित नहीं है]

कुछ लोगों की यह कल्पना है कि-"घटोऽस्ति=घट है इस वाक्य में प्रामाण्य नहीं है, किन्तु 'स्याद् घटोऽस्ति'='घट कथञ्चित् है-' इसीवाक्य में प्रामाण्य है-ऐसी जैनों की यह मान्यता उनकी उपहसनीय चातुरी का द्योतक है, क्योंकि घटोऽस्ति इसवाक्य में प्रामाण्य लोकसिद्ध है किन्तु उक्त मान्यता में उसका परित्याग कर दिया गया है और 'स्याद् घटोऽस्ति' इस वाक्य में प्रामाण्य लोकसिद्ध नहीं है तो भी इसका स्वीकार किया गया है ।"-इस सम्बन्ध में व्याख्याकार का कहना है कि जैनों की मान्यता के सम्बन्ध में यह कल्पना ऐसे पुरुषों की है जिन्हें नय और प्रमाण के स्वरूप की समीचीन व्युत्पत्ति नहीं है । क्योंकि जैनों ने प्रामाण्य के उक्त प्रमाण एवं नय इस प्रकार द्विविधभेद का प्रतिपादन कर 'घटोऽस्ति' इस वाक्य में द्वितीयप्रामाण्य का ही निषेध किया है-प्रथमप्रामाण्य का नहीं ।

[दुर्नय में आंशिक नयत्व की आपत्ति नहीं है]

कुछ लोग दुर्नय में भी अधिकृत अंश में प्रामाण्य का प्रतिपादन करके नयत्वापत्ति देते हैं । उनका आशय यह है कि जैसे शुक्ति में 'इदं रजतम्' इस प्रकार का भ्रम होता है, उसी भ्रम में इदमंश में प्रामाण्य होता है । उसी प्रकार 'घटोऽस्त्येव' इस दुर्नय में भी 'घटोऽस्ति' इस अंश में प्रामाण्य होने से अंशतः नयरूपता अपरिहार्य है । किन्तु यह ठीक नहीं है, क्योंकि भ्रम में जिस अंश में लोकसिद्ध प्रामाण्य है उसका परित्याग शक्य न होने से प्रमाणत्व तो अंशव्याप्य होता है अतः भ्रम में अंशविशेष में प्रमाणपदव्यपदेश का अवकाश सम्भव है, किन्तु नयत्व समूहव्याप्त होता है अतः अंश विशेष में नयत्व एवं अंशविशेष में नयपद के व्यवहार का अवकाश सम्भव नहीं हो सकता । तात्पर्य यह है कि नय वह होता है जो प्रधान रूप से अपने विषय को ग्रहण करता है और इतरनय के विषय का प्रतिषेध नहीं करता जैसे 'घटोऽस्ति' इस नय से घट में अस्तित्व का अवधारण होता है किन्तु अन्य नय से लभ्य घट के नास्तित्व का प्रतिक्षेप नहीं होता । अतः नयत्व पूरे समुदाय में रहता है-एक देश में नहीं रहता, किन्तु 'घटः अस्त्येव' यह दुर्नय घट के अस्तित्व का अवधारण करते हुये एवकार से उसके नास्तित्व का प्रतिषेध भी करता है । अतः नयत्वघटक इतरांशाऽप्रतिक्षेपित्व का उक्त वाक्य में अभाव होने से उस वाक्य के 'घटः अस्ति' इसी अंश में नयत्व का अभ्युपगम करना होगा जो नयत्व के समूहव्याप्ततास्वभाव से विरुद्ध होने से स्वीकार्य नहीं है ।

ननु 'घट उत्पन्न एव' इति स्यादंशविनिर्मुक्तस्य दुर्नयस्यापि नयवत् स्वविषयाव-

धारकत्वमस्त्येव, एवकारेणानुत्पन्नत्वाभावज्ञापनेऽप्युत्पन्नत्वप्रकाशनव्यापाराऽपरित्यागात्, अनेकान्तबलादुभयोपपत्तेः रक्ततादशायां घटे 'न श्यामः' इति बुद्धिवदिति चेत् ? सत्यम्, इतरनयविषयविरोधावधारणे भजनां विना स्वविषयावधारणस्यैवाऽप्रवृत्तेः, प्राक् श्यामत्वेन ज्ञाते 'इदानीम्' इति विनिर्मोकेण 'न श्यामः' इति बुद्धिवत् प्रवृत्तस्यापि च तस्यान्यथाविषयत्वरूपमिथ्यात्वोपस्थितेः ।

[दुर्नय में नयत्वापत्ति का निराकरण]

यदि यह शंका की जाय कि-"'घट उत्पन्न एव' यह जो स्यात्पद से रहित दुर्नय है वह भी 'घट उत्पन्नः' इस नय के समान स्वविषय का अवधारक होता है। क्योंकि यद्यपि इस में एवकार से अनुत्पन्नत्वाभाव का ज्ञापन होता है, तथापि वह उत्पन्नत्व के प्रकाशन व्यापार से शून्य नहीं होता क्योंकि वस्तु अनेकान्तात्मक यानी अनंत धर्मात्मक होती है अतः उक्त दुर्नय में अनुत्पन्नत्वाभाव और उत्पन्नत्व दोनों की ज्ञापकता उपपन्न है, क्योंकि घटात्मक वस्तु अनुत्पन्नत्वाभाव और उत्पन्नत्व उभयधर्मक है। इस तथ्य को सुगमता से अवगत कराने के लिये व्याख्याकार ने पूर्वपक्षी की ओर से रक्तघट में होनेवाली 'घटो न श्यामः' इस बुद्धि को दृष्टान्तरूप से प्रस्तुत किया है। उनका आशय यह है कि जैसे रक्त घट में 'घटो न श्यामः' यह बुद्धि श्यामत्वाभाव का ही उल्लेख करती है। रक्तता का उल्लेख नहीं करती किन्तु घट रक्तता-श्यामत्वाभाव उभय धर्मक होने से घट में रक्तता का उल्लेख न करती हुई भी उसकी ग्राहक होती है क्योंकि श्यामत्वाभाव का ज्ञान जिस घट में हो रहा है वह रक्त है, अतएव रक्तघट निर्विवादरूप से उक्त बुद्धि का विषय है। इसी प्रकार 'घट उत्पन्न एव' यह दुर्नय यद्यपि अनुत्पन्नत्वाभाव का उल्लेखी है, उत्पन्नत्व का उल्लेखी नहीं, किन्तु उत्पन्न घट उत्पन्नत्व अनुत्पन्नत्वाभाव उभय धर्मक होने से घट में उत्पन्नत्व का उल्लेख न करती हुई भी उसका ज्ञापन करती है। अतः उसकी उत्पन्नत्वग्राहकता अक्षुण्ण है अतः स्वविषयावधारकत्वेन 'घट उत्पन्न एव' इस पूरे दुर्नय वाक्य में नयत्व की आपत्ति अनिवार्य है।" -

तो यह ठीक नहीं है क्योंकि जैसे पूर्व में जिस घट में श्यामत्व ज्ञात होता है-बाद में उस घट में इदानीं इस अंश का परित्याग कर के होनेवाली 'घटो न श्यामः' इस बुद्धि में श्यामत्वाभाव का अवधारण नहीं होता, क्योंकि 'इदानीं' इस अंश के अभाव में उस बुद्धि का विषय त्रैकालिक श्यामत्वाभाव होगा जो पूर्वकाल में श्यामत्वरूप से ज्ञात घट में नहीं है। इसी प्रकार 'घट उत्पन्न एव' यह दुर्नय से भी 'भजना' यानी स्यात् पद के बिना अर्थात् अपेक्षा के बिना अपने विषय का अवधारण नहीं हो सकता। क्योंकि उसमें एवकार से अन्य नय के विषयभूत अनुत्पन्नत्व के विरोध का अवधारण होता है और नय के विषय में यह नियम है कि जब इतरनय के विषय के विरोध का अवधारण के साथ किसी नय से अपने विषय का अवधारण होता है तो वह भजना-अपेक्षा के बिना नहीं होता। यदि भजना के बिना भी उससे स्वविषय का अवधारण होगा तो उसमें 'अन्यथाविषयत्वरूप मिथ्यात्व' होगा। अतः स्वविषय का यथार्थबोधक न होने से दुर्नय में नयत्व की आपत्ति न हो सकेगी, क्योंकि नयत्व में यथार्थ स्वविषयबोधकत्व की व्याप्ति है, अतः दुर्नय में यथार्थस्वविषयबोधकत्वरूप व्यापक के अभाव में नयत्वरूप व्याप्य के अभाव का निर्णय हो जायगा।

तदिदमुक्तम्--[सम्मति सूत्रे--२८]

"* णियवयणिज्जसच्चा सव्वणया परवियालणे मोहा ।
ते उण ण दिट्ठसमओ विभयइ सच्चे व अलिए वा ॥"

अन्वयार्थः–निजकवचनीये=स्वविषये परिच्छेद्ये सत्याः=सम्यग्ज्ञानरूपाः सर्वे एव नयाः संग्रहादयः, तद्धति तदवगाहित्वात् । परविचालने=परविषयोत्खनने मोहा मुह्यन्तीति मोहा असमर्थाः, परविषयस्यापि सत्यत्वेनोन्मूलयितुमशक्यत्वात्, तदभावे स्वविषयस्याप्यव्यवस्थितेः, मिथो नान्तरीयकत्वात् । अतः परविषयस्याभावे स्वविषयस्याप्यसंभवात् तन्निषेधस्य मिथ्यात्वमेवेत्यवधारयन् दृष्टसमयो=ज्ञातानेकान्तः पुनस्तान् नयान् न विभजते सत्यानलीकान् वा, किन्तितरनयविषयसव्यपेक्षतया 'अस्त्येव द्रव्यार्थतः' इत्येवं भजनया स्वनयाभिप्रेतमर्थं सत्यमेवावधारयति, यद् यत्र यदपेक्षयास्ति तस्य तत्र तदपेक्षया ग्राहकत्वेनैव नयप्रामाण्यात् । अत एव द्रव्यास्तिकादेः प्रत्येकमित्थंरूपतया सत्यम्, अनित्थंरूपतया चाऽसत्त्वं परिभाषितम्–[सम्मति सूत्रे--९]

"* दव्वट्ठिउ त्ति तम्हा णत्थि णओ णियमसुद्धजातीओ ।
न य पज्जवट्ठिओ णाम कोइ भयणाइ उ विसेसो ॥ ९ ॥" इति ।

[अत्र ९] न हि विषयभेदकृतोऽनयोर्भेदः, द्व्यात्मकस्यैव आनित्यिकरूपेण द्वाभ्यां ग्रहात्, किन्तु भजनया=विवक्षाभेदकृतप्रतिभासभेदादित्युत्तरार्धतात्पर्यम् ।

[नय के आपेक्षिक-प्रामाण्य का मूलाधार]

उक्त तथ्य सम्मतितर्क प्रथमकाण्ड २८ वीं गाथा में इस रूप में प्रतिपादित किया गया है–कि संग्रहादि सभी नय अपने परिच्छेद्य विषय में सम्यग् ज्ञानरूप होते हैं क्योंकि तदाश्रय में तत्त्व के ग्राहक होते हैं । अन्य नय विषय का विचालन-निराकरण करने में असमर्थ होते हैं, क्योंकि अन्य नय का विषय भी कथञ्चित् सत्य होता है, अत एव उसका उन्मूलन नहीं किया जा सकता कारण यह है कि यदि किसी नय से अन्य नय के विषय का उन्मूलन होगा, तो उसके फलस्वरूप अन्य नय के विषय का अभाव होने पर नय के अपने विषय का भी अभाव हो जायगा । क्योंकि दोनों ही नय के विषय एक दूसरे के अभाव में नहीं होते । इसलिये अनेकान्तवेत्ता को 'अन्य नय के विषय का अभाव होने पर स्वविषय का भी असत्त्व होता है' इस ज्ञान से स्वात्मकज्ञान में परनय के विषय निषेधक नय में मिथ्यात्व का अवधारण हो जाता है, अतः वह नयों का सत्य और अलीकरूप से विभाजन

---

* निजकवचनीयसत्याः सर्वनयाः परविचालने मोहाः । तान् पुनर्न दृष्टसमयो विभजते सत्यान् वाऽलीकान् वा ॥ २ ॥

* द्रव्यास्तिक इति तस्माद् नास्ति नयो नियमशुद्धजातीयः । न च पर्यायास्तिको नाम कोऽपि भजनया तु विशेषः ॥

नहीं करता। किन्तु इतर नय के विषय की अपेक्षा से अर्थात् इतरनय के विषय का गौणरूप से अस्तित्वाभ्युपगम करते हुये अपने नय के विषयभूत घटादि के अस्तित्वरूप अर्थ का 'स्यादस्त्येव घटः द्रव्यार्थतः' अर्थात् 'द्रव्यात्मना घट का अस्तित्व ही होता है'। इस प्रकार सम्यक्रूप से अवधारण करता है। क्योंकि जो धर्म जिस अपेक्षा से रहता है उस धर्म का उस वस्तु में उस अपेक्षा से ग्राहक होने से ही नय में प्रामाण्य होता है। इसीलिये, उक्तरीति से नय का प्रामाण्य होने से ही सम्मतिग्रन्थ प्रथमकाण्ड गाथा–९ में द्रव्यास्तिक आदि प्रत्येक नयों का इत्थंरूप तथा–अर्थात् जो वस्तु जिस में जिस अपेक्षा से है उसमें उस अपेक्षा से उस वस्तु का प्रतिपादक होने से ही सम्यक्त्व और अनित्थंरूपतया अर्थात् अन्यथा प्रतिपादक होने पर असम्यक्त्व कहा गया है।

[द्रव्यार्थिक-पर्यायार्थिक नयों में भजनामूलक भेद है]

गाथा का अर्थ यह है कि–वस्तु द्रव्यपर्याय उभयात्मक होती है, अतः द्रव्यार्थिक अथवा पर्यायार्थिक कोई भी नय नियमतः शुद्धजातीय नहीं होता अर्थात् द्रव्यास्तिक नय पर्यायास्तिक नय के विषय से एवं पर्यायास्तिक नय द्रव्यास्तिक नय के विषय से सर्वथा पराङ्मुख नहीं होता।

अतः दोनों में समानविषयकत्व हो जाने से उन में विषयभेदमूलक द्वैविध्य नहीं हो सकता किन्तु भजना से द्वैविध्य होता है–अर्थात् पर्याय को गौणरूप से ग्रहण करते हुये द्रव्य को प्रधानरूप से ग्रहण करनेवाला नय द्रव्यास्तिक और द्रव्य को गौणरूप से ग्रहण करते हुये पर्याय को प्रधानरूप से ग्रहण करनेवाला नय पर्यायास्तिक कहा जाता है।

[द्रव्यार्थिक-पर्यायार्थिक नय का स्वतन्त्र विषय नहीं है]

इस अर्थ को व्याख्याकार ने यह कहते हुये स्पष्ट किया है कि द्रव्यास्तिक और पर्यायास्तिक नयों में जो भेद किया जाता है उसका निमित्त विषयभेद नहीं है। अर्थात् यह नहीं कहा जा सकता कि 'पर्यायास्तिक के विषय को ग्रहण न करके केवल अपने विषय द्रव्यमात्र को ग्रहण करनेवाला नय द्रव्यास्तिक और द्रव्यास्तिक के विषय को ग्रहण न करके केवल अपने विषय पर्याय को ग्रहण करनेवाला नय पर्यायास्तिक होता है।' क्योंकि वस्तु द्रव्यपर्याय उभयात्मक होती है और दोनों ही नय अपने प्रातिस्विक रूप से उसी वस्तु का ग्रहण करते हैं। अर्थात् द्रव्यास्तिक द्रव्यप्राधान्येन जिस वस्तु को ग्रहण करता है उसीको पर्यायास्तिक भी पर्यायप्राधान्येन ग्रहण करता है। इसप्रकार दोनों के विषय में साम्य होता है। अतः उनके द्वैविध्य का निमित्त विषयभेद नहीं है किन्तु भजना है। अर्थात् पर्याय और द्रव्य के गौणप्रधानभाव से एवं द्रव्य और पर्याय के गौण-प्रधानभाव से वस्तु की विवक्षा का भेद होने से जो प्रतिभासभेद होता है अर्थात् द्रव्यार्थिकनय से वस्तु का जो गौण भाव से पर्यायरूप में और प्रधानभाव से द्रव्यरूप में एवं पर्यायार्थिकनय से गौणभाव से द्रव्यरूप में और प्रधानभाव से पर्यायरूप में जो वस्तु का ग्रहण होता है–यही उनके द्वैविध्य का निमित्त है। सम्मति गाथा के उत्तरार्ध का इसी अर्थ में तात्पर्य है।

तस्मात् पर्यायार्थिक उत्पाद-व्ययप्रतिभासे सत्त्वमवगच्छति, ध्रौव्यप्रतिभासे त्वसत्त्वम्, न तु तत्प्रतिभासमेव प्रतिक्षिपति, अनुभूयमानतद्रूपताऽतद्रूपताकत्वस्य व्यवस्थापयितुमशक्यत्वात्। न खलु सहस्रेणापि बाधकैः 'इदं रजतम्' इति प्रतीतौ रजतत्वावलम्बनत्वं व्यव-

स्थापयितुं शक्यते । द्रव्यास्तिकोऽपि ध्रौव्यप्रतिभासे सत्यत्वमवगच्छति, उत्पाद-व्ययप्रतिभासे त्वसत्यत्वम् । तदुक्तम्-[सम्मति सूत्रे-१०/११]

"[1]दव्वट्ठियवत्तव्वं अवत्थु नियमेण होइ पज्जाए ।
तह पज्जववत्थु अवत्थुमेव दव्वट्ठियणयस्स ॥१॥
उप्पज्जंति चयंति अ भावा निअमेण पज्जवनयस्स ।
दव्वट्ठियस्स सव्वं सया अणुप्पन्नमविणट्ठं ॥ २ ॥" इति ।

अयं च स्वविषयपक्षपातोऽयुक्तः, उभयप्रतिभासप्रामाण्यस्य तुल्ययोगक्षेमत्वादित्युक्तम् । ततश्च त्र्यात्मकं वस्तु प्रमाणतः पर्यवसितमिति ॥ ११ ॥

[अन्यनय के विषय में असत्यपन का अवधारण अयुक्त है]

इस संदर्भ में यह ज्ञातव्य है कि यतः अन्यनय के विषय को गौणरूप से और अपने विषय को प्रधानरूप से ग्रहण करना ही नयों के परस्पर भेद का आधार है-अतः यह कहना कि-

"पर्यायार्थिकनय वस्तु के उत्पाद-व्यय के प्रतिभास में सत्यत्व को ग्रहण करता है और ध्रौव्य प्रतिभास में असत्यत्व को ग्रहण करता है, न कि ध्रौव्यप्रतिभास का प्रतिक्षेप करता है, अर्थात् वस्तु प्रतिभास में ध्रौव्यविषयकत्वाभाव का व्यवस्थापन नहीं करता है, क्योंकि वस्तुप्रतिभास में ध्रौव्य-विषयकत्व का अनुभव होता है । अत एव उसमें ध्रौव्यविषयकत्व के अभाव का प्रतिष्ठापन उसी-प्रकार शक्य नहीं है जैसे इदन्त्वरूप से शुक्ति में रजतत्वग्राहक 'इदं रजतम्' प्रतीति में 'इदं न रजतम्' इस प्रकार के ज्ञान जैसे सहस्रबाधकों से भी रजतत्वविषयकत्व के बदले रङ्गत्वविषयकत्व अर्थात् रजतत्वविषयकत्वाभाव का प्रतिष्ठापन शक्य नहीं होता । [रङ्ग=कलाई नाम की धातु] [ ]

एवं द्रव्यार्थिक भी वस्तु के ध्रौव्यप्रतिभास में सत्यत्व को ग्रहण करता है और उत्पाद-व्यय प्रतिभास में असत्यत्व को ग्रहण करता है । जैसा कि सम्मतिकाण्ड १ में १० और ११ वीं गाथा में कहा गया है कि द्रव्यास्तिक का प्रतिपाद्य विषय पर्यायास्तिक की दृष्टि में नियमतः अवस्तु है और पर्यायास्तिक का प्रतिपाद्य विषय द्रव्यार्थिक की दृष्टि में नियमेन अवस्तु है- एवं पर्यायार्थिक की दृष्टि में उसका अपना विषय वस्तु का उत्पादन-व्यय नित्य सत्य है और द्रव्यास्तिक का अपना विषय सभी वस्तुओं का उत्पादविनाशविरहरूप ध्रौव्य सार्वकालिक सत्य है । इस प्रकार अपने विषय के प्रतिभास में सत्यत्व का ग्रहण और अन्य नय के विषय के प्रतिभास में असत्यत्व का ग्रहण ही नयों में परस्परभेद का आधार है ।"-

अपने विषय में नयों के पक्षपात का द्योतक होने से अयुक्त है । क्योंकि वस्तु के उत्पादव्यय और ध्रौव्य दोनों के प्रतिभास के प्रामाण्य का योगक्षेम तुल्य है । जैसा कि पहले कहा जा चुका है कि अन्य नय के प्रतिपाद्य विषय के असत्य होने पर अपना विषय भी असत्य हो जायगा क्योंकि नयों के विषय परस्पर अविनाभावी होते हैं ॥ ११ ॥

---

१ द्रव्यास्तिकवक्तव्यमवस्तु नियमेन भवति पर्याये । तथा पर्यववस्तु अवस्त्वेव द्रव्यार्थिकनयस्य ॥१॥
उत्पद्यन्ते च्यवन्ते च भावा नियमेन पर्यवनयस्य । द्रव्यास्तिकस्य सर्वं सदाऽनुत्पन्नमविनष्टम् ॥२॥

१२वीं कारिका में इस विरोध का परिहार किया गया है जो उत्पादादि का लक्षण बताकर पूर्वपक्ष में उद्भावित किया था—

उत्पादादिलक्षणाभिधानेन पूर्वपक्षितं विरोधं परिहरन्नाह—

मूलम्—उत्पादोऽभूतभवनं स्वहेत्वन्तरधर्मकम् ।
तथाप्रतीतियोगेन विनाशस्तद्विपर्ययः ॥१२॥

उत्पादोऽभूतभवनं=प्रागननुभूतरूपाविर्भवनम् स्वहेत्वन्तरधर्मकं=स्वनान्तरीयकप्राक्पर्यायनाशरूपहेत्वन्तरस्वभावम् । कुतः ? इत्याह—तथाप्रतीतियोगेन=अधिकृतरूपोत्पाद एव प्राक्तनरूपनाशप्रतीतेयुक्तत्वात्, तदजनकस्वभावपरित्यागसमनियतत्वात् तज्जननस्वभावत्वस्य।

[अननुभूतरूप का आविर्भाव यही उत्पाद है]

उत्पाद का जो अभूतभवन लक्षण किया गया उसका अर्थ पूर्वकाल में असत् का उत्तरकाल में सत्तालाभ नहीं है किन्तु पूर्वकाल में अननुभूत का उत्तरकाल में प्रादुर्भावरूप है और वह अपने नान्तरीयक-अविनाभावी प्राक्तनपर्यायनाशरूप हेत्वन्तरस्वरूप है। क्योंकि तज्जननस्वभाव यतः तत् के अजननस्वभाव के परित्याग का समनियत होता है—अतः प्रकृत अपूर्वरूप का उत्पाद होने पर ही प्राक्तनरूप के नाश की प्रतीति युक्तिसंगत होती है। आशय यह है कि जब सुवर्ण घटाकार में अवस्थित होता है तब मुकुट का जनक नहीं होता। मुकुट का जनक तभी होता है जब मुकुट के अजननस्वभाव अर्थात् घटाकार का परित्याग करता है। अतः जैसे सुवर्णद्रव्य मुकुट का एक हेतु है उसी प्रकार सुवर्ण के घटात्मक पर्याय का नाश भी हेत्वन्तर है। अतः पूर्वकाल में अननुभूत मुकुटाकार का आविर्भावरूप मुकुटोत्पाद घटात्मक प्राक्तन पर्याय के नाशस्वरूप है। क्योंकि यदि इन दोनों में कथञ्चित् तादात्म्य न हो तो मुकुट का उत्पाद होने पर ही घटनाश की प्रतीति होने का नियम युक्तिसंगत नहीं हो सकता।

तथा, विनाशस्तद्विपर्ययः=भूताऽभवनमन्यभवनस्वभावम्, प्रकृतरूपनाशस्येतररूपोत्पादनान्तरीयकत्वानुभवात्, दीपादिनाशेऽपि तमःपर्यायोत्पादानुभवस्य जागरूकत्वात्, एकसामग्रीप्रभवत्वाच्च तद्तद्रूपनाशोत्पादयोः। ये तु लाघवप्रणयिनोऽपि कपालोत्पादिकां भिन्नां सामग्रीम्, घटनाशोत्पादिकां च भिन्नामेव कल्पयन्ति, तेषां काचिदपूर्वेव वैदग्धी ॥१२॥

[अन्यरूप में परिवर्तित हो जाना यही विनाश है]

इसी प्रकार पूर्वपक्ष में विनाश को उत्पाद का विपर्यय कह कर जो उसका भूत का अभवन अर्थ किया गया है वह भी अन्यात्मना भवनस्वरूप है। क्योंकि भूत का अभवन अर्थात् प्राक्तनरूप के नाश में अपूर्वरूप की उत्पत्ति के नान्तरीयकत्व-अविनाभावित्व का अनुभव होता है। जैसे दीपादि का नाश होने पर भी अन्धकार रूप पर्याय के उत्पाद का अनुभव सर्वसम्मत है। एवं जैसे प्राक्तनरूप के नाश में अपूर्वरूप की उत्पत्ति का अविनाभावित्व होने से प्राक्तनरूप का नाश और अपूर्वरूपोत्पाद में ऐक्य होता है उसी प्रकार एक सामग्री जन्य होने से भी तद्रूपविनाश यानी

पूर्वरूपविनाश और घटरूपउत्पाद यानी अपूर्वरूपोत्पाद में ऐक्य होता है। इस प्रकार प्राक्तनरूपनाश और अपूर्वरूपोत्पाद की सामग्री में ऐक्य सम्भव होने पर भी जो लोग लाघव के प्रेमी होते हुये भी कपालोत्पादकसामग्री और घटनाशकसामग्री में भेद की कल्पना करते हैं उनकी विलक्षणता (=चतुराई) कुछ अपूर्व ही है। क्योंकि प्राक्तन रूपनाश और अपूर्वरूपोत्पाद की सामग्री के ऐक्य में स्पष्ट लाघव होते हुये भी उसे स्वीकार नहीं करते ॥ १२ ॥

मूलम्—तथैतदुभयाधारस्वभावं ध्रौव्यमित्यपि ।
अन्यथा त्रितयाभाव एकैकस्य किं न तत् ? ॥ १३ ॥

तथा, एतदुभयाधारस्वभावम्=उत्पाद-व्ययाधारस्वभावात्मकम्, ध्रौव्यम् इत्यपि-इदमपि, 'तथाप्रतीतेस्तदुभयाविनाभूतम्, नान्यथाभूतम्' इति योज्यते। अन्यथा=उक्तानभ्युपगमे, त्रितयाभावः=त्रयमपि कथाशेषमापद्येत, परस्परानुविद्धत्वात् त्रितयस्य, अधिकृतान्यतराभावे तदितराभावनियमात्।

[स्थायिता उत्पाद-विनाश की अविनाभावि है]

१३ वीं कारिका में 'इत्यपि' शब्द के आगे 'तथा प्रतीतेः तदुभयाऽविनाभूतं, नान्यथाभूतम्' इतना अंश ऊपर से जोडने से इसका अर्थ यह होता है कि उत्पाद और व्यय इस उभय का आधार-स्वभाव ध्रौव्य भी उत्पाद और व्यय दोनों का अविनाभूत-व्याप्य है, इन दोनों के बिना सम्भव नहीं है क्योंकि उत्पादव्यय के होने पर ही ध्रौव्य की प्रतीति होती है। अर्थात् जिसका किसीरूप में उत्पाद और किसीरूप में व्यय होता है उसी में ध्रौव्य की बुद्धि होती है। अतः ध्रौव्य दोनों का व्याप्य है। यदि ध्रौव्य को उत्पाद व्यय का अविनाभावी न माना जायगा तो तीनों का केवल कथनमात्र ही रह जायगा-अस्तित्व सिद्ध नहीं होगा क्योंकि तीनों परस्परानुविद्ध है। अतः अधिकृत उत्पादव्ययद्वय और ध्रौव्य इनमें किसी एक का अभाव होने पर अन्य का अभाव भी नियमतः प्राप्त होगा।

तथाहि-न ध्रौव्यव्यतिरेकेणोत्पादव्ययौ संगतौ, सर्वदा सर्वत्रानुस्यूताकारव्यतिरेकेण विज्ञान-पृथिव्यादिकस्याऽप्रतिभासनात्। न चानुस्यूताकारप्रतिभासो बाध्यः, तद्बाधकत्वेनाभिमतस्य विशेषप्रतिभासस्य तदात्मकत्वे एकबाधेऽपरस्यापि बाधात्, तद्व्यतिरिक्तत्वपक्षस्तु ध्रौव्यमियं विना स्थास-कोशादिप्रतिभासाऽननुभवादनुपपन्नः। न च प्रथमाक्षसंनिपातानन्तरमन्वयप्रतिभासमन्तरेण विशेषप्रतिभास एव जायत इति वाच्यम्, तदा प्रतिनियतदेशस्य वस्तुमात्रस्यैव प्रतीतेः; अन्यथा तत्र विशेषावभासे संशयाद्यनुत्पत्तिप्रसक्तेः, विशेषावगतेस्तद्विरोधित्वात्। न च तदुत्तरकालभाविसादृश्यनिमित्तैकत्वाध्यवसायनिबन्धनेयं संशयाद्यनुभूतिः, प्राग् विशेषावगमे एकत्वाध्यवसायस्यैवाऽसंभवात्, भेदज्ञानविरोधित्वात्। अनुभूयते च दूरदेशादौ वस्तुनि सर्वजनसाक्षिकी प्राक् सामान्यप्रतिपत्तिः, तदुत्तरकालभाविनी च विशेषावगतिः। अत एवावग्रहादीनां कालभेदानुपलक्षणेऽपि क्रममभ्युपयन्ति समयविदः, अवग्रहादेरीहादौ हेतुत्वात्।

[उत्पादादि के ध्रौव्य-अविनाभाव का समर्थन]

वैसे ही ध्रौव्य के अभाव में उत्पाद और व्यय की उत्पत्ति नहीं हो सकती, क्योंकि विज्ञान और पृथ्वी आदि विशेष, इन सभी का अनुस्यूत आकार के बिना कभी प्रतिभास नहीं होता। आशय यह है कि ज्ञान की अथवा पृथ्वी आदि ज्ञेय के उत्पादविनाश की जो बुद्धि होती है उसमें उत्पाद और व्यय दोनों में एक अनुस्यूताकार नियम से भासित होता है। जैसे 'मम घटज्ञानं नष्टम् पटज्ञान-मुत्पन्नम्' एवं 'इह घटो नष्टः कपालमुत्पन्नम्' इन दो प्रतीति में पूर्व में मम शब्दार्थ आत्मा की दो ज्ञान की उत्पत्ति-नाश में अनुस्यूतता का और दूसरे में इह शब्दार्थ मृत्तिका की घटनाश-कपालोत्पत्ति में अनुस्यूतता का अवभास होता है।

[अनुस्यूताकार का अवभास मिथ्या नहीं है]

यदि यह कहा जाय कि–'उत्पाद और व्यय में जो अनुस्यूताकार का अवभास होता है वह बाध्य है। अतः उस अवभास से उत्पाद और व्यय में एक अनुस्यूत आकार की सिद्धि नहीं हो सकती'–तो यह ठीक नहीं है क्योंकि जिस विशेषप्रतिभास को अनुस्यूताकार के अवभास का बाधक माना जायगा वह यदि बाध्य प्रतिभास से अभिन्न होगा तो अनुस्यूताकारावभास का बाध होने पर विशेष प्रतिभास का भी बाध हो जायगा। यदि विशेषप्रतिभास को अनुस्यूताकारावभास से भिन्न माना जायगा तो यह पक्ष उपपन्न नहीं हो सकता क्योंकि ध्रौव्य-मृत्तिकारूप अनुस्यूताकार के प्रति-भास के बिना मृत्तिका के घट पूर्वभावी स्थास-कोश आदि विशेष अवस्था के प्रतिभास का अनुभव नहीं होता।

यदि यह कहा जाय कि–"वस्तु के साथ इन्द्रिय का प्रथम सन्निकर्ष होने के अनन्तर अन्वय-अनुस्यूताकार का प्रतिभास न होने पर भी विशेषप्रतिभास होता है"–तो यह ठीक नहीं है क्योंकि इन्द्रिय का प्रथमसंनिकर्ष होने पर 'यह कुछ है' इस रूप में नियतदेशस्थित वस्तु मात्र की अत्यन्त सामान्याकार में ही प्रतीति होती है। यदि इन्द्रिय का प्रथमसंनिकर्ष होते ही वस्तु के विशेष आकार का भी अवभास होगा तो वस्तु के विषय में 'यह सर्प है अथवा रज्जु है' इस प्रकार के संशयादि की उत्पत्ति न हो सकेगी। क्योंकि विशेषाकार का ज्ञान संशय का विरोधी होता है। अतः किसी वस्तु के इन्द्रियसंनिकृष्ट होते ही यदि उसका विशेषरूप गृहीत हो जायगा तब उसके निजस्वरूप का निर्णय हो जाने से उसके विषय में संशय न हो सकेगा।

[एकत्वाध्यासायमूलक संशयोत्पत्ति का कथन अनुचित]

यदि यह कहा जाय कि–"वस्तु के साथ इन्द्रिय का प्रथम संनिकर्ष होने पर उसके विशेषाकार का प्रतिभास हो तो जाता है किन्तु उसके उत्तरकाल में अन्य वस्तु के अतिशयित सादृश्य से उसमें अन्य वस्तु के साथ एकत्व अभेद का ज्ञान होता है और उसी कारण उसमें संशयादि की अनुभूति होती है। जैसे रज्जु के साथ इन्द्रियसंनिकर्ष होने पर रज्जुत्व का ज्ञान उत्पन्न होता है किन्तु सर्प के सादृश्य से उसमें 'अयं सर्पः' इस प्रकार सर्प के साथ एकत्व का मानो अभेद का ज्ञान हो जाता है। इस प्रकार संनिकर्ष से रज्जुत्व की और सादृश्य से सर्पत्व की उपस्थिति हो जाने से 'इयं रज्जुरेव सर्पो वा' इस प्रकार का संशय होता है।"–किन्तु यह कथन ठीक नहीं है, क्योंकि जब रज्जु का विशेषरूप रज्जुत्व का निश्चय पहले हो जायगा तब उसमें सर्प के एकत्व का अध्यवसाय हो ही नहीं सकता।

क्योंकि रज्जुत्व का ज्ञान होने पर सर्पत्व प्रतियोगी का ज्ञान और सर्पभेद के साथ इन्द्रियसंनिकर्ष विद्यमान होने से सर्पभेद का ज्ञान स्वाभाविक है और सर्प भेद का ज्ञान सर्प के अभेदज्ञान का विरोधी है। दूरदेशस्थित वस्तु के सम्बन्ध में सार्वजनीन अनुभव भी यही है कि उस के सामान्याकार की प्रतिपत्ति प्रथम होती है और विशेषाकार की प्रतिपत्ति बाद में होती है। सामान्यविशेष की प्रतिपत्ति के इस पौर्वापर्य के कारण ही जैन सिद्धान्तवेत्ता अवग्रह-ईहा-अवाय-धारणा इन ज्ञानों में कालभेद का अनुभव न होने पर भी पौर्वापर्य मानते हैं, क्योंकि इन ज्ञानों में पूर्वज्ञान उत्तरज्ञान का कारण होता है और कार्यकारणभाव पौर्वापर्य नियत होता है।

यदि च मूलमध्याग्रानुस्यूतस्थूलैकाकारप्रतिभासोऽपह्नूयते, तदा विविक्ततत्परमाणुप्रतिभासस्याप्यपह्नवात् शून्यताप्रसङ्गः। न चैकत्वप्रतिभासस्य तद्विषयस्य विकल्प्यमानस्याऽघटमानत्वात् मिथ्यात्वम्, तस्यान्यानालम्बनत्वात्। 'संचितपरमाण्वालम्बनः स प्रतिभास' इति चेत्? न, संचयस्यैकस्य द्रव्यस्थानीयत्वात्। न चैवं परमाणुष्वपि परस्य मानमस्ति, प्रत्यक्षस्य निष्प्रतिपक्षत्वात्, उपलभ्यमानस्थूलैकस्वभावस्य चाऽवस्तुत्वेन तत्कार्यत्वस्य परैरनभ्युपगमात्। न च वनादिप्रत्ययात् शिंशपाद्यवगतिवत् स्थूलावभासात् तत्प्रत्ययः, वनादेः शिंशपाधर्मत्वात्, स्थूलाकारस्य च परमाणुधर्मत्वाऽनभ्युपगमात्।

[स्थूलाकार प्रतिभास का अपलाप अशक्य]

इस संदर्भ में यह भी ध्यान देने योग्य है कि यदि मूल-मध्य अग्र भागों में अनुगत स्थूल-एक अवयवी आकार के प्रतिभास का अपलाप किया जायगा तो प्रतिभासमानतया अभिमतवस्तु का विविक्त यानी इतरासंपृक्त परमाणु के प्रतिभास का भी अपलाप हो जाने से शून्यता का प्रसंग होगा। आशय यह है कि स्थूलवस्तु को प्रत्यक्षसिद्ध मानने पर ही उसके परम्परया कारणरूप में परमाणु का आनुमानिक प्रतिभास होता है। किन्तु यदि विभिन्न अवयवों में अनुस्यूत कोई स्थूल वस्तु न मानी जायगी तो परस्पर विविक्तत्व(स्व)शून्य परमाणु का ही अस्तित्व प्राप्त होगा और वह भी अन्य प्रमाण के अभाव में सिद्ध नहीं हो सकता। अतः सर्वशून्यता का प्रसङ्ग अनिवार्य होगा।

[अवयवी का प्रतिभास मिथ्या नहीं है]

यदि यह कहा जाय कि-"जो एक स्थूलाकार वस्तु (=अवयवी) को ग्रहण करता हुआ प्रतिभास अनुभूत होता है वह मिथ्या है। क्योंकि उसके विषय का उसके अंशों से भेदाभेद का विकल्प अथवा अंशों में उसके एकदेशेन अथवा कार्त्स्न्येन वर्तन का विकल्प करने पर वह उपपन्न नहीं होता।"- तो यह ठीक नहीं है क्योंकि वह प्रतिभास अन्यालम्बन नहीं है। आशय यह है कि वही प्रतिभास मिथ्या होता है, जो अन्य को अर्थात् स्व में विशेषणविधया भासित होनेवाले धर्म से शून्य अन्य वस्तु को अवलम्बन करता है जैसे शुक्ति में रजताकारप्रतिभास। उक्त प्रतिभास स्व में विशेषणविधया भासित होनेवाले एकत्व और स्थौल्य से शून्य वस्तु का अवलम्बन नहीं करता किन्तु एकत्व और स्थूलता के आश्रयभूत वस्तु का ही अवलम्बन करता है, अत एव वह मिथ्या नहीं है।

[परमाणुओं के संचय का ही अपरनाम अवयवी]

यदि यह कहा जाय कि—"उक्त प्रतिभास संचित यानी परस्पर संयुक्त परमाणुओं को अवल-

भान करता है और वे परमाणु एकत्व और स्थूलत्व से शून्य है अतः उसके प्रतिभास का मिथ्यात्व अनिवार्य है।" तो यह ठीक नहीं है, क्योंकि यदि परमाणुओं का एक संचय माना गया तो वही अवयवी द्रव्य स्थूल रूप ग्रहण का विषय है और परमाणुभिन्न वस्तु की सिद्धि हो जाने से उसके नाममात्र में ही विवाद रह जाता है, उसे परमाणुओं का संचय कहा जाय अथवा उसे परमाणुओं में अनुस्यूत एक द्रव्य कहा जाय इसमें कोई तात्त्विक अन्तर नहीं है। दूसरी बात यह है कि यदि परमाणुओं में अनुस्यूत कोई एक स्थूल द्रव्य न माना जायगा तो अवयवभिन्न अवयवी का अस्तित्व न माननेवाले वादी के पास परमाणु का भी साधक कोई प्रमाण न रह जायगा क्योंकि जो प्रत्यक्ष सर्वसम्मत है उसके मिथ्यात्व और सत्यत्व के विषय में संशय है और वादी के मत में उपलभ्यमान स्थूल एक स्वभाव कोई वस्तु न होने से उसे परमाणु का कार्य नहीं माना जा सकता। अतः उसके कारणरूप में परमाणु का अनुमान भी नहीं हो सकता।

यदि यह कहा जाय कि—'जैसे वन की विभिन्न वृक्षों के समूहरूप में प्रतीति से शिंशपा आदि विभिन्न वृक्षों का अवगम होता है उसीप्रकार स्थूलाकार प्रतिभास से परमाणुओं का अवगम हो सकता है क्योंकि, जैसे वन वृक्षों का समूह है वैसे स्थूलाकार भासमान पदार्थ भी परमाणुओं की समष्टि है।"—तो यह ठीक नहीं है। क्योंकि वन=विभिन्न वृक्षों का समुदाय यह समुदायी यानी समूहान्तर्गत एक एक शिंशपादि वृक्ष का धर्म है। अतः धर्मप्रत्यय से धर्मी का प्रत्यय युक्तिसंगत है किन्तु स्थूलाकार यह परमाणु का धर्म नहीं है। अत एव स्थूलाकार प्रत्यय से परमाणु का प्रत्यय युक्तिसङ्गत नहीं हो सकता।

कथं च परः कल्पनाज्ञाने भ्रान्तसंविदि वा स्वसंवेदनापेक्षया विकल्पेतरयोर्भ्रान्तेतरयोश्च परस्परव्यावृत्तयोराकारयोः कथञ्चिदनुवृत्तिमभ्युपगच्छन्नध्यक्षां हेतु-फलयोर्व्यावृत्त्यनुविद्धामनुवृत्तिं प्रतिक्षिपेत् ? संशयज्ञानं वा परस्परव्यावृत्तोल्लेखद्वयं बिभ्रद् यद्येकमुपेयते तदा किं न पूर्वापरक्षणप्रवृत्तमेकं स्वीकुर्यात् हेतु-फलरूपं वस्तु ? शब्द-विद्युत्प्रदीपादीनामुत्तरपरिणामाऽप्रत्यक्षत्वेऽपि तत्सद्भावसाधनात् पारिमाण्डल्यादिवत् मांसचक्षुर्ग्राह्याकारविवेकवत् वाऽध्यक्षस्यापि केनचिद् रूपेण परोक्षत्वाऽविरोधात्। न च पारिमाण्डल्यादेः प्रत्यक्षता, शब्दाद्युत्तरपरिणामेऽप्यस्या योगिमात्रेण सुवचत्वात्। न च शब्दादेरनुपादानोत्पत्तियुक्तिमती, शुक्रस्याप्युत्पत्तेरपि निरुपादानत्वप्रसङ्गात्।

[कारण-कार्य के प्रत्यक्षसिद्ध भेदाभेद निषेध अनुचित]

यह भी ध्यान देने योग्य है कि बौद्ध जो विकल्पात्मक ज्ञान और भ्रमात्मकज्ञान में स्वसंवेदित्व-स्वग्राहकत्व की अपेक्षा विकल्प और विकल्पेतर एवं भ्रान्त और भ्रान्तेतर ऐसे परस्परविरुद्ध आकारों की कथञ्चिद् अनुवृत्ति मानता है वह कारण और कार्य में प्रत्यक्षसिद्ध भेदानुविद्ध अभेद का निषेध कैसे कर सकता है ? एवं यह भी ज्ञातव्य है कि बौद्ध जब परस्पर व्यावृत्त भावाभाव के उल्लेखद्वय को धारण करनेवाले संशयज्ञान को यदि एक मानता है तो वह पूर्वापरक्षणों से सम्बद्ध फल और हेतु एतदुभयात्मक एक वस्तु का स्वीकार क्यों नहीं करता ? यदि यह कहा जाय कि—'यह वस्तु को फल-हेतु उभयात्मक मानने को प्रस्तुत नहीं हो सकता क्योंकि अन्तिमशब्द-मेघविद्युत्-दामुक्त आकाश

के नीचे जलते हुये प्रदीपादि कुछ ऐसे भाव हैं जिनके उत्तरकालिक परिणाम कार्य का प्रत्यक्ष न होने से जिन्हें हेतु-फलभावोभयात्मक कहना कठिन है'–तो यह ठीक नहीं है क्योंकि उनके उत्तरकालिक परिणामों का प्रत्यक्ष न होने पर भी उनका अस्तित्व माना जाता है। अन्यथा अर्थक्रियाकारी न होने से शब्दादि का ही अस्तित्व सिद्ध नहीं हो सकेगा ।

[एक ही वस्तु अंशभेद से प्रत्यक्ष-परोक्ष हो सकती है]

इसके विरोध में यदि यह कहा जाय कि–'शब्द-विद्युत् आदि प्रत्यक्ष हैं और उनके परिणाम परोक्ष हैं, अतः इन दोनों में ऐक्य नहीं माना जा सकता'- तो यह भी ठीक नहीं है क्योंकि जैसे स्थूल-तया प्रत्यक्ष अवभासित होनेवाली वस्तु का पारिमाण्डल्य यानी अणुपरिमाणादि अंश परोक्ष होता है एवं ज्ञान और ज्ञेय के प्रत्यक्ष होने पर भी उनका भेद परोक्ष होता है। उसी प्रकार अन्य प्रत्यक्ष वस्तु को भी किसी रूप से परोक्ष मानने में कोई विरोध नहीं है। इसलिये शब्द-विद्युत् आदि पदार्थों को स्वरूप से प्रत्यक्ष और परिणामात्मना परोक्ष माना जा सकता है ।

यदि यह कहा जाय कि–'अणुपरिमाणादि का दृष्टान्त अनुपयुक्त है क्योंकि अणुपरिमाणादि स्थूल पदार्थ के अंगरूप में प्रत्यक्ष हैं'–तो यह ठीक नहीं है क्योंकि उनकी प्रत्यक्षता अनुभूत न होने पर भी वचनमात्र से उन्हें प्रत्यक्ष कहा जायगा तो शब्दादि के उत्तरकालिक परिणाम को भी वचन मात्र से प्रत्यक्ष कहा जा सकता है । यह भी ज्ञातव्य है कि शब्दविद्युत् आदि को उनके परिणामों के द्वारा हेतुफलोभयात्मक मानने में कठिनाई होने पर भी उनके उपादानों के द्वारा उन्हें हेतुफलभावा-त्मक कहा ही जा सकता है, क्योंकि शब्दादि की उत्पत्ति उपादान के बिना युक्तिसङ्गत नहीं हो सकती । अतः अपने उपादानों के साथ उनका ऐक्य होने से उनकी भी हेतु-फल भावात्मकता स्पष्ट है । यदि यह कहा जाय कि–'उनकी उत्पत्ति बिना उपादान के ही होती है''–तो यह ठीक नहीं हो सकता क्योंकि उपादान के बिना उत्पत्ति मानने पर सुप्त मनुष्य के प्रबुद्ध होने पर जो उसे बुद्धि होती है उसे भी निरुपादान कहा जा सकता है, जिसके फलस्वरूप सुप्तावस्था में अज्ञमाकार बुद्धि के अस्तित्व मानने का प्रयोजन समाप्त हो सकता है ।

नापि निरन्वया संततिविच्छित्तिः, चरमक्षणस्याऽकिञ्चित्करत्वेनावस्तुत्वे पूर्वपूर्वक्षणाना-मपि तथात्वापत्तौ सकलसंतत्यभावप्रसक्तेरिति । तस्माद् दृष्टस्याप्यर्थस्य पारिमाण्डल्यादेः, ग्राह्याकारविवेकादेर्वांशस्य यथाऽदृष्टत्वं, तथोत्पन्नस्वभावस्यापि कस्यचिदंशस्यानुत्पन्नत्वम् । इति सिद्धं ध्रौव्यम् ।

[निरन्वय संततिविच्छेद असंभव है]

उक्त रीति से जैसे ध्रौव्य के बिना उत्पाद की उपपत्ति नहीं होती, उसी प्रकार विनाश की भी उपपत्ति नहीं हो सकती, क्योंकि घटादि के संतान का मुद्गराभिघात के बाद जो विच्छेद होता है उसे निरन्वय किसी ध्रुवपदार्थ अनाश्रित नहीं माना जा सकता, क्योंकि यदि सन्तान का निरन्वय नाश माना जायगा तो उसका अर्थ होगा कि सन्तानघटक अन्तिमक्षण किसी कार्य का उपादान नहीं होता । उपादान न होने पर अर्थक्रियाकारित्व से शून्य होने के कारण वह अवस्तु-असत् हो जायेगा और उसके असत् होने पर पूर्व पूर्वक्षण में भी असत्त्व की आपत्ति होने से पूरे सन्तान के अभाव की

आपत्ति होगी। अतः, जैसे दृष्ट भी स्थूल पदार्थ का परिमाण्डल्यादि अंश अदृष्ट होता है और ज्ञान तथा ग्राह्य के प्रत्यक्ष होने पर भी उनके ऐक्य में विवादग्रस्त के अनुरोध से उन दोनों का परस्परभेद अदृष्ट होता है उसी प्रकार उत्पन्नस्वभाव भी वस्तु का कोई अंश अनुत्पन्न हो सकता है। तो इस प्रकार नष्ट और उत्पन्न होने वाले पदार्थ का जो अंश अनष्ट और अनुत्पन्न होता है वही ध्रुव है इस प्रकार उत्पाद व्यय के उपपादकरूप में ध्रौव्य की सिद्धि अनिवार्य है।

उत्पादव्ययव्यतिरेकेण ध्रौव्यमप्यसंगतम्। तथाहि–१. 'दुग्धादौ दध्यादिकं सदेव' इति सांख्याः दुग्धादेरेव दध्यादिरूपेण व्यवस्थितत्वात्। २. 'तदव्यतिरिक्तं विकारमात्रमेव कार्यम्' इति सांख्यविशेषः। ३. 'न कार्यं कारणे प्रागस्ति, किंतु ततः पृथग्भूतमेव सामग्रीतो भवति, न तु कारणमेव कार्यरूपेण व्यवतिष्ठते परिणमते वा' इति वैशेषिकादयः। ४. 'न च कार्यं कारणं वाऽस्ति, ध्रुवमद्वैतमात्रमेव तत्त्वम्' इत्यपरः।

[उत्पाद-व्यय के बिना स्थिरता का संभव नहीं]

जैसे ध्रौव्य के बिना उत्पाद और व्यय युक्तिसंगत नहीं होते उसीप्रकार उत्पाद और व्यय के बिना ध्रौव्य भी युक्तिसङ्गत नहीं हो सकता। इस संदर्भ में विभिन्न दार्शनिकसिद्धान्तों का आलोचन करने पर अन्ततः यही निष्कर्ष प्राप्त होता है। जैसे १. सांख्य का मत है कि दुग्धादि में दही आदि विद्यमान ही रहता है, क्रियाविशेष से दुग्धादि ही दही आदि के रूप में उपलब्ध होता है। २. सांख्यों के एकवर्ग का मत है कि कार्य ऐसा जो होता है जो कारण से अव्यतिरिक्त होते हुये स्वयं विकार ही होता है अर्थात् तत्त्वान्तर का उपादान नहीं होता। ३. वैशेषिकादि का यह सिद्धांत है कि कार्य पहले से कारण में विद्यमान नहीं रहता किन्तु कारण से सर्वथा भिन्न होता है जो कारणसामग्री से प्रादुर्भूत होता है, कारण ही कार्यरूप में व्यवस्थित अथवा परिणत नहीं होता। ४. अद्वैतवादी का सिद्धान्त है कि कार्य और कारण का अस्तित्व ही नहीं है--नित्य अद्वैतमात्र ही पारमार्थिक तत्त्व है।

तत्र 'दुग्धादौ दध्यादिकं सदेव' इति सांख्यमते कारणव्यापारवैफल्यम्। न हि तेन कार्योत्पत्तिः, तदभिव्यक्तिः, आवरणविनाशो वा कर्तुं शक्यते, तदुत्पत्त्यभिव्यक्त्योरपि सत्त्वे कारकव्यापारवैफल्यात्, असत्त्वेऽपसिद्धान्तात्। आवरणविनाशेऽपि न तत्साफल्यम्, असतो भावस्योत्पादवत् सतो भावस्य नाशाऽभावात्। न चान्धकारवत् तदावारकं तदा किञ्चिदुपलभ्यते। न च कारणमेव कार्यावारकम्, तस्य तदुपकारकत्वेन प्रसिद्धेः। किञ्च, अन्धकारवत् तद्दर्शनप्रतिबन्धकत्वेन तदावारकत्वे तदर्शनेऽपि तत्स्पर्शोपलम्भप्रसङ्गः। पटादिवद् व्यवधायकत्वेन तदावारकत्वे च तद्ध्वंस इव मृत्पिण्डध्वंसेऽपि तदुपलब्धिप्रसङ्गः। क्षीर-नीरादिवदत्यन्तिकसंश्लेषेण तदावारकत्वे च तत्क्षयभावं विना तदनुपलब्धिप्रसङ्गः। अपि च, कारणकाले कार्यस्य सत्त्वे स्वकाल इव कथमसौ (न) तेनाक्रियते ? कथं च मृत्पिण्डकार्यतया घटो व्यपदिश्यते, न त्वन्यथा, पटादिवत् ? असत्त्वे च नायुक्तिः, अविद्यमानत्वादपसिद्धान्तश्च। विवेचितं चेदं स्याद्वादवार्तायाम्। निरस्तश्च सत्कार्यवादः सांख्यवार्तायाम्। इति न किञ्चिदेतत्।

[सांख्य के सत्कार्यवाद की समालोचना]

इन मतों में, दुग्धादि में दध्यादि पहले से ही विद्यमान रहता है–इस सांख्यमत में कारण-व्यापार की निष्फलता प्रसक्त होती है क्योंकि कारणव्यापार से न कार्य की उत्पत्ति हो सकती है और न कार्य की अभिव्यक्ति हो सकती है, न तो कार्य के आवरण का विनाश ही हो सकता है क्योंकि उत्पत्ति और अभिव्यक्ति भी यदि पहले से सत् होगी तो कारकव्यापार निष्फल होगा। यदि असत् होगी तो 'असत् सत् नहीं होता' इस सांख्यसिद्धान्त का भङ्ग होगा। आवरणविनाश मानने पर भी कारकव्यापार की सफलता सिद्ध नहीं हो सकती। क्योंकि जैसे असत् भाव की उत्पत्ति नहीं होती इसीप्रकार सत् भाव का नाश भी नहीं हो सकता, इसलिये कार्य का आवरण सत् होने पर कारक-व्यापार से उसका नाश नहीं हो सकता और असत् होने पर उसका अभाव स्वतः सिद्ध होने से उसके विनाश की कल्पना निरर्थक होती है। दूसरी बात यह है कि जैसे अन्धकार किसी वस्तु का आवारक होता है उस प्रकार कार्य का कोई आवारक नहीं उपलब्ध होता। यदि यह कहा जाय कि 'कारण ही कार्य का आवारक होता है' तो यह उचित नहीं हो सकता क्योंकि कारण कार्य के उपकारकरूप में प्रसिद्ध है, अत एव उसे आवरणरूप में उसका अपकारक नहीं माना जा सकता।

[सत्कार्यपक्ष में आवरण की अनुपपत्ति]

दूसरी बात यह है कि कारण यदि कार्य का आवारक होगा तो अन्धकार के समान उसके दर्शन का ही प्रतिबन्धक होगा, अतः कारकव्यापार के पूर्व कार्य का दर्शन न हो किन्तु उसका स्पार्शन उपलम्भ तो होना ही चाहिये। यदि यह कहा जाय कि 'कारण अन्धकार के समान कार्य दर्शन के प्रतिबन्धकरूप में कार्य का आवारक नहीं होता अपितु पटादि के समान व्यवधायक (व्यवधान-कारक) रूप में कार्य का आवारक होता है' तो यह भी ठीक नहीं है क्योंकि जैसे पूर्व में पट से व्यव-हित वस्तु का, पट का नाश होने पर उपलम्भ होता है, उसीप्रकार मृत्पिंड का ध्वंस होने पर घट के मृत्पिण्डस्वरूप आवरण का ध्वंस हो जाने से कुलालव्यापारादि न होने पर भी घट के उपलम्भ की प्रसक्ति होगी। यदि यह कहा जाय कि जैसे क्षीर और नीर में आत्यन्तिक संमिश्रण होने से वे दोनों एक दूसरे के आवारक होते हैं उसीप्रकार कार्य और कारण भी परस्पर में आत्यन्तिक संमिश्रण के नाते एक दूसरे के आवारक होते हैं'-तो यह भी ठीक नहीं है क्योंकि ऐसा मानने पर दोनों के पार्थक्य=विभाजन हुये बिना कार्य और कारण दोनों की अनुपलब्धि की आपत्ति होगी।

इसके साथ ही यह विचारणीय है कि यदि कारणकाल में कारणव्यापार के पूर्व भी कार्य की सत्ता है तो कारणव्यापार के पूर्व कारण से कार्य का आवरण होता है उसी प्रकार कारणव्यापार के बाद भी कारण से कार्य का आवरण क्यों नहीं होता? साथ ही मृत्पिण्ड के कार्यरूप में घट का व्यवहार क्यों होता है? पटादि की तरह उसके अकार्यरूप में व्यवहार क्यों नहीं होता? यदि यह कहा जाय कि-'कारणकाल में कार्य का सत्त्व न होने से कार्य का आवरण होता है'-तो यह ठीक नहीं है क्योंकि जब कार्य कारण काल में होगा ही नहीं तो उसके आवरण की क्या आवश्यकता होगी? क्योंकि विद्यमान के दर्शन का प्रतिबन्ध करने के लिये ही आवरण की आवश्यकता होती है। दूसरी बात यह कि यदि कारणकाल में कार्य को असत् माना जायगा तो सांख्य के लिये अपसिद्धान्त होगा। कारणकाल में कार्य के असत्त्व के विरुद्ध यहाँ कुछ विशेष कहने की आवश्यकता नहीं क्योंकि व्यासक-

पक्ष की वार्ता में विस्तार से इस पक्ष का विवेचन किया जा चुका है। सांख्य मत के सम्बन्ध में वार्ता करते समय सत्कार्यवाद का भी निरास किया जा चुका है अतः उस विषय की भी यहाँ और चर्चा करना आवश्यक नहीं है।

एवं चानर्थान्तरभूतपरिणामवादोऽपि प्रतिक्षिप्त एव। न ह्यर्थान्तरपरिणामाऽभावे परिणाम्येव कारणलक्षणोऽर्थं एको युज्यते, पूर्वापरयोरेकत्वविरोधात्। न च परिणामानतिरेके परिणामित्वमपि व्यवतिष्ठते, विशेषणव्यवस्थाधीनत्वाद् विशिष्टव्यवस्थायाः। न ह्येकमेव विशेषणं विशेष्यं च। इति न किञ्चिदेतत्।

[अभेदपक्ष में परिणाम-परिणामिभाव की अनुपपत्ति]

जो लोग कार्य को कारण का अनर्थान्तरभूत यानी अभिन्न परिणाम मानते हैं उनका मत भी अनायास ही निरस्त हो जाता है क्योंकि यदि परिणाम को कारण से अर्थान्तर यानी कथमपि भिन्न न माना जायगा तो परिणामी कारण और परिणामरूप कार्य ये दोनों अभिन्न न हो सकेंगे। क्योंकि कारण पूर्वकालिक होता है और परिणाम कार्य उत्तरकालिक होता है अतः उनका अभिन्नत्व —एकत्व विरुद्ध है।

कारण और परिणाम में भेद न मानने पर कारण में परिणामित्व भी सिद्ध नहीं हो सकता क्योंकि परिणाम विशेषण है और कारण परिणाम से विशिष्ट होता है अतः कारण का परिणाम वैशिष्ट्य उन दोनों में भेद मानने पर ही उपपन्न हो सकता है क्योंकि विशिष्ट की सिद्धि विशेषण से भिन्न विशेष्य की सिद्धि के अधीन होती है। एक ही वस्तु विशेषण-विशेष्य दोनों नहीं हो सकती। अत एव 'परिणाम यह कारण से सर्वथा अनर्थान्तरभूत=अभिन्न होता है'-यह मत अत्यन्त तुच्छ है।

यद्यपि 'कारणात् कार्यमत्यन्तपृथग्भूतमेव, तदाश्रितत्वेन तस्योत्पत्तेश्च न पृथगुपलम्भः' इति वैशेषिकादीनां मतम्; तदपि समवायनिषेधात् अन्यस्य च संबन्धस्याऽभावादनुपपन्नमेव। किञ्च, अवयवेभ्योऽवयविन एकान्तभेदे एकदेशरागे सर्वस्य रागः स्यात्, एकदेशावरणे च सर्वस्यावरणं भवेत्, रक्ता-ऽरक्तयोरावृता-ऽनावृतयोश्च भवदभ्युपगमेनैकत्वात्। यत्तु 'एकस्मिन् भेदाभावे रक्तारक्तप्रयोगानुपपत्तिः' इत्युद्द्योतकरेणोक्तम्; तत्तु 'स्वशास्त्रं स्वोपघातार्थम्' इति न्यायमनुसृतम्, अवयवानामवयविभाव एव 'सर्वं वस्त्रं रक्तम्' 'किञ्चिद् वस्त्रं रक्तम्' इति चिरलोकव्यवहारासिद्धेः। न च वस्त्रपदस्य वस्त्रावयवे लक्षणया तत्र सर्वपदप्रयोगानुपपत्तिरिति वाच्यम्। अस्खलद्वृत्तित्वात् तत्प्रयोगस्य।

[कार्य-कारणभेदवादी वैशेषिकमत की समालोचना]

वैशेषिक आदि का यह मत है कि-"कार्य कारण से अत्यन्त भिन्न होता है, किन्तु इसकी उत्पत्ति समवायि कारण में ही होती है, अतः कारण से पृथक् उसका उपलम्भ नहीं होता"—किन्तु यह मत भी ठीक नहीं है क्योंकि यह मत समवायसम्बन्ध की मान्यता पर अवलम्बित है और समवाय का निषेध किया जा चुका है। एवं अभेद से अन्य दूसरा कोई सम्बन्ध भी नहीं बन सकता,

अतः यह मत सर्वथा अनुपपन्न है । इस मत में दूसरा दोष यह है कि अवयवी को अवयवों से अत्यन्त भिन्न मानने पर किसी एक अवयव में रक्तत्व होने पर सम्पूर्ण अवयवी में रक्तत्व हो जाने की आपत्ति होगी, एवं किसी एक अवयव का आवरण होने पर पूरे अवयवी को आवरण की आपत्ति होगी। क्योंकि वैशेषिक के मतानुसार रक्त एवं अरक्त तथा आवृत एवं अनावृत अवयवी में ऐक्य है ।

[उद्योतकर के मत का निराकरण]

इस चर्चा के संदर्भ में उद्द्योतकर ने जो यह कहा है कि–अवयवी के एक होने से उसमें भेद न होने के कारण सर्व शब्द का प्रयोग अनुपपन्न है अर्थात् अवयवी एक है और सर्व शब्द का प्रयोग अनेकार्थनियत है अतः अवयवी के विषय में 'एक देश में रक्तत्व होने पर सब में रक्तत्व हो जायगा' इसप्रकार का प्रयोग अनुपपन्न है ।''–व्याख्याकार के कथनानुसार उद्योतकर का यह कथन अपने शस्त्र से अपना वध करने के समान है । क्योंकि अवयवों के अवयवी से अभिन्न होने पर ही 'सर्वं वस्त्रं रक्तम्'—पूरा वस्त्र रक्त हो गया, 'किञ्चिद् वस्त्रं रक्तम्'—वस्त्र कुछ अंश में ही रक्त हुआ इस द्विविध लोकव्यवहार की सिद्धि होती है । किन्तु उद्योतकर का उक्त कथन अवयवी को इस लोकव्यवहार के लिये अयोग्य सिद्ध कर देता है ।

यदि यह कहा जाय कि–'उक्त व्यवहार में वस्त्र पद की वस्त्रावयव में लक्षणा होने से सर्वपद के प्रयोग की अनुपपत्ति नहीं होती'–तो यह ठीक नहीं है क्योंकि उक्त प्रयोग अस्खलद्-वृत्ति है, अर्थात् उस में मुख्य वृत्ति 'अभिधा' का स्खलन नहीं माना जाता । अर्थात् यह प्रयोग मुख्य है, अत एव लक्षणा से उसका उपपादन उचित नहीं हो सकता ।

यदपि शङ्करस्वामिनोक्तम्—'वस्त्रस्य रागः कुङ्कुमादिद्रव्येण संयोग उच्यते, स चाऽव्याप्यवृत्तिः, तत एकत्र रक्ते न सर्वस्य रागः, न च शरीरादेरेकदेशावरणे सर्वस्यावरणं युक्तम्' इति । तदप्ययुक्तम्, पटादेर्निरंशस्यैकद्रव्यस्य कुङ्कुमादिना व्याप्ता-ऽव्याप्तांशाभावेन तत्र संयोगाऽव्याप्यवृत्तित्वस्याऽसंभवदुक्तिकत्वात् । तदारम्भकावयवस्यैव रक्तत्वे च न तस्य किञ्चिदव्याप्यवृत्तित्वं नाम, अवयवं व्याप्यैव रागस्य वृत्तेः, अवयविनश्चाऽरक्तत्वादेव न च स्यादवयविनि रक्तत्वप्रतीतिः ।

[अवयवी के विषय में शंकरस्वामी मत की समालोचना]

शंकरस्वामी ने इस विचार के संदर्भ में जो यह कहा कि–'वस्त्र का कुङ्कुमादि द्रव्य के साथ जो संयोग होता है उसी को वस्त्र का रक्तत्व कहा जाता है, अतः संयोगात्मक होने से रक्तत्व अव्याप्यवृत्ति है । अत एव एक भाग के रक्त होने पर सब में रक्तता नहीं हो सकती। इसी प्रकार शरीरादि के एक देश में आवरण होने पर सब का आवरण भी युक्तिसङ्गत नहीं हो सकता क्योंकि आवरण भी आवारक द्रव्य का संयोग रूप होने से अव्याप्यवृत्ति है ।'–किन्तु यह कथन भी युक्तिसङ्गत नहीं है क्योंकि पट आदि एक निरंश द्रव्य है । अतः उस में कुंकुमादि से व्याप्त और अव्याप्त अंश की कल्पना सम्भव न होने से उसमें संयोग को अव्याप्त कहना असम्भव है । यदि पट आदि के आरम्भक अवयवों को ही रक्त कहा जाय तो रक्तरंग में किसी प्रकार का अव्याप्यवृत्तित्व उपपन्न न हो सकेगा क्योंकि रंग अवयव को व्याप्त करके विद्यमान होता है । दूसरी

बात यह कि यदि अवयवों को ही रक्त माना जायेगा तो अवयवी में रक्तता न होने से उस में रक्तत्व की प्रतीति न हो सकेगी।

अथ तत्तदवयवे कुङ्कुमसंयोगाख्यो रागो जातस्तत्तदवयवावच्छेदेनावयविनि रागं जनयति, कारणा-ऽकारणसंयोगात् कार्याऽकार्यसंयोगोत्पत्तेः, अतस्तत्तदवयवावच्छिन्नत्वेनाव्याप्यवृत्तित्वं युक्तमिति चेत्? न, तत्रावयवा-ऽवयविवृत्तिक्रमोत्पद्यमानरागद्वयानुपलम्भात्, संयोगजन्यसंयोगतत्सामग्र्यादिकल्पने गौरवात्। तत्र रक्तरूपेणारक्तरूपस्याभिभवेऽन्यावयवेऽप्यरक्तानुपलम्भप्रसङ्गात्, तदनभिभवे च तदवयवेऽपि तदुपलम्भप्रसङ्गात्। न च तदवयवावच्छिन्नं रक्तत्वं तदवयवावच्छेदेनैवाऽरक्तत्वाभिभावकमिति वाच्यम्, अरक्तत्वग्रहप्रतिबन्धकत्वरूपस्याभिभावकत्वस्याऽनवच्छिन्नत्वात्।

[संयोगस्वरूप रंग में अव्याप्यवृत्तित्व की शंका का निवारण]

यदि यह कहा जाय कि—"वस्त्र के तत्तदवयवों में जब कुंकुमसंयोगात्मक रंग उत्पन्न होता है तब वह तत्तदवयवावच्छेदेन पटात्मक अवयवी में कुङ्कुमसंयोगात्मक रंग को उत्पन्न करता है, क्योंकि कारण और अकारण के संयोग से ही कार्य और अकार्य संयोग की उत्पत्ति होती है। कुंकुमसंयुक्त-अवयव पट का कारण है और कुंकुम अकारण है, अतः उन दोनों के संयोग से कुङ्कुमसंयुक्त अवयवरूप कारण के पटरूप कार्य का एवं उसके अकार्यभूत कुंकुम का, संयोग अनिवार्य है। इसलिये पट कुंकुमसंयोगात्मक रंग में कुंकुमसंयुक्तपटावयवावच्छिन्नत्वरूप अव्याप्यवृत्तित्व युक्तिसङ्गत है।"—किन्तु यह ठीक नहीं है, क्योंकि अवयव और अवयवी में क्रमोत्पन्नसंयोग द्वय का उपलम्भ नहीं होता। दूसरी बात यह कि पटावयव और कुंकुम के संयोग से ही अवयव-अवयवी में अभेद मान कर अवयवी में रक्तत्व प्रतीति का उपपादन सम्भव होने से संयोगजन्यसंयोग और उसकी पृथक् सामग्री आदि की कल्पना में अतिगौरव है।

अवयव और अवयवी के भेद पक्ष में दूसरा दोष यह है कि रक्तरूप से जब अवयवी के अरक्तरूप का अभिभव माना जायगा तो अन्यावयव यानी कुंकुम से असंयुक्त पटावयव में भी अरक्तरूप के अनुपलम्भ की आपत्ति होगी। यदि अभिभव न माना जायगा तो कुंकुमसंयुक्त पटावयव में भी अरक्त के उपलम्भ की आपत्ति होगी, क्योंकि पट का रूप एक ही है अतः वह जब कहीं अभिभूत होगा तो पूर्णरूप में अभिभूत हो जायगा और यदि कहीं अनभिभूत होगा तो पूर्ण रूप में भी अनभिभूत होगा।

[प्रतिबन्धकतारूप अभिभावकता अवयवावच्छिन्न नहीं होती]

इस के प्रतिवाद में यदि यह कहा जाय कि "तत्तदवयवावच्छेदेन जो रक्तत्व होता है वह तत्तदवयवावच्छेदेन अर्थात् तत्तदवयव द्वारा ही अरक्तत्व का अभिभावक होता है"- तो यह ठीक नहीं है क्योंकि अरक्तत्व की अभिभावकता अरक्तत्वग्रह की प्रतिबन्धकतारूप है। अतः वह अवयवावच्छिन्न नहीं हो सकती। क्योंकि प्रतिबन्धकता कारणीभूताभावप्रतियोगिता रूप होती है। प्रतियोगिता प्रतियोगितावच्छेदक धर्म एवं संबंध से ही अवच्छिन्न होती है। पट के अवयवविशेषगत रक्तत्व में, उस

अवयवविशेष में अरक्तत्वग्रह की कारणीभूताभाव प्रतियोगितारूप जो प्रतिबन्धकता है-उस का रक्तावयव उसका धर्मविधया अथवा सम्बन्धविधया अवच्छेदक नहीं होता। अतः उक्त अरक्तत्वग्रहप्रतिबन्धकता उस अवयव से अवच्छिन्न नहीं हो सकती। अतः यह कहना कि तदवयवावच्छिन्न रक्तता तदवयवावच्छेदेन अरक्तत्व का अभिभावक होती है, वह असङ्गत है।

न च रक्तावयवविषयकतद्(? दर)क्तत्वग्रहे तद्रागः प्रतिबन्धक इति वाच्यम्, गौरवात्, रक्तावयवावच्छेदेन चक्षुःसंनिकर्षे रक्तावयवाऽविषयकतदरक्तत्वप्रतीतिप्रसङ्गाच्च। किञ्च, 'किञ्चिद् वस्त्रं रक्तम्' 'सर्वं वस्त्रं रक्तं' इति प्रतीतौ 'किञ्चित्' इति 'सर्वम्' इति च वस्त्रविशेष एव प्रतीयते; न तु संयोगविशेषरूपरागे किञ्चिदवयवावच्छिन्नत्वं सर्वावयवावच्छिन्नत्वं च। 'मूले वृक्षः कपिसंयोगी' इत्यत्रापि मूलवृत्तिकपिसंयोगवान् वृक्षः' इत्येव स्वारसिकोऽर्थः। यदि च मूलेऽवच्छेदकत्वं भासते तदा तदपि वृक्षापेक्षमेव स्वनिरूपितकत्वसंवलितभेदप्रतियोगित्वरूपम्। अत एव नयभेदेन प्रामाण्याऽप्रामाण्यविभागः। एवं च 'अवच्छेदकभेदाद् न रक्ताऽरक्तत्वादिविरोधः' इति निरस्तम्, अव्याप्यवृत्तिभेदाभ्युपगमप्रसङ्गाच्च।

[प्रतिबध्यतावच्छेदक कोटि में रक्तावयवविषयकत्व के निवेश में दोष]

यदि यह कहा जाय कि-"रक्तावयवविषयक अवयवी के अरक्तत्वज्ञान में अवयवगतरक्तत्व स्वाश्रयसमवायसम्बन्ध से प्रतिबन्धक है"-तो यह ठीक नहीं है क्योंकि प्रतिबध्यतावच्छेदक कोटि में रक्तावयवविषयकत्व का निवेश करने से प्रतिबध्य-प्रतिबन्धकभाव में गौरव है। यदि उसका निवेश न कर अवयवी के अरक्तत्वग्रह में अवयवरक्तत्व को प्रतिबन्धक माना जायगा तो अवयवी के अरक्तभाग में भी अरक्तत्वग्रह न हो सकेगा।

दूसरी बात यह है कि प्रतिबध्यतावच्छेदककोटि में रक्तावयवविषयकत्व का निवेश करने पर जब रक्तभागावच्छेदेन अवयवी में नेत्र का संनिकर्ष हो और अवयव एवं अवयवी में भेद होने के कारण तथा एककाल में अवयव और अवयवी में संयोगद्वय का उपलम्भक न होने के कारण, रक्तभाग में चक्षुःसंनिकर्ष नहीं है उस समय अवयवी में रक्तावयवाऽविषयक अरक्तत्वग्रह की आपत्ति होगी।

उपर्युक्त से अतिरिक्त यह भी ज्ञातव्य है कि "किञ्चिद्वस्त्रं रक्तम्"=वस्त्र कुछ अंश में रक्त है" एवं "सर्वं वस्त्रं रक्तं=समस्त वस्त्र रक्त है" इन प्रतीतिओं में किञ्चिद् और सर्वशब्द से वस्त्रविशेष की ही प्रतीति होती है न कि रञ्जकद्रव्य के वस्त्रनिष्ठ संयोगरूप राग में किञ्चिदवयवावच्छिन्नत्व अथवा सर्वावयवावच्छिन्नत्व की प्रतीति होती है। अतः वस्त्रादि अवयवी को अवयवों से सर्वथा अतिरिक्त न मानकर अवयवसमुदायरूप मानना ही उचित है।

['मूले वृक्षः कपि संयोगी' इस प्रतीति का स्वाभाविक अर्थ]

जो स्थिति वस्त्रगत रञ्जकद्रव्य संयोग की है वही संयोगमात्र की है इसलिये 'मूले वृक्षः कपिसंयोगी' इसका भी स्वाभाविक अर्थ यह है कि वृक्ष मूलवृत्तिकपिसंयोग का आश्रय है। न कि वृक्ष मूलावच्छेदकपिसंयोग का आश्रय है। तथा 'मूलवृत्तिकपिसंयोग का आश्रय वृक्ष है' यह अर्थ मूल और वृक्ष में अत्यन्तभेद न होने से सर्वथा अनुपपन्न भी नहीं है।

यदि 'मूले वृक्षः कपिसंयोगी' इस प्रतीति में मूल में अवच्छेदकत्व का भान आनुभविक हो तो वह अवच्छेदकत्व कपिसंयोगापेक्ष न हो कर वृक्षापेक्ष ही होता है और वह वृक्षापेक्षावच्छेदकत्व वृक्ष-निरूपित एकत्व सहित, वृक्षनिष्ठ भेद का प्रतियोगित्वरूप है। तात्पर्य, 'मूले वृक्षः कपिसंयोगी' का अर्थ है मूल से भिन्नाभिन्न वृक्ष कपिसंयोग का आश्रय है, न कि वृक्ष मूलावच्छिन्न कपिसंयोग का आश्रय है। क्योंकि संयोगजन्यसंयोग के अभाव में, वृक्षनिष्ठसंयोग की अवच्छेदकता मूलादि देशों में सम्भव नहीं है। इसीलिये विवक्षाभेद से 'मूले वृक्षः कपिसंयोगी' इस वाक्य में प्रामाण्य-अप्रामाण्य का विभाग होता है, अर्थात् मूल में वृक्षापेक्षावच्छेदकत्व के बोध में तात्पर्य रहने पर उसमें प्रामाण्य और कपिसंयोगापेक्षावच्छेदकत्व के बोध में तात्पर्य होने पर अप्रामाण्य होता है। इसप्रकार अवच्छेदकत्व में संयोगापेक्षता का खंडन हो जाने से अवयवातिरिक्तावयवी पक्ष का यह कथन कि-'अवयवी में अवच्छेद भेद से रक्तत्व-अरक्तत्व मानने में कोई विरोध नहीं है'-निरस्त हो जाता है। दूसरी बात यह है कि "घटः वामे रक्तः न दक्षिणे=घट वामभाग में रक्त है दक्षिणभाग में नहीं" इस प्रतीति में घट में दक्षिणभागावच्छेदेन रक्तभेद का भान होता है-जो असङ्गत है। क्योंकि ऐसा मानने पर अव्याप्यवृत्तिभेद के अभ्युपगम की आपत्ति होती है। इसके प्रतिकार में यह नहीं कहा जा सकता कि-'उक्त प्रतीति में घट में रक्तभेद का भान न होकर रक्तत्व के अत्यन्ताभाव का भान होता है'-क्योंकि उक्तप्रतीति 'घटः वामे रक्तो न दक्षिणे' इस वाक्य से होती है और इसवाक्य में अनुयोगी-वाचक घट पद के उत्तर सप्तमी विभक्ति नहीं है। और नञ् पद से अत्यन्ताभाव का बोध अनुयोगीवाचकपद के उत्तर सप्तमी विभक्ति होने पर ही होता है, प्रथमा होने पर भेद का ही बोध होता है।

न च रक्तत्वं पटे रक्तद्रव्यनिष्ठमेव परम्परासंबन्धेन प्रतीयते, अरक्तत्वं च समवायेन रक्तभेद एवेत्यपि युक्तम्, परम्परासंबन्धाऽप्रतीतेः, 'इह रक्तम्' 'नेह रक्तम्' इति विभागाऽसङ्गात्, अरक्तावयवेऽपि परम्परासंबन्धेन रक्तत्वधीप्रसङ्गाच्च। अपि च, प्रतिनियतानावृतावयवोपलम्भे घटस्याऽपृथु-पृथु-पृथुतर-पृथुतमत्वाद्युपलम्भोऽवयव्यभेदं विना दुर्घटः, अंशेष्वेव तद्वैचित्र्यसंभवात्। परिणामभेदेऽध्यक्षस्य भ्रान्तत्वे स्थूलाकारेऽपि भ्रान्तत्वमेव, इति 'स्वलक्षण एवाध्यक्षमभ्रान्तम्, अवयवी तु सांवृत एव' इति वदन् सौगत एव विजयेत।

एतेन 'उपलभ्यमानोऽवयव्यवयवानुगत एव, तद्गतपरिमाणग्रहोऽपीष्ट एव, तद्गतद्रव्यत्वादि-जातिग्रहे तु यावदवयवावच्छेदेन संनिकर्षोऽपि हेतुः' इति लीलावतीकारप्रभृतीनामभिप्रायो निरस्तः, यावदवयवावच्छेदेन संनिकर्षस्याऽसंभवात्। परभागाद्यवयवावच्छेदेन तदनुपपत्तेः, प्रतिनियतावयवावच्छेदेन संनिकर्षाद् द्रव्यत्वादिग्रहे च प्रतिनियतावयवावभासे परिमाण-भेदावभासोऽपि किं नाभ्युपेयते? चित्रप्रतिभासान्वितस्यैव वस्तुनो युक्तत्वात्, अधिकावयवापगमे तावत एव तस्य दर्शनात्। 'तदान्यदेव स्वल्पपरिमाणं द्रव्यमि'ति चेत्? आद्यमपि तावदन्यदेव। 'नानात्वे एकत्वानुपपत्तिरि'ति चेत्? तवैवायं दोषः। कथं चैवं प्रासादादावेकत्वप्रत्ययः?। न हि प्रासादादिकमेकद्रव्यं भवद्भिरभ्युपगम्यते, विजातीयानां द्रव्याऽनारम्भकत्वात्। 'समूहकृतं तत्रैकत्वमि'ति चेत्? घटादावपि किं न तथा?। न हि घटादौ प्रासादादौ च

विलक्षणमेकत्वमनुभूयते । 'न स्यादेवं धान्यराशावप्येकत्वं पटादेकत्वाद् विलक्षणमि'ति चेत् ? न स्यादेव, निश्चयतः सर्वस्यैव परमाणुसमूहकृतत्वात् । 'द्रव्यपरिणामकृतत्वात्तु व्यवहारतः स्यात्' चेत् ? व्यावहारिकमेकत्वमतिरिच्यताम्, का नाम हानिरनेकान्तवादिनामियता ?

[रक्तारक्तत्व की अन्यथा उपपत्ति दोषग्रस्त]

यदि यह कहा जाय कि-"पट में जो रक्तत्व प्रतीत होता है वह रक्तावयव का संयोगरूप न होकर रक्तावयवगत रक्तरूपात्मक होता है और उसकी प्रतीति पट में स्वाश्रयसंयोगरूप परम्परा-सम्बन्ध से होती है । तथा उसी पट में जो अरक्तत्व भी प्रतीत होता है वह समवायसम्बन्ध से रक्तरूपवद् प्रतियोगिकभेदरूप होता है । अतः परम्परासम्बन्ध से रक्तत्व और समवायसम्बन्ध से रक्तरूपवद्भेद इन दोनों में विरोध न होने से पट के निरंश एक अवयवी द्रव्यस्वरूप होने पर भी उसमें रक्तत्व और अरक्तत्व दोनों का समावेश हो सकता है ।"–तो यह ठीक नहीं है क्योंकि 'इह भागे पटो रक्तः' इस प्रतीति में परम्परासम्बन्ध का भान प्रामाणिक नहीं है । दूसरी बात यह है कि यदि पट में उक्तरीति से रक्तत्व और अरक्तत्व की उपपत्ति की जायगी तो 'वस्त्रं इह रक्तं नेह रक्तम्'='वस्त्र अमुक भाग में रक्त है-अमुकभाग में नहीं है'-इस प्रकार का विभाग नहीं हो सकेगा, क्योंकि जब पट में रक्त रूप नहीं माना जायगा तो समवायसम्बन्ध से रक्तरूपवद्भेद समूचे पट में रहेगा, एवं रक्तावयवनिष्ठ रक्त रूप का परम्परासम्बन्ध भी समूचे पट में रहेगा । अतः पट के अरक्तावयवों में भी परम्परासम्बन्ध से रक्तत्व की प्रतीति की आपत्ति होगी ।

[घट में अपृथुत्व, पृथुत्वादि की प्रतीति भेद पक्ष में दुर्घट]

इसके अतिरिक्त यह भी ज्ञातव्य है कि घट के, क्रम से अनावृत होने वाले प्रतिनियत अवयवों का उपलम्भ होने पर जो घट में अपृथुत्व-पृथुत्व-पृथुतरत्व और पृथुतमत्वादि का उपलम्भ होता है वह घट को अवयवों से अभिन्न माने बिना उपपन्न नहीं हो सकता क्यों कि घट में प्रतीत होने वाला उक्त वैविध्य घट के अवयव द्वारा ही सम्भव हो सकता है । आशय यह है कि घट यदि अपने अवयवों से सर्वथा अतिरिक्त होगा तो उस का कोई एकजातीय ही परिमाण हो सकता है अतः उस में परिमाणभेद का भान उपपन्न नहीं हो सकेगा । जब वह अवयवों से अभिन्न होगा तो किसी एक अवयवमात्र की अनावरण दशा में उसमें अपृथुत्व का और अवयवद्वय का अनावरण होने पर पृथुत्व का और किसी प्रकार अधिक अवयवों का अनावरण होने पर पृथुतरत्वादि का उपलम्भ हो सकता है । अतः अवयवी को अवयवों से अत्यन्त भिन्न न मान कर कथञ्चिद् भिन्नाभिन्न मानना ही उचित है ।

यदि ऐसा न मान कर यह कहा जाय कि-'घट में जो परिमाणभेद का प्रत्यक्ष होता है वह परिमाणभेदांश में भ्रमात्मक है' तो यह ठीक नहीं है । क्योंकि ऐसा मानने पर घटप्रत्यक्ष को स्थूलाकार में भी भ्रमात्मक कहा जा सकेगा और उस स्थिति में 'प्रत्यक्ष स्वलक्षणवस्तु में ही अभ्रान्त होता है-अवयवी आविद्यक ही होता है' इस सिद्धान्त की घोषणा करने वाले बौद्ध की ही विजय होगी ।

[परिमाणग्रह के संबंध में लीलावतीकार के अभिप्राय का निरसन]

इस प्रसङ्ग में *लीलावतीकार आदि विद्वानों का यह अभिप्राय है कि–उपलभ्यमान अवयवी किसी भाग में आवृत और किसी भाग में अनावृत न होकर सर्वथा ही अनावृत होता है और जिस दशा में भी अवयवी का उपलम्भ होता है उस दशा में उसके परिमाण का भी उपलम्भ होता है। केवल इसके परिमाण की ह्रस्वत्वादिजाति का उपलम्भ नहीं होता, क्योंकि परिमाणगत जाति के प्रत्यक्ष में समस्त अवयवों से अवच्छिन्न अवयवी में चक्षुसंनिकर्ष कारण होता है। अतः अवयवी को अवयवों से अत्यन्त भिन्न मानने पर कोई दोष नहीं है।...

किन्तु विचार करने पर यह अभिप्राय भी निरस्त हो जाता है। क्योंकि घट में जो परिमाण वैविध्य की प्रतीति होती है उसकी उपपत्ति अवयवी को अवयवों से भिन्नाभिन्न मानने पर ही हो सकती है। लीलावतीकार के कथन का यह अंश भी ठीक नहीं है कि–'परिमाणगतजाति की उपलब्धि में समस्तावयवों से अवच्छिन्न अवयवी में चक्षुसंनिकर्ष कारण होता है'-क्योंकि पृष्ठस्थ और मध्यवर्ती अवयवों में चक्षुःसंनिकर्ष शक्य न होने से अवयवी में समस्तावयव-अवच्छेदेन चक्षुःसंनिकर्ष का सम्भव ही नहीं है। यदि समस्त अवयवों से नहीं किन्तु प्रतिनियत अवयवों से अवच्छिन्न अर्थात् संमुखवर्त्ती यावद्अवयवावच्छिन्नावयवी में चक्षुःसंनिकर्ष से परिमाणगत ह्रस्वत्वादि जाति का प्रत्यक्ष माना जायगा तो अवयवी में प्रतिनियतसंमुखवर्त्ती तत्तदवयवों के सम्बन्ध के अवभास के साथ अवयवी में एकावयव-द्व्यवयवादि रूप में परिमाणभेद का भी अवभास क्यों न माना जाय ! ! ! क्योंकि भिन्नप्रतिभास से युक्त अर्थात् परिमाणभेद के साथ उपलभ्यमान वस्तु ही युक्तिसङ्गत है। क्योंकि दृश्यमान अवयव से अतिरिक्त अवयव का उस अवयवी में से विभाग हो जाने पर भी उसी परिमाण से युक्त ही घटादि अवयवी का दर्शन होता है जो परिमाण दृश्यमान अवयव में अदृश्य अवयव का संयोग रहने के समय दीखता था। स्पष्ट है कि यह बात तभी सम्भव हो सकती है जब अवयवी अवयवों से आत्यन्तिक भेद न माना जाय। क्योंकि यदि अवयवी अवयवों से अत्यन्त भिन्न होगा तो अदृश्यमान अवयव का दृश्यमान अवयव से विभाग हो जाने पर अवयवी का नाश हो जाने से पूर्व परिमाण नहीं रह जायगा। अतः उस समय पूर्व परिमाण से विशिष्ट अवयवी का दर्शन नहीं हो सकता।

[अन्य द्रव्य के दर्शन से भेद की सिद्धि दूर है]

यदि यह कहा जाय कि–'अदृश्यमान अवयव का विभाग हो जाने पर पूर्व परिमाण तथा तद्युक्तपूर्वद्रव्य का दर्शन नहीं होता किन्तु पूर्वपरिमाणापेक्षया अल्पपरिमाणशाली अन्य द्रव्य का ही दर्शन होता है'–तो इससे अवयवी और अवयव के परस्पर आत्यन्तिकभेद की सिद्धि नहीं हो सकती, क्योंकि अदृश्यमान अवयव के विभाग के पूर्व भी जो अवयवी दिखता है वह दृश्यमान और अदृश्यमान अवयवसमूहात्मक घटादि अवयवों से अन्य ही होता है। क्योंकि अनेकात्मक एकवस्तु का ही अस्तित्व प्रामाणिक है। यदि यह कहा जाय कि-'घटादि अवयवी को अवयवभेद से अनेक माना जायगा तो इसमें एकत्व की अनुपपत्ति होगी'-तो यह नहीं कहा जा सकता, क्योंकि यह दोष अनेकत्व और एकत्व में विरोध माननेवाले अतिरिक्त अवयवीवादी को ही हो सकता है।

* वल्लभाचार्यकृत वैशेषिकशास्त्रीयग्रन्थ का नाम न्यायलीलावती है।

[प्रासाद आदि में एकत्व प्रतीति की अनुपपत्ति]

इस संदर्भ में यह बात भी ध्यान देने योग्य है कि यदि अनेक में एकत्व का अभ्युपगम न किया जायगा तो प्रासाद=महागृह आदि में भी एकत्व की प्रतीति कैसे हो सकेगी ? क्योंकि अतिरिक्त अवयवीवादी भी प्रासादादि को एक द्रव्य नहीं मानते क्योंकि प्रासाद तो लोहा-लकड़ी ईंटा आदि विजातीय द्रव्यों से निर्मित होता है और विजातीय द्रव्य किसी अतिरिक्त द्रव्य के आरम्भक नहीं होते । यदि यह कहा जाय कि-"प्रासाद तो लोह-लकड़ी-ईंटा आदि विभिन्न द्रव्यों का समूह रूप है अत एव उसमें समूहकृत एकत्व होता है"- तो ठीक नहीं है, क्योंकि प्रासादादि में ऐसा मानने पर घटादि में भी समूहकृत एकत्व को क्यों नहीं माना जा सकेगा ? क्योंकि घट और प्रासादादि में विलक्षण एकत्व का अनुभव नहीं होता । यदि यह कहा जाय कि-'ऐसा मानने पर धान्यराशि आदि में प्रतीत होनेवाला एकत्व घट आदि के एकत्व से विलक्षण न हो सकेगा'-तो यह भी ठीक नहीं है क्योंकि निश्चयनय से सभी एकत्व परमाणुसमूहकृत ही होता है, अतः धान्यराशिगत एकत्व और घटादिगत एकत्व में कुछ वैलक्षण्य नहीं है । यदि यह कहा जाय-'घटादि तो एक द्रव्य का परिणामरूप है और धान्यराशि किसी द्रव्य का परिणामरूप नहीं है, अतः घटादि गत एकत्व द्रव्यपरिणामकृत होने से, व्यवहारनय की अपेक्षा, धान्यराशिगत समूहकृत एकत्व से विलक्षण है'- तो यह कहना कुछ ठीक हो सकता है और इससे समूहकृत एकत्व से अतिरिक्त व्यवहारकृत एकत्व की सिद्धि हो सकती है किन्तु उससे अनेकान्तवादी को कोई हानि नहीं हो सकती क्योंकि अनेकान्तवाद में अपेक्षाभेद से गुण में भिन्नता स्वीकार्य है इसलिए समूहकृत एकत्व से व्यावहारिक एकत्व विलक्षण हो यह उसे मान्य है ।

अपि च, अवयवेष्ववयवी एकदेशेन समवेयात्, कार्त्स्न्येन वा ? । आद्ये, तद्देशस्यापि देशादिकल्पनायामनवस्था । द्वितीये च प्रत्यवयवसमवेतावयविबहुत्वप्रसक्तिः । न च देश-कार्त्स्न्यातिरेकेणान्या वृत्तिरस्तीति विवेचितं प्राक् । द्वित्वस्य द्वयोः पर्याप्तत्ववद् यावदवयवेष्ववयविनः पर्याप्तत्वे यावदवयवाऽग्रहे तद्ग्रहो न स्यात्, प्रत्येकं पर्याप्तत्वे च प्रत्येकं पर्याप्तत्वव्यवहारः स्यादिति निष्कर्षः । किञ्च एकस्य निरंशस्यावयविनः पृथुतरदेशावस्थानमयुक्तं स्यात्, न चेदेवम्, एकत्वाऽविशेषाद् दुर्घटः स्यात् सर्वत्र स्थूल-सूक्ष्मादिभेदः । अल्प-बह्ववयवारम्भादिकृतोऽसौ विशेष इति चेत् ? तर्हि तद्विशेषविशिष्टा अवयवा एवावयविव्यपदेशं भजन्ताम्, किमवयविपृथग्भावकल्पनाकष्टेन ? । 'अवयवादपृथग्भवन्नवयवी परमाणुसाद्भेदमश्नुवन्नध्यक्षो न स्यादि'ति चेत् ? न, न ह्यवयविनोऽपि सर्वेऽध्यक्षा एव, वायु-पिशाचादावनेकान्तात्, किन्तु केचिदेव, तथा च परिणामविशेषनियता योग्यता परमाणुसाद्भेदेऽपि नासंभविनी । न च तत्र महत्त्वाद्यवगमोऽप्यनुपपन्नः, परमाणुसमूहेऽपि विशिष्टे महत्त्वपरिमाणाऽबाधात् । अत एव धान्यराशौ महत्त्वविशेषाध्यवसायः सूपपदः ।

[अवयवी का आंशिक वर्तन अनुपपन्न]

अवयवी को अवयव से भिन्न मानने में अवयवों में उस के वर्तन की अनुपपत्ति भी बाधक है ।

जैसे देखिये—अवयवी को अवयव से अतिरिक्त मानने पर यह विकल्प उपस्थित होता है कि अपने अवयवों में अवयवी एकदेश से रहता है अथवा कार्त्स्न्य यानी समस्त रूप से रहता है। इन में प्रथम पक्ष मान्य नहीं हो सकता क्योंकि अवयव में अवयवी एकदेश से रहने का तात्पर्य यह है कि अवयवी का एक देश रहता है। अब यहाँ प्रश्न होगा की अवयवों में जो यह अवयवी एकदेश रहता है, वह क्या एकदेशेन = एकदेश से रहता है ? अथवा कार्त्स्न्येन = सामस्त्य से रहता है ? इसमें प्रथम पक्ष में यही प्रश्न होगा कि अवयवी-एकदेश का एकदेश भी क्या एकदेश से रहेगा ? या समस्तरूप से रहेगा ? इस प्रकार एकदेश वर्तन में अनवस्था चलेगी। अथवा 'एकदेशेन समवेयात् ?' इस विकल्प को इस प्रकार लगाया जाए-अवयवी का तत्तदवयवों में तत्तदवयवात्मक एकदेश से वृत्ति माना जायगा तो आत्माश्रय होगा और यदि तत्तदवयवों से भिन्न किसी अक्लृप्त अवयव से तत्तदवयवों में अवयवी का वर्तन माना जायगा तो उस अक्लृप्त अवयवों में भी अवयवी का वर्तन मानना होगा, क्योंकि उस अक्लृप्त अवयव में रहे बिना उस अवयव से क्लृप्त अवयवों में अवयवी का वर्तन नहीं हो सकता। उन अक्लृप्त अवयवों में जो अवयवी का वर्तन उन्हीं अवयवों से मानने में आत्माश्रय एवं अन्य क्लृप्त अवयवों का अक्लृप्त उन अवयवों के साथ सम्बन्ध न होने से उन अवयवों के द्वारा अवयवी का वर्तन मानना सम्भव न होने से उस अक्लृप्त अवयवों में अवयवी के रहने के लिए अवयवान्तर की कल्पना करनी होगी। इसप्रकार अवयवों में एकदेश से अवयवी के वर्तन का पक्ष अनवस्था दोषग्रस्त है।

[अवयवी का पूर्णतया अवयवों में वर्तन अनुपपन्न]

इसीप्रकार द्वितीयपक्ष भी मान्य नहीं हो सकता क्योंकि उस पक्ष में प्रत्येक अवयव में अवयवी पूर्णरूप से समवेत होने से अवयवबहुत्व से अवयवी में बहुत्व की प्रसक्ति होगी। इसप्रकार एकदेश और कार्त्स्न्य, किसी भी रूप से अवयवों में अवयवी का वर्तन सम्भव नहीं है। और वर्तन का उक्त दोनों प्रकार से अतिरिक्त कोई तीसरा प्रकार होता नहीं यह पहले बताया जा चुका है। फलतः अवयवों में समवेत अवयवों से भिन्न अतिरिक्त अवयवी की सिद्धि नहीं हो सकती। इसके अतिरिक्त दूसरे पक्ष में यह भी दोष है कि जैसे दो द्रव्य में द्वित्व की पर्याप्ति होने से दोनों द्रव्यों का ग्रहण न होने पर केवल एक द्रव्य के ग्रहण से द्वित्व का ग्रहण नहीं होता उसीप्रकार यावदवयवों में एक अवयवी की पर्याप्ति मानने पर यावत् अवयवों की अग्रह दशा में अवयवी का ग्रहण न हो सकेगा। यदि प्रत्येक में अवयवी की पर्याप्ति मानी जायगी तो 'पट एक एक तन्तु में पर्याप्त है' इस प्रकार के व्यवहार की आपत्ति होगी। इसके अतिरिक्त एक दोष यह भी है कि जब अवयवी अवयवों से अतिरिक्त एक निरंश द्रव्य होगा तो उसकी अपेक्षा पृथुतरदेश में उसका अवस्थान युक्तिसङ्गत न होगा। क्योंकि जो पदार्थ निरंश और वृत्तिमान् होता है वह अपने आश्रय में व्याप्त होकर रहता है जैसे घटत्व पटत्वादि जाति और रूपस्पर्शादि गुण, किन्तु घटादि अवयवी द्रव्य अपने आश्रय भूतलादि में व्याप्त हो कर नहीं रहता, अतः उसे निरंश एक द्रव्य नहीं माना जा सकता। यदि घटादि को अवयवसमूहरूप माने तो उक्त दोष नहीं हो सकता क्योंकि सांश वस्तु में अपने आश्रय में व्याप्त हो कर अवस्थित होने का नियम नहीं है।

[संयुक्त अवयवसमूह ही अवयवी है]

यह भी ज्ञातव्य है कि यदि अवयवी को अवयवसमूह रूप न मान कर अवयवों से सर्वथा भिन्न एक द्रव्यरूप माना जायगा, तो बहुतर अवयव और अल्पतर अवयवों से आरब्ध होनेवाले अवयवी के

एकत्व में कुछ विशेष न होने के कारण उनमें स्थूलसूक्ष्मादि का भेद न हो सकेगा। यदि यह कहा जाय कि–"अवयवातिरिक्तावयवी में जो सूक्ष्म–स्थूल का भेद होता है वह अल्प अवयवों और अधिक अवयवों से आरब्धता प्रयुक्त होता है।"–तो यह ठीक नहीं है क्योंकि अल्पावयवारब्धता और अधिक अवयवारब्धता अल्पावयवसंयोगजन्यत्व और अधिकावयवसंयोगजन्यत्वरूप है। अतः उक्तसंयोगों से अन्य किसी अवयवी का अभ्युपगम न कर उक्तसंयोग से विशिष्ट अवयवों का ही अवयवी शब्द से व्यवहार करना उचित है। अतः अवयवों के उक्तसंयोग से भिन्नावयवी की कल्पना का कष्ट सहन करना अनुचित है।

[अवयव भिन्न अवयवी में परोक्षता की आपत्ति निराकरण]

यदि यह कहा जाय–'अवयवी यदि अवयवों से भिन्न न होगा तो अवयवी अपने मूल अवयव परमाणु से अभिन्न होगा। अतः परमाणु के समान अवयवी भी अप्रत्यक्ष हो जायगा'–तो यह ठीक नहीं है क्योंकि अवयवभेद पक्ष में भी सभी अवयवी, वायु पिशाचादि में व्यभिचार होने से, नियमतः प्रत्यक्ष नहीं होते किन्तु कुछ ही अवयवी प्रत्यक्ष होते हैं। अतः उनकी प्रत्यक्षता का प्रयोजक अवयव-भिन्नता नहीं होती किन्तु प्रत्यक्षयोग्यता होती है। यह योग्यता परिणामविशेषनियत होती है। अतः घटपटादि अवयवी अपने मूल अवयव परमाणु से अभिन्न होने पर भी उन में परिणामविशेषनियत-प्रत्यक्ष-योग्यता होने से उन का प्रत्यक्ष हो सकता है। आशय यह है कि जो परिणाम प्रत्यक्षयोग्य परिणामविशेष को प्राप्त होते हैं वे महत्त्व और स्थूलत्वरूप में प्रत्यक्ष के विषय होते हैं और जो उक्त परिणाम को नहीं प्राप्त होते वे प्रत्यक्षयोग्य नहीं होते। जैसे वायु पिशाचादि के घटक परिणाम। अवयवी को परमाणुसमूहरूप मानने पर उसमें महत्त्व का प्रत्यक्ष भी अनुपपन्न नहीं हो सकता क्योंकि विलक्षणसंयोगविशिष्टपरमाणुसमूह में महत्त्वपरिणाम की उत्पत्ति में कोई बाधा नहीं है। जब संयोगविशेष से परमाणु समूह में भी महत्त्वपरिणाम का उदय होकर महत्त्व का प्रत्यक्ष हो सकता है तो धान्यराशि का उदय और उसके प्रत्यक्ष का उपपादन अनायास किया जा सकता है।

किञ्च, अवयविनोऽवयवाभेदेऽनभ्युपगम्यमाने 'मृदेवेयं घटतया परिणता' 'तन्तव एवैते पटतया परिणताः' इत्यादयो व्यवहाराः, विभक्तेषु तन्तुषु 'त एवैते तन्तवः' इत्यादिप्रत्यभिज्ञा, अवयवगुरुत्वादेरवयविगुरुत्वाद्यविशेषादिकं च न घटेत। अवयवरूपादिसन्दोहेनैवैकावयवरूपा-द्युपपत्तिमुपेक्ष्य पृथगवयव्यनुरोधेन रूपादौ रूपादेर्नानाकार्यकारणभावादिकल्पने गौरवं चानिवा-रितप्रसरं स्यादिति। एतेन 'वस्तुगत्या विलक्षणसंस्थानावच्छेदेन संनिकर्षाद् यद्द्रव्यगतघटत्वा-दिग्रहस्तद्व्यक्तेरुत्पादविनाशभेदादिप्रत्ययान्यथानुपपत्त्याऽवयवी पृथगेवेति सिद्धम्' इत्यपि **निरस्तम्**, 'पृथगेव' इत्यसिद्धेः, उत्पाद-विनाशभेदादेर्भिन्नाऽभेदादिसंवलितत्वसंभवात्, तथा-प्रतीतिप्रामाण्यात्।

एवं च 'पृथिव्यादयश्चत्वारः परमाणुरूपा नित्या एव, कार्यरूपास्त्वनित्याः' इति तेषां प्रक्रियापि निरस्ता, परमाणूनामपि कार्याभिन्नतयाऽर्थान्तरभावगमनरूपस्य नाशस्य, विभाग-जातस्य चोत्पादस्य समर्थनात्। यथा हि बहूनामेकशब्दव्यपदेशनिदानं समुदयजनित उत्पादः,

तथैकस्य बहुशब्दव्यपदेशनिदानं विभागजातोऽपि स किं नाभ्युपेयः ? । व्यवहरन्ति हि भग्ने घटे 'बहूनि कपालान्युत्पन्नानि' इति । एवं परमाणूनामप्येकनाशे युक्तो बहुत्वेनोत्पादः । तदाहुः-

'बहुआण एगसद्दे जइ संजोगा हि होइ उप्पाओ ।
णणु एगविभागम्मि वि जुज्जइ बहुआण उप्पाओ ॥ [सम्मति–१३७] ॥ इति ।

[अवयव-अवयवी भेद पक्ष में दूषणमाला]

उपर्युक्त से अतिरिक्त यह भी ज्ञातव्य है कि–अवयवी को अवयवों से अभिन्न न मानने पर कई दोष उपस्थित होते हैं जैसे–"मृदेवेयं घटतया परिणता=यह मृत्तिका ही घटस्वरूप में परिणत हो गई",–'तन्तव एव एते पटतया परिणताः'=ये तन्तु ही पटस्वरूप में परिणत हो गये"–ये व्यवहार अवयव से अवयवी को भिन्न मानने पर नहीं उपपन्न हो सकते । इसी प्रकार पटरूप में प्रतीत होनेवाले तन्तुओं के परस्पर विभक्त हो जाने पर, "ये तन्तु वही हैं जो पटात्मना परिणत दीख रहे थे"–इस प्रकार की जो पटात्मना परिणत तथा विभक्त तन्तुओं में अभेद की प्रत्यभिज्ञा होती है वह भी अवयव-अवयवी के भेद पक्ष में नहीं उपपन्न हो सकती । इसी प्रकार अवयव-अवयवीभेद पक्ष में अवयव-गुरुत्व में अवयवीगुरुत्व के अविशेष यानी साम्य की उपपत्ति भी नहीं हो सकती । । क्योंकि-अवयवी में अवयवों का भी संनिधान रहने से अवयव और अवयवी का मिलितगुरुत्व केवल अवयव के गुरुत्व से अधिक हो सकता है । उसी प्रकार अवयव-अवयवी अभेद पक्ष में अवयव के रूपादिगुणों के समुदाय से ही एक अवयवी में रूपादि की जो उत्पत्ति होती है उसकी अपेक्षा करके अवयवों से अतिरिक्त अवयवी के अनुरोध से अवयवीगत रूपादि के प्रति अवयवगत रूपादि को कारण मानने पर अनेक कार्यकारणभाव की कल्पना के गौरव आपत्ति का भी परिहार नहीं हो सकता ।

[पृथक् उत्पाद–विनाश प्रतीति से भेद शंका का निवारण]

कुछ लोगों का यह कहना है कि–"अवयवों के विलक्षणसंस्थान से उत्पन्न विशिष्ट अवयवी में चक्षुसंनिकर्ष से जिस द्रव्य में घटत्वादि का प्रत्यक्ष होता है उस व्यक्ति के उत्पाद-विनाश की प्रतीति होती है और उसके उत्पाद-विनाश के साथ उत्पाद-विनाश से मुक्त रहनेवाले उसके अवयवों से उसमें भेद की भी प्रतीति होती है । यह प्रतीति घटत्वादिरूप से प्रत्यक्ष होनेवाले द्रव्य को उसके अवयव से पृथक् न मानने पर नहीं हो सकती । अतः अवयवी अवयवों से भिन्न ही होता है यह बात सिद्ध होती है ।" किन्तु यह कथन भी इसलिये निरस्त हो जाता है कि 'अवयवी अवयवों से सर्वथा भिन्न ही होता है' यह बात असिद्ध है क्योंकि उत्पाद और विनाश ध्रौव्य से संवलित तथा भेदादि अभेदादि से संवलित होता है, क्योंकि ध्रौव्य से संवलित उत्पादविनाश की प्रतीति तथा अभेद से संवलित भेदादि की प्रतीति ही प्रमाण होती है । इस प्रकार वस्तु कथञ्चिद् नित्यानित्य उभयात्मक होने से–'परमाणुस्वरूप पृथ्वी आदि चार द्रव्य नित्य ही होते हैं और कार्यस्वरूप पृथ्वी आदि अनित्य ही होते हैं ।'–यह अतिरिक्त अवयवीवादियों की प्रक्रिया भी निरस्त हो जाती है । क्योंकि कार्य से अभिन्न होने के नाते परमाणुओं के भी अर्थान्तरस्वरूप में गमनरूप नाश और विभागजन्य उत्पाद का समर्थन किया जा चुका है ।

१ बहुकानामेकशब्दे यदि संयोगाद् हि भवत्युत्पादः । नन्वेकविभागेऽपि युज्यते बहुकानामुत्पादः ॥१॥

आशय यह है कि–जैसे अनेक अवयवों के समुदाय से अर्थात् उन अनेक अवयवों के परस्पर संयोग से उनका ऐसा उत्पाद होता है जो उन्हें अनेक होने पर भी एक शब्द से व्यपदेशयोग्य बना देता है। उसी प्रकार अनेक अवयवों के विभाग से भी ऐसा उत्पाद क्यों न माना जाय जो एक को 'बहु' शब्द से व्यवहार होने योग्य बना देता है क्योंकि घट का भङ्ग होने पर 'बहूनि कपालानि उत्पन्नानि'—'एक घट अनेककपाल बन गया' ऐसा व्यवहार लोकसिद्ध है। सो जिस प्रकार एक घट का नाश होने पर अनेक कपाल का बहुत्वेन उत्पाद होता है वैसे ही अनेक परमाणुओं का भी बहुत्वेन उत्पाद युक्तिसिद्ध है। जैसा कि सम्मति सूत्र-१३७ में कहा गया है–

यदि अनेकव्यक्तिओं के संयोग से ऐसा उत्पाद होता है जो अनेक में एक शब्द के व्यवहार का निमित्त होता है, तो निश्चय ही एक के विभाग से अनेक व्यक्तियों का ऐसा उत्पाद भी मानना युक्तिसङ्गत है जो एक में बहुशब्द के व्यवहार का निमित्त हो सके।"

योऽप्याह–'कार्यकारणातिरिक्तं ध्रुवमद्वैतमात्रं तत्त्वम्' इति तन्मतमपि मिथ्या, कार्यकारणोभयशून्यस्याऽद्वैतस्य व्योमोत्पलतुल्यत्वात्। किञ्च, 'अद्वैतम्' इति प्रसज्यप्रतिषेधः, पर्युदासो वा ? । प्रसज्यपक्षे प्रतिषेधमात्रपर्यवसानाद् नाद्वैतसिद्धिः, प्रधानोपसर्जनभावेनाङ्गाङ्गिभावकल्पनायां द्वैतप्रसक्तेः। पर्युदासपक्षेऽपि द्वैतप्रसक्तिरेव, प्रमाणप्रतिपन्ने द्वैते तत्प्रतिषेधेनाऽद्वैतसिद्धेः। द्वैतादद्वैतस्य व्यतिरेके पररूपव्यावृत्त-स्वरूपाऽव्यावृत्तात्मकत्वेन द्विरूपत्वात्, अव्यतिरेके च सुतरामिति।

किञ्च, प्रमाणादिसद्भावे न द्वैतवादाद् मुक्तिः, तदभावे च शून्यतापातादिति। अपि च, द्रव्याद्वैते रूपादिभेदाभावप्रसङ्गः। न च चक्षुरादिसंबन्धात् तदेव द्रव्यं रूपादिप्रतिपत्तिजनकमिति वाच्यम्, सर्वात्मना तत्संबन्धे सर्वदा तथैव प्रतीतिप्रसक्तेः, रूपान्तरस्य तद्व्यतिरिक्तस्याऽभ्युपगमे चाऽद्वैतव्याघातात्। प्रधानाद्वैतमपि महदादिविकाराभ्युपगमे न युक्तम्, विकारस्य विकारिणोऽत्यन्तमभेदे 'विकारी' इति व्यपदेशाऽयोगात्, भेदाभेदाऽनेकान्तसिद्धेः, व्यतिरेके च द्वैतापत्तेः। निरस्तश्च प्रधानाद्वैतवादः सांख्याचार्याणाम्। ब्रह्माद्वैतवादोऽप्यनन्तरमेव निषेत्स्यते वेदान्तिवादीनाम्।

[अद्वैत तत्त्व पारमार्थिक होने का मत मिथ्या]

जिस विद्वान ने यह कहा है कि "तत्त्व कार्य कारण से अतिरिक्त नितान्त नित्य और सर्वविधभेदरहित अद्वयमात्रस्वरूप है।"–उसका यह मत भी मिथ्या है, क्योंकि कार्यकारण दोनों से शून्य अद्वैत-आकाशकमल के समान है। अर्थात् ऐसी वस्तु जिसका न कोई कार्य हो और न कोई कारण हो तो वह आकाशपुष्प के समान है। दूसरी बात यह है कि तत्त्व को अद्वय-अद्वैत या अद्वितीय कहना युक्तिसङ्गत भी नहीं हो सकता क्योंकि अद्वैतशब्दघटक नञ् को प्रसज्यप्रतिषेध अथवा पर्युदास प्रतिषेध, दोनों में एक भी प्रतिषेध का बोधक नहीं माना जा सकता, क्योंकि प्रथमपक्ष का द्वैत के प्रतिषेध में ही पर्यवसान होता है अतः उस पक्ष में किसी भावात्मक अद्वैत तत्त्व की सिद्धि नहीं हो सकती।

यदि "द्वैताभाव को उपसर्जन और उसके आश्रय को प्रधान मानकर दोनों में अङ्गाङ्गी भाव की कल्पना की जाय"-तो यह भी ठीक नहीं है क्योंकि उस कल्पना में भी द्वैत की प्रसक्ति अनिवार्य है। क्योंकि अङ्गाङ्गीभाव द्वैत के बिना सम्भव नहीं हो सकता। पर्युदास पक्ष में भी द्वैत की प्रसक्ति अपरिहार्य है क्योंकि इस पक्ष में अद्वैत शब्द का "द्वैतभिन्न द्वैतसदृश कोई वस्तु' ऐसा अर्थ होगा। और यह द्वैत को प्रामाणिक मानने पर ही सम्भव है।

[अद्वैत द्वैत से भिन्न होगा या अभिन्न ?]

इसके अतिरिक्त यह भी ज्ञातव्य है कि अद्वैत यदि द्वैत से भिन्न होगा तो वह पररूपव्यावृत्त और स्वरूपाऽव्यावृत्त होने से द्विरूप होगा। इस प्रकार द्वैत-प्रसक्ति अनिवार्य है। यदि अद्वैत द्वैत से अभिन्न होगा तो द्वैत की सत्ता अवश्य प्रसक्त होगी। दूसरी बात यह भी ध्यान देने योग्य है कि यदि अद्वैत में प्रमाण आदि का सद्भाव होगा तो प्रमाण आदि एवं द्वैत का अभ्युपगम आवश्यक होने से द्वैतवाद से मुक्ति नहीं मिल सकती। यदि प्रमाणादि का अभाव होगा तो द्वैत के समान अद्वैत की भी सिद्धि न हो सकने से सर्वशून्यता की आपत्ति होगी। इसीप्रकार यदि अद्वैत तत्त्व को द्रव्यात्मक माना जायगा तो उसमें रूपादि सभी पदार्थों के अपने आश्रय द्रव्य से अभिन्न होने के कारण उनमें परस्पर-भेद के अभाव की प्रसक्ति होगी।

यदि यह कहा जाय कि-'एक ही द्रव्य चक्षु त्वक् आदि इन्द्रियों के सम्बन्ध से रूप-स्पर्शादि विलक्षण प्रतीति का जनक होता है'-तो यह ठीक नहीं है क्योंकि चक्षु आदि का द्रव्यात्मक अद्वैत के साथ सर्वात्मना सम्बन्ध मानने पर सर्वथा समान ही प्रतीति की प्रसक्ति होगी। यदि रूपादि को उस से अतिरिक्त मानकर चक्षु आदि के सर्वात्मना सम्बन्ध का अभाव बताकर उक्त आपत्ति का परिहार किया जायगा तो अद्वैत का व्याघात होगा।

[सांख्य का प्रधानाद्वैतवाद असंगत]

सांख्यों ने प्रधानाद्वैत सिद्धान्त का स्वीकार किया है किन्तु महत्तत्त्व-अहंकारादि विकारों को स्वीकार करने पर यह अद्वैत भी युक्तिसङ्गत नहीं हो पाता क्योंकि विकार और विकारी में अत्यन्त-भेद मानने पर 'विकारी प्रधान की अद्वैत सत्ता है' यह व्यवहार नहीं हो सकता। क्योंकि विकारी शब्द में 'इन्' प्रत्यय ऐसे सम्बन्ध का सूचक है जो भेदनियत होता है।

यदि विकार में विकारी का भेदाभेद माना जायगा, तो अनेकान्तवाद की प्रसक्ति होगी। यदि भेद माना जायगा, तो द्वैत की आपत्ति होगी। इस प्रधानअद्वैतवाद को सांख्यमत की चर्चा में निरस्त किया जा चुका है। अतः इस प्रसङ्ग में इसके बारे में कुछ अधिक कहना अनावश्यक है।

ब्रह्माद्वैतवाद का भी निरास शीघ्र ही वेदान्तमत की चर्चा के प्रसङ्ग में किया जायगा अतः यहाँ उस विषय में पृथक् कहने की आवश्यकता नहीं है।

शब्दाद्वैतमतमपि न युक्तम्, एवं हि तद्-अनादिनिधनं शब्दब्रह्मैव जगतस्तत्त्वम्, तत्प्रकृतित्वात्, घटशरावादीनामिव मृत्। तदुक्तं भर्तृहरिणा– [वाक्यपदीप–   ]

"अनादि-निधनं ब्रह्म शब्दतत्त्वं यदक्षरम्।
विवर्ततेऽर्थभावेन प्रक्रिया जगतो यतः ॥ १ ॥" इति।

अनादिः=उत्पादः निधनं=विनाशः, तदभावात् 'अनादिनिधनम्' प्रकृतेरविकृतैकरूपत्वात् । 'अक्षरमि'त्यकाराद्यक्षरस्य निमित्तत्वात्, अनेनाभिधानरूपो विवर्त्त उक्तः, 'अर्थभावेन' इत्यनेन स्वाभिधेयरूपः । प्रक्रियेति भेदानामेव संकीर्तनम् । 'ब्रह्म' इति विशुद्धस्वनामकीर्तनम् । शब्दब्रह्मैव खल्वेकमनवच्छिन्नम्, तथावच्छिन्नेषु स्वविकारेष्वनुस्यूतमवभासते, सर्वस्यैव प्रत्ययस्य शब्दानुविद्धत्वात्, तदनुवेधपरित्यागे च प्रकाशरूपताया एवाऽभावप्रसङ्गात् । तदुक्तम्—

"न सोऽस्ति प्रत्ययो लोके यः शब्दानुगमादृते । अनुविद्धमिव ज्ञानं सर्वं शब्देन भासते ॥

वाग्रूपता चेदुत्क्रामेदवबोधस्य शाश्वती । न प्रकाशः प्रकाशेत सा हि प्रत्यवमर्शिनी ॥"

[वाक्य० १२४।१२५]

[शब्दाद्वैतवादी भर्तृहरि का मत निरूपण]

व्याकरणशास्त्र में शब्दाद्वैत मत की स्थापना की गई है। किन्तु वह भी युक्तिसङ्गत नहीं है। जैसे देखिये, शब्दशास्त्र का मन्तव्य यह है कि अनादि-निधन=उत्पत्तिविनाशरहित शब्दब्रह्म ही जगत् का पारमार्थिकस्वरूप है। क्योंकि वह जगत् की प्रकृति यानी उपादान कारण है। जो जिसका उपादान कारण होता है वही उसका पारमार्थिक स्वरूप होता है, जैसे घट-शरावादि का उपादान कारण मृत्तिका ही उनका पारमार्थिकस्वरूप है। जैसा कि वाक्यपदीय में भर्तृहरि की अनादिनिधन, कारिका में कहा गया है—कारिका का अर्थ: अनादि निधन शब्द में 'आदि' शब्द का अर्थ है उत्पत्ति और निधनशब्द का अर्थ है विनाश और नञ् पद का अर्थ है उनका अभाव। इस प्रकार अनादि निधनशब्द का अर्थ है—उत्पत्ति-विनाशरहित। इस विशेषण से जगत् के प्रकृतिभूत ब्रह्म के सम्बन्ध में यह सूचना दी गई है कि वह एकमात्र अविकृत स्वरूप है। अर्थात् वह किसी अन्य का विकार—कार्य नहीं है। 'अक्षर' शब्द से यह कहा गया है कि वह अकारादि वर्णों का निमित्त है। अकारादि वर्णों को 'अक्षर=विच्युत न होनेवाला' कहकर उनमें शब्दब्रह्मरूप अक्षरप्रकृति का अभेद सूचित किया गया है। इस शब्द से यह बताया गया है कि शब्दब्रह्म का 'अभिधान'=वर्णात्मक विवर्त्त होता है। 'अर्थभाव' शब्द से यह बताया गया है कि शब्दब्रह्म का अभिधेयात्मक=अर्थात्मक विवर्त्त होता है। 'प्रक्रिया' शब्द से शब्द ब्रह्म से प्रादुर्भूत होनेवाले भेदों-विशेषों की सूचना दी गई है। 'ब्रह्म' शब्द से उसके विशुद्धनाम का निर्देश किया गया है। इस प्रकार कारिका का यह अर्थ फलित होता है कि शब्द ही पारमार्थिक पदार्थ है जो स्वयं उत्पत्तिविनाशरहित है और 'ब्रह्म' इस नाम से व्यवहृत होता है, तथा शब्द और अर्थरूप में उसी का विवर्त्तन परिणमन होता है। उसी से वैचित्र्यपूर्ण जगत् की रचना होती है। इस कारिका से यह स्पष्ट विदित होता है कि शब्दब्रह्म ही एक अनवच्छिन्न यानी अपरिमित तत्त्व है। वही अपने अवच्छिन्न=परिमित-विकारों में अनुस्यूत होकर अवभासित होता है। सभी ज्ञान शब्द से अनुविद्ध होता है। ज्ञान में शब्द के अनुवेध का निषेध कर देने पर ज्ञान की प्रकाशरूपता ही अनुपपन्न हो जाती है जैसा कि भर्तृहरि की 'न सोऽस्ति, वाग्रूपता चेद्० ....' इन दो कारिकाओं में स्पष्ट कहा गया है।

पहली कारिका का अर्थ यह है-लोक में ऐसा कोई ज्ञान नहीं होता जिसमें शब्द का अनुगम न हो, अर्थात् जिसमें शब्द का भान न हो। सभी ज्ञान शब्द से अनुविद्ध ही प्रतीत होता है।

दूसरी कारिका का अर्थ यह है कि ज्ञान की वाग्रूपता शाश्वत है। यदि उसे अस्वीकार कर दिया जायगा तो प्रकाश=ज्ञान की प्रकाशरूपता ही न होगी, क्योंकि ज्ञान की वाग्रूपता ही उसे प्रत्यवमर्शात्मक अर्थात् विषयग्राहक बनाती है।

सा चेयं वाक् त्रिविधा-वैखरी, मध्यमा, पश्यन्ती च। तत्र येयं स्थान-करण-प्रयत्नक्रमव्यज्यमानाऽकारादिवर्णसमुदायात्मिका वाक् सा 'वैखरी' इत्युच्यते। तदुक्तम्-[वाक्य०]

"स्थानेषु विधृते वायौ कृतवर्णपरिग्रहा। वैखरी वाक् प्रयोक्तॄणां प्राणवृत्तिनिबन्धना ॥१॥"

अस्यार्थः-स्थानेषु=ताल्वादिस्थानेषु, वायौ=प्राणसंज्ञे विधृते=अभिघातार्थं निरुद्धे सति, 'कृतवर्णपरिग्रहे'ति हेतुगर्भं विशेषणम्, ततः ककारादिवर्णपरिणामाद् 'वैखरी'=विशिष्टायां खरावस्थायां स्पष्टरूपायां भवा वैखरीति निरुक्तेः, वाक्, प्रयोक्तॄणां संबन्धिनी तेषां स्थानेषु वा, तस्याश्च प्राणवृत्तिरेव निबन्धनम्, तत्रैव निबद्धा सा तन्मयत्वादिति।

[त्रिविध वाणी में वैखरी वाणी का स्वरूप]

प्रत्येक ज्ञान में अनुविद्ध होनेवाली वाक् तीन प्रकार की होती है। वैखरी, मध्यमा और पश्यन्ती। जो वाक् स्थान-करण और प्रयत्न द्वारा अकारादि वर्णों के समुदायरूप में अभिव्यक्त होती है-उसे 'वैखरी' वाक् कहा जाता है। इस प्रकार अर्थबोधक वाक्यों का निर्वाहक श्रोत्रग्राह्य अकारादिवर्णसमुदाय ही वैखरी वाक् है। जैसा कि भर्तृहरि की 'स्थानेषु विधृते०' इस कारिका में कहा गया है। कारिका का अर्थः-तालु आदि स्थानों में प्राणात्मक वायु का विधारण यानी अभिघात के लिये निरोध करने पर वाक् ककारादि वर्णों के स्वरूप का परिग्रह करती है। इसीलिये उसे वैखरी कहा जाता है। क्योंकि वैखरी शब्द का निर्वचन है 'विखरे भवा वैखरी' जिसका अर्थ है-विखर में=विशिष्ट खरावस्था में अर्थात् स्पष्ट अवस्था में होनेवाली (वाणी) शब्दप्रयोक्ता पुरुषों की यह वाक् अथवा प्रयोक्ता पुरुषों के ताल्वादिस्थानों से सम्बन्द्ध वाक् का मूल प्राणात्मक वायु की प्रवृत्ति ही होती है। अर्थात् वाक् का आविर्भाव प्राणवायु पर निर्भर होता है। क्योंकि वाक् प्राणमय होती है।

या पुनरन्तः संकल्प्यमाना क्रमवती श्रोत्रग्राह्यवर्णरूपाऽभिव्यक्तिरहिता वाक् सा मध्यमेत्युच्यते। तदुक्तम्- [वाक्य०]

"केवलं बुद्ध्युपादाना क्रमरूपानुपातिनी। प्राणवृत्तिमतिक्रम्य मध्यमा वाक् प्रवर्तते ॥"

अस्यार्थः-स्थूलां प्राणवृत्तिमतिक्रम्य=हेतुत्वेन वैखरीवदनपेक्ष्य, क्रमरूपमनुपततीत्येवंशीला, केवलं बुद्धिरेवोपादानं हेतुर्यस्याः सा, प्रवर्तते=संकल्पविकल्पादिधारानुबन्धिनी भवति मध्यमा वाक्। वैखरी-पश्यन्त्योर्मध्ये भावाद् मध्यमेति संज्ञा। मनोभूमावस्थानमस्याः।

[मध्यमा वाणी का स्वरूप]

जो वाक् मन के भीतर संकल्प्यमान होती है, एवं क्रमिक होती है एवं श्रोत्र से ग्राह्य अर्थात् ग्रहणयोग्य वर्ण रूप होती है किन्तु अनभिव्यक्त रहती है उसे मध्यमा वाक् कहा जाता है। जैसा कि-भर्तृहरि ने 'केवलं बद्ध्युपादाना०' कारिका में कहा है- जिस वाक् का केवल बुद्धि ही उपादान है

और जो वैखरी के समान प्राण की स्थूलवृत्ति को कारणरूप से अपेक्षा न कर क्रमिकरूप को ग्रहण करती हुई प्रवृत्त होती है अर्थात् संकल्पविकल्प की धारारूप में चलती है वह मध्यमा वाक् कही जाती है। वैखरी और पश्यन्ती के मध्य में होने से 'मध्यमा' संज्ञा की गई है। इस की अवस्थिति शरीर के बहिर्देश में न होकर मनोभूमि में ही होती है।

या तु ग्राह्याऽभेद-क्रमादिरहिता स्वप्रकाशा संविद्रूपा वाक् सा पश्यन्तीत्युच्यते। तदुक्तम्– [वाक्य पदीय०]

"अविभागा तु पश्यन्ती सर्वतः संहृतक्रमा। स्वरूपज्योतिरेवान्तः सूक्ष्मा वागनपायिनी ॥१॥"

'पश्यन्ती'-प्रत्यक्षस्वरूपा वागियम् यस्यां वाच्य-वाचकयोर्विभागेनावभासो नास्ति, सर्वतश्च सजातीयविजातीयापेक्षया 'संहृतो' वाच्यानां वाचकानां च क्रमो देश-कालकृतो यत्र, क्रमविवर्तशक्तिस्तु विद्यते। 'स्वरूपज्योतिः'=स्वप्रकाशा वेद्यते, वेदकभेदातिक्रमात्। 'सूक्ष्मा'= दुर्लक्ष्या 'अनपायिनी' कालभेदाऽस्पर्शादिति।

अत एव शब्दार्थयोः संबन्धस्तादात्म्यमेव। न हि 'अयं घटः' इतीदमर्थे तटस्थघटपद-स्योपरागोऽस्ति, किन्तु घटपदाभेद एव भासते, इति व्यवहारोऽपि सकलः शब्दानुविद्ध एव दृश्यते। न हि 'भोक्ष्ये-दास्यामि' इत्याद्यनुल्लिखितशब्दः कश्चिदपि स्वयं भोजनदानाद्यर्थं प्रय-तते, परं वा 'भुङ्क्ष्व-देहि' इत्यादिशब्दं विना प्रवर्तयति। जीवित-मरणस्वरूपाविर्भावोऽपि शब्दाधीन एव, सुषुप्तदशायामनुल्लिखितशब्दस्य मृताऽविशेषात्। तदुत्तरसमये च कुतश्चित् शब्दात् प्रबुद्धस्यान्तर्जल्पात्मना शब्देनैव जीवितानुसंधानात्। न चाऽद्वयरूपे तत्त्वे कथमाविर्भाव-तिरो-भावादिरूपप्रपञ्चभेदप्रतिभासः ? इति वाच्यम्; तिमिरतिरस्कृतलोचनस्य विशुद्धेऽप्याकाशे विचित्ररेखाभेदप्रतिभासवदनाद्यविद्योपप्लुतचित्तस्य प्रपञ्चभेदप्रतिभासात्। यथा च तिमिरविलये विशुद्धाकाशदर्शनं तथा निखिलाऽविद्याविलये शुद्धशब्दब्रह्मदर्शनम्। तच्चाभ्युदयनिःश्रेयसफल-धर्मानुगृहीतान्तःकरणैः प्रणवस्वरूपमवाप्यत इति।

[पश्यन्ती वाणी का स्वरूप]

जिस वाक् में ग्राह्यार्थ का अभेद तथा क्रमादि नहीं होता एवं जो स्वप्रकाशसंविद् रूप होती है उसे 'पश्यन्ती' वाक् कहा जाता है। इस का स्वरूप भर्तृहरि की 'अविभागा तु पश्यन्ती०' इस कारिका में स्पष्ट किया गया है—

यह 'पश्यन्ती' वाक् प्रत्यक्षबोधस्वरूप है। इस में वाच्य और वाचक का भिन्नरूप में अवभास नहीं होता। इस में सजातीयविजातीय किसी की भी अपेक्षा तथा वाच्य और वाचक में देशकाल-कृत क्रम नहीं होता किन्तु इस में क्रमिक विवर्तों को उत्पन्न करने की केवल शक्ति ही होती है। यह स्वरूपज्योतिः अर्थात् स्वप्रकाश होती है। क्योंकि यह स्वभिन्न ग्राहक की अपेक्षा नहीं करती एवं दुर्लक्ष होती है और कालविशेष के सम्बन्ध से शून्य होने के कारण विनाशरहित होती है।

[शब्द और अर्थ में तादात्म्यसंबंध का समर्थन]

इस वाक् के इस स्वभाव के कारण ही शब्द और अर्थ में तादात्म्य सम्बन्ध होता है, अन्य कोई सम्बन्ध नहीं होता । 'अयं घटः' इस प्रतीति में इदमर्थ में उस से भिन्न घटपद का सम्बन्ध प्रतीत नहीं होता किन्तु घटपद के अभेद का ही भान होता है । इसप्रकार ज्ञान के समान समस्तव्यवहार भी शब्दानुविद्ध ही देखा जाता है, क्योंकि 'भोक्ष्ये'=भोजन करूंगा, 'दास्यामि=दान दूंगा' इसप्रकार के शब्द का उल्लेख किये बिना कोई भी मनुष्य स्वयं भोजन या दानादि में प्रवृत्त नहीं होता । एवं 'भुङ्क्ष्व=भोजन कर' 'देहि=दे' इत्यादि शब्दों के उल्लेख किये बिना कोई भी मनुष्य किसी अन्य मनुष्य को भी भोजन और दान में प्रवृत्त नहीं करता । जीवन और मरण का स्वरूप-भान भी शब्दाधीन ही होता है । मनुष्य सुषुप्तदशा में शब्द का उल्लेख नहीं करता अतः उस समय वह मृततुल्य होता है । सुप्तावस्था में भी मनुष्य जीवित रहता है इस बात का ज्ञान सुषुप्ति के बाद उस समय होता है जब वह शब्द द्वारा जगाये जाने पर अन्तर्जल्पात्मक शब्द का प्रयोग करते हुये निद्रात्याग करता है । इसप्रकार उस के जीवन का ज्ञान भी शब्द से ही होता है ।

[शब्दमात्र से प्रपंचभेद की उपपत्ति]

शब्दतत्त्व को अद्वय मानने पर यह शंका हो सकती है -"यदि एकमात्र शब्द ही तात्त्विक पदार्थ है उस से भिन्न कुछ नहीं है तो फिर अकेले उससे आविर्भाव-तिरोभावादि प्रपञ्चभेद की उपपत्ति नहीं हो सकती है ।"-किन्तु यह शंका ठीक नहीं है क्योंकि जिस मनुष्य का नेत्र तिमिर रोग से ग्रस्त रहता है उसे जैसे विशुद्ध आकाश में भी विभिन्नप्रकार की रेखाओं का अवभास होता है, उसीप्रकार अनादि अविद्या से ग्रस्त चित्तवाले मनुष्य को प्रपञ्चभेद का प्रतिभास हो सकता है । * जैसे तिमिररोग का विलय होने पर रेखादि का दर्शन न होकर विशुद्ध आकाश का ही दर्शन होता है उसीप्रकार समस्त अविद्या का विलय हो जाने पर शुद्ध शब्दब्रह्म का दर्शन हो सकता है । किन्तु यह दर्शन अभ्युदय और निःश्रेयस फल को देनेवाले धर्म के अनुष्ठान से जिस का अन्तःकरण निर्मल हो जाता है उन्हीं को प्रणव यानी ओंकार के रूप में प्राप्त होता है ।

[शब्दाद्वैतवादनिराकरणम्]

अत्र च शब्दप्रत्ययवादौ को नाम शब्दानुवेधः परस्याभिमतः ? न नाम संयोगः समवायो वा, द्रव्ययोरेव संयोगात्, गुणादीनामेव च समवायात् ।-'घटो नीलानुविद्धः' इत्यत्रेव तादात्म्येऽनुवेधपदप्रयोग' इति चेत् ? न, एकान्ताऽभेदे तदनुपपत्तेः । न हि 'घटो घटानुविद्धः' इति प्रयुञ्जते प्रामाणिकाः । "विवक्षाऽनियताभ्यां तथाप्रयोगाऽप्रयोगोपपत्तिः, यथा 'कुण्डे कुण्डस्वरूपम्' इति प्रयोगः, न तु 'कुण्डे कुण्डम्' इति" इति चेत् ? न, तथापि शब्दबोधयोरेकान्ततादात्म्ये शब्दस्य जडत्वाद् बोधस्यापि जडतापत्तेः, शब्दस्य बोधरूपत्वेन(त्वे वा) बोधमात्रवादापत्तेः । तथा चान्यस्याऽन्यबोधाऽबोद्धृत्ववदन्यशब्दश्रोतृत्वं न भवेत् । भावे वा सकलप्रमातृबोधाभिन्नशब्दग्राहित्वाद् निरुपायं सर्वस्य सर्वचित्तवित्त्वं स्यात् । तथाच समन्तभद्रः—

* द्रष्टव्य स्तबक ८ की कारिका २-३, पृ० ६१ ६४ ।

"बोधात्मता चेच्छब्दस्य न स्यादन्यत्र तच्छ्रुतिः ।
यद् बोद्धारं परित्यज्य न बोधोऽन्यत्र गच्छति ॥ १ ॥
न च स्यात्प्रत्ययो लोके यः श्रोत्रा न प्रतीयते ।
शब्दाऽभेदेन सत्येवं सर्वः स्यात्परचित्तवित् ॥२॥" इति ।

अतः शब्दानुविद्धः प्रत्ययो न जगतः शब्दमयत्वे साक्षी ।

[शब्दाद्वैतवाद का विस्तार से निराकरण]

अब शब्दशास्त्री भर्तृहरि के इस मत की यहाँ समीक्षा की जाती है– शब्दात्मक व्यवहार और प्रत्ययादि में जो शब्दानुवेध शाब्दिकों को अभिमत है वह विचार करने पर उपपन्न नहीं होता। जैसे- शब्दानुवेध का अर्थ शब्दसंयोग अथवा शब्दसमवाय नहीं किया जा सकता। क्योंकि संयोग नियमतः द्रव्य में ही होता है। एवं समवाय भी द्रव्य-गुणादि का ही होता है।

यदि यह कहा जाय कि—'नील घट में 'घटो नीलानुविद्धः' ऐसा व्यवहार होता है इस व्यवहार में अनुवेधपद का प्रयोग तादात्म्य में होता है। अतः शब्द और प्रत्ययादि में जो शब्दानुवेध बताया गया है उसे शब्द-तादात्म्यरूप माना जा सकता है—'तो यह ठीक नहीं, क्योंकि प्रत्यय और शब्द में अत्यन्ताऽभेद मानने पर प्रत्यय में शब्दतादात्म्यरूप शब्दानुवेध नहीं हो सकता क्योंकि अत्यन्ताऽभिन्न में तादात्म्य नहीं होता, इसीलिये प्रामाणिक विद्वान् 'घटः घटानुविद्धः' ऐसा प्रयोग नहीं करते।

[विवक्षा के अभाव से तथा प्रयोगाभाव की आशंका का निवारण]

यदि यह कहा जाय कि "अत्यन्त अभिन्न में भी तादात्म्य होता है-फिर भी जो 'घटो नीलानुविद्धः' यह प्रयोग होता है किन्तु 'घटो घटानुविद्धः' यह प्रयोग नहीं होता है उस का क्रम से कारण है (१) घट में नीलस्वरूप से नील के तादात्म्य की विवक्षा और (२) घटस्वरूप से घटतादात्म्य की अविवक्षा। यह उसीप्रकार सम्भव है जैसे कुण्ड में कुण्डस्वरूप का तथा कुण्ड का अत्यन्ताभेद होने पर भी कुण्डस्वरूप में कुण्डवृत्तित्व की विवक्षा होने से 'कुण्डे कुण्डस्वरूपम्' यह प्रयोग होता है, किन्तु कुण्ड में कुण्डवृत्तित्व की विवक्षा न होने से 'कुण्डे कुण्डम्' यह प्रयोग नहीं होता" — सो यह कथन भी ठीक नहीं है। क्योंकि उक्त रीति से बोध में शब्दतादात्म्यरूप शब्दानुवेध की उपपत्ति सम्भव होने पर भी शब्द और बोध में अत्यन्ततादात्म्य मानने पर शब्द जड होने से बोध में भी जडत्व की आपत्ति होगी। अथवा शब्द में बोधरूपता होने से शब्दाद्वैतवाद की हानि होकर ज्ञानाद्वैतवाद की आपत्ति होगी।

[श्रवणाभाव अथवा सर्वचित्तज्ञता की आपत्ति]

दूसरी बात यह है कि शब्द और बोध के ऐक्यपक्ष में जैसे एक व्यक्ति को अन्यव्यक्ति के बोध का ज्ञान नहीं होता उसीप्रकार अन्य व्यक्ति के शब्द का श्रवण भी नहीं होगा। यदि होगा तो समस्त प्रमाता के बोध से अभिन्न शब्द का ग्रहण होने से बिना किसी विशेष उपाय के ही सब मनुष्यों में सर्वचित्त के ज्ञान की आपत्ति होगी। जैसा कि समन्तभद्र ने कहा है– "शब्द यदि बोधात्मक होगा तो एक पुरुष के शब्द का अन्यपुरुष को श्रवण न हो सकेगा, क्योंकि शब्द बोधात्मक है और बोध बोद्धा=ज्ञाता पुरुष को छोडकर अन्यत्र कहीं नहीं जाता। यदि प्रत्ययमात्र शब्दरूप ही है तो

इस मत में संसार का ऐसा कोई प्रत्यय नहीं हो सकता, जो श्रोता से गृहीत न हो, अतः शब्द और बोध के अभेद पक्ष में सभी मनुष्य में सर्वज्ञता की आपत्ति होगी। अतः जगत् के शब्दमयत्व में शब्दानुविद्ध प्रत्यय साक्षी नहीं हो सकता, क्योंकि उक्त रीति से प्रत्यय की शब्दानुविद्धता असिद्ध है।

किंच, शब्दमयत्वं जगतः शब्दपरिणामरूपत्वम्, नीलादिपरिणामश्च शब्दस्य स्वाभाविकशब्दस्वरूपपरित्यागे, तदपरित्यागे वा ?। आद्ये, अनादिनिधनत्वविरोधः। द्वितीये नीलादिसंवेदनकाले बधिरस्यापि शब्दसंवेदनापत्तिः। 'स्थूलशब्दपरिणामपरित्यागेऽपि सूक्ष्मशब्दरूपाऽपरित्यागात् प्रथमविकल्पे न दोष' इति चेत् ? न, सूक्ष्मस्य सतस्तादृशदलोपचयाभावे तादृशस्थूलरूपाऽसंभवात्, सूक्ष्मस्य शब्दस्य तादृशार्थपरिणामः, सूक्ष्मस्याऽर्थस्य वा तादृशशब्दपरिणाम इति विनिगन्तुमशक्यत्वाच्च। 'घटादिरर्थो घटादिशब्दोपरागेणानुभूयत इत्यर्थ एव शब्दपरिणाम' इति चेत् ? न, 'अयं घटः' इत्यत्र हि 'अयं घटपदवाच्यः' इत्येवानुभवः, न तु 'अयं घटपदात्मा' इति।

[शब्द के नीलादि परिणाम के ऊपर विकल्पद्वय]

दूसरी बात यह है कि जगत् की शब्दमयता शब्दपरिणामरूपता के अधीन है अतः नीलाद्यात्मक परिणाम के सम्बन्ध में यह प्रश्न होता है कि (१) शब्द का नीलादिस्वरूपपरिणाम शब्द के स्वाभाविकरूप का परित्याग होने पर होता है अथवा (२) परित्याग के अभाव में होता है ? प्रथम पक्ष में शब्द के अनादिनिधनत्व की अनुपपत्ति होगी और दूसरे पक्ष में नीलादि के संवेदन काल में बधिर को भी शब्दसंवेदन की आपत्ति होगी क्योंकि इस पक्ष में नीलादि यह शब्दादिरूप होता है। यदि यह कहा जाय कि– "शब्द का नीलादि परिणाम शब्द के स्थूलपरिणाम का परित्याग होने पर होता है किन्तु शब्द का सूक्ष्मरूप बना रहता है, अतः प्रथम विकल्प में अनादिनिधनत्व की अनुपपत्तिरूप दोष नहीं हो सकता, क्योंकि स्थूलरूप में शब्द की निवृत्ति होने पर भी सूक्ष्मरूप में शब्द का अस्तित्व बना रहता है"–तो यह भी ठीक नहीं है क्योंकि सूक्ष्मशब्द में सूक्ष्मशब्दान्तररूप अवयवों का संयोग हुये बिना शब्द का कोई स्थूलरूप नहीं हो सकता। सूक्ष्म में सूक्ष्मशब्दान्तर का संयोग सजातीय-विजातीय स्वगतभेदशून्य शब्दब्रह्मवाद में सम्भव नहीं है। दूसरी बात यह है कि सूक्ष्मशब्द का नीलादिरूप अर्थ में परिणाम होता है, अथवा सूक्ष्मअर्थ का नीलाद्यात्मक स्थूलशब्द में परिणाम होता है,– इस में कोई विनिगमना नहीं है। अत एव जगत् का तत्त्व सूक्ष्मशब्द है अथवा सूक्ष्म अर्थ है यह निर्णय दुर्घट होने से शब्दमात्र को जगत् का तत्त्व घोषित करना शाब्दिकों के लिये युक्तिसङ्गत नहीं है।

यदि यह कहा जाय कि– 'घटादि अर्थ घटादिशब्दों से सम्बद्धरूप में अर्थात् घटादिशब्दवाच्यवाचकभावरूप में अनुभूत होता है इसलिये अर्थ शब्द का परिणाम है।'–तो यह ठीक नहीं है क्योंकि, 'अयं घटः' इस शब्द में 'अयं घटपदवाच्यः' यही अनुभव होता है। न कि 'अयं घटपदात्मा' यह अनुभव।

किञ्च, शब्दाऽर्थयोरेकान्ताभेदे खड्गादिशब्दोच्चारणे वदनविदारणमपि वैयाकरणस्य प्रसज्येत । 'यत्नेन मुखे निवेश्यमानस्य खड्गभागस्येव खड्गशब्दस्यावस्थाविशेषान्न वदनविदारकत्वमि'ति चेत् ? न, अद्वैतेऽवस्थाभेदस्यैवाऽसिद्धेः । 'स्वयमेव विचित्रस्वभावं शब्दब्रह्मेति अवस्थया भेदोपपत्तिः, स्वातिरिक्तभेदकाभावाच्च नाद्वैतव्याघात' इति चेत् ? हन्त ! तर्हि जगद्वैचित्र्यस्यैव 'शब्दब्रह्म' इति नामान्तरकीर्तनमायुष्मतः ।

[खड्गादिशब्द से मुखछेदनापत्ति]

पूर्वोक्त के अतिरिक्त, शब्दार्थ के ऐकान्तिक अभेद पक्ष में यह दोष है कि शब्द और अर्थ में एकान्त अभेद मानने पर खड्गादिशब्द का उच्चारण करने पर वैयाकरण मत में मुखविदारण की आपत्ति होगी। यदि यह कहा जाय कि–'सावधानी से मुख में खड्ग का संनिवेश करने पर जैसे खड्ग की उस अवस्था से वदन का विदारण नहीं होता उसीप्रकार खड्गशब्द के अवस्थाविशेष से भी मुखविदारण की आपत्ति नहीं हो सकती ।''-तो यह भी ठीक नहीं है क्योंकि शब्दाद्वयपक्ष में अवस्थाभेद ही असिद्ध है । यदि यह कहा जाय कि शब्द-"ब्रह्म स्वयं ही विचित्रस्वभाव है अतः अवस्थाभेद से उसमें भेद की उपपत्ति हो सकती है किन्तु यह भेद स्व से अतिरिक्त भेदक से न होकर स्वयंकृत होता है अतः उससे अद्वैत का व्याघात नहीं होता ।"-तो यह भी ठीक नहीं, क्योंकि इस कथन से यह पर्यवसित होता है कि जगत् का वैचित्र्य कर्तृनिरपेक्ष है और चिरंजीवी वैयाकरण ने उसी को 'शब्द ब्रह्म' यह नामान्तर प्रदान किया है ।

'आविद्यकः सकलो भेदानुपाती प्रपञ्चः, इति तत्त्वतोऽभिन्नमेव शब्दब्रह्मे'ति चेत् ? एवं तर्हि द्विचन्द्रादिवदसन् प्रपञ्च इति तत्प्रकृतित्वं शब्दब्रह्मणो न स्यात् । न हि सतोऽसत्प्रकृतित्वं नाम ।

एवं च-"अनुविद्धैकरूपत्वाद् वीचीबुद्बुदफेनवत् ।
वाचः सारमपेक्षन्ते शब्दब्रह्मोदकाऽद्वयम् ॥" [ ]

-इत्यभिधानमयुक्तं स्यात्, सारजलस्य स्वावस्थाविशेषबुद्बुदादितिरोभावक्षमत्वेऽपि शब्दब्रह्मणः स्वावस्थानाक्रान्तप्रपञ्चतिरोभावाऽक्षमत्वात् । 'अविद्यादशायां शब्दब्रह्मणस्तत्त्वाऽन्यत्वाभ्यामनुपाख्यः प्रपञ्चो भासते, तद्विलये तु न, इत्यद्वितीयशब्दब्रह्माध्यवसाय' इति चेद् ? कस्यायमीदृगध्यवसायः ? । 'योगिन' इति चेत् ? स एव तर्हि संशयापन्नं पृच्छ्यताम्-किमसौ शब्दाऽद्वयमात्रं जगत् पश्यति, विचित्ररूपं वेति ।

[प्रपञ्च की अविद्यामूलकता का खण्डन]

यदि यह कहा जाय कि–'भिन्नरूप से अवभासमान सम्पूर्ण प्रपञ्च आविद्यक=अविद्यामूलक है अतः शब्दब्रह्म तात्त्विकदृष्टि से अभिन्न ही है'–तो यह ठीक नहीं है, क्योंकि ऐसा मानने पर जैसे द्विचन्द्र आविद्यक होने से असत् होता है उसीप्रकार आविद्यक प्रपञ्च भी असत् होगा और उस स्थिति में शब्दब्रह्म उसकी प्रकृति यानी उपादान न हो सकेगा क्योंकि सद्वस्तु असत् की प्रकृति नहीं बन सकता ।

[प्रपंच शब्दब्रह्म की अवस्था विशेषरूप नहीं है]

इसप्रकार वैयाकरणों का यह कथन कि-"जैसे बीची-बुदबुदे और फेन जल से अनुविद्ध होता है, अत एव जल ही उसका सार तात्त्विकरूप होता है उसीप्रकार स्थूलशब्द और अर्थ उभयात्मक जगत् शब्दब्रह्म से अनुविद्ध है अत एव शब्दब्रह्म ही उसका सार तात्त्विकरूप है।"-यह असंगत है, क्योंकि बीची बुदबुदे और फेन सारभूत जल की सत् अवस्थाविशेष होते हैं। अतः सारभूत जल अपने में उन्हें तिरोहित कर सकता है किन्तु असत् माना हुआ प्रपञ्च सारभूत शब्दब्रह्म का अवस्थाविशेषरूप नहीं हो सकता, अतः शब्दब्रह्म उसे अपने स्वरूप में तिरोहित नहीं कर सकता। यदि यह कहा जाय कि-'प्रपञ्च शब्दब्रह्म से अभिन्न अथवा भिन्नरूप में अनिर्वाच्य है और वह अविद्यावशा से भासित होता है-किन्तु अविद्या का विलय हो जाने पर भासित नहीं होता इस रूप में अद्वितीय शब्दब्रह्म का निश्चय होता है"-तो यह कहना भी ठीक नहीं है, क्योंकि यह निश्चय किसे होता है इस प्रश्न का उत्तर यही हो सकता है कि उक्त निश्चय योगी को होता है। इस स्थिति में योगी से ही इस संदिग्ध विषय के बारे में पूछा जा सकता है कि वह जगत् को शब्दब्रह्ममात्ररूप में देखता है ? अथवा विविधरूप में देखता है ! क्योंकि इस विषय में कुछ कहने का अधिकारी वही है।

किञ्च, अविद्या ब्रह्मणो भिन्ना, अभिन्ना वा ? । भिन्ना चेत् ? वस्तुभूता अवस्तुभूता वा ? न तावदवस्तुभूता, अर्थक्रियाकारित्वात्, ब्रह्मवत्। न च नार्थक्रियाकारित्वमप्यस्याः, तिमिरवद् भ्रमजनकत्वाऽभिधानात्, अवस्तुमाहात्म्याद् वस्तुनोऽन्यथाभावेऽतिप्रसक्तेः। वस्तुभूता चेत् ? तदा ब्रह्म अविद्या चेति द्वैतमापन्नम्। अभिन्ना चेत् ? ब्रह्मवद् मिथ्यार्थनिमित्तं न स्यात्। तस्मादिदानीं शब्दब्रह्मण आत्मज्योतीरूपेणाऽप्रकाशनं नाविद्याभिभूतत्वात्, किन्तु तथाऽसत्त्वादेवेति प्रतिपत्तव्यम्। एवं चास्य वैखर्यादिनाऽभेदकल्पनमपि न युज्यते, एक-द्व्यात्मकतत्त्वानुपगमे भेदपरिगणनस्याऽशक्यत्वात्।

[प्रपंच के मूल अविद्या का ब्रह्म से भेद पक्ष में विकल्प]

इसके अतिरिक्त यह भी विचारणीय है कि यदि प्रपञ्च का भान अविद्यामूलक है तो वह अविद्या शब्दब्रह्म से भिन्न है या अभिन्न ? यदि भिन्न है तो वह वस्तुभूत है या अवस्तुभूत ? भिन्नता पक्ष के इन विकल्पों में द्वितीयविकल्प के अनुसार अवस्तुभूत अविद्या नहीं मानी जा सकती क्योंकि वह प्रपञ्च के अवभासरूप अर्थक्रिया का जनक है। अतः जैसे अधिष्ठानरूप से प्रपञ्चावभासरूप अर्थक्रिया का जनक होने से ब्रह्म अवस्तुभूत नहीं होता उसी प्रकार प्रपञ्चावभासरूप अर्थक्रिया में निमित्त होने से अविद्या भी अवस्तुभूत नहीं हो सकती। उक्त आपत्ति के भय से अविद्या में अर्थक्रियाकारित्व को ही न मानना ठीक नहीं है क्योंकि तिमिर के समान अविद्या को भ्रमजनक कहा जा चुका है। सच बात तो यह है कि अविद्या को अवस्तु मान कर उसके बल से शब्दब्रह्मरूप वस्तु का प्रपञ्चरूप में अन्यथाभाव माना भी नहीं जा सकता, क्योंकि अवस्तु से वस्तु का अन्यथाभाव मानने पर किसी व्यवस्थित रूप से ही अन्यथाभाव न होकर अन्य रूप से भी उसके अन्यथाभाव की प्रसक्ति होगी। जब कि प्रपञ्च का व्यवस्थित रूप में ही अस्तित्व स्वीकार्य है। यदि उक्त आपत्ति

के परिहारार्थ अविद्या को वस्तुभूत माना जायगा तो शब्दब्रह्म और अविद्या इन दो वस्तु का अभ्युपगम होने से द्वैत की आपत्ति होगी।

अविद्या ब्रह्म से अभिन्न है यह प्रथम पक्ष भी स्वीकार्य नहीं हो सकता। क्योंकि यदि अविद्या ब्रह्म से अभिन्न होगी तो उसी के समान वह मिथ्याज्ञान का निमित्त न हो सकेगी अतः यह मानना उचित है कि संसार दशा में शब्दब्रह्म का आत्मज्योति-स्वप्रकाशरूप में जो भान नहीं होता इसका कारण यह नहीं कि वह अविद्या से अभिभूत है अपितु इसका कारण यह कि स्वयंज्योति रूप में शब्दतत्त्व का अस्तित्व ही नहीं है।

शब्दाद्वय वाद मानने पर वाक् के वैखरी आदि भेदों की कल्पना भी युक्तिसंगत नहीं हो सकती, क्योंकि एकानेकात्मक तत्त्व न मानकर केवल एकात्मक तत्त्व मानने से भेद का उपपादन किसी प्रकार से संभव नहीं हो सकता।

तस्माद् द्रव्य-भावभेदाद् द्विविधा वाक्। तत्राद्या द्विविधा-द्रव्यात्मिका, पर्यायात्मिका च। तत्र शब्दपुद्गलरूपा द्रव्यात्मिका, श्रोत्रग्राह्यपरिणामापन्ना च सैव पर्यायात्मिका। तामन्ये 'वैखरी' इति परिभाषन्ते। द्वितीयापि द्विविधा-व्यक्तिरूपा, शक्तिरूपा च। आद्या सविकल्पिका धीरन्तर्जल्पाकारप्रतिनियतशब्दोल्लेखजननी। तामन्ये 'मध्यमा' इत्यपदिशन्ति। द्वितीया च सविकल्पबुद्ध्यावारककर्मक्षयोपशमशक्तिरूपा, तामन्ये पश्यन्तीमामनन्ति इति दिक्। तस्मादुत्पादव्ययाऽभावे ध्रौव्यस्याप्यसंभव इति युक्तमुक्तम्—'अन्यथा त्रितयाभाव' इति। तत्-तस्मात् कारणात्, एकदैकत्र किं नोत्पादादित्रयम्?। यदेव ह्युत्पन्नं तदेव कथञ्चिदुत्पद्यते, उत्पत्स्यते च। यदेव नष्टं तदेव नश्यति नङ्क्ष्यति च। यदेवावस्थितं तदेवावतिष्ठते, अवस्थास्यते चेति ॥ १३ ॥

[जैन मत में वैखरी-मध्यमा-पश्यन्ती वाक् का तात्त्विक स्वरूप]

अतः वाक् के सम्बन्ध में वस्तुस्थिति यह है कि वाक् के दो भेद हैं-द्रव्यवाक् और भाववाक्। इन में द्रव्यवाक् के दो प्रकार हैं द्रव्यात्मक वाक् और पर्यायात्मक वाक्। शब्द के रूप में परिणत होने योग्य जो भाषावर्गणा के पुद्गल हैं उन्हें द्रव्यात्मक वाक् कहा जाता है, वही वाक् जब श्रोत्रग्राह्य-परिणाम को प्राप्त होती है तब उसी को पर्यायवाक् कहा जाता है, इसी वाक् को वैयाकरणों द्वारा 'वैखरी' शब्द से परिभाषित किया गया है।

भाववाक् के भी दो भेद हैं। व्यक्ति (बुद्धि) रूप और शक्तिरूप। इन में पहली वाक् सविकल्पकबुद्धिरूप है जो अन्तर्जल्पाकार होती है तथा प्रतिनियतशब्द के उल्लेख का जनक होती है। उसे ही वैयाकरण लोग 'मध्यमा' रूप में जानते हैं। द्वितीय भाववाक् सविकल्पकबुद्धि के आवारककर्मों के क्षयोपशम से सम्प्राप्त होने वाली आत्मशक्तिरूप है जिसका वैयाकरण लोग 'पश्यन्ती' शब्द से व्यवहार करते हैं।

[उत्पादादित्रैरूप्य समर्थन का उपसंहार]

इसप्रकार उक्त रीति से उत्पाद व्ययरहित केवल ध्रुवस्वरूप शब्द की मान्यता का निराकरण हो जाने से यह सर्वथा सिद्ध है कि उत्पादव्यय के अभाव में ध्रौव्य भी सम्भव नहीं है। अतः १३ वीं

कारिका के उत्तरार्ध में यह युक्ति भी कही है कि 'उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य इन में अन्यतर के अभाव में तीनों का अभाव हो जाता है।' यतः उत्पाद व्यय ध्रौव्य में एक का अभाव होने पर तीनों का अभाव प्रसक्त होता है, अतः एक काल में एक वस्तु में उत्पादादित्रय क्यों अमान्य होगा ? कहने का आशय यह है कि वस्तु अपने पूरे काल में एक साथ ही उत्पादव्ययध्रौव्य त्रितयात्मक होती है। अर्थात् जो वस्तु अंशतः अतीतकाल में उत्पन्न हो चुकी है वही वर्तमान में किसी अंश से उत्पन्न होती है और वही किसी अंश से भविष्य में भी उत्पन्न होती रहती है। एवं जो वस्तु अतीत में किसी अंश में नष्ट हो चुकी है वही वस्तु वर्तमान में किसी अंश से नष्ट होती है और भविष्य में किसी अंश से नष्ट होती रहेगी। इसीप्रकार जो वस्तु किसी अंश में भूतकाल में अवस्थित थी वही किसी अंश से वर्तमान में अवस्थित होती है और वही किसी अंश में भविष्य में अवस्थित होती रहेगी ॥१३॥

१४ वीं कारिका में वस्तु की उत्पाद व्यय ध्रौव्यरूपता के सम्बन्ध में अब तक किये गये विचारों का उपसंहार किया गया है --

इदमेवोपसंहरन्नाह —

मूलम्—एकत्रैवैकदैवैतत्त्रितयमपि स्थितम् ।
न्याय्यं भिन्ननिमित्तत्वात्तदभेदे न युज्यते ॥ १४ ॥

एकत्रैव=अधिकृतपदार्थवस्तुनि एकदैव=विवक्षितकाले, एतत् त्रयम्=उत्पाद--व्यय-ध्रौव्यलक्षणम्, इत्थम्=उक्तरीत्या, भिन्ननिमित्तत्वात्=भिन्नापेक्षत्वात्, अभूतभवन-भूताऽभवन-तदुभयाधारस्वभावभेदादिति वा न्याय्यं=घटमानम्, तदभेदे=निमित्ताऽभेदे न युज्यते एकत्र त्रयम्, भिन्नापेक्षाणामेकापेक्षत्वाऽयोगात्, एकस्य भेदाऽयोगाद् वेति भावः ॥१४॥

[निमित्तभेद से उत्पादादित्रय का एकत्र सहावस्थान]

घटादि एकवस्तु में एककाल में उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य तीनों उक्तप्रकार के निमित्तभेद से उपपन्न होते हैं। निमित्तभेद का अर्थ है अपेक्षाभेद अथवा उक्त तीनों का क्रम से अभूतभवन-भूताऽभवन और तदुभय का आधाररूप स्वभावभेद। आशय यह है कि एक ही वस्तु एक ही काल में किसी अपेक्षा से उत्पन्न, किसी अपेक्षा से विनष्ट और किसी अपेक्षा से स्थिर होती है। अथवा एक ही वस्तु अभूतभवन स्वभाव से उत्पन्न, भूताभवन स्वभाव से नष्ट और उभयाभावस्वभाव से स्थिर होती है। निमित्तभेद के अभाव में उत्पादादित्रय का एकवस्तु में एककालिक अवस्थान अयुक्त है। क्योंकि निमित्तभेद-अपेक्षा-भेद से सम्भवित रूपों में एकापेक्षिता नहीं हो सकती। और न स्वभावभेद के बिना एक वस्तु में परस्पर विरुद्ध प्रतीत होने वाले धर्मों का एकत्र एक काल में सम्भव ही हो सकता है ॥१४॥

कुछ विद्वान् उक्त वस्तुस्थिति का अनुभव करते हुए भी उस का निषेध करते हैं -- उन का यह कार्य अज्ञानमूलक है। यह बात १५ वीं कारिका में बतादी गई है —

परे पुनरित्थमनुभवन्तोऽपि प्रतिक्षिपन्तीति तेषामज्ञानमाविष्कुर्वन्नाह—

मूलम्—दृश्यते च परैर्मोहात्तत्क्षणस्थितिधर्मिणि ।
अभावेऽन्यतमस्यापि तत्र तत्त्वं न यद्भवेत् ॥ १५ ॥

इष्यते च=अनुभूयते च, परैः=सौगतैः, मोहात्=अज्ञानात्, तत्=उत्पादादित्रयम्, क्षणस्थितिधर्मणि वस्तुन्यभ्युपगम्यमाने । कथम् ? इत्याह–अभावेऽन्यतमस्याप्युत्पादादीनां मध्ये, तत्र=वस्तुनि, तद्धर्म=क्षणस्थितिकत्वम् यद्=यस्मात् न भवेत् । तत्क्षणे भवनादुत्पन्नम्, अग्रिमक्षणेऽभवनाच्च नष्टम्, तदावस्थितेश्च ध्रुवमेव हि क्षणस्थितिस्वभावमुच्यमानं पर्यवस्येदिति, अग्रिमक्षणेऽन्यस्याऽभवने तदन्यथाभावाभावे क्षणिकत्वव्याघातादित्युपपादितपूर्व(पूर्व)म् । एवं च परैस्त्र्यात्मकं वस्त्वनुभूयमानमपि त्र्यात्मकत्वेन नाभ्युपगम्यते । तत्र च त्र्यात्मकत्वं विना स्वाभ्युपगमान्यथानुपपत्त्यैव त्र्यात्मकत्वं बलादेष्टव्यमिति भावः ॥ १५ ॥

[बौद्धमत में भी त्रैरूप्य का स्वीकार]

बौद्ध वस्तु को क्षणमात्रस्थायी मानते हैं और ऐसा मानने पर उसमें उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य तीनों अनजान में भी अभ्युपगत हो जाते हैं । क्योंकि उक्त तीनों में किसी एक का भी अभाव होने पर वस्तु में क्षणस्थायित्व की उपपत्ति नहीं हो सकती । क्योंकि जिसे क्षणमात्रस्थायिक कहा जाता है वह तत्क्षण में अस्तित्व प्राप्त करने से उत्पन्न, उत्तरक्षण में अस्तित्वहीन होने से नष्ट और तत्क्षण में अवस्थित होने से ध्रुवस्वरूप सिद्ध होता है । क्योंकि यदि वस्तु को अग्रिमक्षण में अस्तित्वहीन न माना जायगा तो उसका अन्यथाभाव=रूपान्तरगमन न होने से उसके क्षणिकत्व का व्याघात होगा । इसी प्रकार यदि तत्क्षण में वस्तु को अस्तित्व का लाभ न माना जायगा तो वह अन्यक्षण के समान उस क्षण में भी असत् होगा । एवं यदि उस क्षण में अवस्थित न होगा तो उस क्षण में अस्तित्वयुक्त न हो सकेगा, क्योंकि तत्क्षण में अस्तित्व तत्क्षण में अवस्थितत्व का व्यापक है । व्यापक का अभाव होने पर व्याप्य का अभाव भी अनिवार्य होगा । यह सब से पहले ही कहा जा चुका है । इस प्रकार बौद्ध वस्तु को उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य त्रितयरूप अनुभव करते हुये भी उसे त्रितयात्मक नहीं मानते, किन्तु जैसा ऊपर बताया गया है कि वस्तु को त्रितयात्मक माने बिना बौद्ध का 'वस्तु क्षणिक होती है' यह अपना सिद्धान्त भी नहीं उपपन्न हो सकता । तदनुसार क्षणस्थिति वस्तु को इच्छा न होते हुए भी त्रितयात्मक मानना अनिवार्य है ॥१५॥

१६ वीं कारिका में उक्त कथन के विरुद्ध बौद्ध के अभिप्राय को शंका रूप में प्रस्तुत कर उसका परिहार किया गया है–

पराभिप्रायमाशङ्क्य परिहरति—

मूलम्—भावमात्रं तदिष्टं चेदित्थं निर्विशेषणम् ।
क्षणस्थितिस्वभावं तु न ह्युत्पाद-व्ययौ विना ॥ १६ ॥

'भावमात्रं तत्=वस्तु क्षणस्थितिकमिष्टम्, न तु क्षणस्थितिकत्वमपि तत्र तदतिरिक्तमस्ती'ति चेत् ? इत्थं तद् वस्तु निर्विशेषणं जातम् । एवं च 'किंरूपं तत्' इति निश्चयोऽपि देवानांप्रियस्य । क्षणस्थितिस्वभावं तु तदुच्यमानं हि=निश्चितम्, उत्पाद-व्ययौ विना न युक्तम्, क्षणोर्ध्वमस्थित्यपेक्षयैव क्षणस्थितिस्वभावत्वव्यवस्थितेः ॥ १६ ॥

[उत्पादव्यय के बिना क्षणिकता दुर्घट]

बौद्ध के अभिप्रायानुसार–"क्षणस्थायी मानी गई वस्तु भावमात्र है। उसमें उससे अतिरिक्त क्षणस्थितिकत्वरूप कोई धर्म नहीं है।" किन्तु यह कथन युक्तिसंगत नहीं है क्योंकि वस्तु को भावमात्र=क्षणस्थितिरूप मानने पर वस्तु निर्विशेषण हो जाती है। अतः 'वस्तु का क्या स्वरूप है' यह निश्चय अब तक उसे नहीं हुआ। अतः उक्त रीति से बौद्ध के अभिप्राय का वर्णन उसके अज्ञान का सूचक है। यदि वस्तु को क्षणस्थितिमात्ररूप न कहकर क्षणस्थितिस्वभाव कहा जायेगा तो निश्चित ही यह स्वभाव उत्पाद और व्यय के बिना अनुपपन्न है क्योंकि क्षण के अनन्तर अस्थिति की अपेक्षा से ही क्षणस्थिति स्वभाव की उपपत्ति हो सकती है। आशय यह है कि वस्तु क्षणस्थितिक तभी हो सकती है जब उस क्षण में उसकी उत्पत्ति और अग्रिमक्षण में उसका व्यय हो। क्योंकि वस्तु उस क्षण के पूर्व में असत् है। अतः उस क्षण में उत्पन्न हुये बिना उस क्षण में स्थिति नहीं हो सकती और अग्रिमक्षण में उसका व्यय न मानने पर अग्रिमक्षण में भी उसकी अवस्थिति सम्भव होने से भी उसका क्षणस्थितिमात्र स्वभाव नहीं सिद्ध हो सकता ॥१६॥

१७ वीं कारिका में वचनमात्र से वस्तु के क्षणस्थितिकत्वस्वभाव का अभ्युपगम करने में दोष बताया गया है।

वाङ्मात्रेण तथाभ्युपगमे त्वाह—

मूलम्—तदित्थंभूतमेवेति द्राग्नभसो न जातुचित्।
भूत्वाऽभावश्च नाशोऽपि तद्वदेवेति न लौकिकम् ॥ १७ ॥

"तदित्थंभूतमेव=क्षणस्थितिकमेव, स्वभावात्, न त्वितराद्यपेक्षयेति भावः" इति चेत् ? जातुचित्=कदाचित्, द्राक्=शीघ्रम्, परिणामिकारणं विना, नभसः=आकाशात् उपपद्यते, प्रमाणाभावात्, नभस एव वा न व्यवतिष्ठते। भूत्वाऽभावश्च नाशोऽपि तद्वद्=भावमात्रमेव 'तदेव न भवती'ति प्रतीतेः, इति न लौकिकमेतत्, किन्तु प्रामाणिकम्। एवं च भावाऽभावरूपत्वात् वस्तुनो भिन्नकाले स्वकाले चोत्पादादित्रयात्मकत्वमेव।

[वस्तु की क्षणिकता निरपेक्ष नहीं हो सकती]

बौद्ध की ओर से यदि यह कहा जाय कि–"वस्तु स्वभाव से ही क्षणस्थितिक होती है। उसे क्षणस्थितिक होने के लिये कोई अन्य अपेक्षा नहीं होती"–तो यह ठीक नहीं है क्योंकि वस्तु शीघ्र परिणामी कारण के बिना आकाश से कभी भी उत्पन्न नहीं हो सकती क्योंकि परिणामिकारण के अभाव में वस्तु की उत्पत्ति में कोई प्रमाण नहीं है। इसी प्रकार बिना कारण आकाश से ही उसकी अवस्थिति अथवा अस्तित्व लाभ के अनन्तर अस्तित्वच्युति रूप विनाश भी बिना कारण आकाश से सम्भव नहीं हो सकता, क्योंकि वस्तु भावमात्ररूप ही नहीं है, क्योंकि "जो वस्तु तत्क्षण में भावात्मक होती है वही वस्तु अन्यक्षण में नहीं होती" ऐसी प्रतीति सर्वमान्य है। ये सब बातें अर्थात् कारण के बिना कार्य की उत्पत्ति-स्थिति और नाश का न होना केवल लोकोक्तिमात्र नहीं है अपितु प्रमाणसिद्ध है। अतः उक्त प्रकार से वस्तु के भावाभावात्मक होने से भिन्नकाल तथा स्वकाल में उसकी उत्पादादित्रितयरूपता अपरिहार्य है।

इत्थं च "ये यद्भावं प्रत्यनपेक्षास्ते तद्भावनियताः, यथाऽन्त्या कारणसामग्री स्वकार्योत्पादने, विनाशं प्रत्यनपेक्षाश्च भावा इति विनाशनियतास्ते" इति परेषामभिधानमपि न प्रकृतबाधकम्, प्रत्युतानुकूलमेव, भावस्योत्तरपरिणामं प्रत्यनपेक्षतया तद्भावनियतत्वोपपत्तेः, पूर्वक्षणस्य स्वयमेवोत्तरीभवतोऽपरापेक्षाऽभावतः क्षेपाऽयोगात्, उत्पन्नस्य चोत्पत्ति-स्थिति-विनाशेषु कारणान्तरानपेक्षस्य पुनः पुनरुत्पत्ति-स्थिति-विनाशत्रयमवश्यंभावि, अंशेनोत्पन्नस्यांशान्तरेण पुनः पुनरुत्पत्तिसंभवात्। इति सिद्धमेकदैकत्र त्रयम्।

[ये यद्भाव० इत्यादि नियम से त्रैरूप्य की उपपत्ति]

इस तथ्य के बाधकरूप में बौद्धों का यह कहना है कि-"जो वस्तु जिस स्वरूप के प्रति अन्य निरपेक्ष होती है वह वस्तु उस स्वरूप से सम्पन्न ही होती है। जैसे किसी कार्य की अन्तिम कारण-सामग्री उस कार्य के उत्पादन में अन्य निरपेक्ष होने से उस कार्य की उत्पादक होती ही है। इसी प्रकार वस्तु विनाश के प्रति अन्यनिरपेक्ष होती है अत एव वह विनाशानुगत ही होती है। अतः वस्तु के विनाशानुगतत्व की सिद्धि होने से उत्पाद ... है"। किन्तु यह कथन भी वस्तु की उत्पादादि त्रयरूपता में बाधक नहीं है बल्कि अनुकूल ही है। क्योंकि वस्तु अग्रिमपरिणाम प्रति निरपेक्ष ही है, अतः उक्त नियमानुसार उसे अग्रिम परिणाम से सम्पन्न होना न्यायप्राप्त है, क्योंकि पूर्वक्षण जब स्वयं ही उत्तर क्षण में परिणत होता है तो उस परिणाम में किसी अन्य की अपेक्षा न होने से उसमें विलम्ब असंभव है। इस प्रकार उत्पन्न वस्तु को उत्पत्ति स्थिति और विनाश में अन्य कारण की अपेक्षा न होने से उत्पन्न का पुनः पुनः उत्पाद, पुनः पुनः अवस्थान, तथा पुनः पुनः विनाश अवश्यंभावी है, क्योंकि एक अंश से उत्पन्न का अन्य अंशों में पुनः पुनः उत्पाद सम्भव है। इस प्रकार एक काल में एक वस्तु में उत्पाद-स्थिति और नाश तीनों की सिद्धि निष्कंटक है।

ये त्वाहुः—'घटोत्पादकाले घटनाशाभ्युपगमे 'घटो नष्टः' इति प्रयोगः स्यात्, अन्यनाशे च घटस्योत्पन्नत्वैकान्त एव' इति—तेऽप्यतात्पर्यज्ञाः, स्याद्पदस्पन्दनेन द्रव्यार्थतया घटपदस्य तथाप्रयोगस्येष्टत्वात्, अंशे तत्प्रतियोगित्वस्य, अंशे तदाधारत्वस्य च संभवात्, विरोधस्यापि तृतीयार्थविकद्रव्यत्वपरप्रतिरुद्धत्वात्। न खलु निःक्षेपतत्त्ववेदिना क्वचन क्वापि प्रयोगव्यवहाराद्यव्यवस्था। तदिदमुवाच वाचकमुख्यः—"नाम-स्थापना-द्रव्य-भावतस्तन्न्यासः" [त. सू० १-५] इति। 'घटः' इत्यभिधानमपि घट एव, "अर्थाऽभिधान-प्रत्ययास्तुल्यनामधेयाः" इति वचनात्, वाच्य-वाचकयोरभेदे प्रतिनियतशक्त्यनुपपत्तेश्च। इति नामनिःक्षेपः। घटाकारोऽपि घट एव, तुल्यपरिणामत्वात्; अन्यथा तद्प्रयोगात्, मुख्यार्थमात्राभावादेव तत्प्रतिकृतित्वोपपत्तेः। इति स्थापनानिःक्षेपः। मृत्पिण्डादिद्रव्यघटोऽपि घट एव, अन्यथा परिणामपरिणामिभावानुपपत्तेः। इति द्रव्यनिःक्षेपः। घटोपयोगः, घटनक्रियैव वा घटः, तस्यैव स्वार्थक्रियाकारित्वात्। इति भावनिःक्षेपः। एतद्विषयविस्तरस्तु विशेषावश्यकादौ।

[उत्पत्तिकाल में 'नष्टः' प्रयोगापत्ति अज्ञानमूलक है]

अन्य विद्वानों का यह कहना है कि–'घट की उत्पत्तिकाल में घट का नाश मानने पर उसी काल में 'घटो नष्टः' इस प्रयोग की आपत्ति होगी। यदि तत्काल में उत्पन्न घट का तत्काल में नाश न मान कर अंश का नाश माना जायगा तो घट एकान्ततः उत्पन्न होने से विनाशादिरूप न हो सकेगा।'– किन्तु यह कथन उनके अनेकान्तवादी के तात्पर्य के अज्ञान का सूचक है। क्योंकि 'स्यात्' पद के योग से द्रव्यार्थिक (नय) दृष्टि से घटोत्पादकाल में मृत्पिण्डात्मक द्रव्यघट का नाश होने से उक्त प्रयोग इष्ट है, क्योंकि घट में किसी अंश से नाश का प्रतियोगित्व और किसी अंश से नाश का आधारत्व ये दोनों सम्भव है, क्योंकि एक वस्तु में उत्पाद और नाश का एक काल में विरोध भी 'अपेक्षाभेद से' इस तृतीयार्थगर्भित अर्थ के बोधक 'स्यात्' पद के योग से निरस्त हो जाता है। इसप्रकार निक्षेपतत्त्व के वेत्ता जैन विद्वानों को कहीं किसी भी प्रयोग या व्यवहारादि की व्यवस्था में क्षति नहीं हो सकती।

[नामादिनिक्षेप चतुष्टय से सुव्यवस्था]

जैसा कि वाचक मुख्य आचार्य उमास्वाति के तत्त्वार्थ सूत्र प्रथम अध्याय के सूत्र में कहा गया है कि वस्तु का निरूपण नामस्थापना द्रव्य और भाव इन चार निक्षेपों से होता है। इस प्रकार स्पष्ट है कि नाम निक्षेप दृष्टि से 'घट' यह शब्द भी घट ही है। क्योंकि कहा गया है कि·अर्थ-अभिधान और प्रत्यय (बुद्धि) ये तीनों समाननामक होते हैं।' यह कथन निक्षेपदृष्टि पर ही आधारित है। इसके अतिरिक्त यह भी ज्ञातव्य है कि शब्द को अर्थरूप न मान कर शब्द और अर्थ में भेद मानने पर प्रतिनियतशक्ति यानी शब्दविशेष में अर्थविशेष की बोधक शक्ति की भी उपपत्ति नहीं हो सकती।

जिस प्रकार घटादि नाम घटादि अर्थस्वरूप होता है उसी प्रकार स्थापना निक्षेप की दृष्टि से-घटादि अर्थ का आकार चित्र भी घटस्वरूप ही होता है क्योंकि अर्थ और आकार दोनों सदृशपरिणाम हैं। यदि स्थापना और अर्थ में अभेद न माना जायगा तो दोनों में सदृशपरिणामरूपता नहीं हो सकती। इस पर यदि यह शंका की जाय कि–"अर्थ और स्थापना में ऐक्य है तो स्थापना को अर्थ ही कहना उचित हो सकता है–उसको उसकी प्रतिकृति कहना उचित नहीं हो सकता"– तो यह ठीक नहीं है क्योंकि अर्थ अर्थोपादानमात्र सापेक्ष होने से केवल मुख्यार्थमात्र ही होता है। और स्थापना मुख्यार्थमात्र न होकर कुछ अधिक भी होती है, अर्थात् अर्थोपादान निरपेक्ष होने से अथवा अतिरिक्त उपादान सापेक्ष होने से अर्थ से भिन्न भी होती है। अत एव उसे केवल अर्थ न कह कर अर्थ की प्रतिकृति कहा जाता है।

इसी प्रकार द्रव्यनिक्षेपदृष्टि से मृत्पिण्डादि द्रव्यघट यानी भावघट की पूर्वावस्था भी घट ही है, क्योंकि यदि उन दोनों में कथञ्चिद् अभेद न होगा तो उनमें उपादान-उपादेय भाव न हो सकेगा, क्योंकि उस स्थिति में घट के अन्य कारणों से मृत्पिण्ड में कोई विशेष न होने से 'वही घट का उपादान है और अन्य कारण केवल निमित्त है' यह अवधारण दुर्घट होगा।

जैसे उक्त निक्षेपों के अनुसार नाम-स्थापना और द्रव्य घट है उसी प्रकार भावनिक्षेप की दृष्टि से घटोपयोग यानी घटाकारज्ञान तथा घटनक्रिया अर्थात्-जलाहरणक्षम घट ही मुख्य घट है, क्योंकि वही मुख्यार्थ घट की अर्थक्रिया का जनक है, क्योंकि घटाकारज्ञान तथा जलाहरणादिअनुकूल घट-

अवस्था होने के बाद ही जलाहरण क्रिया होती है। निक्षेपों के सम्बन्ध में विस्तृत विचार विशेषावश्यक-भाष्य आदि ग्रन्थों में द्रष्टव्य है।

अत्रेदं विचार्यते-ननु नामादीनां सर्ववस्तुव्यापित्वं न वा ? आद्ये व्यभिचारः, अनभिलाप्यभावेषु नामनिःक्षेपाऽप्रवृत्तेः, द्रव्यजीव-द्रव्यद्रव्याद्यसिद्ध्याऽभिलाप्यभावव्यापिताया अपि वक्तुमशक्यत्वाच्च। अन्त्ये "[1]जत्थ वि य ण याणिज्जा, चउक्कयं निक्खिवे तत्थ" इति सूत्रविरोधः, अत्र यत्-तत्पदयोर्व्याप्त्यभिप्रायेणोक्तेरिति चेत् ?

अत्र वदन्ति-"तत्तद्व्यभिचारव्यावृत्त्यर्थस्य विशेषणाद् न दोषः, संभवद्व्याप्त्यभिप्रायेणैव 'यत्र तत्र' इत्युक्तेः। तदिदमुक्तं तत्त्वार्थटीकाकृता "यद्यप्येकस्मिन् न संभवति नैतावता भवत्यव्यापिता" इति। अपरे त्वाहुः-'केवलिप्रज्ञारूपमेव नामानभिलाप्यभावेष्वस्ति, द्रव्यजीवश्च मनुष्यादिरेव, भाविदेवादिजीवपर्यायहेतुत्वात्। द्रव्यद्रव्यमपि मृदादिरेव, आदिष्टद्रव्यत्वानां घटादिपर्यायाणां हेतुत्वात्" इति।–एतच्च मतं नातिरमणीयम्, द्रव्यार्थिकेन शब्दपुद्गलरूपस्यैव नाम्नोऽभ्युपगमात्, मनुष्यादीनां द्रव्यजीवत्वे च सिद्धस्यैव भावजीवत्वप्रसङ्गात्, आदिष्टद्रव्यहेतुद्रव्यद्रव्योपगमे भावद्रव्योच्छेदप्रसङ्गाच्चेति। "गुण-पर्यायवियुक्तः प्रज्ञास्थापितो द्रव्यजीवः" इत्यन्येषां मतम्–तदपि न सूचमम्, सतां गुण-पर्यायाणां बुद्ध्याऽपनयनस्य कर्तुमशक्यत्वात्। न हि यादृच्छिकज्ञानाऽन्यथाऽर्थपरिणतिरस्ति। "जीवशब्दार्थज्ञस्तत्रानुपयुक्तः, जीवशब्दार्थज्ञस्य शरीरं वा जीवरहितं द्रव्यजीव इति नाऽव्यापिता नामादीनाम्" इत्यपि वदन्ति।

[नामादिनिक्षेप की सर्ववस्तुव्यापकता के ऊपर आक्षेप-समाधान]

निक्षेपादि के सम्बन्ध में यह विचार किया जाता है-कोई आक्षेप करते हैं-नामादि निक्षेप समस्त वस्तु के व्यापक हैं अथवा नहीं ? प्रथमपक्ष में व्यभिचार है क्योंकि जो भाव अनभिलाप्य होते हैं उनका नामनिःक्षेप नहीं हो सकता। इसी प्रकार नामादि निक्षेपों को अभिलाप्य समस्त वस्तुओं का भी व्यापक नहीं कहा जा सकता क्योंकि जीव और द्रव्य में द्रव्यनिक्षेप असिद्ध है, क्योंकि द्रव्यजीव-जीव का कारणद्रव्य एवं द्रव्यद्रव्य यानी द्रव्य का कारण द्रव्य असिद्ध होने से जीव और द्रव्य में द्रव्यनिःक्षेप की प्रवृत्ति नहीं हो सकती। 'नामादिनिःक्षेप समस्त वस्तु के व्यापक नहीं हैं'-यह द्वितीय पक्ष भी मान्य नहीं हो सकता क्योंकि–'जत्थ वि य ण०' इस अनुयोगद्वार सूत्र का विरोध होता है। सूत्र में यह स्पष्ट कहा गया है कि–जिस वस्तु में उक्त चार निक्षेपों से अतिरिक्त निक्षेप का ज्ञान न हो उस वस्तु में कम से कम उक्त चारों निःक्षेपों का प्रवर्तन कर उसका निरूपण करना चाहिये। इस प्रकार सूत्र में यत् और तत् पद के उल्लेख से नामादिनिःक्षेप की सर्ववस्तु व्यापकता में सूत्रकार के अभिप्राय का असंदिग्ध बोध होता है।"

---

१. यत्रापि च न जानीयात् चतुष्कं निक्षिपेत् तत्र।
जत्थ विसेसं जाणइ [वि. आ. भा. २६१८] जत्थ य जं जाणेज्जा [अनुयोगद्वार १]

इस आक्षेप के संदर्भ में व्याख्याकार का प्रत्युत्तर यह है कि नामादि की सर्ववस्तुव्यापकता का पक्ष स्वीकारने में कोई दोष नहीं है क्योंकि जिन अनभिलाप्यभावों में तथा जीव और द्रव्य में नामादिनि:क्षेप की व्याप्ति में व्यभिचार दृष्ट होता हो व्यापककुक्षि में तत्तद्भिन्नत्व का निवेश करने से सर्ववस्तु में नामादिनिक्षेप की व्याप्ति सम्भव हो सकती है। और इस प्रकार उक्तरीति से व्याप्ति-सम्भव के अभिप्राय से ही उक्त सूत्र में 'यत्र तत्र' पदों के संनिवेश में कोई असङ्गति नहीं हो सकती। यही बात तत्त्वार्थ सूत्र के टीकाकार श्री सिद्धसेनगणि ने इस प्रकार कही है कि–'यदि किसी एक वस्तु में नामादिनि:क्षेपों में कोई नि:क्षेप नहीं घट सकता, तो केवल इतने मात्र से वस्तु मात्र में नामादि-नि:क्षेपों की व्याप्ति का अभाव नहीं हो सकता।'–इस कथन से यह संकेत स्पष्टरूप से प्राप्त होता है कि जिस वस्तु में नामादिनि:क्षेप सम्भव नहीं है–व्यापककुक्षि में उस वस्तु के भेद का निवेश करके वस्तु में नामादिनि:क्षेप की व्याप्ति का समर्थन किया जा सकता है।

[केवलिप्रज्ञारूप नामनिक्षेपवाला मत अरमणीय]

अन्य जैन विद्वानों का उक्त आक्षेप के समाधान में यह कहना है कि अनभिलाप्यभावों में भी सामान्यरूप से नामनि:क्षेप का अभाव नहीं है क्योंकि केवली को उन भावों की भी प्रज्ञा होती है। अतः 'केवलीप्रज्ञा' से निरूप्य होने के कारण निरूपकत्वरूप से नाम का साम्य होने से केवलीप्रज्ञा ही उनका नाम, एवं उस नामनि:क्षेप की प्रवृत्ति उनमें भी होती है। अतः 'केवलिप्रज्ञाविषया' इस नाम की प्रवृत्ति उनमें भी होती ही है। ऐसा होने पर भी उन्हें अनभिलाप्य इसलिये कहा जाता है कि अन्यवस्तुओं के समान उनका किसी लौकिक नाम से अभिलाप नहीं होता। इस प्रकार द्रव्यजीव भी असिद्ध नहीं है, क्योंकि भावी देवादिरूप जीवपर्यायों का हेतु होने से मनुष्यादि ही द्रव्यजीव हैं। इसी प्रकार द्रव्यद्रव्य भी असिद्ध नहीं है क्योंकि घटादिपर्यायरूप औपचारिक द्रव्यों का हेतु होने से मृत्तिकादि ही द्रव्यद्रव्य है। इसप्रकार व्यापककुक्षि में अनभिलाप्य भाव, जीव तथा द्रव्य के भेद का निवेश न करने पर भी सर्ववस्तु में नामादिनि:क्षेपचतुष्टय की व्याप्ति हो सकती है।"

किन्तु व्याख्याकार के अनुसार यह मत रमणीय नहीं है क्योंकि शब्दाधिक नय की दृष्टि से शब्दपुद्गल ही नाम है। अतः केवलीप्रज्ञा को नाम कहकर अनभिलाप्य भावों में नामनिक्षेप को सम्भव बताना उचित नहीं है। इसीप्रकार मनुष्यादि को द्रव्यजीव और मृत्तिकादि को द्रव्यद्रव्य कहना भी उचित नहीं है क्योंकि मनुष्यआदि को द्रव्यजीव कहने पर केवल सिद्ध ही भावजीव हो सकेंगे, क्योंकि एकमात्र वे ही किसी उत्तरजीवपर्याय के हेतु नहीं होते। एवं मृदादि को, औपचारिक द्रव्य का हेतु होने से द्रव्यरूप मानने पर भावद्रव्य का उच्छेद हो जायगा, क्योंकि कोई औपचारिक द्रव्य (जो) ऐसा नहीं है जो औपचारिक द्रव्यान्तर का हेतु न होता हो।

[शुद्धजीवद्रव्य द्रव्यजीव है-यह मत भी स्थूल है]

अन्य विद्वानों का मत है कि प्रज्ञा से कल्पित, गुण-पर्यायों से शून्य शुद्ध जीव ही द्रव्यजीव है। उनका आशय यह है कि जीव में गुण और पर्याय तो संलग्न ही है किन्तु प्रज्ञा से गुणपर्यायों को अलग रख कर जीव की ऐसी एक शुद्ध अवस्था प्रज्ञा से देखी जाए कि जो गुण पर्याय से शून्य है, और यही गुणपर्याययुक्त जीव का हेतु है। अतः जीव की वही अवस्था द्रव्यजीव है। किन्तु व्याख्याकार के अनुसार यह कथन भी युक्तिसङ्गत नहीं है क्योंकि जीव के साथ गुणपर्यायों का सम्बन्ध अनादि है। अतः

बुद्धि द्वारा उनके गुणपर्यायशून्य अवस्था की कल्पना ही अशक्य है। क्योंकि किसी भी अर्थ की कोई भी परिणति किसी के यादृच्छिक यानी आहार्यज्ञान के अनुसार नहीं होती।

[द्रव्यजीव की कल्पना अयुक्त]

कुछ लोगों का यह भी कहना है कि-"वर्तमान में जीवशब्दार्थ के ज्ञान में अपरिणत जीव उत्तरकाल में जीवशब्दार्थज्ञान में परिणत होने वाले जीव का कारण होने से द्रव्यजीव है। अथवा जीवशब्दार्थ ज्ञाता का जीवरहित अर्थात् जीवशब्दार्थ ज्ञान में परिणत आत्मा से रहित शरीर भावि-काल में जीव शब्दार्थज्ञान में परिणत होने वाले आत्मारूप भाव का कारण होने से द्रव्यजीव है। अतः द्रव्यजीव की प्रसिद्धि बताकर अभिलाप्य समस्तवस्तुओं में नामादिनिक्षेप के चतुष्टय की व्याप्ति का अभाव बताना उचित नहीं है।"—किन्तु यह भी ठीक नहीं है क्योंकि जीवशब्दार्थज्ञान में परिणत आत्मा ही जीव नहीं होता किन्तु सामान्यतः ज्ञानमात्र परिणत आत्मा जीव होता है और जीव का किसी न किसी ज्ञान में परिणत होना सर्वकालिक है अतः उक्तरीति से द्रव्यजीव की कल्पना अयुक्त है।

अत्र च पर्यायार्थिकस्य भावनिक्षेप एवाभिमतः, द्रव्यार्थिकस्य तु चत्वारोऽपीति। यदाह भगवान् जिनभद्रगणि क्षमाश्रमणः [वि.आ.भा. २८४७] "[1]भावं चिय सद्दणया सेसा इच्छंति सव्वणिक्खेवे" इति। अत एव चरणगुणस्थितस्य साधोः सर्वनयविशुद्धत्वे सर्वनयानां भावग्राहित्वं हेतुतयोद्भावितम्। अत एव नैगम-संग्रह-व्यवहार-ऋजुसूत्राणामपि चत्वारो निक्षेपाः, तेषां द्रव्यार्थिकभेदत्वात्। शब्द-समभिरूढैवंभूतानां तु भावनिक्षेप एव, पर्यायार्थिकभेदत्वादेषाम्।

[द्रव्यार्थिक-पर्यायार्थिक के अभिमत निक्षेप]

उक्त निक्षेपों में पर्यायार्थिक नय को केवल भावनिक्षेप ही मान्य है किन्तु द्रव्यार्थिक को चारों निक्षेप मान्य है जैसा कि जिनभद्रगणि क्षमाश्रमण ने [विशेषा० २८४७ में] कहा है कि शब्द नयों को केवल भावनिक्षेप ही इष्ट है और अन्य नयों को सभी निक्षेप इष्ट हैं। इसीलिये चारित्र-गुण में अवस्थित साधु में सर्वनयविशुद्धता की सिद्धि में सर्वनयों के भावग्राहित्व का हेतुरूप से उद्भावन किया गया है। पर्यायार्थिक को भावनिक्षेप और द्रव्यार्थिक को नामादि चारों निक्षेप अभिमत होने से ही नैगम संग्रह-व्यवहार और ऋजुसूत्र को भी चारों निक्षेप अभिमत होते हैं क्योंकि वे चारों द्रव्यार्थिक श्रेणि के नय हैं एवं पर्यायार्थिक श्रेणि के नय होने से शब्द, समभिरूढ और एवंभूत को भावनिक्षेप ही अभिमत होता है।

'संग्रहः स्थापनां नेच्छति' इत्येके, संग्रहप्रवणेनानेन नामनिक्षेप एव स्थापनाया उपसंग्रहात्। न च "[2]णामं आवकहियं होज्जा, ठवणा इत्तरिया वा होज्जा, आवकहिआ वा होज्जा" इति सूत्र एव तयोर्विशेषाभिधानात् कथमैकरूप्यम्? इत्याशङ्कनीयम्, पावक-पाचकादिनाम्नामप्ययावत्कथिकत्वात् तदव्यापकत्वात्, स्थूलभेदमात्रकथनात्। पदप्रवृत्तिभिर्वा

---

१. भावमेव शब्दनयाः शेषा इच्छन्ति सर्वनिक्षेपान्।

२. नाम यावत्कथिकं भवेत्, स्थापनेत्वरी वा भवेत् यावत्कथिका वा भवेत्।

नामस्थापनयोर्भेद' इति चेत् ? कथं तर्हि गोपालदारके नामेन्द्रत्वम् ?। अथ 'नामेन्द्रत्वं द्विविधम्-'इन्द्र' इति पदत्वमेकम्, अपरं चेन्द्रपदसंकेतविषयत्वम्। आद्यं नाम्नि, द्वितीयं च पदार्थे, इति न दोष इति' चेत् ? तर्हि व्यक्त्याकृतिजातीनां पदार्थत्वेनेन्द्रस्थापनाया अपीन्द्रपदसंकेतविषयत्वात् कथं न गोपालदारकवद् नामेन्द्रत्वम् ?। 'नामभावनिःक्षेपसांकर्यपरिहारायेन्द्रपदसंकेतविशेषविषयत्वमेव नामेन्द्रत्वं निरूप्यत' इति चेत् ? हन्त तर्हि सोऽयं विशेषो नाम-स्थापनासाधारण एव संगृह्यतामित्येतन्निष्कर्षः।

[संग्रहनय में, नामनिक्षेप में स्थापना का अन्तर्भाव-पूर्व पक्ष]

कतिपय विद्वानों का मत है कि-स्थापनानिःक्षेप संग्रहनय को अभीष्ट नहीं है। क्योंकि यह नय संग्रहण=संक्षेपीकरण में, कुशल होता है। अत एव उसके अनुसार स्थापना निःक्षेप नाम-निःक्षेप में ही संगृहीत हो जाता है। यदि यह शंका की जाय कि-"श्री अनुयोगद्वार सूत्र में कहा गया है कि नामनिःक्षेप यावत्कथिक होता है-अर्थात् यावद्वस्तुभावी होता है, और स्थापना इत्वरी-अस्थिर अयावद्वस्तुभावी तथा यावत्कथिक-यावद्वस्तुभावी, ऐसे दो प्रकार की होती है। इस प्रकार अनुयोगद्वार सूत्र में नाम और स्थापना निःक्षेप में भेद का प्रतिपादन होने से दोनों में एकरूपता कैसे हो सकती है।" तो यह शंका उचित नहीं है, क्योंकि नामनिःक्षेप नियम से यावद्वस्तुभावी नहीं होता, जैसे पाचक, याचक आदि नाम पाचक-याचक पुरुषों के अस्तित्व तक उन में प्रयुक्त नहीं होते अपितु पाचन-याचन आदि क्रियाओं के अस्तित्व तक ही प्रयुक्त होते हैं। अतः नामनिःक्षेप में वस्तु की कालिकव्यापकता नहीं है। अतः नामनिःक्षेप में भी अयावत्कथिकस्वरूप से स्थापनानिक्षेप का साम्य होने से अनुयोगद्वार का तात्पर्य इन दोनों के स्थूलभेदमात्र के प्रतिपादन में ही मान्य हो सकता है। अत एव सूक्ष्मदृष्टि से स्थापना निःक्षेप का नामनिक्षेप में अन्तर्भाव बताना असङ्गत नहीं है।

[नाम निक्षेप की व्याख्या से स्थापना का किसी तरह बहिर्भाव नहीं है]

यदि यह कहा जाय-'पद और प्रतिकृतिरूप होने से नाम और स्थापना में भेद स्पष्ट है अतः स्थापना को नाम में अन्तर्भूत करना उचित नहीं हो सकता'-किन्तु यह ठीक नहीं है क्योंकि नाम को पदात्मक बताकर स्थापना से उसका पार्थक्य बताना युक्तिसङ्गत नहीं है क्योंकि नाम यदि पदात्मक होगा तो नामकरण के आधार पर गोपालबालक नामेन्द्र कैसे हो सकेगा ? क्योंकि वह इन्द्र-नाम का वाच्य है न कि इन्द्रपदस्वरूप है। यदि इसके उत्तर में यह कहा जाय कि 'नामेन्द्र के दो प्रकार हैं-एक 'इन्द्र' पदरूप और दूसरा इन्द्रपदसंकेतविषयरूप। इनमें पहला नामेन्द्र नामस्वरूप होता है और द्वितीय पदार्थस्वरूप होता है। अतः गोपालबालक द्वितीय नामेन्द्ररूप होने में कोई बाधा न होने से उक्त दोष नहीं हो सकता"-तो यह ठीक नहीं है। क्योंकि व्यक्ति-(द्रव्य) आकृति-आकार (स्थापना) और जाति ये तीनों, पद के अर्थ (वाच्य) होने से इन्द्रस्थापना भी इन्द्रपद के संकेत का विषय होगी। अत एव गोपालबालक के समान इन्द्र की स्थापना में भी नामेन्द्रत्व की आपत्ति होगी। इसके प्रतिकार में यदि यह कहा जाय कि-'सामान्यतः इन्द्रपदसंकेत विषय को नामेन्द्र नहीं कहा जा सकता क्योंकि ऐसा कहने पर भावेन्द्र में इन्द्रपदसंकेतविषयत्व होने से नामनिःक्षेप और भावनिःक्षेप का सांकर्य हो जायगा। अतः भावशून्य में इन्द्रपदसंकेतविशेष के विषय को ही

नामैक्य मानना उचित है। क्योंकि संकेतविशेष से भावाऽविषयक संकेत को ग्रहण करने से भावनिःक्षेप में नामसांकर्य का परिहार भी हो सकता है। और इस संकेतविशेष को स्थापनाव्यावृत्त मानने से स्थापना का नामनिःक्षेप में अन्तर्भाव भी नहीं हो सकता"–किन्तु यह भी ठीक नहीं है क्योंकि संग्रह नय वस्तु का संक्षेपीकरण करता है तो उसकी दृष्टि से नामैक्य के उक्त निर्वचन में नामस्थापना उभयसाधारण संकेतविशेष का ग्रहण कर स्थापना को नामनिःक्षेप में संगृहीत कर लेना ही उचित है।

अत्र वदन्ति-अनुपपन्नमेतद् मतम्, उपचाररूपसंकेतविशेषग्रहे द्रव्यनिःक्षेपस्याप्यनतिरेक-प्रसङ्गात्, याद्दच्छिकविशेषोपग्रहस्य चाऽप्रामाणिकत्वात्, पित्रादिकृतसंकेतविषयस्यैव ग्रहणाद् नाम-स्थापनयोरैक्याऽयोगात्। एवं च नानुपु नामादिषु प्रातिस्विकैकरूपाभिसंधिरेव संग्रह-व्यापार इति प्रतिपत्तव्यम्। यदृच्छयैव संग्रहव्यापारोपगमे तु नाम्नोऽपि भावकारणतया कुतो न द्रव्यान्तर्भाव इति वाच्यम्? 'द्रव्यं परिणामितया भावसंबद्धम्, नाम तु वाच्यवाचकभावेनेत्यस्ति विशेष' इति चेत्? तर्हि स्थापनाया अपि तुल्यपरिणामतया भावसंबद्धत्वात् किं न नाम्नो विशेषः, उपचेयसांकर्येऽप्युपाध्यसांकर्यात्, विभाजकान्तरोपस्थितौ निःक्षेपान्तरस्येष्टत्वात् "*जत्थ य जं जाणिज्जा णिक्खेवं णिक्खिवे णिरवसेसं" इति [अनुयोगद्वार सू. ७] सूत्रप्रामाण्यादिति पर्यालोचनीयम्।

[नाम का स्थापना में अन्तर्भाव अनुचित उत्तरपक्ष]

इस पक्ष के प्रतिवाद में व्याख्याकार ने अन्य विद्वानों के प्रतिवादरूप में यह कहा है कि उक्त मत असङ्गत है क्योंकि यदि नाम निःक्षेप की उक्त परिभाषा में नाम स्थापना उभयसाधारण संकेत-विशेष का उपादान कर स्थापना का नाम में अन्तर्भाव किया जायगा तो उक्त परिभाषा में उपचार-रूप संकेतविशेष का ग्रहण कर द्रव्यनिक्षेप का भी नामनिःक्षेप में अन्तर्भाव प्रसक्त हो सकता है। क्योंकि द्रव्य में भी नाम का औपचारिक=स्वेच्छामूलक संकेत सम्भव है।

[पिता आदि का किया हुआ नाम ही नामनिःक्षेप है]

इसके अतिरिक्त दूसरी बात यह है कि नामनिःक्षेप की उक्त परिभाषा में इच्छानुसार किसी संकेतविशेष को ग्रहण करने में कोई प्रमाण न होने से पिता-गुरु आदि द्वारा किये हुये संकेत के विषय को ही नामनिःक्षेपरूप में ग्रहण करना उचित है। अतः नाम और स्थापना में ऐक्य असङ्गत है। अतः विभिन्न नामों का तत्तदर्थादि में अनुगत प्रातिस्विक एक रूप में अभिप्रायवर्णन को ही संग्रह नय का कार्य मानना उचित है। जैसे जीव-अजीवादि तत्त्वबोधक नामों का प्रत्येक तत्तदर्थ में अनुगत-शब्दरूप में तात्पर्यवर्णन करने से जीव-अजीवादि तत्त्वों का सद्‌रूप से ऐक्य स्वीकृत होता है। यदि अपनी स्वतंत्र इच्छानुसार संग्रह का कार्य माना जायगा तो नामानुसन्धानपूर्वक ही वस्तु की रचना होने से नाम भी भाव का कारण होने से नाम निःक्षेप का भी द्रव्यनिक्षेप में अन्तर्भाव क्यों न हो सकेगा? क्योंकि भाव के कारण को द्रव्य कहा जाता है।

* यत्र च यज्जानीयाद् निक्षेपं निक्षिपेद् निरवशेषम्। [अनुयोगद्वार सूत्र ७–पूर्वार्द्धम्]

[भाव के साथ नाम और स्थापना का सम्बन्ध भिन्न भिन्न है]

इसके उत्तर में यदि यह कहा जाय कि–"परिणामी होने से जो भावसम्बद्ध होता है अर्थात् जो भाव का परिणामी कारण होता है वही द्रव्य होता है किन्तु नाम जो भावसंबद्ध होता है वह परिणामी होने से नहीं होता अपितु वाच्यवाचकभाव द्वारा भावसम्बद्ध होता है। अतः इस वैलक्षण्य के कारण द्रव्यनिक्षेप में नाम निक्षेप का अन्तर्भाव नहीं हो सकता"–तो यह ठीक नहीं है क्योंकि इस दृष्टि से विचार करने पर स्थापना को भी नाम से पृथक् मानना ही उचित होगा क्योंकि वह भी तुल्यपरिणामरूप से भाव यानी स्थापनीय अर्थ से सम्बद्ध होती है। किन्तु नामवत् वाच्य-वाचकभाव द्वारा सम्बद्ध नहीं होती है क्योंकि नाम और नामसंकेतविशेषविषय शब्दस्वरूप उपाधि से नाम और स्थापनारूप उपधेयों में ऐक्य होने पर भी वाच्य-वाचक भाव द्वारा भावसम्बद्धत्व और तुल्यपरिणामरूप से भावसम्बद्धत्व रूप नाम स्थापना की उपाधियों में ऐक्य नहीं है। अतः उपाधि के भेद से उपधेयों में भेद अपरिहार्य है। जैसे स्थापना में नामगत निक्षेपविभाजकधर्म से भिन्न निक्षेपविभाजकधर्म द्वारा स्थापना को नाम निक्षेप से भिन्न निक्षेप माना जाता है, उसीप्रकार उक्त चार निक्षेपों में विद्यमान निक्षेपविभाजक धर्मों से अतिरिक्त यदि कोई निक्षेपविभाजक धर्म उपस्थित हो तो उन चारों से भिन्न निक्षेप भी मान्य है। जैसा कि 'जत्थ य०' इत्यादि अनुयोगद्वारसूत्र से प्रमाणसिद्ध है। यह सूत्र स्पष्टरूप से इस तथ्य का प्रतिपादन करता है कि जिस वस्तु में जो जो निक्षेप ज्ञात हो उन सभी से उसका निरूपण करना चाहिये। इसी प्रकार सूत्र में निक्षेप के लिये सामान्यरूप से 'यत्' पद और निरवशेषत्व का प्रयोग होने से नामादि उक्त निक्षेपों से अधिक निक्षेप की सत्ता में सूत्रकार का तात्पर्य व्यक्तरूप से प्रतीत होता है।

स्यादेतत् – पञ्चानां प्रदेशमङ्गीकृत्य नैगमात् पञ्चानां स्वीकारवद् इहापि चतुर्निक्षेपस्वीकर्तुः स्वतन्त्रत्रयस्वीकारेणैव संग्रहस्य विशेषो युक्त इति। मैवम्, देशप्रदेशवत् स्थापनाया उपचरितविभागाभावेन संग्रहाऽविशेषात्, अन्यथा यथाक्रमविशुद्धया एवंभूतस्य निक्षेपशून्यत्वप्रसङ्गादिति न किञ्चिदेतत्। एतेन 'व्यवहारोऽपि स्थापनां नेच्छति' इति केषांचिद् मतं निरस्तम्, न हीन्द्रप्रतिमायां नेन्द्रव्यवहारो भवति, न वा भवन्नपि भ्रान्त एव, न वा नामादिप्रतिपक्षव्यवहारस्यांशे नियामकम्, इत्यर्थनयीयमेतद् बहुत-लोकव्यवहारानुरोधितम्, स्थापनाऽनभ्युपगन्तृत्वं चेति।

[प्रदेशपंचकवत् निक्षेपत्रय के स्वीकार से संग्रह की विशेषता अयुक्त]

यदि यह कहा जाय कि–"जैसे नैगमनय जीव-धर्म-अधर्म-आकाश-पुद्गल और इनके देश इन छह का प्रदेश स्वीकार करता है किन्तु संग्रहनय उनके देशों को छोडकर उन पांचों का ही प्रदेश स्वीकार करता है-इस प्रकार प्रदेश के सम्बन्ध में नैगम से संग्रह का वैलक्षण्य होता है, उसी प्रकार निक्षेप के सम्बन्ध में भी नैगम और संग्रह में इस प्रकार का वैलक्षण्य मानना उचित है कि नैगम की दृष्टि में नाम स्थापना आदि चारों निक्षेप हैं और संग्रह की दृष्टि में स्थापना का नाम में अन्तर्भाव हो जाने से नाम, द्रव्य और भाव ये तीन ही निक्षेप हैं"–तो यह कथन ठीक नहीं है क्योंकि देश और प्रदेश में औपचारिक भेद होता है। अतः देश को प्रदेश से पृथक् गणना न करके जीवादि पांच को

ही प्रवेशवान् बताना संग्रह के लिये उपयुक्त हो सकता है। किन्तु नाम और स्थापना में औपचारिक भेद न होकर वास्तविक भेद होता है। अतः स्थापना का नाम में अन्तर्भाव करके तीन ही निःक्षेप बताना उचित नहीं हो सकता। इस प्रकार प्रदेश के सम्बन्ध में और निक्षेप के सम्बन्ध में संग्रहनय में समान वैलक्षण्य आवश्यक है। यदि ऐसा न माना जायगा तो क्रम से निक्षेपों की विशुद्धि होने से एवम्भूतनय निक्षेप शून्य हो जायगा, अर्थात् जैसे संग्रहनय से स्थापना का नाम में अन्तर्भाव हो गया। उसी प्रकार उत्तरोत्तर से नाम भाव का कारण होने से नाम का द्रव्य में अन्तर्भाव हो जायगा। इस प्रकार द्रव्यार्थिक नय की दृष्टि में द्रव्य और भाव दो ही शेष रहे। और ऋजुसूत्रादि पर्यायार्थिक नयों से द्रव्यनिक्षेप का त्याग होने से भावनिक्षेप ही बच जाता है। इस प्रकार उत्तरोत्तर नयों को संकोच कारक मानने पर एवम्भूत नय में भावनिःक्षेप का भी परित्याग प्रसक्त हो सकता है। अतः प्रदेश के सम्बन्ध में नैगम से संग्रह के वैलक्षण्य को दृष्टान्त बनाकर निक्षेप के सम्बन्ध में भी नैगम से संग्रह के वैलक्षण्य की कल्पना निर्युक्तिक होने से अकिञ्चित्कर है।

इस संदर्भ में कुछ विद्वान यह मत व्यक्त करते हैं कि "व्यवहारनय की दृष्टि में भी स्थापना निक्षेप का नामनिःक्षेप से पृथक् अस्तित्व नहीं है" किन्तु यह मत भी निरस्तप्राय है क्योंकि ऐसा नहीं है कि इन्द्र की प्रतिमा में इन्द्रपद का व्यवहार न होता हो। अथवा यह व्यवहार होता हुआ भी भ्रममूलक हो, किं वा इन्द्रप्रतिमा में इन्द्रव्यवहार के विरोधी नामेन्द्रादि व्यवहार का सांकर्य हो। इसलिये स्थापना में लौकिक इन्द्रव्यवहार को मानना और स्थापनेन्द्रत्व का स्वीकार न करना अर्धजरतीय जैसा हो जाता है।

'ऋजुसूत्रो द्रव्यमपि नाभ्युपैति, अत एवाद्यास्त्रयो नया द्रव्यार्थिकभेदाः, अग्रिमाश्च चत्वारः पर्यायार्थिकभेदाः' इति वादी सिद्धसेनः। अस्मिन्नभ्युपगमे "*उज्जुसुअस्स एगे अणुवउत्ते एगं दव्वावस्सयं पुहुत्तं णेच्छइ" इति [अनुयोगद्वार सू. १४] सूत्रविरोधः स्यादिति सिद्धान्तयुक्ताः। 'अतीतानागतपरकीयभेदपृथक्त्वपरित्यागाद् ऋजुसूत्रेण स्वकार्यसाधकत्वेन स्वकीयवर्तमानवस्तुन एवोपगमाद् नास्य तुल्यांशध्रुवांशलक्षणद्रव्याभ्युपगमः। अत एव नास्याऽसद्घटितभूत-भाविपर्यायकारणत्वरूपद्रव्यत्वाभ्युपगमोऽपि, उक्तसूत्रं त्वनुपयोगांशमादाय वर्तमानावश्यकपर्याये द्रव्यपदोपचारात् समाधेयम्, पर्यायार्थिकेन मुख्यद्रव्यपदार्थस्यैव प्रतिक्षेपात्। अध्रुवधर्माधारांशद्रव्यमपि नास्य विषयः, शब्दनयेष्वतिप्रसङ्गात्' इति केचन सिद्धसेनमतानुसारिणः। 'नैतत् कमनीयम्, नामादिवदनुपचरितद्रव्यनिःक्षेपदर्शनपरत्वादुक्तसूत्रस्य। न चैवम्, शब्दादिष्वपि कथञ्चिदुपचारेण द्रव्यनिःक्षेपप्रसङ्गात्, पृथक्त्वनिषेधेऽपृथक्त्वेन द्रव्यविधेरावश्यकत्वात्, एकविशेषनिषेधस्य तदितरविशेषविधिपर्यवसायित्वात्' इत्यादिस्तु जिनभद्रमुखारविन्दविनिर्गतवचनमकरन्दसंदर्भोपजीविनां ध्वनिः।

[ऋजुसूत्रनय में द्रव्य का अस्वीकार-सिद्धसेनसूरिमत]

वादी सिद्धसेनसूरि का कहना है कि ऋजुसूत्रनय द्रव्य का भी अभ्युपगम नहीं करता। इसी-

---

* ऋजुसूत्रस्यैकोऽनुपयुक्त एकं द्रव्यावश्यकं पृथक्त्वं नेच्छति।

लिये केवल नैगम संग्रह-व्यवहार ये तीन ही द्रव्यार्थिक नय हैं, क्योंकि इन्हीं तीन को द्रव्य मान्य है। अन्तिम चार नय ऋजुसूत्र-शब्द-समभिरूढ तथा एवम्भूत पर्यायार्थिक नय हैं क्योंकि उन्हें मुख्यरूप से पर्याय ही मान्य है।

व्याख्याकार का कहना है कि-इस अभ्युपगम में-'अनुयोगद्वार' आगम के 'उज्जुसुअस्स एगो अणुवउत्तो एगं दव्वावस्सयं, पुहुत्तं णेच्छइ' इस सूत्र का विरोध होता है क्योंकि इस सूत्र में यह बताया गया है कि सभी अनुपयुक्त सामायिकादि आवश्यक ऋजुसूत्र की दृष्टि में एक द्रव्यावश्यकरूप हैं-उसे उन में नानात्व अभिमत नहीं है। अतः सिद्धान्त के विशेषज्ञविद्वानों को वादी सिद्धसेन का उक्त कथन रुचिकर नहीं है। किन्तु सिद्धसेन के कतिपय अनुयायी विद्वानों यह कह कर सिद्धसेनसूरि की उक्ति का समर्थन करते हैं कि ऋजुसूत्र अतीत-अनागत-परकीयभेद और पृथक्त्व का परित्याग कर वर्तमानवस्तु का ही अभ्युपगम करता है, क्योंकि वही अपने कार्य की साधक होती है। जब उसे उसमें तुल्यांश और ध्रुवांश का अभ्युपगम ही नहीं, तब तदुभय लक्षण द्रव्य का भी अभ्युपगम नहीं रहा अर्थात् यह ऋजुसूत्र द्रव्य के 'तुल्यांश' यानी सदृशपरिणामस्वरूप तिर्यक् सामान्य को और पूर्वापर भावापन्न स्थास-कोश-कुशूल-पिण्ड-कपाल-घटादि विसदृश परिणामों में 'ध्रुवांश' यानी अनुगामी द्रव्यरूप ऊर्ध्वता सामान्य को, नहीं स्वीकार करता। इसी लिए 'भूत-भाविपर्याय-कारणत्वं द्रव्यत्वम्' इस द्रव्यत्व के लक्षण में घटक भूत-भावि-पर्याय जब वर्तमान में है ही नहीं-असत् है, तब असद्घटित 'भूतभाविपर्याय (अर्थात् भूताऽभवनरूपविनाश पर्याय और अभूतभवनरूप उत्पादात्मक पर्याय) के कारणस्वरूप द्रव्यत्व' का भी अभ्युपगम नहीं हो सकता। तात्पर्य यह है कि उसकी दृष्टि में जैसे तुल्यांश और ध्रुवांशलक्षण स्थायिद्रव्य का अस्तित्व नहीं है, उसी प्रकार उत्पादविनाशशाली क्षणिकद्रव्य का भी अभ्युपगम नहीं है। किन्तु उसकी दृष्टि में पर्यायों का ही उत्पादविनाश अभिमत है। इस मत के अनुसार अनतिसमनस्क-अन्यमनस्क सामायिकादि आवश्यक में ऋजुसूत्र की दृष्टि से एक द्रव्यावश्यकरूपता के प्रतिपादक उक्त सूत्र में अनुपयोग अंशरूप द्रव्यसादृश्य को लेकर वर्तमान आवश्यक पर्याय में द्रव्यपद का औपचारिक प्रयोग है। अतः 'ऋजुसूत्र की दृष्टि में द्रव्य का अभ्युपगम नहीं है' इस कथन में उक्त सूत्र का विरोध नहीं है क्योंकि पर्यायार्थिक नय को मुख्य द्रव्यपदार्थ ही अस्वीकार्य है, औपचारिक द्रव्य का अभ्युपगम तो वह भी करता है अतः पर्यायार्थिक ऋजुसूत्र नय में द्रव्यपदार्थ के अनभ्युपगम से सिद्धान्त का विरोध नहीं हो सकता।

अध्रुव धर्मों के आधारभूत अंशरूप द्रव्य को ऋजुसूत्र का विषय मानकर ऋजुसूत्रनय में द्रव्य के अभ्युपगम के तात्पर्य में उक्तसूत्र की सार्थकता का उपपादन नहीं माना जा सकता क्योंकि ऐसा मानने पर अन्य शब्दनयों में भी कथित प्रकार के द्रव्य को विषय मान कर द्रव्याभ्युपगम का अतिप्रसङ्ग हो सकता है।

[सिद्धसेनसूरिमत रमणीय नहीं है-क्षमाश्रमणमतानुयायिवर्ग]

जिनभद्रगणि क्षमाश्रमण के मुखारविन्द से निकले वचनरूपी मकरन्द पर निर्भर रहनेवाले विद्वानों के मतानुसार, नामादि के समान अनुपचरित द्रव्यनिःक्षेप को ऋजुसूत्र का विषय बताने में ही उक्त सूत्र का तात्पर्य होने के कारण सिद्धसेनमतानुयायियों का उक्त कथन समीचीन नहीं है। क्योंकि यदि अनुपचरित द्रव्यनिःक्षेप को ऋजुसूत्र का विषय बताने में उक्त सूत्र का तात्पर्य न माना जायगा

तो शब्दादिनयों के विषय में भी कारणत्वाविवक्षा द्रव्यसादृश्य को लेकर द्रव्यपद का औपचारिक प्रयोग सम्भव होने से उन नयों में भी द्रव्यनिक्षेप के अभ्युपगम का अतिप्रसङ्ग होगा।

दूसरी बात यह है कि उक्तसूत्र में अनुपयुक्त अनेक आवश्यक में द्रव्यपृथक्त्व का निषेध किया गया है, अतः उसमें अपृथक् द्रव्यरूपता का विधान अनिवार्य है क्योंकि किसी सामान्य वस्तु के एक विशेष के निषेध का उसके इतरविशेष के विधान में पर्यवसान होता है।

स्यादेतत्-द्रव्यार्थिकेन नामादिचतुष्टयाभ्युपगमे द्रव्यार्थिकत्वव्याहतिः। 'द्रव्यं प्रधानतया, पर्यायं च गौणतयाऽभ्युपगच्छन् द्रव्यार्थिकोऽपि भावनिःक्षेपसह' इति चेत्? हन्त! तर्हि त्वदुक्तरीत्या शब्दनया अपि द्रव्यनिःक्षेपसहा इति कथमुक्तव्यवस्था ? एतेन 'द्रव्यार्थिकपर्यायार्थिकयोर्द्वयोस्तुल्यवदेवोभयाभ्युपगमः, परमाद्यस्य सर्वथाऽभेदेन, अन्त्यस्य तु सर्वथा भेदेन, इति द्रव्यार्थिकस्यापि पर्यायसहत्वम्' इत्यपास्तम्, एवं सति पर्यायार्थिकस्य शब्दादेरपि द्रव्यसहत्वापत्तेः, अत्यन्तभेदाऽभेदग्राहिणोर्द्वयोः समुदितयोरपि मिथ्यादृष्टित्वात्, अभेदे पर्याय-द्रव्याऽ(? द्रव्याऽ)सहोक्तिप्रसङ्गात्, भेदे पर्यायार्थिकेनापि द्रव्यग्रहे द्रव्यार्थिकस्याऽन्तर्भूतत्वप्रसक्त्यैतन्मतस्य भाष्यकृतैव निरस्तत्वाच्चेति।

नैवम्, अविशुद्धानां नैगमादिभेदानां नामाद्यभ्युपगमप्रवणत्वेऽपि विशुद्धनैगमभेदस्य द्रव्यविशेषणतया पर्यायाभ्युपगमाद् न तत्र भावनिःक्षेपानुपपत्तिः, अत एवागमः—"*जीवो गुणपडिवन्नो णयस्स दव्वट्ठिअस्स सामइअं" इति। अत्र हि समतापरिणामविशिष्टे जीवे सामायिकत्वं विधीयत इति। न चैवं पर्यायार्थिकत्वापत्तिः, इतराऽविशेषणत्वरूपप्राधान्येन पर्यायानभ्युपगमात्। शब्दादीनां पर्यायार्थनयानां तु नैगमवदविशुद्धयभावाद् न नामाद्यभ्युपगन्तृत्वम्। अत्रत्यं तद्विषयत्वं तु नोक्तविभागव्याघाताय, स्वातन्त्र्येण पर्यायविषयत्वं त्वव्याहतमिति पर्यालोचयामः।

[भावनिक्षेप के स्वीकार में द्रव्यार्थिकत्व के भंग का आक्षेप]

यदि यह आक्षेप किया जाय कि—"द्रव्यार्थिक में नामादि चारों निक्षेपों का अभ्युपगम करने पर उन नयों के द्रव्यार्थिकत्व की हानि होगी, क्योंकि द्रव्यमात्रविषय नय को ही द्रव्यार्थिक नय कहा जाता है। यदि कहें—'द्रव्य को प्रधानरूप से और पर्याय को गौणरूप से द्रव्यार्थिक का विषय माने तो उसमें भी भावनिक्षेप के अभ्युपगम का समर्थन शक्य है' तो यह ठीक नहीं, क्योंकि उक्त रीति से पर्याय को प्रधानरूप से तथा द्रव्य को गौणरूप से अभ्युपगम करने की रीति से शब्दनयों में भी द्रव्यनिक्षेप का अभ्युपगम प्रसक्त होगा। तब इस स्थिति में नामादि निक्षेप चतुष्टय द्रव्यार्थिक के विषय हैं और एकमात्र भावनिःक्षेप ही पर्यायार्थिक का विषय होता है यह जो व्यवस्था बतायी गई है वह कैसे उपपन्न होगी? इस प्रसंग में किसी का यह कहना कि—"द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक दोनों में समान-

* जीवः गुणप्रतिपन्नो नयस्य द्रव्यार्थिकस्य सामायिकम्।

रूप से द्रव्यनिःक्षेप और भावनिःक्षेप का अभ्युपगम है, अन्तर केवल इतना ही है कि द्रव्यार्थिक एकान्ततः द्रव्याऽभिन्नरूप में पर्याय को विषय करता है और पर्यायार्थिक एकान्ततः द्रव्य से भिन्न पर्याय को विषय करता है। इसप्रकार द्रव्यार्थिक नय भी पर्यायविषयक होता है।"—किन्तु यह कथन भी अपास्तप्राय: है। क्योंकि जिस रीति से द्रव्यार्थिक में पर्यायविषयकत्व की उपपत्ति होगी उस रीति से शब्दादिपर्यायार्थिक नय में भी एकान्ततः पर्यायभिन्नरूप में द्रव्यविषयकत्व का अभ्युपगम सम्भव होने से द्रव्यविषयकत्व की आपत्ति होगी। दूसरी बात यह है कि द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक में जो क्रम से, पर्याय में एकान्तिक द्रव्याभेद और द्रव्य में एकान्तिक पर्यायभेद को, उनका विषय बता कर उनमें अन्तर बताया गया है, वह उचित नहीं है क्योंकि द्रव्य और पर्याय में एकान्त अभेद तथा एकान्त भेद मान्य न होने से दोनों नयों में मिथ्यादृष्टित्व का प्रसङ्ग होगा। साथ ही द्रव्य और पर्यायों में अभेद मानने पर एकद्रव्याश्रित पर्यायों में भी द्रव्यात्मना अभेद होने से पर्यायद्वय की 'घट में रूप और रस हैं' इसप्रकार की सहोक्ति की अनुपपत्ति होगी। एवं द्रव्य और पर्याय में अत्यन्तभेद-पक्ष में पर्यायार्थिक नय से भी द्रव्य का ग्रहण मानने पर पर्यायार्थिक से भिन्न द्रव्यार्थिक नय के वैयर्थ्य की प्रसक्ति होगी। इसलिये यह मत भाष्यकार द्वारा ही निरस्त किया गया है। फलतः द्रव्यार्थिक नय से नामादिचतुष्टय का अभ्युपगम करने पर उस नय में द्रव्यार्थिकत्व की हानि तदवस्थ है।"

[द्रव्यार्थिकभंग के आक्षेप का प्रतीकार]

इस आक्षेप के उत्तर में व्याख्याकार का कहना है कि उक्त आक्षेप उचित नहीं है। क्योंकि नैगम-संग्रह और व्यवहार ये तीनों नय विशुद्ध और अविशुद्ध भेद से दो प्रकार के होते हैं। उनमें अविशुद्ध नैगमादि नय नामादि का मुख्यरूप से भी अभ्युपगम करते हैं और विशुद्ध नैगमादिनय द्रव्य के विशेषणरूप में पर्याय का अभ्युपगम करते हैं। अतः नैगमादि नयों में भावनिःक्षेप की अनुपपत्ति नहीं होती। इसीलिये आगम का यह स्पष्ट उद्घोष है कि 'समभावरूप गुण में परिणतजीव द्रव्यार्थिक नय की दृष्टि में सामायिक होता है।' इस आगम से समतापरिणामविशिष्ट जीव में सामायिकत्व का विधान होता है। इसप्रकार समतापरिणाम को द्रव्यार्थिक का विषय कहने से द्रव्यार्थिक नय में पर्याय-विषयकत्व की स्वीकृति सूचित होती है। यदि यह कहा जाय कि-पर्याय को द्रव्यार्थिक का विषय मानने पर द्रव्यार्थिक में पर्यायार्थिकत्व की आपत्ति होगी-तो यह ठीक नहीं है। क्योंकि समता-परिणामरूप पर्याय को जीव के विशेषणरूप में अभ्युपगम करने पर भी 'अन्य में अविशेषणत्व' रूप प्राधान्य से पर्याय का अभ्युपगम न होने से पर्यायार्थिकत्व की आपत्ति नहीं हो सकती है, क्योंकि प्रधानरूप से पर्याय को विषय करनेवाले नय को ही पर्यायार्थिक कहा जाता है। शब्दादि पर्यायार्थिक नयों में नैगमादि नयों के समान विशुद्ध अविशुद्ध का भेद नहीं है। अतः पर्यायार्थिक नयों के विशुद्धमात्र होने से उनमें नाम स्थापना और द्रव्य का अभ्युपगम नहीं हो सकता। अत एव उन्हें भावमात्र विषयक कहा जाता है। उपचार से उनमें भी नामादि विषयकत्व होता है किन्तु वह अवास्तव औप-चारिक होने से उक्त विभाग का अर्थात् 'द्रव्यार्थिक नामादि चतुष्टयविषयक और पर्यायार्थिक भाव-मात्रविषयक होता है' इस विभाग का व्याघात नहीं हो सकता, क्योंकि यह तथ्य पर्यालोचनसिद्ध है कि औपचारिक नामादि विषयकत्व से पर्यायार्थिक नय में स्वतन्त्र प्रधानरूप से पर्याय-विषयकत्व का व्याघात नहीं होता।

ननु तथापि ''णामाइतियं दव्वट्ठियस्स भावो अ पज्जवणयस्स'' [वि. आ.भा. ७५]

इति मङ्गलाधिकारेऽभिधाय, उपोद्घाते "[1]भावं चिय सद्दणया सेसा इच्छंति सव्वणिक्खेवे" [वि. आ. भा. २८४७] इति वदतां भाष्यकृतां कोऽभिप्रायः ? इति चेत् ? अयमभिप्रायः —पूर्वं शुद्धचरणोपयोगरूपभावमङ्गलाधिकारसंबन्धाद् नैगमादिना जलाहरणादिरूपभावघटाभ्युपगमेऽपि घटोपयोगरूपभावघटानभ्युपगमात् तथोक्तिः, पृथग्निक्षेपाच्च न प्रत्ययस्याभिधानतुल्यता । अग्रे तु व्यवस्थाधिकाराद् विशेषोक्तिः, इति 'द्रव्यार्थिकस्य नामादित्रयम्' इत्यत्र नावधारणम्, 'पर्यवनयस्य भावः' इत्यत्र चावधारणम्, इत्यनेन स्वानन्त्येण नामादित्रयविषयत्वमेव द्रव्यार्थिकस्येत्यभिप्रेत्य नयान्तरेण वा पूर्वं तथोक्तिः । अत एवोक्तं तत्त्वार्थवृत्तौ— "अत्र चाद्या नामादयस्त्रयो विकल्पा द्रव्यार्थिकस्य, तथा तथा सर्वार्थत्वात्, पाश्चात्यः पर्यायनयस्य, तथापरिणतिविज्ञानाभ्याम्" इति । अत एव च—

"[2]नामं ठवणा दविए त्ति एस दव्वट्ठियस्स णिक्खेवो ।
भावो अ पज्जवट्ठिअ(स्स)परूवणा एस परमत्थो ॥"

इति सम्मति(-६)गाथायाम् । अथवा, 'वस्तुनिबन्धनाध्यवसायनिमित्तव्यवहारमूलकारणतामनयोः प्रतिपाद्यानुनाऽध्यारोपिता-ऽनध्यारोपितनाम-स्थापना-द्रव्य-भावनिबन्धनव्यवहारनिबन्धनतामनयोरेव प्रतिपादयदाहाचार्यः'—इति द्वितीयावतरणिका । इति दृढतरं सुधीभिर्विभावनीयम् ।

इत्येवं सुगमनिक्षेपो मोक्षस्थोपायतः सुधीः । यथा तथा प्रयुञ्जीत यथा शोभा न बाध्यते ॥ इति ॥१७॥

[भाष्यकार के द्विविध कथन का अभिप्राय !]

उक्त रीति से नैगमादि में नामादि निक्षेप और भावनिक्षेप के अभ्युपगम में भाष्यकार का समर्थन बताने पर यह प्रश्न उठ सकता है कि भाष्यकार ने मङ्गलप्रकरण में यह कहा है कि 'नामादि तीन निक्षेप द्रव्यार्थिक के और भावनिक्षेप पर्यायार्थिक का विषय है' दूसरी ओर उन्हीं ने उपोद्घात प्रकरण में यह कहा है कि 'पर्यायार्थिकनय भावनिक्षेप मात्र को ही विषय करता है और द्रव्यार्थिक नय सभी निक्षेपों को विषय करते हैं ।' इन दोनों कथनों में स्पष्टरूप से विरोध प्रतीत होता है । अतः भाष्यकार के इस द्विविध कथन का क्या अभिप्राय है ? इस प्रश्न के उत्तर में व्याख्याकार ने उक्त कथन का यह अभिप्राय बताया है कि प्रथम कथन शुद्धचारित्र में मनोयोगरूपभावमङ्गल के प्रकरण से सम्बद्ध है । अतः उसमें बताना है कि नैगमादिनय को मंगलरूप में कौन निक्षेप अभिमत है । वस्तुस्थिति यह है कि नैगमनय की दृष्टि में नाम-स्थापना और द्रव्यरूप मङ्गल अभिमत है क्योंकि भगवन्नाम-भगवन्मूर्ति तथा जलाहरणादि में व्यापृत घटादि उसे मङ्गलात्मना अभ्युपगत है

1. नामादित्रिकं द्रव्यार्थिकस्य भावश्च पर्यायार्थिकस्य । 2. भावमेव शब्दनयाः शेषा इच्छन्ति सर्वनिक्षेपान् । 3. नाम स्थापना द्रव्यं इत्येष द्रव्यार्थिकस्य निक्षेपः । भावश्च पर्यायार्थिक(स्य)प्ररूपणा एष परमार्थः ॥१॥

किन्तु घटोपयोग-घटज्ञानरूप भावघट उसे मङ्गलात्मना अभ्युपगत नहीं है। अतः उक्तप्रकरण से सम्बद्ध उक्त कथन का अभिप्राय नैगमादि को मङ्गलरूप में नामादिचतुष्टयविषयक बताने में है। ऐसा मानने में कोई त्रुटि भी नहीं है, क्योंकि नामनिक्षेप का पृथक् अभ्युपगम न होने से पृथक् निक्षेपरूप में ज्ञान में अभ्युपगत नाम की मुख्यता नहीं है। अतः नाम के समान प्रत्यय में मङ्गलरूप से नैगमादिविषयत्व की प्रसक्ति नहीं होती। उपोद्घातप्रकरण की स्थिति इससे अलग है, वहाँ व्यवस्था अर्थात् वस्तु की वास्तविकस्थिति के प्रतिपादन का प्रकरण है। अतः उस प्रकरण में नामादि निक्षेपचतुष्टय को नैगमादि का विषय कहा गया है। अतः उक्त दो कथन प्रकरणभेद मूलक होने से उन में विरोध की सम्भावना नहीं हो सकती।

अथवा भाष्यकार के प्रथम कथन का अन्य नय से समर्थन किया जा सकता है, वह नय है– नामादिचतुष्टय में मुख्यरूप से द्रव्यार्थिक विषयत्व का अभ्युपगम। अतः उक्त कथन का आशय यह है कि नामादिनिक्षेपत्रय मुख्यरूप से द्रव्यार्थिक नय का विषय है न कि उसका यह तात्पर्य है कि नामादिनिक्षेपत्रयमात्र ही द्रव्यार्थिक का विषय है। क्योंकि– 'द्रव्यार्थिकस्य नामादित्रयम्' यह वचन एवकाररूप अवधारणा से युक्त नहीं है। अतः अन्यत्र द्रव्यार्थिक को भावनिःक्षेपविषयक भी बताने से इन वचन की असङ्गति नहीं हो सकती। तथा 'पर्यायनयस्य भावः' यह वचन एवकाररूप अवधारण से युक्त है। अतः भावनिक्षेप ही पर्यायार्थिक का विषय है यही भाष्यकार का अभिप्राय है। इसीलिये तत्त्वार्थसूत्र की वृत्ति में भी कहा गया है कि चार निक्षेपों में प्रारम्भ के नामादि तीन निःक्षेप द्रव्यार्थिक के विषय होते हैं, क्योंकि द्रव्यार्थिक तद्रूप से मुख्यतया उन्हीं तीन निक्षेपों को विषय करता है और अन्तिम-भावनिःक्षेप पर्यायनय की वस्तु है, क्योंकि पर्यायनय का विषय होता है वस्तु का तद्रूप में परिणाम और उसका ज्ञान। ये दोनों भावात्मक हैं। इसीलिये सम्मतिसूत्र की गाथा में भी इस बात को परमार्थरूप में प्रतिपादित किया गया है कि नाम, स्थापना और द्रव्य ये तीनों निक्षेप द्रव्यार्थिक के विषय हैं मुख्यरूपसे विषय हैं। भावनिक्षेप पर्यायार्थिक का मुख्य विषय है।

[भाष्यकार के द्विविध कथन का अन्य अभिप्राय]

अथवा भाष्यकार के उक्त दोनों वचनों का अभिप्राय इसप्रकार अवगत किया जा सकता है कि पूर्ववचन द्वारा आचार्य ने यह बताया है कि द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक दोनों वस्तुगत अध्यवसायमूलक व्यवहार के जनक हैं। अर्थात् द्रव्यार्थिक से नाम-स्थापना-द्रव्यात्मक वस्तु का अनारोपात्मक निश्चय हो कर नामाद्यात्मना वस्तु का व्यवहार होता है। पर्यायार्थिकनय से भाव का अनारोपात्मकाध्यवसाय होकर भावव्यवहार का उदय होता है। और द्वितीयवचन से यह बताया गया है कि द्रव्यार्थिकनय नाम-स्थापना-द्रव्य और भाव इन चारों से होनेवाले व्यवहार का जनक है। अंतर इतना है कि नाम-स्थापना द्रव्य का व्यवहार उनके अनारोपात्मक ज्ञान से होता है और भावव्यवहार भाव के आरोपात्मक ज्ञान से होता है। क्योंकि द्रव्यार्थिक की दृष्टि में भाव का वास्तव-अस्तित्व नहीं है अतः वह आरोपित ही भाव का ग्राहक होता है। पर्यायार्थिकनय भाव के अनारोपात्मक ज्ञान से, भावमात्र के व्यवहार का कारण होता है। इसप्रकार विद्वानों को आचार्य के दोनों वचनों के अभिप्रायभेद का अनुसन्धान कर लेना चाहिये।

निःक्षेपसम्बन्धी प्रयोग का निष्कर्ष बताते हुये व्याख्याकार का कहना है कि–"जिस विद्वान ने निःक्षेप को अवगत कर लिया है उसे मौढ्य का परिहार अर्थात् निक्षेपभेद को दृष्टि में रखे बिना

वस्तुव्यवहार की प्रवृत्ति का परिहार करने के लिए उद्यत होकर, वस्तु के निरूपण में तत्तद्विशेषों का प्रयोग इसप्रकार करना चाहिये जिससे प्रयोक्ता का अभिप्राय वस्तु के स्वरूपनिरूपण में बाधक न हो ।"–अभिप्राय यह है कि यदि अश्वशब्द का प्रयोग किसी ऐसे संदर्भ में आया है जिसमें अश्व का आशुगमनकर्तृत्व अर्थसंगत नहीं होता, ऐसे संदर्भ में अश्वशब्द की व्याख्या नाम, स्थापना, या द्रव्य निःक्षेप की दृष्टि से अश्वशब्द के अर्थनिर्धारण से करना चाहिये क्योंकि ऐसा करने से ही अश्वशब्द के प्रयोक्ता का अभिप्राय उस संदर्भविशेष में अश्वशब्द के प्रयोग के प्रतिकूल न होगा ॥१७॥

१८ वीं कारिका में पूर्वपक्षी के इस कथन में दोष प्रदर्शन किया गया है कि 'वस्तु में उत्पादादि त्रिरूपता का साधक शोक-प्रमोद-माध्यस्थ्य का उदय वासनाविशेष से अन्यथासिद्ध हो जाता है'---

यच्चोत्पादादित्रयात्मकत्वे शोक-प्रमोद-माध्यस्थ्योदयसाधकस्यान्यथासिद्धिर्वासनाविशेषेणेति पूर्वपक्षिणोक्तं तद् दूषयितुमाह–

मूलम्—वासनाहेतुकं यच्च शोकादि परिकीर्तितम् ।
तदयुक्तं यतश्चित्रा सा न जात्वनिबन्धना ॥ १८ ॥

यच्च शोकादि वासनाहेतुकं परिकीर्तितं न तु भिन्नवस्तुनिबन्धनम्, **तदयुक्तम्**, यतश्चित्रा=शोकादिजनकत्वेन नानाप्रकारा सा=वासना समनन्तरज्ञानक्षणलक्षणा न जातु= कदाचित् अनिबन्धना=निर्हेतुका ॥ १८ ॥

[शोकादि वासनामूलक होने का कथन अयुक्त]

इस संदर्भ में बौद्ध की ओर से जो यह कहा गया है कि–"शोकादि वासनाहेतुक है, भिन्नवस्तुहेतुक नहीं है । अर्थात् यह कहना कि–'घटात्मना सुवर्ण का नाश घटार्थी के शोक का, मुकुटात्मना उत्पाद मुकुटार्थी के प्रमोद का, और आकार द्वय में निरपेक्ष-यानी उदासीन सामान्य सुवर्णार्थी के माध्यस्थ्य का, प्रयोजक होता है'-यह ठीक नहीं है । क्योंकि घटात्मना सुवर्ण के नाश से जो घटार्थी को शोक होता है उस का कारण सुवर्ण का घटात्मना नाश नहीं है किन्तु 'घटाकारशून्य सुवर्ण सुख-संपादक नहीं है' इसप्रकार की जो घटार्थी को वासना होती है वह शोक की जनक है । अन्यथा यदि सुवर्ण का घटात्मना नाश स्वरूपतः शोकजनक हो तो उस का स्वरूप घटार्थी और घटनिरपेक्ष दोनों के प्रति समान होने से दोनों को शोकोत्पत्ति होनी चाहिये । यही बात प्रमोद और माध्यस्थ्य के विषय में भी ज्ञातव्य है ।"–किन्तु विचार करने पर बौद्ध का यह कथन युक्तिसंगत नहीं प्रतीत होता । क्योंकि जिस वासना को शोकादि का कारण बताया गया है वह विभिन्नप्रकार समनन्तर ज्ञानक्षणरूप है अतः वह कभी निर्हेतुक अथवा समानहेतुक नहीं हो सकती ।

१९ वीं कारिका में पूर्वकारिका में उक्त अर्थ का उपपादन किया गया है —

अत्र हेतुमाह—

मूलम्—सदाभावेतरापत्तिरेकभावाच्च वस्तुनः ।
तद्भावेऽतिप्रसङ्गादि नियमात्संप्रसज्यते ॥ १९ ॥

सदाभावेतरापत्तिः-अत्र भाव उत्पत्तिः, इतरपदार्थोऽनुत्पत्तिः, निर्हेतुकत्वे तस्या उत्पत्तिशीलत्वे सदोत्पत्त्यापत्तिः, अनुत्पत्तिशीलत्वे च सदानुत्पत्त्यापत्तिरित्यर्थः। चित्रवासनायां दोषान्तरमाह-एकभावाच्च=एकस्वभावाच्च वस्तुनः, तद्भावे चित्रवासनोत्पादेऽभ्युपगम्यमाने, नियमादतिप्रसङ्गादि। आदिना विपर्ययाऽनेकस्वभावत्वादिग्रहः। तथाहि-एकस्माद् विचित्रवासनाभ्युपगमेऽधिकृतात् कुतश्चित् सकलव्यवहारनियामकवासनोत्पत्तौ तन्मात्रं जगदित्यतिप्रसङ्गः। 'जातिभेदाद् नियमोपपत्तेर्नायं दोषः' इति चेत् ? न, जातेरवस्तुत्वात्। कल्पितश्च जातिभेदो न कार्यभेदनियामकः, अन्यथा कल्पितात् तदभेदात् कार्याऽभेदोऽपि स्यात्।

अस्तु वा यत्किञ्चिदेतत्, मा भूत् तथापि रूपादेः रसादिवासना, नीलादेः पीतादिवासना तु स्यात्, जातिभेदाभावात्। 'नीलादेः पीतादिवासनानां सजातीयानामप्यजननस्वभावत्वात् नायं दोष' इति चेत् ? न, वाङ्मात्रत्वात्। नीलं हि नीलवासनामेव जनयति न तु भिन्नां पीतादिवासनामितिवद् घटोऽपि शोकवासनामेव जनयेद् न तु प्रमोदवासनामिति। 'एकस्यैव तस्य शोकादिनानावासनाजननस्वभावत्वाद् न दोष' इति चेत् ? हन्त ! एवं येन स्वभावेन तस्य शोकजनकत्वं तेनैव प्रमोदजनकत्वे, शोकस्थलेऽपि प्रमोद इति विपर्ययः स्यात्, अन्यथा च स्वभावभेदापत्तिः। एतेन 'उपादानभूतप्रातिस्विकमनस्कारभेदात् कार्यभेदः' इत्यपि निरस्तम्, एकस्य घटादेरनेकोपादान-सहकारित्वाऽयोगात्। न च तथादर्शनादेव तथाभ्युपगमः, तस्य तथाभूतचित्रवस्तुनिमित्तत्वात्, अन्यथैकस्वभावत्वाभ्युपगमविरोधात्।

व्यवस्थापितश्चायमर्थः-[अने. जय. भाग १-पृ. ४६]

* यतः स्वभावतो जातमेकं नान्यत्ततो भवेत्। कृत्स्नं प्रतीत्य तं भूतिभावत्वात् तत्स्वरूपवद् ॥१॥
अन्यच्चैवंविधं चेति यदि स्यात्किं विरुध्यते। तत्स्वभावस्य कार्त्स्न्येन हेतुत्वं प्रथमं प्रति ? ॥२॥

इत्यादिना अन्येन ग्रन्थकृतैवाऽनेकान्तजयपताकायाम्। एकानेकस्वभावे च वस्तुनि न किञ्चिद् दूषणमुत्पश्यामः। न हि शोकवासनानिमित्तस्वभावत्वमेव प्रमोदादिवासनानिमित्तत्व-

---

* व्याख्या:-यतः स्वभावतः=कारणगतात् जातमेकं=सत्प्रत्ययादि कार्यं, नान्यत्=असत्प्रत्ययादि ततः=स्वभावाद् भवेत्। किमित्यत आह-कृत्स्नं=सम्पूर्णं प्रतीत्य=आश्रित्य तं=स्वभावं भूतिभावत्वात्=उत्पत्तिस्वभावत्वात् एकस्य=कार्यस्य तत्स्वरूपवत्=अभिमतैककार्यस्वरूपवत्। न हि सदन्यत्, न वा प्रत्ययोऽसत्प्रत्ययस्तत्वनिमित्तहेतुजश्चेति चित्रम् ॥ १ ॥

व्याख्या:-आह-अन्यच्चेत्यादि। अन्यच्च=कार्यान्तरं च, एवंविधं चेति=कृत्स्नं प्रतीत्य तं भूतिभावं चेति यदि स्यात्=यदि भवेत्. किं विरुध्यते ? अत्रोत्तरमाह-तत्स्वभावस्य=कारणगतस्य कार्त्स्न्येन=सर्वात्मना हेतुत्वं प्रतीत्योत्पादापेक्षया प्रथमं प्रति=आद्यं कार्यं प्रति विरुध्यते, तत्रैव सर्वात्मनाऽस्योपयोगादिति ॥ २ ॥

भावत्वमिति, श्रयो-त्पादादिशक्तिभेदात् , एकस्मादेव घटनाशादनेकेषां घटार्थिनां युगपच्छोको-त्पादेऽप्यनेकोपादानसंबन्धनिमित्तस्वभावभेदात् । तदिदमुक्तम्-"न चैकानेकस्वभावेऽप्यय-मिति, तथादर्शनोपपत्तेः" इति ॥ १६ ॥

[वासना अहेतुक होने पर दोषपरम्परा]

वासना यदि निर्हेतुक होते हुये उत्पत्तिशील होगी तो उसके सर्वदाभाव की यानी सदा उत्पत्ति की आपत्ति होगी और यदि अनुत्पत्तिशील होगी तो सर्वदा उसके इतर यानी उत्पत्ति से इतर अर्थात् अनुत्पत्ति की आपत्ति होगी। उसके अतिरिक्त दूसरा दोष यह है कि एक स्वभाव वस्तु से यदि विविधाकार वासना की उत्पत्ति मानी जायगी तो नियम से अतिप्रसङ्ग, विपर्यय और अनेक-स्वभावत्व की आपत्ति होगी। जैसे देखिये-यदि एक रूप वस्तु से विविधाकार वासना की उत्पत्ति होगी तो किसी एक ही वस्तु से सम्पूर्ण व्यवहार के नियामक वासना की उत्पत्ति होने से वस्तुमात्र में जगत् की परिसमाप्ति रूप अतिप्रसङ्ग होगा। 'एक ही वस्तु भिन्न भिन्न जाति द्वारा भिन्नाकार वासना की उत्पादक होती है' यह मानकर भी इस दोष का परिहार नहीं किया जा सकता क्योंकि बौद्धमत में जाति अवास्तविक है। कल्पित जातिभेद कार्यभेद का नियामक नहीं हो सकता, क्योंकि कल्पित जातिभेद से यदि कार्यभेद की उत्पत्ति होगी तो कल्पित जातिऐक्य से कार्याऽभेद की भी प्रसक्ति हो सकती है। यदि किसी प्रकार जातिभेद की कल्पना करके कार्यभेद की उपपत्ति की भी जाय तो रूपादि से रसादि वासना की आपत्ति का परिहार सम्भव होने पर भी नीलादि से पीतादिवासना की उत्पत्ति का प्रसङ्ग तो अनिवार्य ही होगा क्योंकि नील-पीतादि सभी के रूपजातीय होने से उन में जातिभेद नहीं है।

यदि यह कहा जाय कि 'नील पीतादि में सजातीयता होने पर भी नीलादि से पीतादि वासना की उत्पत्ति इसलिये नहीं होती कि नीलादि में पीतादिवासना का अजनकत्व स्वभाव है।'-तो यह ठीक नहीं है क्योंकि यह समाधान केवल वचनमात्र है-उसमें कुछ युक्ति नहीं है। क्योंकि जैसे यह कहा जाय कि-नील वस्तु नीलवासना का ही जनक होती है, पीतादिवासना का जनक नहीं होती, क्योंकि पीतादिवासना का अजनकत्व उसका स्वभाव है; उसी प्रकार यह भी कहा जा सकता है कि घट भी शोकवासना का ही जनक है प्रमोदवासना का नहीं। फलतः घटार्थी को भी घट से प्रमोद की उत्पत्ति न हो सकेगी।

यदि इसके उत्तर में बौद्ध की ओर से यह कहा जाय कि-"एक ही घट में शोक-प्रमोदादि विषयक अनेकवासनाजनन का स्वभाव है अतः उक्त दोष नहीं हो सकता"-तो ऐसा कहने पर विपर्यय की आपत्ति होगी, अर्थात् घट को जिस स्वभाव से शोक का जनक माना जायगा यदि उसी स्वभाव से वह प्रमोद का भी जनक होगा तो शोक स्थल में प्रमोद की आपत्ति होगी। यदि भिन्न भिन्न स्वभाव से शोक-प्रमोद का जनक माना जायगा तो एक वस्तु में स्वभावभेद की आपत्ति होगी। जो बौद्ध को अभिमत नहीं है।

इस सन्दर्भ में यह कहना कि-"घटरूप सहकारी कारण के अभिन्न होने पर भी तत्तद् मन-स्कार=समनन्तर ज्ञानक्षणरूप उपादान कारण के भेद से शोक प्रमोदादि कार्यभेदोत्पत्ति हो सकती है"-यह ठीक नहीं है, क्योंकि एक ही घट विभिन्नोपादान कारणों का सहकारी नहीं हो सकता। आशय यह है कि यदि तत्तत् उपादानकारण शोक-प्रमोदादि विभिन्न कार्यों के प्रति स्वयं समर्थ हो

तो उनके लिये घटरूप सहकारी की कल्पना निरर्थक है और यदि वह स्वयं समर्थ नहीं है तो घट-रूप एक सहकारी के सन्निधान से उनमें विभिन्न कार्यों की उत्पादकता युक्तिसंगत नहीं हो सकती।

यदि यह कहा जाये कि-"एक सहकारी के सन्निधान से विभिन्नउपादानोपकार द्वारा विभिन्न कार्यों का उदय देखा जाता है, अत एव विभिन्न कार्यों के उदय के प्रति विभिन्न उपादान कारणों के एक सहकारी की कल्पना स्वीकार की जा सकती है"-तो यह ठीक नहीं है क्योंकि विभिन्नोपादान कारणों से जो विभिन्नोपादान कार्यों का जन्म होता है वह विभिन्न कार्यों के उत्पत्ति-प्रयोजक विभिन्न स्वभावोपेत एक सहकारीनिमित्तक है, यदि ऐसा नहीं माना जायगा तो विभिन्न कार्यों के प्रति विभिन्न उपादान कारणों का जो सहकारी स्वीकार करना है उसे एक व्यक्ति रूप मानना विरुद्ध होगा। इस तथ्य को अनेकान्तजयपताकादि ग्रन्थों में मूलग्रन्थकार श्री हरिभद्रसूरिजी ने दो कारिकाओं से स्वयं प्रतिपादित किया है। कारिकाओं का अर्थ इस प्रकार है कि--

(१) बौद्ध मत में कारण जिस स्वभाव से एक कार्य का जनक होता है उस स्वभाव से अन्य कार्य का जनक नहीं होता है। क्योंकि कार्य का भूतिभावत्व--उत्पत्तिधर्मकत्व कृत्स्न कारण के अधीन होता है। अर्थात् जो कार्य जिस कारण से उत्पन्न होता है उस कार्य की उत्पत्ति में वह कारण कृत्स्न यानी समग्ररूप से विनियुक्त हो जाता है। फलतः कारण एक कार्य के उत्पादन में समग्ररूप से विनियुक्त हो जाने से उससे कार्यान्तर की उत्पत्ति नहीं हो सकती। जैसे जिस मिट्टीपिण्ड से कोई घट उत्पन्न होता है वह मिट्टीपिण्ड कृत्स्नरूप से उस घट के उत्पादन में ही विनियुक्त हो जाता है। अतः उस मिट्टीपिण्ड से अन्य मृत्पात्र की उत्पत्ति नहीं होती। इस प्रकार यह वस्तुस्थिति स्पष्ट है कि जिस कार्य के प्रति जो स्वरूप कारण होता है उससे उस एक ही कार्य की उत्पत्ति होती है-कार्यान्तर की नहीं। बौद्ध की इस मान्यता के रहते हुये भी इस मान्यता का अनेकान्तवाद स्वीकार में पर्यवसान दिखाने के लिए दूसरी कारिका में ग्रन्थकार का यह कहना है कि-

(२) यदि एक वस्तु को एवंविध और अन्यविध अर्थात् विभिन्न स्वभावोपेत माना जाय और उस एक-एक स्वभाव से विभिन्न कार्य के प्रति उसे कारण माना जाय तो उस वस्तु का जो स्वभाव प्रथम कार्य के प्रति जनक है वह स्वभाव उस का समग्ररूप से जनक है और जो स्वभावान्तर है वह कार्यान्तर का जनक है ऐसा मानने में कोई विरोध नहीं है। इस प्रकार वस्तु को एकानेक स्वभाव मानने पर कोई दोष दृष्टिगोचर नहीं होता।

यह ज्ञातव्य है कि घट भी जो शोकवासना और प्रमोदादिवासना का निमित्त होता है वह एकस्वभाव से नहीं किन्तु स्वभावभेद से होता है। और यह स्वभावभेद नाश-उत्पादादि शक्तिभेदाधीन है। आशय यह है कि घट में विनाश और उत्पाद दोनों की शक्ति है। विनाश शक्ति से वह विनाशस्वभाव को और उत्पादशक्ति से वह उत्पाद स्वभाव को प्राप्त करता है। विनाश स्वभाव से अर्थात् विनाशोपेतस्वरूप से वह दर्शकों की शोकवासना का जनक है और उत्पादस्वभाव-उत्पादोपेतस्वरूप से दर्शकों की प्रमोदवासना का जनक है।

यह भी ज्ञातव्य है कि एक घटनाश से अनेक दर्शकों को एक साथ जो शोकोत्पत्ति होती है उसमें भी घटनाश एक स्वभाव से जनक न होकर स्वभावभेद से जनक होता है और वह स्वभावभेद है विभिन्न दर्शकों के समनन्तरज्ञानक्षणरूप विभिन्न उपादानों के साथ सम्बन्ध की निमित्तताहप। आशय यह है कि यद्यपि घटनाश एक है किन्तु वह विभिन्न उपादानों के साथ सम्बन्ध का निमित्त है,

अत एव वह एक होते हुये भी विभिन्नोपादानस्वभावभिन्नस्वभाव के द्वारा विभिन्न पदार्थों में विभिन्न लोक का जनक करता है। यही बात "न चैकानेकस्वभावेऽप्ययम् इति, तथादर्शनोपपत्तेः"- इस वचन से प्रतिपादित की गई है, जिसका अर्थ यह है कि वस्तु को एकस्वभाव से विभिन्न कार्यों का जनक मानने पर जो दोष होता है वह वस्तु को एकानेकस्वभाव मानकर विभिन्न स्वभावों से विभिन्न कार्यों का जनक मानने पर नहीं होता। क्योंकि एक वस्तु से विभिन्न स्वभाव द्वारा विभिन्न कार्यों का उदय देखा जाता है। उदाहरणार्थ, एक प्रदीप से प्रकाश-दहन-अन्य दीप प्रकाशनादि विभिन्न कार्यों का उदय होता है ॥ १९ ॥

२० वीं कारिका में उस दोष का परिहार किया गया है जो प्रस्तुत स्तबक की 'किञ्च स्याद्वादिनो' इस ७ वीं कारिका से प्रदर्शित किया जा चुका है –

'किञ्च स्याद्वादिनो नैव.' [का० ७] इत्यादिनोक्तं दोषं परिहरन्नाह—

मूलम्—न मानं मानमेवेति सर्वथाऽनिश्चयश्च यः ।

उक्तो न युज्यते सोऽपि यदेकान्तनिबन्धनः ॥ २० ॥

'न मानं मानमेव' इत्यभिसंधाय सर्वथाऽनिश्चयश्च यः पूर्वपक्षवादिनोक्तः, सोऽपि न युज्यते, यत्=यस्मात् एकान्तनिबन्धनः, स=अनिश्चयः। तथाहि—न तावदस्माकं माने कथञ्चिद्-मानत्वसमावेशादप्रामाण्यसंशयादर्थाऽनिश्चयः, मानत्वा-ऽमानत्वयोः कथञ्चिदविरोधात्, अवधृतविरोधयोर्धर्मयोरेकत्र धर्मिणि प्रतिभासस्यैव संशयत्वात्, "स्वपरदारपरिकुण्ठितं चित्तम्" इति भाष्यप्रतीकेनैतदर्थलाभात्।

धर्मयोर्विरोधावधारणं च क्वचित् प्राक्, क्वचित् पश्चात् क्वचिच्च सहैव। अत एव प्राग्-परिस्थितविरोधयोः स्थाणुत्व-पुरुषत्वयोर्विरोधानुल्लेखेनापि स्थाणौ प्रतिभासः। तथाऽत एव च श्यामत्वा-ऽश्यामत्वयोरेकत्र प्रदेशेऽपि विरोधस्फूर्तौ तथात्वम्। अत एव च क्वचित् संसर्गशब्दा-दिना सहैव विरोधस्फूर्तौ तथात्वम्। इत्थं च नया एवेतरनयविषयविरोधावधारणे संशेरतेऽपि। तदुक्तम्—'परविचारणे मोहा' इति, न तु स्याद्वादि इत्यवधेयम्।

ये तु—'एकत्र तत्तदभावोभयप्रकारकज्ञानमेव संशयः, एकत्वेऽत्यस्यैव विशेष्यतावच्छेदकत्वात् न समुच्चयेऽतिव्याप्तिः, तत्र तत्तदभावप्रकारतानिरूपितविशेष्यताभेदात्' इति नैयायिकादयो वदन्ति—तेषां 'स्थाणुर्वा पुरुषो वा' इति संशयानुपपत्तिः। न च तत्र चातुष्कोटिक एव संशयः, द्विकोटिकस्यैवानुभवात्। 'समुच्चये प्रकारताभेदाद् विशेष्यताभेदो न तु संशये' इत्यत्र च शपथ-मात्रस्य शरणत्वादिति। येऽपि तत्-तदभाव-तत्सम्बन्धाप्यादिविषयता अन्यतमत्वेनाऽनुगतीकृत्य तद्घटितं संशयत्वमाचक्षते तेषामप्यन्यापोहपर्यवसानम्।

[अनेकान्तवाद में सर्वत्र संशयापत्ति का उद्धार]

बौद्धादि की ओर से जो अनेकान्तवादी के प्रति इस दोष का उद्भावन किया गया था कि "अनेकान्तवादी के मत में प्रमाण एकान्ततः प्रमाण नहीं हो सकता क्योंकि ऐसा मानने पर प्रमाण-वस्तु में एकान्तरूपता रहने पर वस्तुमात्र की अनेकान्तरूपता का भङ्ग होगा, अतः प्रमाण अप्रमाण भी होगा। इस प्रकार अर्थग्राहीज्ञान में प्रामाण्य-अप्रामाण्य दोनों का संशय हो जाने से अर्थनिश्चया-भाव प्रसक्त होगा।"-किन्तु विचार करने पर पता चलेगा कि अनेकान्तवाद में यह दोष प्रसक्त नहीं होता, क्योंकि अनेकान्तवादी के मत में प्रमाण में अप्रामाण्य का कथञ्चित् समावेश माना जाता है, अतः अप्रामाण्यसंशयप्रयुक्त अर्थनिश्चयाभाव नहीं हो सकता। प्रामाण्य और अप्रामाण्य में कथञ्चित् अविरोध होने से प्रमाण में अप्रामाण्य संशय असम्भव है, क्योंकि जिन धर्मों में परस्पर विरोध निर्णीत होता है-ऐसे दो धर्मों का एक धर्मी में भान ही संशय कहा जाता है। संशय का यह अर्थ 'स्वपर्युदासपरिकुण्ठितं चित्तम्' इस भाष्यश्लोक से अवगत होता है। इस श्लोक का अर्थ यह है कि चित्त=ज्ञान, अपने विषयभूतवस्तु के पर्युदास यानी विपरीत वस्तु को ग्रहण करने से, परि-कुण्ठित यानी अपने विषय का निश्चय कराने में असमर्थ हो जाता है। भाष्य श्लोक का यह अर्थ ऐसे ही ज्ञान में घटता है जो एक धर्मी में परस्परविरुद्धतया निर्णीत दो धर्मों का प्रतिभासरूप होता है।

[इस प्रकार ज्ञान में संशयत्व के लिये उसमें एक धर्मी में परस्परविरुद्ध दो धर्मों का भान आवश्यक होने से एक ज्ञान में कथञ्चित् प्रामाण्य-अप्रामाण्य का अभ्युपगम करने पर उसमें अप्रा-माण्य का संशय नहीं हो सकता क्योंकि दोनों में अपेक्षाभेद से अविरोध होने के कारण उनमें विरोधा-वधारण दुर्घट है।]

[विरोधावधारण का तीन प्रकार]

इस प्रकार संशय में एक धर्मी के विशेषणरूप में भासित होने वाले दो धर्मों में विरोध का अव-धारण आवश्यक है। यह विरोधावधारण कहीं तो पहले होता है और कहीं बाद में होता है तथा कहीं साथ ही होता है। इसीलिये स्थाणुत्व और पुरुषत्व में विरोध का पूर्वकाल में निर्णय रहने पर वर्तमान में स्थाणुत्व-पुरुषत्व के विरोध का उल्लेख न होने पर भी संशयात्मक ज्ञान में, धर्मी में उन दोनों का प्रतिभास होता है। एवं कहीं संशय के बाद विरोध अवधारण होता है, इसीलिये श्यामत्व और अश्या-मत्व का एक घट में 'श्याम एवायं अश्यामः'='श्याम ही अश्याम हो गया' इस प्रकार ज्ञान होने पर बाद में उन दोनों में विरोध का अवधारण होने पर वह ज्ञान अपने विषय के निर्णय में अपर्यवसायी होने से संशयात्मक होता है। तथा कहीं संशय के साथ ही संशयविषयीभूत धर्मों में विरोध का अव-धारण होता है। इसीलिये जहाँ विरोधात्मक सम्बन्ध से धर्मद्वय की उपस्थिति अर्थात् नित्यत्वम-नित्यत्वविरुद्धम् इस अवधारण ज्ञान से उपस्थिति होकर 'शब्दः नित्योऽनित्यो वा' यह संशय की उत्पत्ति होती है उसमें अनित्यत्व में नित्यत्व के विरोध का प्रकारविधया अथवा सम्बन्धविधया भान होता है। एवं जहाँ 'शब्दो नित्यो न वा' इस विप्रतिपत्तिवाक्य से संदेह होता है वहाँ विप्रतिपत्ति-वाक्यघटक विरोधार्थक नञ् शब्द से विरोध की उपस्थिति होने से संशय में एक धर्म में दूसरे धर्म के विरोध का भान होता है।

इस प्रकार नय अपने विषय में अन्य नय के विषय के विरोध का अवधारण होने पर संशया-त्मक भी होते हैं। जैसा कि सम्मति सूत्र में कहा गया है-'परविचारणे मोहाः'-अन्य नय के विषय का

प्रतिक्षेप करने में असमर्थ होते हैं। यह असमर्थता ही उन की संशयतुल्यता की अवद्योतिका है। किन्तु स्याद्वाद में 'स्यात्' पद का समभिव्याहार होने पर मोहात्मकता नहीं होती किन्तु वे विषय की सापेक्षसत्ता के निर्णायक होते हैं।

[नैयायिककृत संशयलक्षण की समीक्षा]

नैयायिकादि विद्वान् ऐसा कहते हैं कि एकधर्मी में तत् और तदभाव उभयप्रकारक ज्ञान ही संशय है। यहाँ 'एक धर्मी में' इसका अर्थ है 'एकविशेष्यतानिरूपित'। अतः एक विशेष्यतानिरूपित तत्-तदभावउभयनिष्ठप्रकारताद्वयशाली ज्ञान संशय है। अतः समुच्चय में संशयलक्षण की अतिव्याप्ति नहीं होती, क्योंकि उसमें तन्निष्ठप्रकारता और तदभावनिष्ठप्रकारता निरूपित विशेष्यताओं में भेद होता है। -इस नैयायिक मत में 'अयं स्थाणुर्वा पुरुषो वा' इस प्रकार के संशय की अनुपपत्ति होती है क्योंकि वह अभावप्रकारक नहीं है। उसे स्थाणुत्व और स्थाणुत्वाभाव एवं पुरुषत्व और पुरुषत्वाभाव इन चार धर्मों को प्रकार मानकर उसे चतुष्कोटिक संशय भी नहीं कहा जा सकता क्योंकि संशयमात्र द्विकोटिक ही अनुभवसिद्ध है। दूसरी बात यह है कि 'समुच्चय में प्रकारता के भेद से विशेष्यता का भेद होता है और संशय में नहीं होता' इस बात में शपथ को छोड़ और कोई प्रमाण नहीं है।

कुछ लोग संशयभिन्नज्ञान की तत्-तदभाव-तदभावव्याप्य आदि निष्ठ जितनी विषयताएँ हैं उन सब का अन्यतमत्वरूप से अनुगम करके तत्तद्विषयताअन्यतमविषयताशून्यज्ञानत्व को संशय का लक्षण मानते हैं। उनके मत में संशयत्व संशयान्यापोह यानी संशयभिन्नभिन्नत्व में पर्यवसित हो जाता है, जो अपोह को निरस्त करनेवाली युक्तियों से ही निराकृत हो जाता है।

* इत्थं च, विरोधः किमिह तद्वद्वृत्तित्वम्, तद्ग्रहप्रतिबन्धकग्रहविषयत्वं वा ? तज्ज्ञानमपि प्रकारतया, संसर्गविधया वा ? । नाद्यः, तद्वद्वृत्तित्वलक्षणविरोधस्य तदभावव्याप्यत्वपर्यवसायिनः संशयेनाऽस्पर्शात्, तदभावव्याप्यवत्तानिश्चयस्य संशयप्रतिबन्धकत्वात्, तदभावस्य च कार्यसहभावेन हेतुत्वात्। तदभावव्याप्यवत्तानिश्चयत्वं च न तदभावाऽप्रकारकत्वघटितम्, गौरवात्। अन्यथा 'वह्न्यभावव्याप्यव्याप्यवान् वह्निव्याप्यवान् पर्वतः' इति परामर्शद्वयात् 'पर्वतो वह्निमान्, तदभावव्याप्यवांश्च' इति संशयरूपानुमितेर्दुर्वारत्वात्, विरोधाऽविषयकैकधर्मिकस्थाणुत्व-तदभावप्रकारकज्ञानेऽपि संशयव्यवहाराच्च, अन्यथा तस्य संशयान्यत्वे ततो निश्चयकार्यापत्तेः। अत एव न द्वितीयादिरपि।

इति स्वतन्त्रनीत्या मुक्त्वा ज्ञानविषयतया परस्परग्रहप्रतिबन्धकतावच्छेदकधर्ममेव विरोधपदार्थमाचक्षाणाः प्रतिक्षिप्ताः, क्वचिद् रूप-रसयोरपि तथात्वेनैकत्र तदुभयग्रहस्यापि संशयत्वापत्तेः।

---

* मूलव्याख्याग्रन्थ में इस चर्चा का प्रारम्भ जिस वाक्य से हुआ है उसमें 'इत्थं च' यह शब्द 'अथ' के अर्थ में प्रयुक्त है।

संशये तदभावव्याप्तिपर्यवसायिविरोधभानेऽपि तदभावव्याप्यवत्तानिश्चयत्वाभावात् , तदंशेऽवधारणात्मकविषयताया एव तदंशे निश्चयत्वात् , अन्यथाऽनध्यवसायेऽतिव्याप्तेः । न चानुत्कटैककोटिकः संशय एवानध्यवसायः, अनुत्कटत्वाऽनिरुक्तेः, (अ ?)स्पष्टतावदवधारणात्वयानध्यवसायविलक्षणविषयतानुभवाच्चेति अन्यत्र विस्तरः ।

एवकारप्रयोगानुपपत्तिरूपोऽनिश्चयोऽपि नास्माकम् , स्यात्कारगर्भत्वेन तदुपपत्तेः, चित्रे घटेंऽशापेक्षया 'कथञ्चिद् नील एव' इतिवत् , श्यामे घटे कालापेक्षया कथञ्चिद् 'न श्याम एव' इतिवत् , एतत्कालवृत्तौ स्वभावापेक्षया कथञ्चित् 'स एवायम्' इतिवद्-इत्याद्यूह्यम् ॥२०॥

[संशयलक्षणान्तर्गत विरोध का स्वरूप क्या है ?]

'परस्परविरोधवत्तया निर्णीत धर्मयुगल का एक धर्मी में प्रतिभास ही संशय है'-संशयलक्षण के इस निर्वचन के सम्बन्ध में यह प्रश्न है कि-संशय में भासित होने वाले धर्मों में जो विरोध विवक्षित है वह तद्वदवृत्तित्वरूप है अथवा तत्प्रकारकज्ञान के प्रतिबन्धकज्ञान का विषयत्वरूप है । तथा इस विरोध का ज्ञान प्रकारविधया विवक्षित है अथवा संसर्गविधया ? प्रश्न का आशय यह है कि एक धर्मी में जिन दो धर्मों के ज्ञान को संशय कहा जाता है उन धर्मों में से एक धर्म में धर्मान्तराधारावृत्तित्व का, अथवा धर्मान्तरप्रकारक ज्ञानप्रतिबन्धक ज्ञान के विषयत्व का, प्रकारविधया अवधारण अपेक्षित है अथवा संसर्गविधया ? इस प्रश्न के उत्तर में प्रथमपक्ष अर्थात् 'तद्वदवृत्तित्वरूप विरोध का प्रकारविधया भान आपेक्षित है' यह पक्ष स्वीकार्य यानी युक्तिसंगत नहीं हो सकता क्योंकि तद्वदवृत्तित्वरूप विरोध तदभाव की स्वाऽभाववदवृत्तित्वरूप व्याप्ति में पर्यवसित होता है । अत एव वह संशय का विषय नहीं हो सकता, क्योंकि संशय में उसका भान मानने पर संशय संशयरूप न रह कर तदभावव्याप्यप्रकारकनिश्चयरूप हो जाने से स्वात्मक संशय के प्रति प्रतिबन्धक हो जायगा । फलतः तदभावव्याप्यप्रकारक निश्चयाभाव कार्यकालवृत्ति होकर कारण होने से संशय की उत्पत्ति न हो सकेगी । क्योंकि संशयकाल में संशयात्मक तदभावव्याप्यप्रकारक निश्चय के रह जाने से उसका अभाव नहीं रहेगा ।

यदि यह कहा जाय कि-"तद्व्याप्यवत्तानिश्चयत्व की कुक्षि में तदभावाऽप्रकारकत्व का निवेश कर दिया जायगा । अतः वह्न्यभावव्याप्यप्रकारकनिश्चयत्व वह्निस्वरूप वह्न्यभावाभाव प्रकारकत्वाभाव से घटित होगा । इसलिये वह्नि-वह्न्यभाव उभय प्रकारक संशय में वह्न्यभाव में वह्निमदवृत्तित्वरूप वह्न्यभावव्याप्यत्व का भान होने पर भी उसमें वह्निरूप वह्न्यभावाभावप्रकारकत्व के भी होने से उक्त संशय वह्न्यभावव्याप्यवत्तानिश्चयरूप न हो सकेगा । अत एव संशय को स्व के प्रति प्रतिबन्धकत्वापत्ति नहीं हो सकेगी"-तो यह ठीक नहीं है क्योंकि तत्प्रकारकबुद्धि में तदभावव्याप्यवत्ता निश्चय की जो प्रतिबन्धकता होती है उस प्रतिबन्धकता की अवच्छेदक कोटि में तदभावस्वरूप तत् के अभावाऽप्रकारकत्व का निवेश करने में गौरव होगा ।

इसके अतिरिक्त दूसरा दोष यह है कि यदि तत्प्रकारक बुद्धि में तदभावव्याप्यवत्ता निश्चय को तदभावस्वरूप तत् के अभावाऽप्रकारकत्व अर्थात् तदप्रकारकत्व घटिततदभावव्याप्यवत्तानिश्चयत्वरूप

से प्रतिबन्धक माना जायगा तो 'पर्वतो वह्निमान् वह्न्यभावव्याप्यवांश्च' यह ज्ञान इस के प्रति प्रति-बन्धक नहीं होगा। क्योंकि उस ज्ञान में वह्निप्रकारकत्वाभाव घटित वह्न्यभावव्याप्यप्रकारकनिश्चय-त्वरूप प्रतिबन्धकतावच्छेदक नहीं है। फलतः 'वह्न्यभावव्याप्यव्याप्यवान् वह्निव्याप्यवांश्च पर्वतः' इस परामर्श से 'पर्वतो वह्निमान् वह्न्यभावव्याप्यवांश्च' इसप्रकार की अनुमिति जो धर्मी में वह्नि-प्रकारक और वह्न्यभावव्याप्यवत्त्वेन धर्मिविशेष्यक भी होने से संशयत्व की आपत्ति दुर्वार होगी।

तीसरा दोष यह है कि एक धर्मी में स्थाणुत्व और स्थाणुत्वाभावप्रकारक विरोधाऽविषयक ज्ञान में भी संशयत्व का व्यवहार होता है, उसकी इस पक्ष में अनुपपत्ति हो जायगी। इस का अभ्यु-पगम भी नहीं किया जा सकता क्योंकि यदि वह ज्ञान संशय से अन्य होगा तो उससे निश्चयकार्य की अर्थात् स्थाणुत्वप्रकारक निश्चय के स्थाणुत्वाभावप्रकारकज्ञान के प्रतिबन्धरूप कार्य की एवं स्थाणुत्वा-भावप्रकारक निश्चय के स्थाणुत्वप्रकारक ज्ञान के प्रतिबन्धरूप कार्य की आपत्ति होगी। फलतः उक्त ज्ञान के बाद तत्समानाकार ज्ञान की उत्पत्ति न हो सकेगी। विरोधाविषयक उक्त ज्ञान में संशयत्व-व्यवहारानुपपत्तिरूप दोष संशय में विरोध के संसर्गविधया ज्ञानपक्ष में भी अपरिहार्य है।

तृतीयदोष के कारण ही संशय में उक्त अन्यविध विरोध के प्रकारविधया अथवा संसर्गविधया भान के अभ्युपगम का द्वितीय पक्ष भी अग्राह्य है।

[दूसरे प्रकार के विरोध की समीक्षा]

'यदि-"स्वतन्त्र रीति से विरोधपदार्थ का इस प्रकार निर्वचन किया जाय कि जो धर्म ज्ञान-विषयतया परस्पर ज्ञान की प्रतिबन्धकता का अवच्छेदक होता है वही परस्पर का विरोध है और संशय का यह निर्वचन किया जाय कि इस विरोध को ग्रहण करनेवाला एक धर्मी में धर्मद्वय का ज्ञान ही संशय है-तो उक्त दोष नहीं हो सकता क्योंकि विशेष्यतासम्बन्ध से स्थाणुत्वाभावप्रकारकज्ञान के प्रति स्वप्रकारकज्ञानविशेष्यतासम्बन्ध से स्थाणुत्व, तथा विशेष्यता सम्बन्ध से स्थाणुत्वप्रकारक ज्ञान के प्रति स्वप्रकारकज्ञानविशेष्यतासम्बन्ध से स्थाणुत्वाभाव, प्रतिबन्धक है। इसप्रकार स्थाणुत्व और स्थाणुत्वाभाव में परस्परग्रह की प्रतिबन्धकता है। अतः स्थाणुत्व और स्थाणुत्वाभावत्व ये दोनों धर्म, विरोधपदार्थ के उक्त निर्वचनानुसार, विरोधस्वरूप हो जाते हैं। अतः एक धर्मी में स्थाणुत्व और स्थाणुत्वाभावप्रकारक ज्ञान के भी विरोधग्राहक हो जाने से उक्तज्ञान में संशयत्वव्यवहार की अनुपपत्ति नहीं हो सकती।" किन्तु विरोधपदार्थ का मोह-अङ्कुरवलिततया इसप्रकार निर्वचन करने-वाले विद्वान् भी इस कारण निरस्त हो जाते हैं कि एकधर्मी में उक्त विरोधग्राहक धर्मद्वय के ज्ञान को संशय मानने पर 'घटः रूपवान् रसवांश्च' इस ज्ञान में भी संशयत्व की आपत्ति हो जाती है, क्योंकि 'यो यः रूपवान् स रसाभाववान्' इस ज्ञानकाल में 'रसवान्' यह ज्ञान रूपज्ञान का प्रतिबन्धक होता है। अतः रूपत्व-रसत्व भी रूप-रस के परस्परग्रह का प्रतिबन्धकतावच्छेदक होने से निरुक्त विरोधस्वरूप हो जायगा। अतः उक्त ज्ञान भी एकधर्मी में विरोधग्राहक रूपरसस्वरूप धर्मद्वय का ज्ञान हो जाता है।

[संशय में प्रकारविधया विरोधभान में दोष का उद्धार]

व्याख्याकार ने उक्त विरोध के सम्बन्ध में उक्त विकल्पों में प्रथमपक्ष का समर्थन 'संशये

---

१. मूलव्याख्याग्रन्थ में 'इति' शब्द का अर्थ है यदि और उसकी योजना 'प्रतिक्षिप्ताः' के पूर्व में अभि-प्रेत है और स्वतन्त्र शब्द के पूर्व में 'एतेन' शब्द का समभिव्याहार विवक्षित है।

तदभावव्याप्ति' इत्यादि ग्रन्थ से किया है। इस ग्रन्थ का प्रारम्भ "उच्यते- आद्ये न दोषः" इन शब्दों के अध्याहार से अभिमत है। ग्रन्थ का आशय यह है कि संशय में तदभावव्याप्ति में पर्यवसित तद्वद्वृत्तित्वरूप विरोध का भान मानने पर भी तद्-तदभावप्रकारक संशय में तदभावव्याप्यवत्तानिश्चयत्व नहीं होगा, क्योंकि तदंश में अवधारणात्मक विषयता ही तदंशविषयक निश्चयस्वरूप है। संशय में तद्विरुद्धधर्म का तदभावव्याप्यत्वरूप तद्वद्वृत्तित्वरूप से भान होने पर भी उस धर्म में अवधारणात्मक विषयता न होने से संशय में तदभावव्याप्यवत्तानिश्चयत्व नहीं हो सकता।

['इत्थं च'... ग्रन्थसंदर्भ का अन्य रीति से व्याख्यान]

अथवा 'इत्थं च' से लेकर 'प्रतिक्षिप्ताः' पर्यन्त ग्रन्थ का अनायासलभ्य समुचित व्याख्यान यह है कि जैन द्वारा, संशय में भासमान धर्मों में विरोधावधारण की आवश्यकता बताने पर अन्य पूर्वपक्षी विद्वानों का यह कहना है कि तद्वद्वृत्तित्वादि विरोध का संशय में भान मानने पर संशय तदभावव्याप्यप्रकारक निश्चयरूप हो जायगा अतः संशय के प्रति संशय ही प्रतिबन्धक हो जाने से उसकी उत्पत्ति न हो सकेगी। विरोधाविषयक एक धर्मी में स्थाणुत्व और स्थाणुत्वाभावप्रकारक ज्ञान में संशयत्व की अनुपपत्ति होगी। अतः यदि संशय में विरोध भान मानना ही है तो उसमें परस्परग्रह प्रतिबन्धकतावच्छेदकधर्मरूप विरोध का भान मानना उचित है। क्योंकि इस विरोध का भान मानने पर उक्त दोष नहीं होंगे-किन्तु ऐसा मानने पर प्रमाण में अप्रामाण्य संशय के अनुदय का समर्थन जैनों से नहीं हो सकता क्योंकि प्रामाण्य और अप्रामाण्य के ज्ञान में भी क्वचित् परस्परग्रह की प्रतिबन्धकता होने से उस प्रतिबन्धकता के अवच्छेदक प्रामाण्यत्व और अप्रामाण्यत्वरूप विरोध वगाही अप्रामाण्य के संशय का वारण न होगा।

किन्तु व्याख्याकार का कहना है कि इस विषय को प्रस्तुत करनेवाले पूर्वपक्षी वक्ष्यमाण (=आगे कही जाने वाली) युक्तियों से प्रतिक्षिप्त हो जाते हैं। वक्ष्यमाण युक्तियों में प्रथम युक्ति यह है कि परस्परग्रहप्रतिबन्धकतावच्छेदकधर्म को विरोध मानकर उसके भान द्वारा संशय में विरोधविषयकत्व का समर्थन करने पर 'घट रूपवान् रसवांश्च' इस बुद्धि में संशयत्व की आपत्ति होगी, क्योंकि रूपत्व-रसत्व भी उक्त रीति से स्थलविशेष में परस्परग्रहप्रतिबन्धकतावच्छेदक होते हैं। दूसरी युक्ति संशय में तद्वद्वृत्तित्वरूप विरोध का भान मानने पर जो संशय में तदभावव्याप्यप्रकारक निश्चयत्व की आपत्ति देकर संशयानुपपत्तिरूप दोष बताया गया है उसका समाधान रूप है।

सिद्धान्ती जैन का आशय यह है कि विरोधाऽविषयक एकधर्मिक स्थाणुत्व-स्थाणुत्वाभावप्रकारक ज्ञान में जो संशयत्व के व्यवहार की आपत्ति बतायी गयी है—वह उचित नहीं है क्योंकि 'संशयविषयीभूत धर्मों में संशय में ही विरोध का भान होता है' यह जैनों की मान्यता नहीं है जिसे पहले ही यह कहते हुए स्पष्ट कर दिया गया है कि कहीं विरोध का अवधारण संशय से पूर्व होता है और कहीं संशय के बाद होता है। अतः उक्तज्ञान के पूर्व अथवा बाद में उक्तज्ञान में भासमान स्थाणुत्व और स्थाणुत्वाभाव में विरोध का अवधारण मान लेने पर उसमें संशय के जैनसम्मत उक्त लक्षण की अव्याप्ति नहीं हो सकती। संशय के साथ विरोध की स्फूर्ति-पक्ष में जो संशय में तदभावनिश्चयत्व का आपादन कर संशयानुपपत्ति का प्रदर्शन किया गया है उसका समाधान यह है कि संशय में तदभावव्याप्यांश में अवधारणात्मकविषयता न होने से तदंश में अवधारणात्मक विषयताशाली ज्ञानस्वरूप निश्चयत्व संशय में सम्भव नहीं है।

यदि यह कहा जाय कि—"तदभावाऽप्रकारक तत्प्रकारकज्ञानत्व ही तत्प्रकारकनिश्चयत्व है। उसकी कुक्षि में तदंश में अवधारणात्मक विषयता का निवेश अनावश्यक है।"—तो यह ठीक नहीं है क्योंकि निश्चयत्व की कुक्षि में अवधारणात्मक विषयता का निवेश न करने पर 'इदं तत्किञ्चिद्' 'इदं किञ्चिद् रूपवत्' इस प्रकार के तत्प्रकारकानध्यवसाय में अतिव्याप्ति होगी। यदि यह कहा जाय कि—'अनुत्कट एक कोटिक संशय को ही अनध्यवसाय कहा जाता है। अतः अनध्यवसाय में तत् के समान तदभाव का भी प्रकारविधया भान होने से निश्चयत्व को 'तदभावाप्रकारकत्वे सति तत्प्रकारकज्ञानत्व रूप मानने पर भी अनध्यवसाय में तत्प्रकारकनिश्चयत्व की अतिव्याप्ति नहीं हो सकती"—तो यह ठीक नहीं है। क्योंकि अनुत्कटत्व का निर्दुष्ट निर्वचन सम्भव न होने से अनुत्कटकोटिक संशय को अनध्यवसाय न मान कर 'तदंश में अस्पष्टताख्यविषयतावाली ज्ञान' को ही तद्विषयकानध्यवसाय मानना उचित है। अतः निश्चयत्व की कुक्षि में अवधारणात्मकविषयता का निवेश न कर तदभावाऽप्रकारक तत्प्रकारक ज्ञानत्व को निश्चयत्वरूप मानने पर तद्विषयकानध्यवसाय में तद्विषयकनिश्चयत्व की आपत्ति दुर्वार होगी। दूसरी बात यह है कि जैसे अनध्यवसाय में अस्पष्टताख्यविषयता आनुभविक है उसी प्रकार निश्चय में अनध्यवसाय व्यावृत्त अवधारणात्मक विषयता भी आनुभविक है। अतः तदभावाप्रकारकतत्प्रकारक ज्ञानत्व को निश्चय का लक्षण मानने की अपेक्षा तदंश में अवधारणात्मक विषयता को तत्प्रकारक निश्चय का लक्षण मानने में लाघव है। इस विषय का विस्तृत विचार अन्यत्र द्रष्टव्य है।

[एवकार प्रयोग की अनुपपत्ति के दोष से निस्तार]

व्याख्याकार का कहना है कि अनेकान्तवाद में प्रमाण को एकान्ततः प्रमाण न मान कर कथञ्चित् अप्रमाण मानने पर भी केवल अर्थ के अनिश्चय की आपत्ति का ही परिहार नहीं होता किन्तु 'एवकार के प्रयोग की अनुपपत्तिरूप अनिश्चय की आपत्ति' का भी परिहार हो जाता है। अर्थात् 'स्यात्' पद का योग करके वस्तु के किसी धर्मविशेष का एवकार से अवधारण भी किया जा सकता है। जैसे—चित्रघट में नीलांश की अपेक्षा 'घटः कथञ्चित् नील एव' अर्थात् 'घट अमुकभाग की अपेक्षा नील ही है' इस अवधारण के समान एवं श्यामघट में पाक से रक्तरूप की उत्पत्तिकाल की अपेक्षा 'घटः कथञ्चित् श्याम एव=घट अमुककाल में श्याम ही है' इस अवधारण के समान, एवं पाक से घट में रक्तरूप की उत्पत्तिकाल में विद्यमान घट में स्वभाव यानी घटस्वरूप की अपेक्षा "कथञ्चित् स एवायम्=स्वरूपापेक्षया श्यामघट श्यामघट से अभिन्न ही है" इस अवधारण के समान, वस्तु के अन्य अन्य स्वरूपों का भी 'स्यात्'-पद सहकृत 'एव' पद से अवधारण, अनेकान्तवाद में भी सर्वथा शक्य है।

२१ वीं कारिका में एकान्तवादी के मत में 'प्रमाण को एकान्ततः प्रमाणरूपता का अभ्युपगम दुर्घट है' इस विषय को स्फुट किया गया है—

परस्य तु दुर्घटोऽयमित्युक्तमेव प्रकटयति—

मूलम्—मानं चेन्मानमेवेति प्रत्यक्षं लैङ्गिकं ननु ।
तत्स्वं चेन्मानमेवेति स्याद्भावादृते कथम् ॥२१॥

मानं चेदभिमतं मानमेव=सर्वथा प्रमाणमेव, इति=हेतोः सर्वथा प्रमाणत्वात्, 'ननु'

इत्याक्षेपे, प्रत्यक्षं लैङ्गिकं स्यात् , तस्य सर्वथा मानत्वात् , मानसामान्यव्यापकस्वभावत्व एव तथात्वोपपत्तेः । पराशयमाशङ्कयाह-तत्=अधिकृतं मानं तत्=प्रत्यक्षं नानुमानम् , प्रत्यक्षस्व-भावत्वाच्चेत् ? एवं तद्भावापत्ते=अनुमानमानत्वमन्तरेण कथं मानमेवेति स्यात् , प्रत्यक्षस्य स्वमानत्वेनैव मानत्वात्, अनुमानमानत्वेन चाऽमानत्वात् ? इति ।

[प्रमाण भी सर्वथा प्रमाणरूप नहीं है]

यदि अधिकृत किसी प्रमाण को सर्वथा प्रमाण ही माना जायगा तो प्रत्यक्षप्रमाण भी लैङ्गिक अनुमान प्रमाण से अभिन्न हो जायगा क्योंकि प्रत्यक्ष में एकान्तवादी को सर्वथा प्रमाणत्व मान्य है और यह उसे व्यापकरूप से सामान्यतः सभी प्रमाणों के रूप में प्रमाणस्वभाव मानने पर ही उपपन्न हो सकता है। इस पर एकान्तवादी की ओर से यदि यह शंका की जाय कि-"अधिकृत प्रमाण अर्थात् प्रत्यक्षप्रमाण प्रत्यक्षैकस्वभाव होने से प्रत्यक्ष ही है-अनुमानस्वरूप नहीं है, इसलिये प्रत्यक्ष को अनु-मानात्मक माने बिना भी उसके सर्वथा प्रमाणत्व में कोई बाधा नहीं है।"-तो यह ठीक नहीं है क्योंकि प्रत्यक्ष में तद्भाव=तत् अनुमान का भाव अर्थात् अनुमानप्रमाणत्व माने बिना 'प्रत्यक्ष प्रमाण ही है'-यह कैसे हो सकता है ? जब कि एकान्तवादी को अनुमानप्रमाणत्व उसमें इष्ट न होने पर उसे प्रत्यक्षत्व रूप से ही प्रमाण और अनुमानप्रमाणत्वरूप से अप्रमाण मानना आवश्यक होता है।

अत्र नैयायिकादयः-नन्वनुमानान्यत्वेऽपि प्रत्यक्षस्य 'प्रत्यक्षं मानमेव' इति प्रयोगो न दुर्घटः। न हि 'मानमेव' इत्यत्र कार्त्स्न्यमेवकारार्थः, कस्याप्येकस्य कृत्स्नमानरूपत्वाऽ-भावात् , किन्त्वयोगव्यवच्छेदः । तत्र च व्युत्पत्तिवशात् मानत्वावच्छिन्नप्रतियोगिताकाऽयोगोप-स्थितेर्न दोषः, प्रत्यक्षेऽनुमानत्वावच्छिन्नाऽयोगसत्त्वेऽपि मानत्वावच्छिन्नाऽयोगाभावादिति ।

अत्रेयमेवकारमर्यादा-

विशेष्यसंगतैवकारस्यान्ययोगव्यवच्छेदोऽर्थः, यथा 'पार्थ एव धनुर्धरः' इत्यादौ ।

विशेषणसंगतैवकारस्यायोगव्यवच्छेदोऽर्थः, यथा 'शङ्खः पाण्डुर एव' इत्यादौ ।

क्रियासंगतैवकारस्याऽत्यन्तायोगव्यवच्छेदोऽर्थः, यथा 'सरोजं नीलं भवत्येव' इत्यादौ । अत्र तत्तद्विशेष्यसंगतैवकारादेस्तत्तदन्ययोगव्यवच्छेदादौ शक्तिः ।

[न्यायमत से 'प्रत्यक्षं मानमेव' प्रयोग के उपपादन की आशंका]

नैयायिकादि प्रत्यक्ष को अनुमान से भिन्न मानते हुये भी 'प्रत्यक्षं मानमेव=प्रत्यक्ष एकान्ततः प्रमाण ही है' इस प्रयोग की दुर्घटता का निराकरण करते हैं। उनका आशय यह है कि 'प्रत्यक्षं मानमेव' इस प्रयोग में मान शब्द के उत्तर लगे हुए एवकार का अर्थ कार्त्स्न्य (=संपूर्णता) नहीं है, क्योंकि कोई भी एक प्रमाण समग्रप्रमाण स्वरूप नहीं होता। अतः 'मानमेव' का 'कृत्स्नं मानम्' अर्थ कर के 'प्रत्यक्षं कृत्स्नं मानम्' इस अर्थ को असम्भव बताते हुये 'प्रत्यक्षं मानमेव' इस प्रयोग को दुर्घट कहना उचित नहीं है। किन्तु 'प्रत्यक्षं मानमेव' इस प्रयोग में 'एव'कार का अर्थ 'अयोगव्यवच्छेद है, और यह व्युत्पत्ति है कि तद्धर्मावच्छिन्नबोधक पद से समभिव्याहृत 'एव'कार तद्धर्मावच्छिन्नप्रतियोगि-

त्वाक अयोग के व्यवच्छेद का बोधक होता है। अतः इस व्युत्पत्ति के अनुसार 'प्रत्यक्षं मानमेव' इस वाक्य से प्रत्यक्ष में मानत्वावच्छिन्न प्रतियोगिताक अयोग अर्थात् मानसामान्य के तादात्म्याभाव के व्यवच्छेद का बोध होता है। अतः प्रत्यक्ष भी मानस्वरूप होने से उसमें मानसामान्य के तादात्म्याभाव रूप अयोग का व्यवच्छेद सम्भव होने से 'प्रत्यक्षं मानमेव' इस प्रयोग के दुर्घटत्वरूप दोष की आपत्ति नहीं हो सकती है क्योंकि प्रत्यक्ष में अनुमानत्वावच्छिन्न का अयोग–तादात्म्याभाव होने पर भी मानत्वावच्छिन्न का अयोग यानी तादात्म्याभाव नहीं है।

[विशेष्यसंगत एवकार का अर्थ]

इस संदर्भ में प्रसंगवश व्याख्याकार ने प्रसिद्धि के अनुसार अर्थ मर्यादा बताते हुये कहा है कि एवकार तीन प्रकार का होता है–(१) विशेष्यसंगत एवकार (२) विशेषणसंगत एवकार और (३) क्रियासंगत एवकार। उन में विशेष्यसंगत एवकार का अर्थ है अन्ययोग व्यवच्छेद। जैसे 'पार्थ एव धनुर्धरः' इस प्रयोग में एवकार विशेष्यवाचक 'पार्थ' पद से समभिव्याहृत (सहोच्चरित) है अत एव वह अन्ययोगव्यवच्छेद का बोधक होता है। उसके अन्ययोगव्यवच्छेदरूप अर्थ के एक देश अन्यत्व में पार्थ पदार्थ का प्रतियोगितासम्बन्ध से अन्वय होता है। पार्थान्ययोगव्यवच्छेद अर्थात् पार्थान्यनिरूपित-वृत्तित्वाभाव। उसका अन्वय धनुर्धरत्वरूप विशेषण पदार्थ के एक देश में होता है। और उक्तरूप से गृह्यमाण धनुर्धरत्वपद का पार्थपदार्थ में अभेदसम्बन्ध से अन्वय होता है अतः उक्तवाक्य का अर्थ यह पर्यवसित होता है कि–पार्थ पार्थान्य में अवृत्ति धनुर्धरत्व के आश्रय से अभिन्न है। अर्थात् पार्थ में ऐसी विलक्षण धनुर्धरता है जो पार्थान्य में अवृत्ति है, (पार्थान्य में जिसके योग का व्यवच्छेद है)

[विशेषणसंगत एवकार का अर्थ]

विशेषण संगत एवकार का अर्थ है अयोगव्यवच्छेद। जैसे, 'शङ्खः पाण्डुर एव' इसमें एवकार विशेषणबोधक पाण्डुर पद से सहोच्चरित है अत एव इस वाक्य में वह अयोगव्यवच्छेद का बोधक है। अयोग का अर्थ है सम्बन्धाभाव। उसके एकदेश सम्बन्ध में 'पाण्डुर' शब्दार्थ एकदेश पाण्डुरत्व का अन्वय होने से 'पाण्डुर एव' का अर्थ होता है–पाण्डुरत्वसम्बन्धाभाव का अभाव। उसका स्वरूप सम्बन्ध से शंखपदार्थ में अन्वय होने से उक्त वाक्य का अर्थ होता है 'शंखः पाण्डुरत्वसम्बन्धाभावा-ऽभाववान्' अर्थात् शंख में पाण्डुरत्व का सम्बन्धाभाव नहीं होता। सभी शंख पाण्डुर ही होते हैं।

[क्रियासंगत एवकार का अर्थ]

क्रियासंगत एवकार का अर्थ है अत्यन्ताऽयोगव्यवच्छेद। जैसे, 'सरोजं नीलं भवत्येव' इस वाक्य में 'एव' पद 'भवति' इस क्रियापद से समभिव्याहृत (सहोच्चरित) है अत एव उसका अर्थ है अत्यन्ताऽयोगव्यवच्छेद। उसके एक देश अत्यन्तायोग में 'नीलं भवति' इस शब्द के अर्थ नीलकर्तृक-कोत्पत्ति का अन्वय होता है, अतः सरोज में नीलकर्तृक उत्पत्ति के अत्यन्ताऽयोग का अभाव प्रतीत होता है अतः नीलान्य सरोज में नीलकर्तृक उत्पत्ति का अयोग होने पर भी नीलसरोज में नील-कर्तृक उत्पत्ति का योग होने से सरोज में नीलकर्तृक उत्पत्ति का अत्यन्ताऽयोग नहीं होता अर्थात् सरोज में सरोजत्वव्यापक स्वरूपसम्बन्ध से नीलकर्तृक उत्पत्त्यभाव का अभाव होता है।

यहाँ यह ज्ञातव्य है कि तत्तद्विशेष्यसंगत एवकार की तत्तदन्ययोगव्यवच्छेद में एवं तत्तद्विशे-

पदासंगत एवकार की तत्तद्विशेषण के अयोग व्यवच्छेद में, एवं तत्तत्क्रियासंगत एवकार की तत्तत्क्रिया के अत्यन्तायोगव्यवच्छेद में शक्ति होती है।

नव्यास्तु–'अत्यन्तायोगव्यवच्छेदो नैवकारार्थः। अत्यन्ताऽयोगो हि न सर्वस्य तज्जातीयस्याऽयोगमात्रम्, तद्व्यवच्छेदस्य सिद्ध्यसिद्धिपराहतत्वात्। नापि तज्जातीये सर्वत्राऽयोगव्यवच्छेदः, 'सरोजं नीलं भवत्येव' इत्यादौ बाधात्। किन्त्वयोगे तज्जातीयावच्छिन्नत्वस्य व्यवच्छेदः। स च तज्जातीयस्य कस्यचिदयोगाव्यवच्छिन्नत्वं पर्यवस्यति इत्ययोगव्यवच्छेद एव तत्तद्धर्मिकदेशान्वयित्वेनात्यन्ताऽयोगव्यवच्छेदो गीयते। अयोगव्यवच्छेदस्तु 'ज्ञानमर्थं गृह्णात्येव' इत्यादौ। स चान्वयितावच्छेदकावच्छेदेन प्रत्याय्यते, 'ज्ञानं रजतं गृह्णात्येव' 'नरो वेदानधीत एव' इत्याद्यप्रयोगात्। नियामकस्तु क्रियाविशेषयोगादिरेव। एवं चैवकारस्य द्वयमेवार्थः–१. अयोगव्यवच्छेदः, २. अन्ययोगव्यवच्छेदश्चेति।

अन्ययोगव्यवच्छेद एव वाऽर्थः, सर्वत्र शक्तिद्वयकल्पने गौरवात्, 'शंखः पाण्डुर एव' इत्यादौ पाण्डुरत्वाद्यनुपस्थित्या पाण्डुरत्वाद्ययोगव्यवच्छेदस्य प्रत्याययितुमशक्यत्वात्, पाण्डुरान्ययोगव्यवच्छेदस्यैव तत्रान्वयात्, 'नीलं सरोजं भवत्येव' इत्यादावपि नीलाद्यन्ययोगस्य व्यवच्छेद्यत्वात्, अयोगव्यवच्छेदस्येवान्ययोगव्यवच्छेदस्यापि क्वचिदन्वयितावच्छेदकसामानाधिकरण्यमात्रेणान्वये क्रियाविशेषयोगादेर्नियामकत्वात्, 'ज्ञानमर्थं गृह्णात्येव' इत्यादौ च तिङो धर्मिपरतयाऽर्थग्राहकादन्ययोगव्यवच्छेदान्वयसंभवात्।

अन्ययोगश्च प्रातिस्विकरूपेण तात्पर्यसमभिव्याहारविशेषवशाद् भासते। तेन गन्धादेः संयुक्तसमवायादिनाऽन्यवृत्तित्वेऽपि 'पृथिव्यामेव गन्धः' इत्यादेर्नानुपपत्तिः, अन्यसमवेतत्वादेर्व्यवच्छेदान्वयात्। अत्र च गन्धादौ तद्वृत्तित्वं तदन्यवृत्तित्वव्यवच्छेदश्चेति द्वयं प्रतीयते, इति 'पृथिव्यामेवाकाशम्' इत्यादेर्न प्रसङ्गः। 'चैत्रस्यैवेदं धनम्' इत्यादौ चैत्रान्यस्वत्वादेर्धने व्यवच्छेदः, न तु चैत्रादिस्वत्वाद्ययोगस्य, उभयस्वामिकादावपि 'चैत्रस्यैव' इत्यादेः प्रसङ्गात्। एवं 'शीतस्यैव स्पर्शस्य जलवृत्तित्वम्' इत्यत्र जलवृत्तित्वे शीतान्यस्पर्शसंबन्धस्य, 'चैत्रो जलमेव भुङ्क्ते' इत्यत्र चैत्रे जलान्यभक्षणकर्तृत्वस्य, 'चैत्रेणैवायं दृश्यते' इत्यत्रास्मिंश्चैत्रान्यवृत्तिदर्शनविषयत्वस्य, न तु दर्शने चैत्रान्यवृत्तित्वस्य, चैत्रदर्शनस्य तदन्यावृत्तित्वेनोभयदृश्यमानेऽपि तादृशप्रयोगप्रसङ्गात्।

एवं च साधारण्यादन्यसंबद्धमेव व्यवच्छेद्यम्, अन्यसमवेतत्वादेरप्यन्यसंबद्धत्वात्, साक्षात् पारम्पर्येण विशेषात्। 'शंखः पाण्डुर एव' इत्यादौ पाण्डुरान्यतादात्म्यस्य व्यवच्छेदः, पाण्डुरान्यत्वस्यैव वा। इत्थं चान्यत्वे व्यवच्छेदे च शक्तिः, अन्यसंबन्धे लक्षणा, व्यवच्छेद एव वा

शक्तिः समभिव्याहारादिबलोपस्थिते च पार्थान्यत्वादौ लक्षणा, लक्ष्य-शक्ययोश्चैककार्थयो-रेवकारनियन्त्रितव्युत्पत्तिविशेषात् परस्परमन्वयः।

[नव्यमत-अत्यन्ताऽयोगव्यवच्छेद एवकार का अर्थ नहीं]

नव्यनैयायिकों का कहना है कि अत्यन्ताऽयोगव्यवच्छेद एवकार का अर्थ नहीं हो सकता क्योंकि अत्यन्ताऽयोग को यदि तज्जातीयसमस्तनिष्ठ अयोगरूप माना जायगा तो उसका व्यवच्छेद उसकी सिद्धि और असिद्धि दोनों से व्याहत होगा। जैसे, 'नीलं सरोजं भवत्येव' इस स्थल में सरोजजातीय समग्र में नीलोत्पत्ति का अयोग नहीं है क्योंकि सरोज विशेष में नीलोत्पत्ति का योग होता है, अतः उसके असिद्ध होने से उसका व्यवच्छेद शक्य नहीं हो सकता क्योंकि अप्रसिद्धप्रतियोगिकाभाव नहीं होता। तथा, 'परमाणवः भवत्येव' इस स्थल में उत्पत्ति का अयोग परमाणु सजातीय समस्त में सिद्ध है। अत एव उसका भी व्यवच्छेद करना शक्य नहीं है। क्योंकि किसी भी परमाणु में उत्पत्तियोग-रूप 'उत्पत्ति अयोग का व्यवच्छेद' सम्भव नहीं है। यदि यह कहा जाय कि-"तज्जातीय समस्तवृत्तित्व का अयोग के साथ सम्बन्ध न कर अयोगव्यवच्छेद के साथ संबन्ध जोड़ कर यह माना जायगा कि क्रिया-सङ्गत एवकार से सजातीय समस्त में क्रिया के अयोगव्यवच्छेद का बोध होता है अतः उक्त दोष नहीं हो सकता"-तो यह भी ठीक नहीं है क्योंकि ऐसा मानने पर 'सरोजं नीलं भवत्येव' इस स्थल में बाध हो जायगा क्योंकि सरोजजातीयसमस्त में नीलकर्तृक उत्पत्त्ययोग का व्यवच्छेद नहीं है। क्योंकि समस्त सरोजान्तर्गत नीलान्यसरोज में नीलकर्तृक उत्पत्ति का अयोग होने से उसका व्यवच्छेद समस्त सरोज में असम्भव है।

[नव्यमत में क्रियासंगत एवकार का अर्थ]

अतः क्रियासङ्गत एवकार से क्रिया के अयोग में क्रियाबोधकपदसमभिव्याहृतपद से तज्जा-तिविशिष्ट का बोध होता है तज्जातीयावच्छिन्नत्व अर्थात् तज्जातिव्यापकत्व का बोध मानना युक्ति-संगत हो सकता है क्योंकि 'नीलं सरोजं भवत्येव' इस स्थल में नीलकर्तृक उत्पत्ति का अयोग सरो-जत्व का व्यापक नहीं है, अत एव उसमें सरोजत्व के व्यापकत्व के अभाव का बोध हो सकता है। इसप्रकार क्रियासंगत एवकार का अर्थ होगा व्यापकत्व अयोग और व्यवच्छेद। इन में, व्यापकत्व में सरोज पदार्थ का अन्वय होगा निरूपितत्वसम्बन्ध से; और व्यापकत्व का अन्वय होगा स्वरूप सम्बन्ध से अभाव में और अभाव का स्वरूपसम्बन्ध से अन्वय होगा 'नीलं सरोजं भवत्येव' इस स्थल में उत्पत्तिनिरूपिताश्रयत्वाभावरूप अयोग में, उस अभाव की प्रतियोगिता है आश्रयत्वरूपसम्बन्ध में और अवच्छेदकता है उत्पत्ति में, जो उक्त स्थल में सुबन्त का अर्थ है। इसप्रकार उस उक्त वाक्य से होनेवाले शाब्दबोध का आकार होगा 'नीलाभिन्नं सरोजं सरोजत्वव्यापकत्वाभाववदभावनिरूपित-प्रतियोगितानिरूपितावच्छेदकतावदुत्पत्तिनिरूपिताश्रयतावत्।' किन्तु इसप्रकार नीलोत्पत्ति के अयोग में सरोजव्यापकत्वाभाव का बोध मानने पर उसका पर्यवसान सरोजविशेष में नीलोत्पत्ति के अयोग-व्यवच्छेद में होता है। क्योंकि किसी सरोज में नीलोत्पत्ति के अयोग का अभाव होने पर ही नीलो-त्पत्ति के अयोग में सरोजव्यापकत्व का अभाव हो सकता है। फलतः क्रियासङ्गत एवकार का भी अयोगव्यवच्छेद ही अर्थ सिद्ध होता है। और उसका अन्वय सरोजजातीय एकदेश में सरोजविशेष में होने से ही उसे अत्यन्तायोगव्यवच्छेद कहा जाता है।

'ज्ञानमर्थं गृह्णात्येव' इस स्थल में अयोग व्यवच्छेद को अन्ययोगव्यवच्छेद नहीं कहा जाता। क्योंकि ऐसे स्थलों में अयोगव्यवच्छेद की प्रतीति अन्वयितावच्छेदकावच्छेदेन ही मानी जाती है, ऐसी ही प्रतीति मानने का कारण यह है कि 'ज्ञानं रजतं गृह्णात्येव=ज्ञान रजत को ग्रहण करता ही है' एवं "नरो वेदानधीते एव=मनुष्य वेदाध्ययन करता ही है" इसप्रकार का प्रयोग नहीं होता। अयोगव्यवच्छेद का अन्वय कहीं अन्वयितावच्छेदकावच्छेदेन हो और कहीं अन्वयितावच्छेदकसामानाधिकरण्येन हो इसका नियामक क्रियाविशेषयोग अर्थात् क्रियाविशेषबोधक क्रियापदों का समभिव्याहार (=सहोच्चारण) ही है। अत एव 'सरोजं नीलं भवत्येव' इस स्थल में 'भवति' क्रिया-समभिव्याहृत एवकार से सरोजत्वसामानाधिकरण्येन नीलोत्पत्ति के अयोग के व्यवच्छेद का बोध होता है और 'ज्ञानमर्थं गृह्णात्येव' यहाँ एवकार से ज्ञानत्वावच्छेदेन ही अर्थग्राहकत्व के अयोगव्यवच्छेद की प्रतीति होती है। इसप्रकार नव्यमतानुसार एवकार के दो ही अर्थ सिद्ध होते हैं (१) अयोगव्यवच्छेद और (२) दूसरा अन्ययोगव्यवच्छेद।

[एवकार का एकमात्र अन्ययोगव्यवच्छेद ही अर्थ]

किन्तु और अधिक परामर्श करें तो उचित यह लगता है कि एकमात्र अन्ययोगव्यवच्छेद ही सर्वत्र एवकार का अर्थ है, अन्यथा उक्त अर्थों में एव पद की दो शक्ति की कल्पना में गौरव है। दूसरी बात यह है कि विशेषणसङ्गत एवकार का अयोगव्यवच्छेद अर्थ मानने पर 'शंखः पाण्डुर एव' इस स्थल में 'पाण्डुर' पद से पाण्डुरत्व की मुख्यपदार्थ विधया उपस्थिति न होने से पाण्डुरत्व के अयोग-व्यवच्छेद की प्रतीति भी अशक्य है। क्योंकि पदार्थद्वय का संसर्ग ही आकाङ्क्षाभास्य होने से पाण्डुरत्वरूप पदार्थतावच्छेदक का एवकारार्थ घटक अयोग में अन्वय असम्भव है। अतः उस स्थल में शंख में पाण्डुरान्ययोगव्यवच्छेद का ही बोध मानना उचित है। 'नीलं सरोजं भवत्येव' इसस्थल में भी सरोज में नीलादि से अन्य के योग के व्यवच्छेद की ही प्रतीति होती है। अर्थात् उस वाक्य से 'नीलान्ययोगव्यवच्छेदवत्सरोजं भवति' इसप्रकार का बोध होता है। इस बोध में एवकार का क्रियासंगतत्व क्या है? अन्वयितावच्छेदकसामानाधिकरण्येन स्वार्थबोधन में क्रियापदसापेक्षत्वरूप है। क्योंकि जैसे अयोगव्यवच्छेद के स्थलविशेष में अन्वयितावच्छेदकसामानाधिकरण्येन अन्वय क्रियाविशेष के योगरूपनियामक से नियन्त्रित होता है उसीप्रकार अन्ययोगव्यवच्छेद का भी स्थलविशेष में अन्वयितावच्छेदकसामानाधिकरण्येन अन्वय क्रियाविशेष के योगरूप नियामक से नियन्त्रित हो सकता है।

'ज्ञानमर्थं गृह्णात्येव' इस स्थल में लिङ् प्रत्यय धर्मीपरक है। अत एव वहाँ भी अर्थग्राहक के अन्ययोगव्यवच्छेद का ही अन्वय अन्वयितावच्छेदकावच्छेदेन होता है।

[अन्य योग का प्रतिभास भिन्न भिन्न रूप से]

अन्ययोग, तात्पर्यविशेष अथवा समभिव्याहारविशेष से प्रातिस्विकरूप से अर्थात् कहीं तत्-द्विशेषणान्ययोग के सम्बन्धस्वरूप किसी रूपविशेष से, तो कहीं तत्तद्विशेषणान्ययोग के तादात्म्य से और कहीं निरुक्तपदोपस्थाप्य तत्तद्धर्मान्ययोग के तादात्म्य से, भासित होता है। इसलिये गन्ध के पृथ्वीभिन्न में स्वाश्रय संयुक्त समवायसम्बन्ध से रहने के कारण पृथ्वीभिन्न का स्वाश्रयसंयुक्तसमवाय-सम्बन्धावच्छिन्नवृत्तित्वरूप सम्बन्ध गन्ध में रहता है तो भी 'पृथिव्यामेव गन्धः' इस प्रयोग की अनुपपत्ति नहीं हो सकती, क्योंकि यहाँ तात्पर्यविशेष अथवा समभिव्याहारविशेष से 'पृथ्वीभिन्नसमवेतत्व' रूप अन्ययोग के ही व्यवच्छेद का अन्वय इष्ट है और वह गन्ध में अबाधित है क्योंकि गन्ध पृथ्वी से

अन्य में समवेत नहीं होता । 'पृथिव्यामेव गन्धः' इस प्रयोग की अनुपपत्ति तब होती यदि अन्ययोग का प्रातिस्विक अर्थात् सम्बन्धत्वव्यापकरूप से भान न मान कर तत्तत्सम्बन्धत्वरूप से भान माना जाता । क्योंकि उस स्थिति में गन्ध में पृथ्वीभिन्न का उक्त सम्बन्धावच्छिन्नवृत्तित्व रूप सम्बन्ध रहने से पृथ्वी अन्यसम्बन्धाभाव बाधित होता । किन्तु सम्बन्धत्वव्यापकरूप से अन्ययोग का भान मानने पर उक्त स्थल में पृथ्वीअन्ययोग का समवायसम्बन्धावच्छिन्नवृत्तित्वरूप सम्बन्धत्वव्यापकधर्म से भान मानने के कारण उक्त प्रयोग की अनुपपत्ति नहीं हो सकती ।

'पृथिव्यामेव गन्धः' इस वाक्य से गन्ध में पृथ्वीवृत्तित्व यानी पृथ्वीसमवेतत्व और तदन्यवृत्तित्व का व्यवच्छेद अर्थात् पृथ्वीभिन्नसमवेतत्वाभाव, दोनों अर्थों की प्रतीति नियम से होती है । अत एव आकाश में पृथ्वीअन्यनिरूपितसमवेतत्वाभावरूप अर्थ अबाधित होने पर भी पृथ्वीसमवेतत्वरूप अर्थ का बाध होने से 'पृथिव्यामेवाकाशम्' इस प्रयोग की आपत्ति नहीं होती ।

इसी प्रकार 'चैत्रस्यैवेदं धनम्' इस स्थल में धन में चैत्रान्यनिरूपित स्वत्व के व्यवच्छेद की प्रतीति होती है न कि चैत्रनिरूपितस्वत्व के अयोगव्यवच्छेद की प्रतीति होती है । क्योंकि यदि द्वितीयप्रतीति मानी जायगी तो चैत्र-मैत्र उभयस्वामिकधन में भी 'चैत्रस्यैवेदं धनम्' इस प्रयोग की आपत्ति होगी । क्योंकि उस धन में भी चैत्रनिरूपित स्वत्व के अयोग का अभाव है । किन्तु प्रथम प्रतीति मानने में कोई दोष नहीं है, क्योंकि उक्त धन में चैत्रान्यनिरूपित स्वत्व के भी रहने से उसका अभाव बाधित है । इसी प्रकार 'शीतस्यैव स्पर्शस्य जलवृत्तित्वम्' इस स्थल में जलवृत्तित्व में शीतान्यस्पर्श के सम्बन्ध का, 'चैत्रो जलमेव भुङ्क्ते' इस स्थल में चैत्र में जलान्यभक्षणकर्तृत्व का; एवं 'चैत्रेणैवायं दृश्यते' इस स्थल में चैत्रान्यवृत्तिदर्शनविषयत्व का व्यवच्छेद बोधित होता है । अन्तिम वाक्य से दर्शन में चैत्रान्यवृत्तित्व के व्यवच्छेद का बोध नहीं माना जा सकता, क्योंकि वैसा मानने पर चैत्र-दर्शन में चैत्रान्यवृत्तित्व का अभाव होने से चैत्रमैत्र उभय से दृश्यमानपदार्थ में भी 'चैत्रेणैव अयं दृश्यते' इस प्रयोग की आपत्ति होगी ।

[सर्वत्र अन्यसंबद्धता ही एवकार से व्यवच्छेद्य]

इस प्रकार साधारणरीति से अन्यसम्बन्धत्व ही सर्वत्र एवकार से व्यवच्छेद्य होता है । अन्यसमवेतत्वादि भी अन्यसम्बद्धत्वरूप होने से ही व्यवच्छेद्य होता है । किन्तु आशय है कि अन्य सम्बद्धत्व कहीं साक्षात् सम्बन्ध से अन्यसम्बद्धत्वरूप होता है और कहीं परम्परा सम्बन्ध से अन्यसम्बद्धत्वरूप होता है । 'शंखः पाण्डुर एव' इस स्थल में शंख में पाण्डुरान्य तादात्म्यरूप पाण्डुरान्ययोग का व्यवच्छेद प्रतीत होता है अथवा पाण्डुरान्यत्व का ही व्यवच्छेद प्रतीत होता है । इस प्रकार अन्यत्व और व्यवच्छेद इन दो अर्थ में 'एव' पद की शक्ति है । 'शंखः पाण्डुर एव' इस स्थल में शक्ति द्वारा 'एव' पद से शंख में पाण्डुरान्यत्व के अभाव की प्रतीति होती है और 'पार्थ एव धनुर्धरः' इत्यादि स्थल में 'एव' पद की अन्यसम्बन्ध में लक्षणा द्वारा पार्थान्यसम्बन्ध के व्यवच्छेद की प्रतीति होती है ।

[व्यवच्छेदमात्र में शक्ति मानें तो लाघव]

अथवा लाघव से एवकार की शक्ति व्यवच्छेदमात्र में ही है 'पार्थ एव धनुर्धरः' यहाँ समभिव्याहारविशेष से पार्थान्यत्वादि की उपस्थिति होने से पार्थान्यसम्बन्ध में एव पद की लक्षणा हो जाती है, एवं 'शंखः पाण्डुर एव' में पाण्डुरान्यत्व में लक्षणा हो जाती है और व्यवच्छेद=अभाव में

उसका प्रतियोगिता सम्बन्ध से अन्वय होता है। यद्यपि अन्यत्र एकपद के लक्ष्य और शक्य अर्थ का परस्पर में अन्वय नहीं होता है किन्तु एव पद के शक्य और लक्ष्यार्थ का एवकार से नियन्त्रित व्युत्पत्ति विशेष से परस्पर में अन्वय हो सकता है। अतः 'एव' पद के शक्यार्थ और लक्ष्यार्थ के परस्परान्वय के दृष्टान्त से अन्यपद के शक्यार्थ और लक्ष्य अर्थ में परस्परान्वयबोध का आपादन नहीं किया जा सकता, क्योंकि अन्यपदघटितवाक्य में एवकारनियन्त्रित व्युत्पत्ति का अभाव है। वह व्युत्पत्ति इस प्रकार है–'एवपदप्रयोज्यलक्ष्यार्थनिष्ठविषयतानिरूपितशक्यार्थविषयता एवपदप्रयोज्या-भवति'। इसका मूलभूत कार्य-कारणभाव इस प्रकार है कि 'एवपदप्रयोज्यलक्ष्यार्थनिष्ठविषयता-निरूपितशक्यार्थनिष्ठविषयतासम्बन्धेन शाब्दबोधं प्रति 'एव'पदनिष्ठशक्तिज्ञानजन्योपस्थितिः विशे-ष्यतासम्बन्धेन कारणम्'। अतः घटपद की नील में लक्षणा मानकर 'नीलः घटः न शुक्लः' इस बोध के तात्पर्य से 'घटो न शुक्लः' इस प्रयोग की आपत्ति नहीं हो सकती।

'गुणवदेव द्रव्यम्' इत्यादौ द्रव्यादावेव गुणवदाद्यन्यत्वस्य व्यवच्छेदः, न तु द्रव्यत्वादौ गुणवदाद्यन्यवृत्तित्वस्य। 'चैत्र एव पचति' इत्यादौ लक्षणयोपस्थिते तादृशकर्त्रादौ चैत्रान्यत्वादि-व्यवच्छेदः। 'आत्मनैव ज्ञायते' इत्यादौ ज्ञानादावात्माऽन्यसमवेतत्वस्य व्यवच्छेदः। 'शीत एव स्पर्शो जलवृत्तिः' इत्यत्र जलवृत्तौ शीतान्यस्पर्शतादात्म्यस्य, जलवृत्तिस्पर्शे वा शीतान्य-त्वस्य। 'जातिमत्येव सत्ता' इत्यादौ 'समवैति' इत्यध्याहारेण समवाये जातिमदन्यवृत्तित्व-विशेषस्य व्यवच्छेदः। 'इह भवने मैत्रेणैव पच्यते तेमनम्' इत्यत्र मैत्रान्यकर्तृकत्वादिशक्तिव्यवच्छेदो लक्षणया बोध्यते, तत्रैतद्भवनवृत्तितेमनादौ मैत्रान्यपच्यमानत्वादेर्व्यवच्छेत्तुमशक्यत्वात्। एवं 'आत्मनैव तेमनं ज्ञायते, इष्यते, पच्यते, भुज्यते' इत्यादावात्मान्यज्ञेयत्वादेरप्रसिद्धत्वेन व्यवच्छेदाऽसंभवादियमेव रीतिरनुसर्तव्या।

[विविध प्रयोगों में एवकार के व्यवच्छेद्य का निर्देश]

(१) 'गुणवदेव द्रव्यम्' इत्यादि वाक्यों में एवकार से द्रव्यादि में गुणवदादि के भेद का व्यव-च्छेद होता है, किन्तु द्रव्यत्वादि में गुणवदादि से भिन्न के वृत्तित्व का व्यवच्छेद नहीं होता, क्योंकि वैसा व्यवच्छेद मानने पर द्रव्यत्वरूप पदार्थैकदेश में अन्वय होगा और वह अन्वय भी उपपन्न नहीं हो सकता, क्योंकि द्रव्यपद से द्रव्यत्व स्वरूपतः उपस्थित होता है। अतः उसमें गुणवद्भिन्न वृत्तित्व के अभाव का बोध नहीं हो सकता, क्योंकि पदार्थ के अन्वय बोध में अन्वयितावच्छेदकरूप से अन्वयी की उपस्थिति कारण होती है। (२) 'चैत्र एव पचति' इत्यादि वाक्य में 'ति' प्रत्यय की धर्मी में लक्षणा करने से उपस्थित पाककर्त्रादि में एवकार से चैत्रान्यत्वादि का व्यवच्छेद होता है। (३) 'आत्मनैव ज्ञायते' इत्यादि वाक्य में एवकार से ज्ञानादि में आत्मान्य-समवेतत्व का व्यवच्छेद होता है। (४) 'शीत एव स्पर्शो जलवृत्तिः' इस वाक्य में जलवृत्ति में शीतान्यस्पर्श के तादात्म्य का व्यवच्छेद होता है अथवा जलवृत्तिस्पर्श में शीतान्यत्व का व्यवच्छेद होता है। (५) 'जातिमत्येव सत्ता' इत्यादि वाक्यों में 'समवैति' पद का अध्याहार कर के समवायरूप धात्वर्थ में जातिमद्भिन्न के वृत्तित्वविशेष यानी स्वरूपसम्बन्धावच्छिन्नवृत्तित्व का व्यवच्छेद होता है। (६) 'इह भवने मैत्रेणैव पच्यते तेमनम्' इस वाक्य में मैत्रान्य में एतद्भवनवृत्ति तेमनकर्मक भावि मैत्रकर्तृक पाकानुकूल कृति का अभाव

लक्षणा द्वारा बोधित होता है क्योंकि एतत्कुक्षमवृत्तितैमनादि में मैत्रान्यकर्तृकत्वाविपाककर्मत्वादि का व्यवच्छेद अशक्य है क्योंकि पाक मैत्रकर्तृकत्व के अन्वय से अवरुद्ध है, अतः उसमें मैत्रान्यकर्तृकत्व का अन्वय नहीं हो सकता है, अतः मैत्रान्यकर्तृकपाककर्मत्व में एव पद के तात्पर्यग्राहक का संनिधान न होने से उस अर्थ में एवकार की लक्षणा नहीं हो सकती। (७) इसीप्रकार 'आत्मनैव तैमनं जायते' इत्यादि वाक्यों में एवकार से आत्मान्यसमवेत ज्ञानविषयत्व की अप्रसिद्धि होने से उसका व्यवच्छेद नहीं हो सकता। अतः 'आत्मनैव जायते' अथवा 'इह भवने०' इत्यादि के अनुसार एव पद की आत्मान्यसमवेतत्व में लक्षणा करके तात्पर्य में उसके व्यवच्छेद का अथवा आत्मपद की अनात्मा में लक्षणा करके उसमें तैमनविषयकज्ञानाद्याश्रयत्व के व्यवच्छेद का बोध मानना चाहिये।

अपरे पुनः–एवकारस्यात्यन्ताभावः, अन्योन्याभावश्चार्थः। 'पृथिव्यामेव गन्धः' इत्यत्र पृथिवीपदे पृथिव्यन्यस्मिँल्लक्षणया गन्धे प्रकृत्यर्थान्वितविभक्त्यर्थस्य लाक्षणिकार्थान्वितविभक्त्यर्थान्वितस्यैवकारार्थव्यवच्छेदस्य चाऽन्वयः। 'पार्थ एव धनुर्धरः' इत्यत्र शक्ये पार्थे विशेषणस्य धनुर्धरस्य तादात्म्येन, लक्ष्ये च पार्थान्यस्मिन् धनुर्धरान्योन्याभावस्याधाराधेयभावेन। 'शीत एव स्पर्शो जलवृत्तिः' इत्यत्र शीतपदोपस्थापितयोः शीत–तदन्ययोरभेदेन स्पर्शेऽन्वयः, शीतान्वितस्पर्शे जलवृत्तितादात्म्यम्, शीतान्यस्पर्शे च जलवृत्तेरन्योन्याभाववत्त्वं प्रतीयत इत्याहुरुः।

[एवकार का अर्थ अत्यन्ताभाव-अन्योन्याभाव, अन्यमत]

अन्य विद्वान् एवकार का दो अर्थ मानते हैं-अत्यन्ताभाव और अन्योन्याभाव। इसके अनुसार 'पृथिव्यामेव गन्धः' इस वाक्य में पृथ्वीपद की पृथ्वी अन्य में लक्षणा होने से गन्ध में पृथ्वी रूप प्रकृत्यर्थ से अन्वित समवेतत्वरूप विभक्ति-अर्थ का और पृथिवी-अन्यरूप लाक्षणिकार्थ से अन्वित समवेतत्वरूप विभक्त्यर्थ से अन्वित एवकारार्थ अत्यन्ताभाव का अन्वय होता है इसलिये उस वाक्य से 'पृथ्वीसमवेतः पृथ्वीभिन्नाऽसमवेतः गन्धः' इस प्रकार का बोध होता है। 'पार्थ एव धनुर्धरः' इस वाक्य में पार्थरूप-शक्यार्थ में धनुर्धरकपविशेषण का तादात्म्यसम्बन्ध से और पार्थान्यरूप लक्ष्यार्थ में धनुर्धर शब्दार्थ से अन्वित अन्योन्याभावरूप एवकारार्थ का आधाराधेयभाव-स्वरूपसम्बन्ध से अन्वय है। एवं 'शीत एव स्पर्शः जलवृत्तिः' इस वाक्य में शीतपद के शक्यार्थ शीत और लाक्षणिकार्थ शीतान्य का अभेद सम्बन्ध से स्पर्श में अन्वय होता है। एवं शीतपद के शक्यार्थ से अन्वित स्पर्श में जलवृत्ति का तादात्म्य सम्बन्ध से एवं शीतान्यरूप लाक्षणिकार्थ से अन्वित स्पर्श में जलवृत्तिशब्दार्थ से अन्वित अन्योन्याभावरूप एवकारार्थ की प्रतीति होती है। इस प्रकार उक्तवाक्य से 'शीतः स्पर्शः जलवृत्तिः शीतान्यस्पर्शः जलवृत्तिभिन्नः' इस प्रकार का बोध होता है।

अन्ये तु–'अन्यो व्यवच्छेदश्चार्थः। व्यवच्छेदोऽपि च द्वयी-अत्यन्ताभावश्च, अन्योन्याभावश्च एवकारे च प्रायेण समभिव्याहृतप्रातिपदिकसमानविभक्तिकत्वम्, विभक्तेरश्रवणं तु लुप्तत्वात्, स्वभाववैचित्र्याच्च। तदर्थेऽन्यस्यान्वयो न व्यवच्छेदस्य, समभिव्याहृतप्रातिपदिकार्थस्य चैवकारोपस्थितेऽन्यस्मिन्नप्यन्वयः। एवमन्वयान्तरनियमोऽपि, स्वीयैकार्थान्वितार्थान्तर-

बोधकत्वमपि तस्य स्वभाववैचित्र्यादेव । एवं च 'पृथिव्यामेव गन्धः' इत्यत्र 'पृथिव्यां गन्धः, पृथिव्यन्यस्मिन् न गन्धः' इत्यन्वयः । 'चैत्रो जलमेव भुङ्क्ते' इत्यत्र 'चैत्रो जलं भुङ्क्ते, जलान्यद् न भुङ्क्ते' इति । 'पार्थ एव धनुर्धरः' इत्यत्र 'पार्थो धनुर्धरः, पार्थान्यो न धनुर्धरः' इति । 'शंखः पाण्डुरः, न पाण्डुरान्यः' इति'—इति वदन्ति ।

[एवकार का अर्थ अन्य और व्यवच्छेद—मतान्तर]

अन्य विद्वानों के मतानुसार 'एव' का अर्थ है अन्य और व्यवच्छेद । व्यवच्छेद भी दो प्रकार का है—अत्यन्ताभाव और अन्योन्याभाव । एवकार प्रायः समभिव्याहृत प्रातिपदिक [=नाम] का समानविभक्तिक होता है किन्तु एव पद के उत्तर विभक्ति का लोप हो जाने से उसका प्रयोग नहीं किया जाता । अथवा स्वभावतः एवपद के संनिधान से प्रतिबन्ध हो जाने से विभक्ति का श्रवण नहीं होता । एवपदोत्तरविभक्त्यर्थ में एवपद के अन्यरूप अर्थ का अन्वय होता है, व्यवच्छेदरूप अर्थ का अन्वय नहीं होता । समभिव्याहृत प्रातिपदिक के अर्थ का एवकार से उपस्थित अन्यरूप अर्थ में भी अन्वय होता है । इसी प्रकार उसके अत्यन्ताभाव और अन्योन्याभावरूप अर्थ के भी अन्वय का व्यवस्थित नियम होता है । 'एवपद अपने एक अर्थ से अन्वित अपने ही अन्य अर्थ का बोधक होता है'—यह भी उसके स्वभाववैचित्र्य से ही होता है, किन्तु अन्य अनेकार्थक पदों का ऐसा स्वभाव नहीं है, क्योंकि अन्यत्र अनेकार्थक 'हरि' आदि पदों में अपने एक अर्थ से अन्वित अपने ही अन्य अर्थ की बोधकता नहीं होती । इस प्रकार 'पृथिव्यामेव गन्धः' इस वाक्य से 'पृथिव्यां गन्धः पृथिव्यन्यस्मिन् न गन्धः' यह बोध होता है । दूसरा बोध एव पद के संनिधान से सम्पन्न होता है क्योंकि एव पद के 'अन्य' रूप अर्थ में पृथ्वी पदार्थ का अन्वय हो जाता है और 'अन्य' रूप अर्थ का एवपदोत्तर सप्तमीविभक्त्यर्थ वृत्तित्वविशेष में अन्वय होता है । उसका अन्वय एवपद के द्वितीय अर्थ अत्यन्ताभाव में होता है । 'चैत्रो जलमेव भुङ्क्ते' इस वाक्य से ''चैत्रो जलं भुङ्क्ते—जलान्यद् न भुङ्क्ते' इस प्रकार का बोध होता है एवं 'पार्थ एव धनुर्धरः' इस वाक्य से 'पार्थो धनुर्धरः पार्थान्यो न धनुर्धरः' यह बोध होता है । इसी प्रकार 'शंखः पाण्डुर एव' इस वाक्य से 'शंखः पाण्डुरः न पाण्डुरान्यः' इस प्रकार का बोध होता है । अन्तिम दोनों वाक्यों से द्वितीय अर्थ का बोध एवपद के अन्य और अन्योन्याभाव रूप अर्थ द्वारा निष्पन्न होता है ।

अत्र ब्रूमः—'प्रत्यक्षं मानमेव' इत्यत्राऽस्तु मानत्वायोगव्यवच्छेदः, मानान्ययोगव्यवच्छेदो वा, तथापि 'प्रत्यक्षेऽनुमानत्वेन न मानत्वम्,' 'प्रत्यक्षमनुमानत्वेन न मानम्' इति प्रतीत्या विशेषरूपेण सामान्याभावस्य, विशेषरूपेण सामान्यभेदस्य वा सिद्धौ न सर्वथा तद्व्यवच्छेदः शक्यः । —"शक्य एव मानत्वत्वपर्याप्त्यवच्छिन्नप्रतियोगिताकोऽयोगः, मानत्वपर्याप्त्यवच्छिन्नप्रतियोगिताको वाऽन्ययोगो व्यवच्छेत्तुम्, विशेषरूपेण सामान्याभावस्यातिरेके तस्य विशेषरूपपर्याप्त्यवच्छिन्नप्रतियोगिताकत्वात्, अनतिरेके च विशिष्टरूपपर्याप्त्यवच्छिन्नप्रतियोगिताकत्वात्" इति चेत् ? न, तत्र विशिष्टानतिरेकेण शुद्धाऽपर्याप्तस्य विशिष्टाऽपर्याप्तत्वात्, अतिरिक्तपर्याप्तिकल्पने तत्र विशिष्टनिरूपितत्व-तदवच्छेदकत्वादिविशेषणायामनवस्थानात् । 'अनु-

मानत्वेन न मानत्वम्' इत्यत्रानुमानत्वस्य मानत्वाऽवृत्तितया व्यधिकरणधर्मावच्छिन्नप्रतियोगिताकाभावपर्यवसानात् (? ने च) अनुमानेऽपि तथाप्रयोगप्रसङ्गात् ।

[प्रत्यक्ष में मानत्वायोग और मानभेद का सर्वथा व्यवच्छेद अशक्य–उत्तरपक्ष]

उपर्युक्त अनेक मतों के प्रदर्शन एवं उनके निरसन करने के बाद व्याख्याकार प्रस्तुत में यह दिखा रहे हैं कि 'प्रत्यक्षं मानमेव' इस वाक्य में एवकार से प्रत्यक्ष में मानत्व के अयोग का व्यवच्छेद हो या मानान्ययोग का व्यवच्छेद हो किन्तु मानत्वाभाव अथवा मानान्यत्व का सर्वथा व्यवच्छेद तो अशक्य है क्योंकि 'प्रत्यक्षं अनुमानत्वेन न मानत्वम्' इस प्रतीति से विशेषरूप से सामान्याभाव अर्थात् अनुमानत्वात्मकमानत्व का अभाव यानी अनुमानत्वनिष्ठतादात्म्यसम्बन्धावच्छिन्नावच्छेदकतानिरूपितमानत्वनिष्ठप्रतियोगिताक अभाव सिद्ध है। इसी प्रकार 'प्रत्यक्षं अनुमानत्वेन न मानम्' इस प्रतीति से विशेषरूप से सामान्यभेद–अनुमानत्वनिष्ठअवच्छेदकतानिरूपितमानसामान्यनिष्ठतादात्म्यसम्बन्धावच्छिन्नप्रतियोगिताक अभाव सिद्ध है।

[प्रत्यक्ष में मानत्वायोग के व्यवच्छेद की शक्यता–पूर्वपक्ष]

यदि यह कहा जाय कि–"'प्रत्यक्षं मानमेव' इस वाक्य में यदि एवकार से मानत्वत्वपर्याप्तावच्छेदकताकप्रतियोगिताकसामान्याभाव अथवा मानत्वपर्याप्तावच्छेदकताकप्रतियोगिताक मानसामान्यभेदवद्योगरूप अन्ययोग का व्यवच्छेद शक्य है, क्योंकि उक्त प्रतीतियों से प्रत्यक्ष में इसप्रकार का मानत्वाभाव या मानभेद सिद्ध नहीं है क्योंकि विशेषरूप से सामान्याभाव यदि विशिष्ट सामान्याभाव से भिन्न होगा तो वह विशेषरूपपर्याप्तावच्छेदकतानिरूपितसामान्यनिष्ठप्रतियोगिताक अभाव होगा, न कि सामान्यधर्मनिष्ठावच्छेदकताक प्रतियोगिताक अभावरूप होगा। यदि विशिष्ट सामान्याभाव से अभिन्न होगा तो विशेषरूपविशिष्ट सामान्यरूपनिष्ठ अवच्छेदकताक प्रतियोगिताक होगा फिर भी सामान्यधर्मनिष्ठावच्छेदकताक प्रतियोगिताक सामान्याभावरूप नहीं होगा। जैसे घटत्वेन द्रव्यसामान्याभाव, घटत्वविशिष्ट द्रव्याभाव से अतिरिक्तत्व पक्ष में घटत्वनिष्ठावच्छेदकताक द्रव्यसामान्यनिष्ठप्रतियोगिताक अभाव है, एवं अतिरिक्तत्व पक्ष में घटत्वविशिष्ट द्रव्यत्वनिष्ठावच्छेदकताकप्रतियोगिताकाभाव है। किन्तु द्रव्यत्वनिष्ठावच्छेदकताकप्रतियोगिताक द्रव्यसामान्याभाव रूप नहीं है। उसीप्रकार 'अनुमानत्वेन न मानत्वम्' अथवा 'अनुमानत्वेन न मानम्' इन प्रतीतिओं में प्रथम प्रतीति से अनुमानत्वनिष्ठतादात्म्यसम्बन्धावच्छिन्नावच्छेदकतानिरूपितमानत्वनिष्ठ प्रतियोगिताकाभाव अथवा अनुमानत्वविशिष्टमानत्वत्वनिष्ठावच्छेदकताकप्रतियोगिताकाभाव सिद्ध होता है किन्तु मानत्वत्वनिष्ठावच्छेदकताकप्रतियोगिताक मानत्वसामान्याभाव सिद्ध नहीं होता और द्वितीय प्रतीति से मानत्वनिष्ठअवच्छेदकताकमानसामान्यनिष्ठतादात्म्यसम्बन्धावच्छिन्नप्रतियोगिताक अभाव अथवा अनुमानत्वविशिष्टमानत्वनिष्ठ अवच्छेदकताक माननिष्ठप्रतियोगिताकभेद सिद्ध होता है किन्तु मानत्वपर्याप्तावच्छेदकतानिरूपितप्रतियोगितानिरूपकमानसामान्यभेद सिद्ध नहीं होता। अतः 'प्रत्यक्षं मानमेव' इस वाक्य में एवकार से मानत्वसामान्याभाव अथवा मानसामान्यभेद के व्यवच्छेद का बोध होने में कोई बाधा नहीं है।"–

[विशिष्ट-शुद्ध के अभेद व्यवच्छेद की अशक्यता-उत्तरपक्ष]

तो यह ठीक नहीं है, क्योंकि न्यायमत में विशिष्ट और शुद्ध में अभेद होने से जो शुद्ध में

अपर्याप्त है वह विशिष्ट में पर्याप्त नहीं होता । अत एव अनुमानत्वविशिष्टमानत्वत्व में पर्याप्त अत्यन्ताभावीय प्रतियोगितावच्छेदकता मानत्वत्व में भी पर्याप्त होगी एवं अनुमानत्वविशिष्ट मानत्व में (पर्याप्तभेदीयप्रतियोगितावच्छेदकता मानत्व में) ही पर्याप्त होगी । इसलिये उक्त प्रतीतियों से मानत्वत्वपर्याप्तावच्छेदकताक प्रतियोगिताकात्यन्ताभाव एवं मानत्वपर्याप्तावच्छेदकताकप्रतियोगिताकभेद भी सिद्ध है । अत एव उसका व्यवच्छेद शक्य नहीं हो सकता ।

[अतिरिक्तपर्याप्ति मानने में अनवस्था]

यदि इसके उत्तर में यह कहा जाय कि–"पर्याप्ति स्वरूपसम्बन्धविशेषरूप नहीं है किन्तु अतिरिक्त है । अतः विशिष्टनिष्ठ पर्याप्ति का शुद्धनिष्ठत्व आवश्यक नहीं हो सकता, क्योंकि विशिष्टनिष्ठपर्याप्ति यदि विशिष्टात्मक होती तो विशिष्ट-शुद्ध में ऐक्य होने से वह शुद्धात्मक भी होती । तब उसका शुद्धनिष्ठत्व आवश्यक होता । किन्तु जब विशिष्टनिष्ठपर्याप्ति विशिष्ट से भिन्न है तो उसका शुद्धनिष्ठ होना आवश्यक नहीं है । अतः प्रत्यक्ष में विशिष्टमानत्वत्वपर्याप्तावच्छेदकताक प्रतियोगिताक अत्यन्ताभाव एवं विशिष्टमानत्वनिष्ठावच्छेदकताप्रतियोगिताकान्योन्याभाव के सिद्ध होने पर भी शुद्धमानत्वत्वनिष्ठावच्छेदकताकप्रतियोगिताकात्यन्ताभाव एवं शुद्धमानत्वनिष्ठावच्छेदकताकप्रतियोगिताक अन्योन्याभाव सिद्ध नहीं हो सकता ।"–तो यह ठीक नहीं है, क्योंकि पर्याप्ति को स्वरूप सम्बन्ध विशेष न मानकर अतिरिक्त मानने पर अनवस्था होगी । कारण पर्याप्ति यदि सम्बन्धी से अतिरिक्त होगी तो इसके साथ पर्याप्ति के सम्बन्ध की कल्पना करनी होगी । और वह सम्बन्ध यदि सम्बन्धीस्वरूप होगा तो पर्याप्ति को सम्बन्धीस्वरूप मानने पर जो दोष होता है उसका परिहार न हो सकेगा । यदि वह सम्बन्ध भी सम्बन्धी से भिन्न होगा तो उसके भी सम्बन्धान्तर की कल्पना करनी होगी । फिर उस सम्बन्ध के विषय में भी उसी प्रकार के प्रश्न और उत्तर का क्रम चलेगा– फलतः पर्याप्ति को स्वरूपसम्बन्धविशेषरूप न मान कर सम्बन्धी से भिन्न मानने पर अनवस्था होगी ।

[विशेषरूप से सामान्याभाव का प्रतिक्षेप-पूर्वपक्ष]

यदि यह कहा जाय कि "'अनुमानत्वेन न मानत्वम्' इस प्रतीति को तादात्म्यसम्बन्धावच्छिन्न अनुमानत्वनिष्ठ अवच्छेदकताकप्रतियोगिताक अभाव विषयक मानने पर ही इससे विशेषरूप से सामान्याभाव सिद्ध हो सकता है किन्तु उसमें गौरव है क्योंकि उस अभाव की प्रतियोगितावच्छेदक कोटि में अनुमानत्व और अनुमानत्वत्व दोनों का प्रवेश होता है अतः जहाँ अनुमानत्व को तादात्म्यसम्बन्ध से अभावप्रतियोगितावच्छेदकता के अभ्युपगम का प्रसङ्ग होगा वहाँ स्वरूपसम्बन्ध से अनुमानत्वत्व को ही प्रतियोगितावच्छेदक मानना उचित होगा । यदि 'अनुमानत्वेन न मानत्वम्' इस प्रतीति को अनुमानत्वनिष्ठस्वरूपसम्बन्धावच्छिन्नावच्छेदकताक प्रतियोगिताक अभावविषयक माना जायगा तो अनुमानत्व के स्वरूपसम्बन्ध से मानत्वनिष्ठ न होने से यह व्यधिकरण धर्मावच्छिन्न अभाव होगा । अतः इस प्रतीति से विशेषरूप से सामान्याभाव की सिद्धि बताते हुये मानत्वत्वपर्याप्तावच्छेदकताकप्रतियोगिताक अभाव को भी सिद्ध कह कर उसकी व्यवच्छेद्यता का निराकरण उचित नहीं है ।"–

[अनुमान में 'अनुमानत्वेन न मानत्वं' इस प्रयोग की आपत्ति-उत्तरपक्ष]

तो यह ठीक नहीं है क्योंकि गुरुधर्म के अभावप्रतियोगितावच्छेदकत्व पक्ष में यह प्रतीति भी अनुमानत्वनिष्ठ तादात्म्यसम्बन्धावच्छिन्नावच्छेदकताकप्रतियोगिताकअभाव विषयक हो सकती है ।

और यदि गुरुधर्म को अभावप्रतियोगितावच्छेदकत्व मान्य न हो तो 'अनुमानत्वत्वेन न मानत्वम्' इस प्रतीति से प्रत्यक्ष में विशेषरूप से सामान्याभाव की सिद्धि द्वारा मानत्वत्वपर्याप्तावच्छेदकताक प्रतियोगिताक अभाव की सिद्धि का समर्थन किया जा सकता है। यदि यह सब न कर उक्त प्रतीति को अनुमानत्वनिष्ठस्वरूपसम्बन्धावच्छिन्न अवच्छेदकताक मानत्वनिष्ठप्रतियोगिताक अभाव विषयक ही माना जायगा तो यह व्यधिकरणधर्मावच्छिन्नप्रतियोगिताक अभाव हो जायगा। फिर प्रत्यक्ष के समान अनुमान में भी 'अनुमानत्वेन न मानत्वम्' इस प्रयोग की आपत्ति होगी।

किञ्च, व्यधिकरणधर्मावच्छिन्नाभावस्य प्रामाणिकत्वाद् मानत्वावच्छिन्नप्रतियोगिताकस्य घटाभावस्य प्रत्यक्षे सत्त्वात् कथं तद्व्यवच्छेदः ? "मानत्वावच्छिन्नमाननिष्ठप्रतियोगिताकस्य सामान्यरूपेण विशेषाभावसत्त्वे वा तादृशतत्सामान्यनिष्ठप्रतियोगिताकस्याभावस्य व्यवच्छेद्यत्वाद् न दोष" इति चेत् ? न, मानत्वेन मान-घटोभयाभावस्य तथात्वात्। 'मानमात्रनिष्ठप्रतियोगित्वोपादानाद् न दोष' इति चेत् ? न, तथापि 'प्रत्यक्षघटौ न मानम्' इति प्रतीतेः प्रत्यक्ष-घटोभयत्वावच्छेदेन तादृशमानत्वावच्छिन्नाभावस्य सत्त्वात् तत्र तद्व्यवच्छेदाऽयोगात्। प्रत्यक्षत्वावच्छिन्नाधिकरणताकस्य च तादृशाऽभावस्य सिद्ध्यसिद्धिपराहतत्वेन व्यवच्छेत्तुमशक्यत्वात्।

अथ वैशिष्ट्यव्यासज्यवृत्तिधर्मावच्छिन्नाधिकरणताकाभावसत्त्वे तदन्यत्वमप्युपादेयमिति चेत् ? न 'य एव ह्रदे वह्न्यभावः स एव ह्रद-पर्वतयोः' इत्यैकत्वप्रत्ययात्, व्यधिकरणधर्मावच्छिन्नाधिकरणताकाभावस्य सत्त्वाच्च। "शुद्धाधिकरणताकत्वविशिष्टविशेष्यतया तदन्यत्वस्य व्यवच्छेत्तुं शक्यत्वाद् न दोष" इति चेत् ? न, 'मानत्वेन घटो मानमेव' इति प्रसङ्गात्। 'तत्र निरुक्तविशेषणतयापि मानान्यत्वमस्ती'ति चेत् ? तर्हि तर्हि प्रत्यक्षेऽपि तदिति तदवस्थो दोषः। तदधिकरणवृत्तित्वानन्तर्भावे च भावाभावकदम्बैकदस्त्वापात इति दिक्।

[मानत्वपर्याप्तावच्छेदकताभेदव्यवच्छेद अशक्य]

इसके अतिरिक्त यह ज्ञातव्य है कि 'घटत्वेन पटो नास्ति' इत्यादि प्रतीतियों से व्यधिकरणधर्मावच्छिन्नप्रतियोगिताक अभाव प्रामाणिक होने से 'प्रत्यक्षं मानत्वेन घटो न' इस प्रतीति से प्रत्यक्ष में मानत्वावच्छिन्नप्रतियोगिताकभेद सिद्ध है। यह अभाव भी मानत्वपर्याप्तावच्छेदकताकप्रतियोगितानिरूपक है। अतः 'प्रत्यक्षमेव मानम्' इस वाक्य में 'एव' पद से मानत्वपर्याप्तअवच्छेदकताकप्रतियोगिताकभेद का व्यवच्छेद नहीं हो सकता। यदि यह कहा जाय कि—"मानत्वेन घटो न' इस प्रतीति से मानत्वावच्छिन्नघटनिष्ठप्रतियोगिताक अभाव सिद्ध होता है। अतः प्रत्यक्ष में मानत्वावच्छिन्नमाननिष्ठप्रतियोगिताक अभाव सिद्ध नहीं है अतः उसका व्यवच्छेद हो सकता है। यदि सामान्यरूप से विशेषाभाव की सत्ता मानकर 'मानत्वेन अनुमानं न' इस प्रतीति से प्रत्यक्ष में मानत्वावच्छिन्नमाननिष्ठप्रतियोगिताक अभाव की भी सिद्धि बतायी जाय तो भी उस प्रतीति से मानत्वावच्छिन्न मानसामान्यनिष्ठप्रतियोगिताक अभाव सिद्ध नहीं है। अतः उसका व्यवच्छेद सम्भव होने से 'प्रत्यक्षं

मानमेव' इस वाक्य में 'एव' पद से प्रत्यक्ष में मानान्यत्व के व्यवच्छेद की अनुपपत्तिरूप दोष नहीं हो सकता"--सो यह ठीक नहीं है, क्योंकि 'मानत्वेन मानघटोभयं न' इस प्रतीति से मानत्वावच्छिन्नमानसामान्यनिष्ठप्रतियोगिताक अभाव भी सिद्ध है।

यदि उसकी व्यावृत्ति के लिये यह कहा जाय कि-"मानत्वावच्छिन्नमानसामान्यमात्रनिष्ठप्रतियोगिताक अभाव उक्त प्रतीतियों से सिद्ध नहीं है। अतः उसका व्यवच्छेद सम्भव होने से उक्त दोष नहीं हो सकता"-सो यह भी ठीक नहीं है क्योंकि 'प्रत्यक्षघटौ न मानम्' इस प्रतीति से प्रत्यक्षघटोभयत्वावच्छेदेन प्रत्यक्ष में भी मानत्वपर्याप्तावच्छेदकताकनिरूपितमानसामान्यनिष्ठप्रतियोगिताक अभाव सिद्ध है-अतः उसका भी व्यवच्छेद नहीं हो सकता। यदि यह कहा जाय कि-'प्रत्यक्षत्वावच्छिन्नाधिकरणताक उक्त अभाव व्यवच्छेद्य है और वह 'प्रत्यक्षघटौ न मानम्' इस प्रतीति से सिद्ध नहीं है, अतः उसका व्यवच्छेद हो सकता है'-तो यह ठीक नहीं है, क्योंकि उक्त अभाव सिद्धि-असिद्धि दो विकल्पों से पराहत होने के कारण उसका व्यवच्छेद अशक्य है। आशय यह है कि यदि 'प्रत्यक्षं न मानम्' ऐसी प्रतीति प्रामाणिक हो तो उससे प्रत्यक्षत्वावच्छिन्नाधिकरणताक मानसामान्यभेद सिद्ध होगा और जब वह प्रत्यक्ष में सिद्ध है तो प्रत्यक्ष में उसके व्यवच्छेद के प्रति उसकी सिद्धि ही बाधक हो जायगी। यदि उक्त प्रतीति के प्रामाणिक न होने से प्रत्यक्षत्वावच्छिन्नाधिकरणताक मानसामान्यभेद असिद्ध है तो 'प्रत्यक्षमेव मानम्' इस वाक्य में एवकार से उसके व्यवच्छेद का बोधन नहीं हो सकता क्योंकि अप्रसिद्ध प्रतियोगिक अभाव असम्भव है।

[मानसामान्यभेद में तदन्यत्व के निवेश का प्रतिक्षेप]

यदि यह कहा जाय कि-'भ्रमप्रत्यक्षं न मानम्' एवं 'प्रत्यक्षघटौ न मानम्' इत्यादि प्रतीतियों से प्रत्यक्ष में भ्रमत्वविशिष्ट प्रत्यक्षत्वावच्छिन्नाधिकरणताक एवं प्रत्यक्षघटोभयत्वरूप व्यासज्यवृत्तिधर्मावच्छिन्नाधिकरणताक मानसामान्यभेद प्रत्यक्ष में अभ्युपगत हो तो मानसामान्यभेद में तादृशाधिकरणताक अन्यत्व का निवेश कर तादृशाधिकरणताकान्यमानसामान्यभेद का व्यवच्छेद माना जा सकता है, क्योंकि एवम्भूत मानसामान्यभेद प्रत्यक्ष में असिद्ध है" तो यह ठीक नहीं है क्योंकि 'य एव ह्रदे वह्न्यभावः स एव ह्रदपर्वतयोः=जो वह्न्यभाव ह्रदत्वावच्छिन्नाधिकरणताक है वही ह्रदपर्वतोभयत्वावच्छिन्नाधिकरणताक है' इस प्रतीति से व्यासज्यवृत्तिधर्मावच्छिन्नाधिकरणताक और अव्यासज्यवृत्तिधर्मावच्छिन्नाधिकरणताक अभाव में ऐक्य सिद्ध है। अतः वैशिष्ट्य व्यासज्यवृत्ति धर्मावच्छिन्नाधिकरणताक मानसामान्यभेद एवं 'घटो न मानम्' इत्यादि प्रतीति से सिद्ध घटत्वावच्छिन्नाधिकरणताक मानसामान्यभेद में ऐक्य होने से वैशिष्ट्य व्यासज्यवृत्तिधर्मानवच्छिन्नप्रतियोगिताक मानसामान्यभेद अप्रसिद्ध है। अतः उसका व्यवच्छेद नहीं हो सकता। उसके अतिरिक्त दूसरी बात यह है कि 'प्रत्यक्षं घटत्वेन न मानम्' अथवा 'अनुमानत्वेन न मानम्' इत्यादि प्रतीति से प्रत्यक्ष में स्वाधिकरणधर्मावच्छिन्नाधिकरणताक मानसामान्यभेद सिद्ध है। अतः वही वैशिष्ट्यव्यासज्यवृत्तिधर्मावच्छिन्न अधिकरणताकान्य मान सामान्यभेद हो जायगा और वह तो प्रत्यक्ष में सिद्ध है अत एव उसका भी व्यवच्छेद अशक्य है।

यदि यह कहा जाय कि-'स्वाधिकरणधर्मावच्छिन्नाधिकरणताक मानसामान्यभेद शुद्धाधिकरणताकत्वस्वानिरूपावच्छिन्नाधिकरणताकत्व से विशिष्ट विशेषणतासम्बन्ध से मानसामान्यभेद प्रत्यक्ष में सिद्ध नहीं है। अत एव उक्त विशेषणतासम्बन्ध से प्रत्यक्ष में मानसामान्यभेद का व्यवच्छेद हो सकता

है'–तो यह भी ठीक नहीं है क्योंकि उक्त विशेषणतासम्बन्ध से प्रत्यक्ष में मानान्यत्व घट में भी नहीं है, अतः एव घट में भी उसका व्यवच्छेद सम्भव होने से 'मानत्वेन घटो मानमेव' इस प्रयोग का प्रसंग हो जायगा। यदि यह कहा जाय कि–'घट में मानसामान्यभेद जैसे घटत्वावच्छिन्नाधिकरणताकत्वविशिष्टविशेषणता सम्बन्ध से है इसीप्रकार शुद्धाधिकरणताकत्वविशिष्टविशेषणता सम्बन्ध से भी है। क्योंकि घट में मानत्व के न होने से उसमें सभीप्रकार मानान्यत्व का सद्भाव निर्बाध है। अतः घट में उक्त विशेषणतासम्बन्ध से मानान्यत्व का व्यवच्छेद सम्भव न होने से उक्त प्रयोग का प्रसंग नहीं हो सकता'–तो यह ठीक नहीं है, क्योंकि मानान्यत्व की विशेषणता मानान्यत्वस्वरूप होने से सर्वत्र एक ही है। अतः यदि घटादि में मानान्यत्वविशेषणता में निरवच्छिन्नाधिकरणताकत्व है तो वही विशेषणता प्रत्यक्ष में भी विद्यमान होने से प्रत्यक्ष में भी निरवच्छिन्नाधिकरणताकत्वविशिष्ट विशेषणतासम्बन्ध से मानान्यत्व सम्भव होने के कारण उसमें उक्त सम्बन्ध से भी मानान्यत्व का व्यवच्छेद नहीं हो सकता। अतः 'प्रत्यक्षं मानमेव' इस वाक्य में एवकार से मानान्यत्व के व्यवच्छेद की अनुपपत्तिरूप दोष तदवस्थ है।

यदि सम्बन्ध में तदधिकरणवृत्तित्व का अन्तर्भाव करके यह कहा जाय कि–"प्रत्यक्षवृत्तित्वावच्छेदेन निरवच्छिन्नाधिकरणताकत्वविशिष्ट विशेषणतासम्बन्ध से मानान्यत्व का व्यवच्छेद हो सकता है क्योंकि मानान्यत्व की विशेषणता में निरवच्छिन्नाधिकरणताकत्व घटादिवृत्तित्वेन है। प्रत्यक्षवृत्तित्वेन निरवच्छिन्नाधिकरणताकत्व अनुमानभेदादि की विशेषणता में है-मानसामान्यभेद की विशेषणता में नहीं है अतः उक्त विशेषणता सम्बन्ध से प्रत्यक्ष में मानसामान्यभेद का व्यवच्छेद हो सकता है, क्योंकि जिस विशेषणता में प्रत्यक्षवृत्तित्वावच्छेदेन निरवच्छिन्नाधिकरणताकत्व है उस सम्बन्ध से मानसामान्यभेद नहीं रहता" तो इस कथन से भी नैयायिक की अभिमतसिद्धि नहीं हो सकती क्योंकि उसका अभिमत है भाव-अभावकल्पित एकवस्तु का निराकरण। जो उपर्युक्त रीति से नहीं सम्पन्न होता है, क्योंकि उक्त सम्बन्ध से मानान्यत्व का व्यवच्छेद होने पर भी घटत्वादिधर्मावच्छिन्नाधिकरणताकत्व एवं प्रत्यक्षवृत्तित्वधर्मावच्छिन्नाधिकरणताकत्व तथा व्यधिकरणधर्मावच्छिन्नाधिकरणताकत्व विशिष्टविशेषणतासम्बन्ध से प्रत्यक्ष में मानान्यत्व का निषेध नहीं हो सकता। इसलिये एकभूत विशेषणतासम्बन्ध से मानान्यत्व और उक्त विशेषणतासम्बन्ध से मानान्यत्व का व्यवच्छेद, इन दोनों से कल्पित प्रत्यक्षवस्तु का अभ्युपगम नैयायिक के अपने कथन से ही सिद्ध हो जाता है।

तस्मात् तत्तदपेक्षागर्भतत्तदनेकपर्यायकल्पितत्वात् वस्तुनस्तथा तथा प्रयोगे तत्तदपेक्षालाभार्थं स्यात्कारमेव प्रयुञ्जते सर्वत्र प्रामाणिकाः, अन्यथा निराकाङ्क्षमेव सर्वं वाक्यं प्रसज्येत। न च समभिव्याहारविशेषादपेक्षालाभः, इतरसमभिव्याहारबलात् किञ्चिद्वाक्यार्थापेक्षालाभेऽपि तत्सकलनिःशेषधर्मानुगतपदार्थापेक्षायाः स्यात्कारसमभिव्याहारं विनाऽलाभात्।

इत्थं च 'स्यात्प्रत्यक्षं मानमेव' 'स्याद् न मानमेव' इत्यादेव प्रयुज्यमानं शोभते, अनेकान्तद्योतकेन स्यात्पदेन तत्तदपेक्षोपस्थितेः, अन्यथा मानत्वस्य मानान्यत्वव्यवच्छेदस्य च सकलमानव्यक्त्यपृथग्भूतस्य सापेक्षप्रत्यक्षाऽपृथग्भावप्रतीतौ तदपेक्षाऽविषयत्वरूपाऽप्रामाण्यापातात्। न चेदेवम्, पाकरक्ते घटे 'अयं श्याम एव' इति कुतो न प्रयोगः ? कथं चैतदप्रामाण्यं

सकलसिद्धम् ?। न अत्र न श्यामत्वाभावस्य श्यामान्यत्वस्य वा व्यवच्छेदः, श्यामान्यत्वस्याऽव्याप्यवृत्तित्वेऽपि प्राक् तदभावात्, व्याप्यवृत्तित्वे च सुतराम् ।

'श्याम एव' इत्यत्र श्यामान्यरूपवान् व्यवच्छेद्यः, व्यवच्छेदश्चात्रान्योन्याभावः, स चाऽव्याप्यवृत्तिरिति न दोष" इति चेत् ? न, 'प्राक् श्याम एव' इत्यस्य साधुत्वापत्तेः । श्यामान्यरूपवत्त्वस्य व्यवच्छेद्यत्वे च साधुत्वापत्तिरेव 'अयं श्याम एव' इत्यस्य । तथाऽप्यव्याप्यवृत्तिश्यामान्यरूपे एतत्कालवृत्तित्वव्यवच्छेदं लक्षणादिना प्रतियतोऽप्रामाण्यम्, अन्यस्य तु प्रामाण्यमेवेति वाच्यम्, स्वरसत एव तत्राऽप्रामाण्यव्यवहारात् ।

['स्यात्' पदघटित वाक्यप्रयोग का औचित्य]

इस सम्बन्ध में अब तक के सम्पूर्ण विचारों का निष्कर्ष यह है कि यतः वस्तु तत्तदपेक्षा से तत्तदनेकपर्यायों से सम्मिलित होती है अत एव प्रामाणिक विद्वद्वर्ग वस्तु का तत्तत्पर्याय के रूप में बोध कराने के लिये तत्तत्पर्याय की सत्ता के प्रयोजक तत्तदपेक्षा के लाभ के लिये सर्वत्र 'स्यात्' पद से घटित ही वाक्य प्रयोग करते हैं । यदि स्यात्कारघटित प्रयोग की उपेक्षा की जायगी तो सभी वाक्य निराकाङ्क्ष=अपेक्षाशून्य हो जायेंगे । अर्थात् किसी भी वाक्य से वस्तु के किसी भी स्वरूप का सापेक्ष बोध न हो सकेगा । यदि यह कहा जाय कि "समभिव्याहारविशेष से अपेक्षा का लाभ हो सकता है- जैसे 'घटोऽस्ति' इस वाक्य में घट पद में अस्तित्व का समभिव्याहार होने से जिस अपेक्षा घट में अस्तित्व है उस अपेक्षा का लाभ हो जायगा अतः अपेक्षालाभ के लिये स्यात् पद का प्रयोग अनावश्यक है"—तो यह ठीक नहीं है क्योंकि 'स्यात्' पद से भिन्न पद के समभिव्याहार से वाक्यार्थ के किसी एक अपेक्षा का लाभ सम्भव होने पर भी तत्तद् नय और तत्तद् निक्षेप आदि में अनुगत पदार्थ की अपेक्षा का 'स्यात्' पद के समभिव्याहार के बिना लाभ नहीं हो सकता । कहने का तात्पर्य यह है कि- 'स्याद् घटोऽस्ति' यह कहे बिना यदि केवल 'घटोऽस्ति' इतना मात्र कहा जायगा तो इस वाक्य में घटपद द्रव्यार्थिक अथवा पर्यायार्थिकनय से अभिमत अर्थ के तात्पर्य से नियुक्त है अथवा नामादिनिक्षेपों में अमुक निक्षेप विशेष की अपेक्षा अभिमत अर्थ के तात्पर्य से प्रयुक्त है इसका निश्चय नहीं हो सकेगा । किन्तु स्यात् पद का प्रयोग होने पर उस प्रयोग के अभिप्राय का चिन्तन करने से प्रकृत घटपद का प्रयोग वक्ता ने किस अभिप्राय से किया है उसका अवधारण सम्भव हो सकता है ।

['स्यात् प्रत्यक्षं मानमेव' इसी प्रयोग का औचित्य]

इस प्रकार यही उचित प्रतीत होता है कि 'प्रत्यक्षं मानमेव' यह प्रयोग न कर 'स्यात् प्रत्यक्षं मानमेव' 'स्याद् न मानमेव' इस प्रकार 'स्यात्' पद घटित ही प्रयोग करना चाहिये । क्योंकि स्यात् पद अनेकान्त का द्योतक है, अतः उससे 'स्यात् प्रत्यक्षं मानमेव' इसमें जिस अपेक्षा से एवकार द्वारा अमानत्व व्यवच्छेद्य है, तथा 'स्यात् न मानमेव' इस वाक्य में जिस अपेक्षा से मानत्व व्यवच्छेद्य है उन अपेक्षाओं की उपस्थिति हो सकती है । यदि स्यात् पद का प्रयोग न कर केवल 'प्रत्यक्षं मानमेव' यह प्रयोग किया जायेगा तो उस वाक्य से जो मानत्व और मानान्यत्व-व्यवच्छेद में केवलप्रत्यक्षापेक्षया अपृथग्भाव की प्रतीति होती है वह अप्रमाण हो जायगी । क्योंकि मानत्व और मानान्यत्व-व्यवच्छेद समस्तमानधर्मिकों से अपृथग्भूत है, अत एव सकलमानापेक्ष है, किन्तु उक्त प्रतीति में उन धर्मों की

प्रतीति सकलसमानापेक्ष न होकर केवल प्रत्यक्षापेक्ष होती है, अतः उन धर्मों के सकलसमानरूप अपेक्षा को विषय न करने से उक्त प्रतीति में अप्रामाण्य अपरिहार्य है, क्योंकि जो वस्तु जिसे सापेक्ष होती है उस अपेक्षा को विषय न कर उस वस्तु को विषय करनेवाली प्रतीति अप्रमाण होती है। क्योंकि यदि स्यात्-पद से अघटित प्रयोग को भी प्रमाण माना जायगा तो पाक से रक्त घट में 'अयं श्याम एव' यह प्रयोग क्यों नहीं होता ? और इसके सर्वसम्मत अप्रामाण्य की उपपत्ति किस प्रकार होगी ?– इन प्रश्नों का कोई उत्तर न हो सकेगा। कारण, यहाँ ऐसा नहीं कहा जा सकता कि पाकरक्त घट में श्यामत्वाभाव अथवा श्यामान्यत्व का व्यवच्छेद नहीं है क्योंकि श्यामान्यत्व यदि अव्याप्यवृत्ति है तो पाकपूर्वकाल में घट में उसका व्यवच्छेद निर्बाध है। यदि व्याप्यवृत्ति है तो निर्विवाद घट में उसका व्यवच्छेद है क्योंकि उसके व्याप्यवृत्तित्वपक्ष में वह पाकरक्त घट में नहीं रह सकता क्योंकि प्राक्काल में उसमें श्यामत्व विद्यमान था।

[श्यामान्यरूपवान् को व्यवच्छेद्य मानने में आपत्ति]

यदि यह कहा जाय कि-'अयं श्याम एव' इस वाक्य में एवकार से श्यामत्वाभाव अथवा श्यामान्यत्व का व्यवच्छेद अभिमत नहीं है किन्तु श्यामान्यरूपवान् व्यवच्छेद्य है। अर्थात् श्यामान्यरूपवत् का अन्योन्याभाव बोध्य है और वह व्याप्यवृत्ति होने से पाकरक्त घट में नहीं है अतः कोई दोष नहीं हो सकता–तो यह ठीक नहीं है क्योंकि एवकार से श्यामान्यरूपवद्भेद को बोध्य मानने पर 'प्राक् श्याम एव' इस प्रयोग में असाधुत्वापत्ति होगी क्योंकि अन्योन्याभाव के व्याप्यवृत्तित्व मत में श्यामान्यरूपवद्भेद घट में पाकप्राक्काल में भी नहीं रहेगा। यदि श्यामान्यरूपवत्त्व को व्यवच्छेद्य माना जायगा तो पाकरक्तघट में 'अयं श्याम एव' इसमें साधुत्वापत्ति अनिवार्य होगी क्योंकि पाकरक्त घट में भी श्यामान्यरूप का अभाव प्राक्काल में है।

यदि यह कहा जाय कि 'अयं श्याम एव' इस वाक्य से एतद्वृत्तिश्यामान्यरूप में एतत्कालवृत्तित्व के अभाव का लक्षणादि द्वारा एवकार से बोध होने से उक्त प्रयोग अप्रमाण है क्योंकि एतद्वृत्तिश्यामान्यरूप में एतत्कालवृत्तित्व का अभाव बाधित है, और 'प्राक् श्याम एव' यह प्रयोग प्रामाणिक होगा क्योंकि एतद्वृत्तिश्यामान्यरूप में प्राक्कालवृत्तित्व का अभाव अबाधित है''–तो यह भी ठीक नहीं है, क्योंकि पाकरक्तघट में 'अयं श्याम एव' इस प्रयोग में अप्रामाण्य का व्यवहार स्वारसिक है। अतः उसे प्रतीतिविशेष के अभिप्रायमात्र से अप्रमाण बताना उचित नहीं है।

कथं च चित्रे घटेऽव्याप्यवृत्तिनानारूपसमावेशवादिनाम् 'अयं नील एव' इति न प्रयोगः ? । 'नीलान्यसमवेतत्वस्यैवात्र व्यवच्छेद्यत्वाद् नायं दोष' इति चेत् ? न, 'गगनं नीलमेव' इति प्रसङ्गात् । 'नीलसमवेतत्वमप्यत्र प्रतीयत' इति चेत् ? न, तथापि 'रूपं नीलमेव' इति प्रसङ्गात् । 'रूपत्वावच्छेदेन नीलसमवेतत्वाभावाद् न दोष' इति चेत् ? न, तथापि 'नीलं नीलमेव' इति प्रसङ्गात् ।–'जायत एव–नीलं नीलमेवेति'' इति चेत् ? यदि जायते तदा गुणवृत्तिना नीलपदेन, न तु द्रव्यवृत्तिना; आपाद्यते तु द्रव्यवृत्तिना तेनेति । 'नीलसमवेतद्रव्यत्वमप्यत्र प्रतीयत' इति चेत् ? न, अन्यत्र 'नील एव' इत्यतोऽनीलत्वव्यवच्छेदमात्रस्यैव प्रत्ययात्, प्रकृतेऽपि नीलावयवमधिकृत्य 'इह नील एव' इत्यप्रत्ययप्रसङ्गाच्च । तस्मात् तत्तत्काल-देशाद्यंशापेक्षयैव विशिष्टव्यवच्छेदो वा प्रतीयते, इति सम्यगवहितैः परिभावनीयम् ॥ २१ ॥

[चित्रघट में 'अयं नील एव' यह प्रयोग क्यों नहीं होता ?]

स्यात् पद के प्रयोग में यदि व्युत्पत्तिकारों को इस प्रकार का भी ज्ञान होना आवश्यक है कि चित्र घट में अव्याप्यवृत्ति अनेकान्त के समावेश पक्ष में 'अयं नील एव' यह प्रयोग क्यों नहीं होता। यदि यह कहा जाय कि–"इस वाक्य में एवकार से नीलान्यसमवेतत्व व्यवच्छेद्य है और वह चित्र घट में बाधित है, अतः यह बोध नहीं हो सकता"–तो यह ठीक नहीं है क्योंकि ऐसा मानने पर 'गगनं नीलमेव' इस प्रयोग की आपत्ति होगी क्योंकि गगन में नीलान्यसमवेतत्वाभाव है। यदि यह कहा जाय कि–'उक्त वाक्य में नीलान्यसमवेतत्वाभाव के साथ नीलसमवेतत्व की भी प्रतीति होती है, अतः गगन में नीलसमवेतत्व न होने से 'गगनं नीलमेव' इस प्रयोग की आपत्ति नहीं हो सकती"–तो यह ठीक नहीं है क्योंकि उक्तप्रकार का अवलम्बन करने पर भी 'रूपं नीलमेव' इस प्रयोग की आपत्ति होगी, क्योंकि नीलात्मकरूप में नीलान्यसमवेतत्वाभाव और समवेतत्व दोनों अबाधित है। यदि यह कहा जाय कि 'रूपं नीलमेव' इस वाक्य से रूपत्वावच्छेदेन नीलसमवेतत्व की ही प्रतीति हो सकती है, किन्तु रूपत्वावच्छेदेन नीलसमवेतत्व न होने से इस प्रयोग की आपत्ति नहीं हो सकती'–तो यह भी ठीक नहीं है, क्योंकि 'नीलं नीलमेव' इसप्रकार के प्रयोग की आपत्ति फिर भी होगी।

यदि यह कहा जाय कि-'नीलं नीलमेव' यह प्रयोग इष्ट ही है–तो यह भी ठीक नहीं है क्योंकि गुणपरक नीलपद के साथ यह प्रयोग इष्ट है। द्रव्यपरक नीलपद के साथ यह प्रयोग इष्ट नहीं है और आपत्ति द्रव्यपरक नीलपद के साथ अभिमत है, क्योंकि द्रव्यपरकनीलपदसमभिव्याहृत 'एव' पद से नीलान्यसमवेतत्व का व्यवच्छेद होता है तथा नीलसमवेतत्व की प्रतीति होती है और ये दोनों नीलगुण में विद्यमान है अतः नीलगुणपरक प्रथमनीलपद और नीलद्रव्यपरक द्वितीयनील पद को लेकर 'नीलं नीलमेव' इस प्रयोग की आपत्ति का वारण अशक्य है। यदि यह कहा जाय कि-"नीलद्रव्यपरक नीलपद में नीलपद और एवपद का समभिव्याहार जिस वाक्य में होता है उस वाक्य से नीलसमवेत द्रव्यत्व की भी प्रतीति होती है। अतः नीलगुण में नीलसमवेत द्रव्यत्व के बाधित होने से उक्त आपत्ति नहीं हो सकती"-तो यह ठीक नहीं है क्योंकि अन्यत्र 'नील एव' इस वाक्य से ऐसा प्रयोग करने पर 'एव' पद से अनीलत्व का व्यवच्छेद मात्र ही प्रतीत होता है। अतः उक्त वाक्यों में नीलान्यसमवेतत्व के व्यवच्छेद और नीलसमवेत द्रव्यत्वादि की प्रतीति मानना उचित नहीं है। इसके अतिरिक्त दूसरा दोष यह है कि 'इद' पद का नीलावयव में तात्पर्य रखने पर चित्रघट में भी 'इद नील एव' यह प्रतीति होती है किन्तु उक्त प्रकार से उक्त प्रयोगों का व्याख्यान करने पर 'इद नील एव' इस प्रतीति के अभाव का प्रसंग होगा क्यों कि चित्रघट में नीलान्यसमवेतत्व का अभाव बाधित है।

अतः सावधानी के साथ विचार करने पर यही मानना उचित प्रतीत होता है कि किसी भी वाक्य से तत्तत्काल और तत्तद्देश और तत्तदंश की अपेक्षा से ही किसी विधि या व्यवच्छेद की प्रतीति होती है, अतः उस प्रकार की प्रतीति की उपपत्ति के लिये उचित अपेक्षा के लाभ के लिये वस्तुस्वरूपबोधक प्रत्येक वाक्य में स्यात्पदप्रयोग आवश्यक है ॥ २१ ॥

२२ वीं कारिका में ऐसे व्यक्ति को शिक्षा प्रदान किया गया है जिसका, बसता का दुरुपयोग करते हुये यह कहना है कि प्रत्यक्ष का प्रत्यक्षात्मना प्रमाणत्व यही अनुमानात्मना अप्रमाणत्व है। अतः अनुमानात्मना अप्रमाण होने पर भी प्रत्यक्ष के सर्वथा मानत्व का भङ्ग नहीं होता–

यस्तु दुर्विदग्धः 'प्रत्यक्षस्य स्वमानत्वमेवाऽनुमानत्वेनाऽमानत्वमिति न सर्वथा मानत्ववृत्तिः' इत्याह,—तं शिक्षयितुमाह—

मूलम्—न स्वसत्त्वं पराऽसत्त्वं तत्सत्त्वविरोधतः ।
स्वसत्त्वाऽसत्त्ववन्न्यायाच्च नास्त्येव तत्र तत् ॥ २१ ॥

इह सर्वभावानामेव न स्वसत्त्वं पराऽसत्त्वम्, किं तर्हि ? कथञ्चिदन्यत्, कुतः ? इत्याह—तत्सत्त्वविरोधतः=अभिन्ननिमित्तत्वे सत्त्वस्यैवाऽसत्त्वविरोधात्, भिन्ननिमित्तत्वे तु कथञ्चिद् भिन्नमुभयमेकरूपतामासादयेदपि, यथैकापेक्षयाऽण्वेव परापेक्षया महदिति । यदवदाम प्रतीत्यसत्याधिकारे भाषारहस्ये- [गाथा-२६]

"*भिन्ननिमित्तणओ ण य तेसिं हंदि ! भण्णइ विरोहो ।
वंजय-घडयाईअं होइ णिमित्तं पि इह चित्तं ॥ १ ॥" इति ।

[स्व का सत्त्व और पराऽसत्त्व दोनों एक नहीं है]

अनेकान्तवाद में समस्त वस्तुओं का स्वसत्त्व ही पराऽसत्त्व नहीं है–किन्तु पराऽसत्त्व, स्वसत्त्व से कथञ्चिद् भिन्न है । क्योंकि अभिन्ननिमित्तक-एकनिमित्तापेक्ष सत्त्वाऽसत्त्व का परस्पर विरोध होता है । भिन्ननिमित्तक यानी विभिन्नापेक्ष सत्त्वाऽसत्त्व अपेक्षाभेद से भिन्न होते हुये आश्रयात्मना एकरूप होता है । अतः स्वअपेक्षा से सत्त्व और परापेक्षा से असत्त्व स्व-पर रूप अपेक्षाभेद से भिन्न है, किन्तु एकाश्रयनिष्ठ होने से आधाराधेय में एकान्तः भेद न होने के कारण अभिन्न है । सत्त्वाऽसत्त्व की यह कथञ्चिद्भिन्नता और अभिन्नता एक द्रव्य में एक की अपेक्षा प्रतीयमान अणुत्व और अन्य की अपेक्षा प्रतीयमान महत्त्व की, अपेक्षाभेद से भिन्न होते हुये भी आश्रयात्मना अभिन्नता, के समान सिद्ध है । जैसा कि व्याख्याकार ने स्वनिर्मित भाषारहस्यग्रन्थ में 'प्रतीत्यसत्य' भाषा के अधिकार में अर्थात् 'प्रतीत्य' सत्यनिरूपण के प्रकरण में इस तथ्य की चर्चा का उल्लेख करते हुये कहा है कि–'विलक्षणरूप में प्रतीत होने वाले भाव भिन्ननिमित्तक होते हैं-अतः उनमें विरोध कैसे कहा जा सकता है ? । यह अवश्य है कि विलक्षण प्रतीति के विषयभूत भावों का निमित्त अनेक प्रकार का होता है । जैसे कोई व्यञ्जक निमित्त होता है और कोई घटक निमित्त होता है । उदा० एकद्रव्य में अणुत्व और महत्त्व की प्रतीति के समावेश का निमित्त क्रम से सन्निहित महान् और अणु द्रव्यान्तर, ये व्यञ्जक निमित्त होता है और एक वस्तु में सत्त्व और असत्त्व की प्रतीति के समावेश का निमित्त स्वद्रव्यक्षेत्रकालभाव और परद्रव्यक्षेत्रकालभाव घटक निमित्त होता है अर्थात् स्वद्रव्यादि सत्त्व का और परद्रव्यादि असत्त्व का तटस्थ व्यञ्जक ही नहीं होता अपितु उसका घटक होता है, क्योंकि उसके बिना वस्तु का सत्त्व और असत्त्व उपपन्न नहीं हो सकता ।

अन्ये त्वाहुः—दृष्टान्त एवायमसिद्धः, भिन्नापेक्षयोरणुत्व–महत्त्वयोरेवाभावात्, महत्यपि

---

* भिन्ननिमित्तत्वतो न च तेषां हन्त ! भण्यते विरोधः ।
व्यञ्जकं घटकादिकं भवति निमित्तमपीह चित्रम् ॥ १ ॥

महत्तमादणुत्वव्यवहारस्यापकृष्टमहत्त्वनिबन्धनत्वेन भाक्तत्वात्, नित्याऽनित्ययोरणुत्वयोः परमाणु-द्व्यणुकयोरेव भावादिति।

"त्रुटावेव विश्रामाद् नास्त्येवाणुत्वम्। त्रुटौ चापकृष्टं महत्त्वमेवाणुत्वव्यवहारनिबन्धनम्। तच्च नित्यमेव। गगनमहत्त्वावधिकस्तत्रपकर्षो न महत्त्वजन्यतावच्छेदकः, त्रुटिमहत्त्वावधिकोत्कर्षेण सांकर्यापत्त्या तस्यानुगतस्याभावात्, त्रुटिमहत्त्वावधिकोत्कर्षस्य तज्जन्यतावच्छेदकत्वात्, गगनमहत्त्वादेरपि जन्यत्वापातात्। व्यंजकत्वं च जातिविशेषेण शक्तिविशेषेण वा, इति नेन्धनादिसंसर्गिणां सूक्ष्मवह्न्यादीनां महतां सतामन्धकारे इन्धनादिव्यञ्जकत्वापत्तिः," इति तु **मीमांसकानुसारिणः।**

[अणु और महत् स्वतंत्र परिमाण होने की आशंका]

इस संदर्भ में अन्य विद्वानों–नैयायिकों का यह कहना है कि–"स्वसत्त्व और परासत्त्व के कथञ्चिद्रूप होते हुये एकरूपता के साधन के लिये जो अणुत्व और महत्त्वरूप दृष्टान्त प्रस्तुत किया गया है वह असिद्ध है। क्योंकि विभिन्नापेक्ष अणुत्व और महत्त्व का अस्तित्व ही नहीं है। क्योंकि महत् द्रव्य में भी महत्तम द्रव्य की अपेक्षा अणुत्वव्यवहार होता है–इस से सिद्ध है कि महत् द्रव्य में अणुत्वव्यवहार अपकृष्टमहत्त्वमूलक होने से औपचारिक है। वस्तुस्थिति यह है कि अणुत्व में महत्त्व का सामानाधिकरण्य ही नहीं है, केवल उसके दो भेद हैं नित्य और अनित्य, जो क्रम से परमाणु और द्व्यणुक में ही रहते हैं।

[अणु जैसा कोई परिमाण ही नहीं है-मीमांसक]

मीमांसामतानुसारी विद्वानों का यह कहना है कि अवयवधारा का विश्राम त्रुटि–त्रसरेणु में ही होता है अत एव अणुपरिमाण का अस्तित्व ही नहीं है। त्रसरेणु में जो अणुत्वव्यवहार होता है उस का निमित्त त्रसरेणुगतापकृष्ट महत्त्व ही है और वह नित्य है। यदि यह कहा जाय कि–'गगनमहत्त्वापेक्षया अपकृष्टपरिमाण के प्रति अवयवगत महत्त्व कारण होता है अतः अवयवमहत्त्व का जन्यतावच्छेदक होने से त्रसरेणु को निरवयव मानने पर उसके परिमाण में अपकर्ष मानना असम्भव है। अतः उसमें होनेवाले अणुत्व व्यवहार की उपपत्ति के लिये उसमें अणुत्व का अभ्युपगम आवश्यक है"-तो यह ठीक नहीं है क्योंकि त्रसरेणुगत महत्त्वावधिक उत्कर्ष के साथ सांकर्य होने से अपकर्ष को महत्त्वगत जाति नहीं माना जा सकता। अत एव महत्त्व के जन्यतावच्छेदकरूप में उसकी कल्पना अशक्य है। दूसरी बात यह कि यदि गगनमहत्त्वावधिकापकर्ष अवयवमहत्त्व का जन्यतावच्छेदक माना जायगा तो त्रुटिगत महत्त्वावधिकोत्कर्ष को भी विनिगमनाविरह से अवयवगतमहत्त्व का जन्यतावच्छेदक मानना होगा और ऐसा मानने पर आकाशगत महत्त्वादि में भी जन्यत्व की आपत्ति होगी। अतः त्रुटि में अपकृष्ट महत्त्व को मानने में कोई बाधा न होने से उसी से उस में अणुत्वव्यवहार की उपपत्ति सम्भव होने के कारण अणुपरिमाण की सिद्धि नहीं हो सकती। अतः एकत्र अणुत्व और महत्त्व की प्रतीति का समावेश सिद्ध न होने से उक्त दृष्टान्त असिद्ध है।

[सूक्ष्म अग्निकणसंसृष्ट इन्धन के अन्धकार में प्रत्यक्ष का प्रतिक्षेप]

यदि यह कहा जाय कि अणुपरिमाण न मानने पर अन्धकार में इन्धनादि से संसृष्ट सूक्ष्म

वह्नि आदि से इन्धन आदि के प्रत्यक्ष की आपत्ति होगी क्योंकि अणुपरिमाण के अनभ्युपगमपक्ष में सूक्ष्मवह्नि आदि का परिमाण भी महत् परिमाण ही होगा और महत्त्वपरिमाणविशिष्ट वह्नि आदि नियमतः इन्धनादि का अभिव्यञ्जक होता है।–तो यह ठीक नहीं है क्योंकि वह्नि आदि महत्परिमाणवान् होने से संसृष्ट वस्तु के व्यञ्जक नहीं होते अपितु जातिविशेष अथवा शक्तिविशेष का आश्रय होने से व्यञ्जक होते हैं। इन्धनादि से संसृष्ट वह्नि आदि में उस जातिविशेष या शक्तिविशेष के न रहने से उससे इन्धनादि के प्रत्यक्ष की आपत्ति नहीं हो सकती।

ते भ्रान्ताः, 'अयमितो महान्, इतश्चाणुः' इति बुद्धौ एकत्र भिन्नापेक्षयोरणुत्व-महत्त्वयोर्विलक्षणयोरेवानुभवात्। 'इतोऽणुः' इति प्रयोगं 'एतदपकृष्टमहत्त्ववान्' इत्युपचारेण विश्लेषयतामपेक्षाणुत्वपर्यायापलापे 'इतो महान्' इत्यपि 'एतदपकृष्टाणुत्ववान्' इति विश्लेष्य समर्थयतो महत्त्वमेव चापलपतः कः प्रतीकारः? । 'महत्त्वमपेक्षां विनैव स्वरसतोऽनुभूयत' इति चेत्? सोऽयं स्वरसः परस्परमस्वरसग्रस्तः। परिमाणमात्रमेव निरपेक्षमनुभूयते महत्त्वा-ऽणुत्वे तु सापेक्षे एवेति पुनरनेकान्तेऽनुभवसिद्धो विवेकः। अथ-महत्त्वापलापे तदाश्रयस्य प्रत्यक्षत्वं दुर्घटम्, महदुद्भूतरूपवद्द्रव्यस्यैव चाक्षुषत्वनियमात्, अणुत्वापलापे तु न किञ्चिद् बाधकमि'ति चेत्? न, लाघवादुद्भूताणुत्वस्यैव द्रव्यचाक्षुषहेतुत्वात्। उत्कर्षा-ऽपकर्षावपि परस्परापेक्षिकाणुत्व-महत्त्वातिरिक्तौ दुर्वचौ, सांकर्येण जातिरूपयोस्तयोर्वक्तुमशक्यत्वात्।

[अणु-महत स्वतन्त्र परिमाणवादी को अनुभवबाध]

व्याख्याकार ने अणुत्व में महत्त्व के सामानाधिकरण्य का प्रत्याख्यान करने वाले नैयायिक विद्वानों को यह कहते हुए भ्रान्त कहा है कि 'अयमितो महान् इतश्चाणुः = यह इस द्रव्य से तो महान् है किन्तु इस द्रव्य से अणु है' इस बुद्धि से एकवस्तु में अपेक्षाभेद से परस्परविलक्षण ही अणुत्व और महत्त्व का अनुभव होता है। यदि यह कहा जाय कि–"यह इस द्रव्य की अपेक्षा अणु है'–इसका अर्थ है यह इसकी अपेक्षा अपकृष्ट महत्त्व का आश्रय है'। अतः इस प्रतीति से एतत्सापेक्ष अणुत्व की सिद्धि नहीं हो सकती"–तो यह ठीक नहीं है क्योंकि किञ्चिदवधिक अपकर्ष विशिष्ट महत्त्व से यदि सापेक्ष अणुत्व का अपलाप किया जायगा तो 'इतो महान्–यह द्रव्य अमुक द्रव्य से महान् है' इस प्रतीति का भी 'यह द्रव्य इस द्रव्य की अपेक्षा अपकृष्टाणुत्ववान् है' यह अर्थ कर के किञ्चिदवधिक अपकर्ष विशिष्ट अणुत्व से महत्त्व का भी अपलाप किया जा सकता है जिस का कोई प्रतिकार अणुत्वापलापी द्वारा सम्भव नहीं है।

यदि यह कहा जाए कि 'महत्त्व का अनुभव स्वारसिक होता है-उसमें किसी की अपेक्षा नहीं होती' तो यह स्वरस परस्पर अस्वरस से ग्रस्त है अर्थात् यह भी कहा जा सकता है कि 'अणुत्व का अनुभव स्वारसिक है उसमें किसी की अपेक्षा नहीं होती'।

इस प्रकार अणुत्व अपलापी और महत्त्वापलापी दोनों का स्वरस एकदूसरे के अस्वरस से ग्रस्त होने के कारण साधक नहीं हो सकता। अतः अनुभवसिद्ध विवेक इस अनेकान्त पक्ष में ही सिद्ध होता है कि केवल परिमाणसामान्य का ही अनुभव निरपेक्ष होता है। किन्तु महत्त्व तथा अणुत्व का अनुभव तो सापेक्ष ही होता है।

[अणुपरिमाण का अपलाप भी अशक्य है]

यदि यह कहा जाय कि-"कोई बाधक न होने से अणुत्व का अपलाप हो सकता है किन्तु महत्त्व का अपलाप नहीं हो सकता, क्योंकि महत्त्व का अपलाप करने पर महत्त्व के आश्रयरूप में अभिमत द्रव्य का चाक्षुष प्रत्यक्ष दुर्घट हो जायगा क्योंकि महत् और उद्भूतरूपवान् द्रव्य का ही नियमतः चाक्षुषप्रत्यक्ष होता है।"-तो यह ठीक नहीं है, क्योंकि द्रव्यचाक्षुष के प्रति महत्त्व और उद्भूत रूप को कारण न मानकर लाघव से केवल उद्भूताणुत्व को ही कारण मान लेने से उक्त आपत्ति निवृत्त की जा सकती है, क्योंकि जिन द्रव्यों का चाक्षुष प्रत्यक्ष होता है-उद्भूताणुत्व की कल्पना उन्हीं द्रव्यों में की जायगी। दूसरी बात यह है कि जो लोग उत्कर्ष-अपकर्ष को पारिमाणगत मानते हैं वे आपेक्षिकमहत्त्व से अतिरिक्त उत्कर्ष का और अपेक्षिकअणुत्व से अतिरिक्त अपकर्ष का निर्वचन नहीं कर सकते। क्योंकि सांकर्य के भय से जातिरूप में उन का निर्वचन अशक्य है और अन्यरूप में उनकी अनुगतरूपता अशक्य है।

किञ्च-"एवमणुत्ववत् परिमाणमात्रमेव काल्पनिकम्, इति 'महदादिपरिमाणं रूपादिभ्योऽर्थान्तरम्, तत्प्रत्ययविलक्षणबुद्धिग्राह्यत्वात्, सुखादिवत्' इत्यत्र यदि रूपादिविषयेन्द्रियबुद्धिविलक्षणबुद्धिग्राह्यत्वादिति हेत्वर्थः तदा हेतुरसिद्धः, तथाभ्युपगम्यमानरूपादिव्यतिरेकेण महदादिपरिमाणस्य [illegible] । अथ 'अणु-महत्' इत्याकारतत्प्रत्ययविलक्षणकल्पनाबुद्धिग्राह्यत्वादिति हेतुः, तदा विपर्यये बाधकप्रमाणाभावादनैकान्तिकः। न ह्यस्याः किञ्चिदपि परमार्थतो ग्राह्यमस्ति। कल्पना त्वेकदिक्सुखादिप्रत्यक्षेषु विशिष्टरूपादिषूपलब्धेषु तद्विलक्षणरूपादिभेदप्रकाशनायाऽसद्विषयिण्येव प्रवर्तत इति। युक्तं चैतत्, परपरिकल्पितमहत्त्वादेरभावेऽपि प्रासाद-मालादिषु महदादिप्रत्ययप्रादुर्भूतेरनुभवात्। न चायमौपचारिकः, अस्खलद्वृत्तित्वात्। तदुक्तम् - [प्र० वा० २-१५७]

"मालादौ च महत्त्वादिरिष्टो यश्चौपचारिकः।
मुख्याऽविशिष्टविज्ञानग्राह्यत्वान्नौपचारिकः ॥ १ ॥"

-इति वदन्तस्ताथागताः कथं प्रतिक्षेप्याः ? । एकस्य स्वलक्षणस्य भिन्नपुरुषीयनानाकल्पनाहेतुसमनन्तरसहकारित्वे स्वभावभेदप्रसङ्गात्, वयमेव हि तान् प्रत्याचक्षाणाः शोभेमहि, न तु यूयमेकान्तेनानेककार्यजननैकस्वभावमेकं वाङ्मात्रेणाभ्युपयन्त इति दिक्।

इसके अतिरिक्त अणुत्व को काल्पनिक मानने पर बौद्ध की ओर से यह भी कहा जा सकता है कि परिमाणमात्र ही काल्पनिक है। इस पक्ष में आप (नैयायिक) की ओर से इष्टापत्ति नहीं की जा सकती क्योंकि 'सर्वं द्रव्यं परिमाणवत्' इस सिद्धान्त की हानि होगी।

[नैयायिक की ओर से परिमाणसाधक अनुमान]

यदि बौद्ध के सामने यह कहा जाय कि-'परिमाणमात्र को काल्पनिक नहीं माना जा सकता क्योंकि अनुमानप्रमाण से परिमाण सिद्ध है-अनुमान का प्रयोग इसप्रकार होता है 'महदादिपरिमाण

रूप आदि से भिन्न है क्योंकि रूपादिविषयक प्रतीति से विलक्षण बुद्धि द्वारा ग्राह्य है। जो एवम्भूत होता है वह रूपादि से भिन्न होता है जैसे सुखादि। इस अनुमान में यह आशंका नहीं की जा सकती कि महदादिपरिमाण सिद्ध न होने से यह अनुमान आश्रयासिद्धिग्रस्त है क्योंकि महदादिपरिमाण 'महदादिपरिमाण'शब्दार्थस्वरूप से पक्ष है। जो अतिरिक्त परिमाण का अपलाप करना चाहते हैं उनके मत में भी महदादिपरिमाणशब्द का कुछ न कुछ अर्थ अवश्य है। अतः महदादिपरिमाण-शब्दार्थत्व उनके मत में भी सिद्ध है। ऐसा कहने पर इस दोष का भी उद्भावन नहीं किया जा सकता कि अतिरिक्त-परिमाण के अपलाप कर्ता के मत में महदादिपरिमाणशब्दार्थ में रूपादिभिन्नत्व बाधित है क्योंकि महदादिपरिमाणशब्दार्थत्वावच्छेदेन रूपादिभिन्नत्व साध्य है। इस अनुमान में यह शंका भी नहीं की जा सकती कि महदादिपरिमाण में जैसे रूपादिभिन्नत्व साधनीय है उसीप्रकार सुखादि भिन्नत्व भी साधनीय है अतः सुखादि का दृष्टान्तरूप से उपन्यास असङ्गत है, क्योंकि सुखादि बाह्येन्द्रियवेद्य नहीं है और 'महदादिपरिमाण' शब्द से व्यवहृत होनेवाला अर्थ बाह्येन्द्रियवेद्य है अतः महदादिपरिमाण में सुखादि का भेद उन विद्वानों के मत में भी सिद्ध है जो परिमाण का बाह्येन्द्रियवेद्य किसी अर्थ में अन्तर्भाव कर उसका अपलाप करना चाहते हैं। अतएव सुखादि का दृष्टान्तरूप से उपन्यास युक्त है।"

[नैयायिक के अनुमान में हेतु में स्वरूपासिद्धि दोष]

नैयायिक के इस अनुमान में बौद्ध की ओर से व्याख्याकार ने आश्रयासिद्धि-बाध-दृष्टान्तासिद्धि आदि दोषों की उपेक्षा कर हेतु के सम्बन्ध में सम्भावित दोषों के आधार पर ही इस अनुमान के निराकरण का मार्ग अपनाया है। जैसे, बौद्ध का कहना है कि यदि उक्त हेतु 'रूपादिविषयकेन्द्रियजन्य बुद्धि से विलक्षण प्रत्यक्षात्मक बुद्धि द्वारा ग्राह्यत्व' रूप होगा तो पक्ष में हेतु के न होने से स्वरूपासिद्धि होगी, क्योंकि रूपादि महदादिपरिमाण के साथ ही प्रत्यक्ष द्वारा व्यवस्थित है अतः रूपादि का त्यागकर महदादिपरिमाण का प्रत्यक्ष असिद्ध है। इसलिये उसको रूपादि-अविषयक प्रत्यक्षात्मक बुद्धिग्राह्यस्वरूप से संवेदन न होने के कारण उक्त प्रत्यक्षात्मक बुद्धिग्राह्यत्वरूप हेतु की असिद्धि स्पष्ट है।

यदि नैयायिक की ओर से यह कहा जाय कि-परिमाणशब्दार्थसामान्यरूप पक्ष में रूपादिभिन्नत्व का अनुमान अभिप्रेत है और उसके लिये हेतु है-नीलरूपादिप्रत्यय से विलक्षण (भिन्नाकार) 'अणु महद्-इत्याकारककल्पनाबुद्धिविषयत्व'। आशय यह है कि अणु महदादि विजातीय परिमाणों का अवलम्बन ही है-अतः अणुत्व-महत्त्व की बुद्धि कल्पनात्मक है और कल्पनात्मकबुद्धि निरधिष्ठान नहीं होती अतः उसके अधिष्ठानात्मक विषय के रूप में परिमाणसामान्य का अभ्युपगम आवश्यक है।"-किन्तु बौद्ध कहेगा कि यह अनुमान भी ठीक नहीं है, क्योंकि विपर्यय में अर्थात् रूपादि में उक्त हेतु के अभ्युपगम में कोई बाधक प्रमाण न होने से उक्त हेतु अनैकान्तिक है, क्योंकि 'अणु महत्' इत्याकारक कल्पनात्मक बुद्धि में अधिष्ठानविधया परिमाण का भान मानने के समान रूपादि का भान मानने में कोई बाधक नहीं है, क्योंकि दोनों ही पक्ष में अणु-महत् इस कल्पनाबुद्धि का कोई पारमार्थिक विषय अर्थात् अणुत्व-महत्त्वादि का आश्रयभूत कोई वस्तु विषय नहीं होता।

यह स्पष्ट है कि कल्पना सर्वत्र असद्विषयक ही अर्थात् कल्प्यमानधर्म के आश्रय को विषय न करनेवाली ही होती है। जैसे कहे जानेवाले किसी घटादि द्रव्य में विभिन्न दिगभिमुख प्रवृत्त अर्थात् विभि-

सन्निधिस्थित नीलपीताद्यात्मक विशिष्टरूपों की उपलब्धि होने पर 'इदं चित्रम्' इसप्रकार चित्रत्व-प्रकारक कल्पनाबुद्धि होती है और यह बुद्धि नील-पीतादिरूपों से विलक्षणरूप की ग्राहक प्रतीत होती है, किन्तु वस्तुगत्या उस बुद्धि में चित्रत्व के अधिष्ठानरूप किसी विलक्षणरूप का भान न होकर नील-पीतादिरूपसमूह का ही भान होता है। अतः यह बुद्धि चित्रत्व के आश्रयभूत किसी वस्तु को विषय न करने से असद्विषयक होती है और उस बुद्धि से चित्रत्व के अधिष्ठानरूप में किसी अन्यपदार्थ की सिद्धि नहीं होती, ठीक उसीप्रकार 'इदमणु-महद्' इन प्रतीति में भी अणुत्व-महत्त्व के अधिष्ठानरूप में रूपादि का भान मानकर अणुत्व-महत्त्वादि के अधिष्ठानरूप में परिमाणसामान्य की सिद्धि का निराकरण हो सकता है।

बौद्ध इस का समर्थन करते हुए कहता है कि यह युक्तिसङ्गत भी है क्योंकि प्रासाद और मालादि अतिरिक्त अवयवीद्रव्यरूप न होने से उनमें परपरिकल्पित अर्थात् न्यायवैशेषिक को अभिमत महत् परिमाण का अभाव होने पर भी काल्पनिक महत्परिमाण को लेकर 'महान् प्रासादः' 'महती माला' इसप्रकार की प्रतीति का प्रादुर्भाव अनुभवसिद्ध है।

यदि यह कहा जाए कि 'प्रासादादि में महत् प्रत्यय औपचारिक यानी भ्रान्त है' तो यह नहीं कहा जा सकता क्योंकि यह प्रत्यय अस्खलद्वृत्तिक है अर्थात् अबाधित अभ्रान्त है। जैसा कि प्रमाणवार्त्तिक में धर्मकीर्त्ति ने कहा है-मालादि में नैयायिकादि को जो औपचारिकमहत्त्व इष्ट है-वह उचित नहीं है क्योंकि घटादि में जो मुख्य महदाकार भान होता है, प्रासाद में होनेवाला महदाकार भान उससे अविलक्षण है। अतः प्रासादादि में महदाकार भान को औपचारिक नहीं माना जा सकता।

अब व्याख्याकार कहते हैं कि अतिरिक्त अवयवी और उसमें अतिरिक्त महत्त्व का उपरोक्त कथन द्वारा निरास करनेवाले बौद्धों का प्रतिक्षेप नैयायिकादि से कैसे हो सकेगा? इसलिये व्याख्याकार का कहना है कि-'स्वलक्षण एकवस्तु को विभिन्नपुरुषों को होनेवाली विभिन्न कल्पनात्मकबुद्धि के हेतुभूत समनन्तर ज्ञान का सहकारी मानने पर स्वभावभेद का प्रसङ्ग होगा, क्योंकि एक स्वभाव से सहकारी मानने पर भिन्न भिन्न पुरुषों को भिन्न भिन्न कल्पनात्मकबुद्धि न हो सकेगी'-इसप्रकार अनेकान्तवादी की ओर से तो स्वभावभेद का आपादन कर बौद्धमत का प्रत्याख्यान किया जाना युक्तियुक्त है, किन्तु नैयायिक, जो कि वचनमात्र से एकान्तरूप में एकवस्तु को एकस्वभाव से अनेक कार्यों का जनक मानते हैं, वे बौद्ध को परास्त नहीं कर सकते क्योंकि उनके मत में जैसे एक वस्तु में एकस्वभाव से अनेक कार्य की जनकता होती है उसीप्रकार बौद्धमत में भी एक स्वभाव से स्वलक्षण एक वस्तु को विभिन्नपुरुषीय विभिन्नकल्पनाबुद्धि के हेतुभूत विभिन्न समनन्तर ज्ञान की सहकारिता हो सकती है।

एतेन मीमांसकानुसारिणोऽपि निरस्ताः, घटादिवत् त्रुटीनां दृश्यमानानां द्रव्यपर्यायत्वेन सूक्ष्मतदुपादानावश्यकत्वात्; अन्यथा घटादीनामप्युत्पादाद्यनुभवापलापेन संग्रहनयाश्रयणप्रसङ्गात्।

इदमेवाशयानः प्राह—न च सत्=परासत्त्वम् तत्र=स्वस्मिन् स्वसत्त्वाऽसत्त्ववद् नास्त्येव, न्यायात् विचार्यमाणम्। स्वसत्त्वं हि स्वसत्त्वाऽसत्त्वविरोधीति तत्र तद् न स्यात्, परासत्त्व-

विरोधि तु न तदिति तत् स्यादेव; प्रत्युत यदि तन्न स्यात् तदा तदभावनियतं परसत्त्वमेव स्यादिति भावः ॥ २२ ॥

[अणुद्रव्य को न मानने वाले मीमांसक का प्रतिक्षेप]

तदुपरान्त, मीमांसानुसारी विद्वानों ने जो त्रसरेणु में अवयवधारा का विश्राम मान कर अणुत्व का खण्डन किया था वह युक्तिसङ्गत नहीं होने से निरस्त हो जाता है। क्योंकि जैसे दृश्यमान घटादि द्रव्यपर्याय रूप होने से सूक्ष्मद्रव्योपादानक है उसी प्रकार दृश्यमान त्रसरेणु को भी द्रव्यपर्यायरूप होने से सूक्ष्मद्रव्योपादानक मानना आवश्यक है। अतः त्रसरेणुओं में भी सावयवत्व की निर्बाध सिद्धि होने के कारण उन में अवयवधारा की विश्रान्ति नहीं मानी जा सकती। फलतः त्रसरेणु के अवयवों में अणुत्व की सिद्धि आवश्यक होने से मीमांसकानुयायीओं की ओर से उक्तरीति से अणुत्व का निराकरण असम्भव है। यदि दृश्यमानद्रव्यपर्यायरूप होने पर भी त्रसरेणु के उत्पत्ति आदि का अपलाप किया जायगा तो घटादि के भी उत्पादादि के अनुभवों का अपलाप होने से संग्रहनय के आश्रय का प्रसंग होगा अर्थात् यह मानने की स्थिति उपस्थित होगी कि घटादि समस्त पदार्थ सद्रूप से शाश्वत हैं, उनकी उत्पत्ति आदि की प्रतीति काल्पनिक है। व्याख्याकार का कहना है कि इसी बात को-अर्थात् एक वस्तु में अपेक्षाभेद से अणुत्व और महत्त्व इन विरुद्ध धर्मों का जैसे एकत्र समावेश होता है उसी प्रकार सत्त्व-असत्त्वरूप विरुद्ध धर्मों का भी अपेक्षाभेद से एकत्र समावेश हो सकता है-इस बात को मूलकार ने आशय से यानी संकेत से इस प्रकार कहा है कि-'स्व में स्वसत्त्व के असत्त्व के समान पराऽसत्त्व भी नहीं है'- यह बात न्याय से विचार करने पर सङ्गत नहीं होती, क्योंकि स्वसत्त्व यह स्वसत्त्व के असत्त्व का विरोधी है। अतः स्व में स्वसत्त्व के असत्त्व का न होना तो उचित है किन्तु स्वसत्त्व परासत्त्व का विरोधी नहीं है, अतः स्व में स्वसत्त्व होने पर भी परासत्त्व हो सकता है, अन्यथा यदि स्व में परासत्त्व न होगा तो परसत्त्व परासत्त्व के अभाव का नियत होने से स्व में परसत्त्व का प्रसङ्ग दुर्निवार होगा ॥२५॥

२५ वीं कारिका में वस्तु में सत्त्व-असत्त्व दोनों के अभ्युपगम के सम्बन्ध में प्रतिपक्षी के आक्षेप तथा सिद्धान्त द्वारा उसके परिहार का प्रदर्शन किया गया है-

अत्राक्षेप-परिहारावाह—

मूलम्—परिकल्पितमेतच्चेन्नन्वित्थं तत्त्वतो न तत्।

ततः क इह दोषश्चेन्ननु तद्भावसङ्गतिः ॥२६॥

'एतत्=परासत्त्वम् परिकल्पितम्, अतो (तच्च) न स्वसत्त्वव्याघातकमि'ति चेत्? ननित्थं तत्=परासत्त्वम्, तत्त्वतो नास्ति, शशशृङ्गवत्। 'ततः=पराऽसत्त्वस्य तत्त्वत इह स्वस्मिन्-नभावात् को दोषः?' इति चेत्? ननु-निश्चये तद्भावसंगतिः=परसत्त्वस्यापत्तिः।

प्रतिपक्षी का आक्षेप यह है कि 'यदि पराऽसत्त्व को कल्पित मान लिया जाए और वह स्वसत्त्व का कोई व्याघातक तो है नहीं इसलिए स्वसत्त्व तो निराबाध रह सकता है, तब क्या हानि है? अगर आप कहें 'तब तो वह काल्पनिक होने से शशशृङ्ग के समान परासत्त्व जैसी कोई तात्त्विक चीज ही नहीं होगी' तब हम कहते हैं कि 'मत हो, इस में क्या दोष है?''

प्रतिपक्षी के इस आक्षेप के परिहार में सिद्धान्ती का यह कहना है कि यदि पराऽसत्त्व काल्पनिक होने से वस्तु में उसका अभाव होगा तो उसमें परसत्त्व की अर्थात् पटादिरूप से भी घटादि के सत्त्व की आपत्ति होगी, क्योंकि परासत्त्व का अर्थ है परसत्त्वाभाव, अतः उसका अभाव परसत्त्वरूप होगा क्योंकि अभावाभाव प्रतियोगीस्वरूप होता है। परासत्त्व में शशशृङ्ग की जो समानता बतायी गई वह उचित नहीं है, क्योंकि शशशृंग का वस्तुतः अभाव मानने पर कोई आपत्ति नहीं होती। परन्तु स्व में पराऽसत्त्व का अभाव मानने पर स्व में उक्तरूप से परसत्त्व की आपत्ति होती है।

अत्र नैयायिकादयः—ननु वयं 'शृङ्गे शशीयत्ववत् सत्त्वा-ऽसत्त्वयोः स्व-परापेक्षत्वं कल्पितम्' इत्येव ब्रूमः। न हि सत्त्वे स्वापेक्षत्वं पृथक्त्वादाविव सावधिकत्वरूपम्, निरवधिकत्वात् सत्तायाः। नापि घटाभावे घटापेक्षत्ववत् सप्रतियोगिकत्वरूपम्, निष्प्रतियोगिकत्वात् भावस्य सत्ताभावस्य च सप्रतियोगिकत्वेऽपि सत्ताप्रतियोगिकत्वमेव न तु परप्रतियोगिकत्वम्, इति न परापेक्षत्वमस्ति। नापि वृक्षे संयोग-तदभावयोर्मूल-शाखाद्यवच्छिन्नत्ववत् घटे सत्त्वा-ऽसत्त्वयोः स्व-परावच्छिन्नत्वरूपं स्व-परापेक्षत्वम्, जातेरेवाऽव्याप्यवृत्तित्वाभावात्, किं पुनः सत्तायाः? इति। ततः कथं 'स्वापेक्षया सत्त्वम्, परापेक्षया चाऽसत्त्वम्' इत्यार्हतानामयं प्रवादः? । इति।

[सत्त्व और असत्त्व में स्व-परापेक्षत्व काल्पनिक है—नैयायिक]

इस संदर्भ में नैयायिकादि कहते हैं कि हमारा तो इतना ही कहना है कि जैसे शृंग में शशसम्बन्धित्व कल्पित होता है उसी प्रकार सत्त्व और असत्त्व में क्रमशः स्वापेक्षत्व और परापेक्षत्व कल्पित है क्योंकि वस्तु का सत्त्व और असत्त्व दोनों निरपेक्ष होते हैं। दूसरी बात यह है कि सत्ता में स्वापेक्षत्व का निर्वचन नहीं हो सकता जैसे देखिये—(१) पृथक्त्व में सावधिकत्वरूप स्वापेक्षत्व के समान सत्ता में सावधिकत्वरूप स्वापेक्षत्व नहीं माना जा सकता, क्योंकि 'घटः पटात् पृथक्' इस प्रतीति के समान 'घटः अमुष्मात् सत्तावान्' इस प्रकार की प्रतीति प्रसिद्ध होने से सत्ता निरवधिक होती है। इसी प्रकार (२) घटाभाव में घट प्रतियोगिकत्वरूप घटापेक्षत्व के समान सत्ता में सप्रतियोगिकत्वरूप स्वापेक्षत्व भी नहीं माना जा सकता, क्योंकि भाव की सत्ता निष्प्रतियोगिक होती है। अतः उक्तरीति से जैसे सत्त्व का सापेक्षत्व सम्भव नहीं है, उसी प्रकार असत्त्व का परापेक्षत्व भी सम्भव नहीं है क्योंकि असत्त्व तो सत्ताऽभावरूप होने से उसमें सप्रतियोगिकत्व होने पर भी वह सत्ताऽभाव सत्ताप्रतियोगिक ही होता है परप्रतियोगिक नहीं होता है इसलिये वह परापेक्ष नहीं हो सकता। परापेक्ष तो वह कहा जाता है जो स्व और स्वघटक से अन्य की अपेक्षा करे। जब कि असत्त्व तो स्वघटक सत्त्व की ही प्रतियोगीरूप से अपेक्षा करता है। इसी प्रकार यह भी मानना समुचित नहीं है कि (३) जैसे वृक्ष में विद्यमान संयोग और संयोगाभाव में मूल-शाखाद्यवच्छिन्नत्वरूप मूल–शाखादिसापेक्षत्व होता है उसी प्रकार घट में विद्यमान सत्त्व-असत्त्व में स्व-परावच्छिन्नत्वरूप स्व-परापेक्षत्व हो सके, क्योंकि जब जातिमात्र में स्वाभावसामानाधिकरण्य अथवा अवच्छिन्नवृत्तिकत्वरूप अव्याप्यवृत्तित्व नहीं होता तो फिर सत्तारूप जातिविशेष में अव्याप्यवृत्तित्व कैसे हो सकेगा? अतः आर्हतों के सामने यह विकट प्रश्न है कि उनके मत में यह प्रवाद कि 'वस्तु में स्वापेक्षा से सत्त्व और परापेक्षा से असत्त्व होता है'—कैसे उपपन्न हो सकता है?

अत्र श्लोकः—कर्तुं सत्यव्यवहर्तुं लोको शक्नोति ? वाचः किमपह्नुषे तत् ।
वक्तुं न शक्तः किमुतासि मन्दो गुडस्य माधुर्यमिवातिमूकः ॥१॥

तथाहि—त्वदभिमता सत्ता तावत् सत्तर्कताडिता दूरमेव पलायिता । न हि स्वरूपसतां भावानामतिरिक्तसत्तया कश्चिदुपकारोऽस्ति, स्वतोमधुराया इव सुधाया मधुरद्रव्यान्तरसंयोगेन । नापि स्वरूपाऽसतां तेषां तया कश्चिदुपकारः, खलानामिव सकलार्थसिद्धिहेतुना विपश्चित्प्रपञ्चितकलालापेन । कथं च तव जात्यादिषु सद्व्यवहारः, तत्र सत्ताया अभावात् ? । 'एकार्थसमवायेन तत्र स' इति चेत् ? न, 'सत्' 'सत्' इति प्रतीतेः सर्वत्रैकाकारत्वात् । 'संबन्धांशे तत्र तस्या वैलक्षण्यमेवे'ति चेत् ? हन्त ! तर्हि प्रकारांशेऽपि तथात्वमेवास्तु । अस्तु वा 'हरिः' 'हरिः' इत्यादौ हरिपदवाच्यत्वमिव सत्पदवाच्यत्वमेव सर्वत्रानुगतम् । 'सत्पदसंकेतविषयतावच्छेदकतयैव तत्सिद्धिः' इति चेत् ? न, तान्त्रिकाणां परस्परं तत्संकेतभेदात्, स्वसंकेतमात्रस्य चार्थाऽव्यवस्थापकत्वात् । 'घटः सन्' इत्याद्यनुभवसिद्धैव सत्तेति चेत् ? सिद्धैव सा, केवलं तस्या अतिरेकः, साधारण्यं च न सिद्धम् । 'द्रव्यत्वव्याप्यतावच्छेदकतया तत्सिद्धिः' इति तु निरस्तमधस्तात् । तस्मादुत्पाद-व्यय-ध्रौव्ययोगरूपैव सत्ता युक्ता, नाऽन्या ।

[सत्त्वाऽसत्त्व में स्वपरापेक्षत्व की पारमार्थिकता—जैन]

इस आक्षेप के सम्बन्ध में सिद्धान्तपक्ष की ओर से व्याख्याकार का कहना है कि लोक को वस्तु के जिसस्वरूप का प्रत्यक्षानुभव होता है उसके वर्णन का सामर्थ्य न होने पर किसी को वचनमात्र से उसका अपलाप कर अपनी वाचाटता प्रदर्शित करना उचित नहीं है । उचित यह है कि जैसे गुड की मीठास का अनुभव करने वाला व्यक्ति शब्द से उसका वर्णन करने में असमर्थ होने पर उसके सम्बन्ध में मन्द-यानी तटस्थ अथवा अत्यन्त मूक बन जाता है उसी प्रकार वस्तु के लोकानुभव सिद्धस्वरूप के सम्बन्ध में भी उसके वर्णन का सामर्थ्य न होने पर व्यक्ति को उस सम्बन्ध में मन्द अथवा मूक हो जाना चाहिये ।

[अतिरिक्त सत्ता का स्वीकार सत्तर्क से बाधित]

व्याख्याकार का आशय यह है कि जिस सत्ता को सत्स्वरूप मानकर उसके सापेक्षत्व का निराकरण प्रतिपक्षी नैयायिकादि को अभिमत है, वह सत्ता तो सत्तर्क से ताडित होने पर दूर भाग जाती है अर्थात् सत्तर्क से बाध होने के कारण प्रतिपक्षी से मानी गई निरपेक्ष सत्ता की सिद्धि असम्भव है । वह इसप्रकार-भाव यदि स्वरूप से सत् होगा, तो अतिरिक्त सत्ता मानने का कोई फल नहीं हो सकता, क्योंकि उसके सम्बन्ध से वस्तु को सत्ता का लाभ ही उसके द्वारा वस्तु के ऊपर उपकार कहा जा सकता है किन्तु जो भाव स्वरूप से ही सत् है उसके लिये वह सम्भव नहीं है क्योंकि इसपक्ष में भाव स्वभावतः सत् होता है । अतः जैसे स्वभावतः मधुर अमृत में मधुरद्रव्यान्तर का संयोग निरर्थक है उसीप्रकार स्वभावतः सद्रूप भाव में अतिरिक्त सत्ता का अभ्युपगम निरर्थक है । यदि भाव स्वरूपतः असत् होगा तो भी अतिरिक्त सत्ता से उसे ठीक उसी प्रकार कोई लाभ नहीं होगा कि जैसे सकल अर्थ का बोध कराने वाले विद्वानों के विस्तृत मधुर आलाप से खल (दुष्ट) जनों को कोई लाभ नहीं होता ।

[द्रव्य और जाति में सत्प्रतीति समानाकार ही है]

दूसरी बात यह है कि द्रव्य, गुण और कर्म में सद्व्यवहार की उपपत्ति के लिये अतिरिक्त सत्ता का अभ्युपगम किया जायगा तो जाति आदि भाव पदार्थों में वह अतिरिक्त सत्ता न रहने से उनमें सद्व्यवहार कैसे हो सकेगा ? यदि यह कहा जाय कि–"द्रव्यादि तीन पदार्थों में सत्ता समवायसम्बन्ध से सद्व्यवहार की उपपादिका होती है और सामान्यादि तीन पदार्थों में वह एकार्थसमवाय अर्थात् स्वसमवायिसमवायसम्बन्ध से सद्व्यवहार की उपपादिका होती है"–तो यह ठीक नहीं है क्योंकि द्रव्यादि तीन पदार्थों में एवं सामान्यादि तीन में 'सत्' इत्याकारक प्रतीति समानाकारक होती है, अतः द्रव्यादि और सामान्यादि में होने वाली 'सत्' प्रतीति में सम्बन्धभेद की कल्पना उचित नहीं हो सकती । यदि यह कहा जाय कि– 'द्रव्यादि और सामान्यादि में होने वाली सत् प्रतीति में प्रकारांश में ही एकाकारता है किन्तु सम्बन्धांश में उसमें वैलक्षण्य इष्ट है ।"–तो यह भी ठीक नहीं है क्योंकि यदि सम्बन्धांश में उसे विलक्षण माना जायगा तो प्रकारांश में भी उसे विलक्षण मानने में कोई आपत्ति नहीं हो सकती ।

यदि उक्त प्रतीति में प्रकारांश में एकाकारता का उपपादन आवश्यक ही हो तो जैसे 'हरि' शब्द के कपि–सिंह-अश्व-इन्द्र आदि अनेकार्थक होने पर भी उन सभी में 'हरिः' 'हरिः' इस प्रतीति को हरिपदवाच्यत्वविषयक मानकर उसमें प्रकारांश में एकाकारता मानी जाती है, उसी प्रकार सत् शब्द को विभिन्न वस्तु स्वरूपों का बोध होने से अनेकार्थक मान कर भी सत्पदवाच्यत्वरूप से द्रव्यादि और सामान्यादि में होने वाली 'सत्' 'सत्' इत्याकार प्रतीतियों में प्रकारांश में एकाकारता का उपपादन किया जा सकता है । अतः अतिरिक्त सत्ता की सिद्धि निर्युक्तिक है ।

['सत्' पद-संकेतविषयतावच्छेदक रूप से सत्ता की सिद्धि दुष्कर]

यदि यह कहा जाय कि–'सत् पद के संकेत की विषयता के अवच्छेदकरूप में अतिरिक्तसत्ता की सिद्धि आवश्यक है क्योंकि उसे न मानने पर सत् पद का संकेत ही सम्भव नहीं हो सकता"–तो यह ठीक नहीं है क्योंकि सत् पद के संकेत के विषय में तान्त्रिकों में अर्थात् विभिन्नशास्त्र के अनुयायी में परस्पर मतभेद है–जैसे, चार्वाकमत में प्रत्यक्षसिद्धवस्तु में, बौद्ध मत में अर्थक्रियाकारित्वविशिष्ट में, जैनमत में उत्पाद-व्यय ध्रौव्य युक्त में और वेदान्तमत में शुद्ध ब्रह्म में, न्यायादि के मत में अतिरिक्त सत्ताख्य जातिविशिष्ट में, सत् पद का संकेत माना गया है । अतः सत् पद के सांकेतिक अर्थों में मतभेद होने से 'अतिरिक्त सत्ता जाति ही सत्पद की संकेतविषयता का अवच्छेदक है' यह कहना निर्युक्तिक है । यदि 'सत्' पद के न्यायमतसम्मत संकेत के आधार पर ही सत्ता जाति की सिद्धि की जायगी तो यह सम्भव नहीं है क्योंकि एकपक्षीयसंकेत मात्र से किसी अर्थ की सिद्धि नहीं हो सकती अन्यथा ऐसा मानने पर विभिन्न पुरुषों द्वारा विभिन्न अर्थों में पदविशेष का संकेत सम्भव होने से अप्रामाणिक अनेक अर्थों की सिद्धि का प्रसङ्ग होगा ।

यदि यह कहा जाय कि–'घटः सन्' इत्यादि प्रत्यक्ष अनुभव से सत्ता सिद्ध है तो इस कथन से भी प्रतिपक्षी के अतिरिक्त सत्ता के साधन का मनोरथ पूरा नहीं हो सकता, क्योंकि उक्त अनुभव से सत्ता की सिद्धि होने पर भी वह सत्ता घटपटादि आधारभूत पदार्थों से भिन्न है ? या तत्स्वरूप है ? यह बात सिद्ध नहीं हो पाती । "समवायसम्बन्ध से अन्यभाव के प्रति तादात्म्यसम्बन्ध से द्रव्य कारण

है, अतः ध्वंसनिष्ठकारणता निरूपितकार्यता के अवच्छेदक रूप में सत्ता की सिद्धि होगी"—यह भी नहीं कहा जा सकता क्योंकि उक्तरूप से सत्तासिद्धि का निराकरण पूर्व में प्रदर्शित किया जा चुका है। अतः यह मानना ही उचित है कि सत्ता उत्पाद-व्यय-ध्रौव्ययोग रूप है—उससे भिन्न नहीं है।

न चात्रापि—"यद्युत्पाद-व्यय-ध्रौव्ययोगादसतां सत्त्वम्, तदा शशशृङ्गादेरपि स्यात्। स्वतश्चेत्, स्वरूपसत्त्वमायातम्। तथा, उत्पाद-व्यय-ध्रौव्याणामपि यद्यन्यतः सत्त्वम्, अनवस्थाप्रसक्तिः, स्वतश्चेत्, भावस्यापि स्वत एव तद् भविष्यति, इति व्यर्थमुत्पादादिकल्पनम्"—इत्यादिपर्यनुयोगावकाशः, एकान्तपक्षोदितदोषस्य जात्यन्तरात्मके वस्तुन्यप्रसरात्। न हि भिन्नोत्पाद-व्यय-ध्रौव्ययोगाद् भावस्य सत्त्वमस्माभिरभ्युपगम्यते, किन्तूत्पाद-व्यय-ध्रौव्ययोगात्मकमेव सदित्यभ्युपगम्यत इति। तत्र सत्त्वं सकलव्यक्त्यनुगतं व्यञ्जनपर्यायताम्, प्रतिव्यक्त्यनुगतं चार्थपर्यायतामास्कन्दति, इदमेव सादृश्यास्तित्व-स्वरूपास्तित्वमित्यपि गीयते। तच्च सर्वं सापेक्षमेव सर्वैरनुभूयते, 'मार्त्त्वादिना घटः सन्, न तु तन्तुजनितत्वादिना' 'इदानीं घटः सन्, न तु प्राक्' इत्याद्यनुभवात्। बुद्धिविशेषकृतापेक्षयाप्यादेशापराभिधानया सापेक्षमेव तत्, यथा 'अयमेकः, अयं चैकः' इति कल्पनाकृतापेक्षया द्वित्वादीति।

[उत्पादादि के योग से सत्ता मानने में प्रश्न परम्परा]

यदि यह कहा जाय कि—"उत्पादादित्रयरूप सत्ता के सम्बन्ध में भी यह प्रश्न किया जाय कि उत्पादव्ययध्रौव्य के योग से यदि असत् में भी सत्ता की निष्पत्ति मानी जायगी तो शशशृङ्गादि में भी सत्त्व की आपत्ति होगी और यदि इस दोष के वारणार्थ यह कहा जाय कि जो स्वतः सत् होता है उसी में उत्पादादि के योग से सत्त्व होता है तो यह भी ठीक नहीं है क्योंकि इससे उत्पादादि के बिना भी वस्तु की स्वरूपसत्ता तो सिद्ध हो जाती है फिर उत्पादादियोगरूप नयी सत्ता क्या आएगी ? अतः सत्ता को उत्पादादि योगरूप मानना निरर्थक हो जाता है। तथा इसके अतिरिक्त यह भी विचारणीय है कि यदि भाव की सत्ता उत्पादादित्रय के योग से होगी तो उत्पादादित्रय की भी सत्ता किसी अन्य से ही मानी जायगी। फिर उस अन्य की सत्ता किसी अन्य से मानी जायगी-इस प्रकार सत्ता की कल्पना में अनवस्था की आपत्ति होगी। यदि उत्पादादित्रय की स्वतः सत्ता मानी जायगी तो उसी के समान भाव की भी स्वतः सत्ता सम्भव होने से उत्पादादि की कल्पना व्यर्थ होगी।"—

[अनेकान्त पक्ष में उक्त प्रश्नों को अवकाश नहीं]

किन्तु विचार करने पर इन प्रश्नों को अवसर नहीं मीलता, क्योंकि वस्तु की एकान्तरूपता के पक्ष में कहे गये दोष अनेकान्तरूप वस्तु के अभ्युपगम पक्ष में नहीं हो सकते। कहने का आशय यह है कि सिद्धान्ती भाव की जो सत्ता मानते हैं वह भाव से भिन्न उत्पाद-व्यय ध्रौव्य के सम्बन्ध से नहीं मानते किन्तु भावात्मक उत्पादादि से ही भाव की सत्ता मानते हैं, अर्थात् 'सत्' शब्द से व्यवहृत होने वाली वस्तु वही है जो स्वयं उत्पादव्ययध्रौव्यस्वरूप होती है यही सिद्धान्ती का अभ्युपगम है। किन्तु इस सम्बन्ध में यह विशेष ज्ञातव्य है कि जो सत्त्व समानाकार सकलव्यक्तियों में अनुगत होता है वह व्यञ्जनपर्यायरूप होता है और जो सत्त्व एक एक व्यक्ति में अनुगत होता है वह अर्थ-

पर्यायरूप होता है । जैसे समस्त कुण्डल में अनुगत उत्पादव्ययध्रौव्यरूप सत्त्व है और समस्त मुकुट में अनुगत उत्पादादिरूप सत्त्व है और वही व्यञ्जनपर्यायरूप है और कुण्डल-मुकुटादि प्रतिव्यक्ति में प्रातिस्विकरूपेण अनुगत उत्पादादित्रय रूप सत्त्व [illegible] होता है वही अर्थपर्यायरूप है । इसी व्यञ्जनपर्याय को सादृश्यास्तित्व अर्थात् सादृश्यात्मक सत्त्व और अर्थपर्याय को स्वरूपास्तित्व यानी स्वरूपात्मक सत्त्व भी कहा जाता है । यह दोनों ही प्रकार का सत्त्व सभी को सापेक्ष ही अनुभूत होता है क्योंकि घट मार्त्तत्व=मृज्जन्यत्व रूप से सत् है और तन्तुजनितत्व रूप से सत् नहीं है– इस प्रकार घट के व्यञ्जनपर्यायात्मक सत्त्व का अनुभव होता है । एवं घट इस समय घटोत्पादक कारणव्यापार के अनन्तरकाल में सत् है किन्तु पूर्वकाल में सत् नहीं है–इस प्रकार घट के अर्थपर्यायात्मक सत्त्व का अनुभव होता है । बुद्धिविशेषकृत अपेक्षा-जिसका दूसरा नाम 'आदेश' है–उससे भी वस्तु का सत्त्व ठीक उसी प्रकार सापेक्ष ही होता है, जैसे 'अयमेकः अयं चैकः' इस कल्पना यानी बुद्धि से सम्पन्न अपेक्षा से द्वित्वादि सापेक्ष होता है । तात्पर्य यह है कि घट का व्यञ्जनपर्यायात्मक सत्त्व 'अयं घटः' इस बुद्धि की अपेक्षा से होता है अर्थात् घट घटबुद्धिविषयतया सत् होता है और पटादिबुद्धिविषयतया सत् नहीं होता । इसी प्रकार घट का उत्पत्त्यादिरूप अर्थपर्याय भी 'घट मिट्टि से उत्पन्न होता है तन्तु से नहीं' इत्याकार बुद्धि सापेक्ष होता है । अर्थात् घट 'मिट्टी से उत्पन्न होता है' इस बुद्धि का विषय होने से उत्पादादिमत्त्वरूपसत्त्वात्मक होता है और तन्तुजन्यत्व की बुद्धि की अपेक्षा उत्पादादिरूपसत्त्वात्मक नहीं होता ।

एवं चेह सप्तभङ्गी प्रवर्त्तते, तामिदानीं दिङ्मात्रेण दर्शयामः, तथाहि–१. स्यादस्त्येव, २. स्यान्नास्त्येव, ३. स्यादवक्तव्यमेव, ४. स्यादस्त्येव स्यान्नास्त्येव, ५. स्यादस्त्येव स्यादवक्तव्यमेव, ६. स्यान्नास्त्येव स्यादवक्तव्यमेव ७. स्यादस्त्येव स्यान्नास्त्येव स्यादवक्तव्यमेव, इत्युल्लेखः । अत्र सर्वत्रैवकारप्रयोगोऽनभिमतार्थव्यावृत्त्यर्थम्, इतरथा प्रतिनियतस्वार्थानभिधानेनानभिहिततुल्यतापत्तेः । तदुक्तम्—

"वाक्येऽवधारणं तावदनिष्टार्थनिवृत्तये ।
कर्त्तव्यम्, अन्यथानुक्तसमत्वात्तस्य कुत्रचित् ॥ १ ॥" इति ।

स्यात्कारप्रयोगश्च सापेक्षप्रतिनियतस्वरूपप्रतिपत्त्यर्थे । यत्रापि चासौ न प्रयुज्यते, तत्रापि व्यवच्छेदफलैवकारवदर्थात् प्रतीयते । तदुक्तम्—

"सोऽप्रयुक्तोऽपि वा तज्ज्ञैः सर्वत्रार्थात् प्रतीयते ।
यथैवकारोऽयोगादिव्यवच्छेदप्रयोजनः ॥ १ ॥" इति ।

[सापेक्षसत्त्वाऽसत्त्व का सूचक सप्तभंगीन्याय]

इस संदर्भ में व्याख्याकार ने वस्तु के सत्त्वाऽसत्त्व की सापेक्षता का व्युत्पादन करने के लिये सप्तभङ्गी न्याय का प्रदर्शन किया है जो इस प्रकार है–(१) 'वस्तु स्यादस्त्येव'–वस्तु कथञ्चित् सत् होती ही है । (२) 'वस्तु स्यान्नास्त्येव' वस्तु कथञ्चित् असत् होती ही है । (३) 'वस्तु स्यादवक्तव्यमेव'–वस्तु कथञ्चित् 'अवाच्य' होती ही है । (४) 'वस्तु स्यात् अस्ति एव, स्याद् नास्त्येव'–वस्तु

कथञ्चित् सत् है ही और कथञ्चित् असत् ही है। (५) 'वस्तु स्यादस्त्येव स्यादवक्तव्यमेव'-वस्तु कथञ्चित् सत् और कथञ्चित् अवक्तव्य होती ही है। (६) 'स्यान्नास्त्येव स्यादवक्तव्यमेव'-वस्तु कथञ्चित् असत्, कथञ्चित् अवाच्य होती ही है। (७) 'स्यादस्त्येव, स्यान्नास्त्येव स्यादवक्तव्यमेव'-वस्तु कथञ्चित् सत् है ही, कथञ्चित् असत् है ही और कथञ्चित् अवाच्य होती ही है।

इस सम्मीलित सात वाक्य समूह से वस्तु के एकस्वरूप की सात प्रकारों में सापेक्ष सिद्धि होती है।

[सप्तभंगी में एवकार और स्यात् पद की सार्थकता]

इन भङ्गों में प्रत्येक में एवकार का प्रयोग अनभीष्ट अर्थ के निषेध के लिये किया जाता है। यदि उसका प्रयोग न किया जाय तो वस्तु के अनभीष्टस्वरूप का निरास न होने से वस्तु का प्रतिनियतस्वरूप से अभिधान न होगा फलतः वस्तु अभिहित होने पर भी अनभिहिततुल्य होगी। जैसा कि एक कारिका में स्पष्ट कहा गया है कि अनिष्टार्थ के निषेध के लिये प्रत्येक वाक्य में अवधारण यानी एवकारप्रयोग समझना चाहिये-उसको न समझने पर वस्तु के अनिष्ट स्वरूप के सम्बन्ध में कुछ ज्ञान न होने से वस्तु अनुक्त तुल्य हो जाती है।

प्रत्येक भङ्ग में जो 'स्यात्' कार का प्रयोग किया जाता है वह वस्तु के प्रतिनियतस्वरूप की सापेक्षता बताने के लिये होता है। जहाँ कहीं स्यात्कार का प्रयोग उपलब्ध न हो वहाँ भी स्यात्कार का अर्थतः संनिधान उसीप्रकार मानना आवश्यक होता है जैसे एवकारप्रयोगशून्य वाक्यों में अनभीष्टार्थ की निवृत्ति के बोध के लिये एवकार के संनिधान का अर्थतः अभ्युपगम किया जाता है। जैसा कि एक कारिका में कहा गया है कि स्यात्कार अनेक वाक्य में अप्रयुक्त होने पर भी वस्तुस्वरूप की सापेक्षता को जाननेवाले विद्वानों के द्वारा उस की प्रतीति-बोध अर्थतः ठीक उसीप्रकार कर लिया जाता है जैसे एवकार से शून्य वाक्यों में अयोगादि का व्यवच्छेद बतानेवाले एवकार की अर्थतः प्रतीति की जाती है। इसप्रकार यह स्पष्ट है कि सप्तभंगवाक्यों में स्यात् पद का प्रयोग समभिव्याहृतपदार्थ की सापेक्षता सूचित करने के लिये और एवकार का प्रयोग अनिष्टार्थ अर्थात् 'सापेक्षस्वरूप के अभाव' का निषेध बताने के लिये किया जाता है। जैसे 'स्यादस्त्येव' इस वाक्य में स्यात् पद से वस्तु के किसी अपेक्षा से अस्तित्व का बोध होता है और एवकार से वस्तु के सापेक्ष अस्तित्वाभाव का निषेध बोधित होता है।

*तत्र स्वरूपेण घटादिनाऽस्तित्वविवक्षयाऽसत्त्वोपसर्जनसत्त्वप्रतिपादनपरः प्रथमो भङ्गः। पररूपेण पटादिना नास्तित्वविवक्षया च सत्त्वोपसर्जनाऽसत्त्वप्रतिपादनपरो द्वितीयो भङ्गः। एकस्यास्तित्वाभावादेकोपसर्जनेतरप्रधानभावेनैव शाब्द्याः प्रतीतेः।

यदा तु तदुभयवस्तु द्वाभ्यामपि धर्माभ्यां युगपदभिधातुमिष्टम्, तदा तृतीयो भङ्गः। न हि द्वयोर्धर्मयोर्युगपत् प्राधान्येन गुणभावेन वा प्रतिपादने किञ्चिद् वस्तु समर्थम्। तथाहि-

*इतः आरभ्य षोडश भंगत्रयसमर्थकपंक्तिभेदाः सम्मति० का० १ गाथा ३६ (पृ. ४४३) विवरणादुद्धृताः इति ज्ञेयम्।

न तावत् समासस्तथा, बहुव्रीहेरन्यपदार्थप्रधानत्वात् । अव्ययीभावस्य चोभयपदप्रधानत्वेऽप्यर्थद्वयाप्रतिपादकत्वात्, द्वन्द्वस्यापि द्रव्यवृत्तेः प्रकृतार्थाऽप्रतिपादकत्वात्, एकमनूद्य तदप्रवृत्तेः, गुणवृत्तेरपि द्रव्याश्रितगुणप्रतिपादकत्वेन प्रधानभूतयोर्गुणयोरप्रतिपाद्यत्वात् । तत्पुरुषस्याप्युत्तरपदप्रधानत्वात् । द्विगोः संख्यापूर्वपदत्वात् । कर्मधारयस्य गुणवद्द्रव्यविषयत्वात् । एकशेषस्य चासंभवात्, द्वन्द्वतुल्यत्वाच्च । न च समासान्तरसद्भावोऽस्ति, येन युगपद् गुणद्वयं समासपदवाच्यतामास्कन्देत् । अत एव न विग्रहवाक्यमपि तथा, तस्य भूयस्यभिमतार्थत्वात् । न च केवलं पदं वाक्यं वाऽन्यल्लोकप्रसिद्धं तथा, तस्यापि परस्परापेक्षद्रव्यादिविषयतया तथाभूतार्थप्रतिपादकत्वाऽयोगात् । न च सूर्याचन्द्रमसोः पुष्पदन्तपदवत्, शतृ-शानचोः सत्पदवत् वा सांकेतिकमेकं पदं तथा वक्तुं समर्थम्, तस्यापि क्रमेणार्थद्वयप्रत्यायकत्वात् "सकृदुच्चरितं पदं सकृदर्थं बोधयति" इति न्यायात् ।

['स्याद् अस्ति' प्रथमभंग का अभिप्राय]

व्याख्याकार ने तत्सूत्रों के प्रतिपाद्य अर्थों के वर्णन में प्रथम भंग के अर्थ का प्रतिपादन करते हुये कहा है कि घटादिस्वरूप से घटादिवस्तु के अस्तित्व की विवक्षा से प्रथमभङ्ग प्रवृत्त होता है और उस का तात्पर्य वस्तु के असत्त्वोपसर्जन ऐसे सत्त्वप्रतिपादन में अर्थात् गौणरूप से असत्त्व और प्रधानरूप से सत्त्व के प्रतिपादन में होता है । अतः उक्तवाक्य में स्यात् पद के समभिव्याहार से अस्तिपद की 'स्यात्' पद से विवक्षित अपेक्षा से भिन्न अपेक्षा द्वारा असत्त्वविशिष्ट सत्त्व में लक्षणा हो जाती है । जैसे उक्त वाक्य में स्यात् पद से घट की स्वरूपात्मकापेक्षा विवक्षित है अतः उस में अस्तिपद की पररूपापेक्ष असत्त्वविशिष्ट सत्त्व में लक्षणा हो जाने से और उसमें स्यात् पदार्थ का अन्वय होने से 'घटः स्यादस्ति' इस भंग से 'घट पररूपापेक्षअसत्त्व विशिष्ट स्वरूपेण सत्त्ववान्' अर्थात् 'घट पटात्मक पररूप से असत् होता हुआ घटात्मकस्वरूप से सत् है' इसप्रकार का बोध होता है । इसमें पररूप से असत्त्व स्वरूपेण सत्त्व का विशेषण हो जाने से गौण हो जाता है और स्वरूपेण सत्त्व मुख्य विशेष्य घट में साक्षात् अन्वित होने से प्रधान होता है । एवकार से 'स्यादस्ति' इस भाग से बोध्य अर्थ के अयोग का निषेध बोधित होता है । इस प्रकार 'घटः स्यादस्त्येव' इस प्रथमभङ्ग से होनेवाले बोध का आकार यह होता है कि 'घट पररूप से असत् होते हुये स्वरूप से अस्तित्व का आश्रय और उक्तविध अस्तित्व के अयोगाभाव का आश्रय है ।'

['स्याद् नास्ति' द्वितीय भंग का तात्पर्य विवरण]

पटात्मक पररूप से घट के नास्तित्व की विवक्षा से 'घटः स्यान्नास्त्येव' इस द्वितीयभङ्ग की प्रवृत्ति होती है । इसका तात्पर्य घट के 'सत्त्वोपसर्जन-असत्त्व' के प्रतिपादन में अर्थात् गौणरूप से सत्त्व और प्रधानरूप से असत्त्व के बोधन में होता है । इसके भी शाब्दबोध की विधि प्रथमभङ्ग के शाब्दबोध के विधि से समान है । शब्द का स्वभाव ही ऐसा है कि शाब्दबोधात्मक प्रतीति एक को उपसर्जन=गौण और अन्य को प्रधानरूप से ही अवगाहन करती है । इस कथन से यह प्रतीत होता है कि सत् धर्म विशिष्ट का वाचक पद, विरोधीधर्मान्तर से विशिष्ट तत्तद्धर्मविशिष्ट में सांकेतिक

होता है । अतः इस के अनुसार प्रथमद्वितीय भंगों से उक्त शाब्दबोध की उपपत्ति के लिये 'अस्ति' आदिपद को पूर्वोक्त अर्थ में लक्षणा की आवश्यकता नहीं होती ।

['स्याद् अवक्तव्य' तृतीयभंग का गर्भितार्थ]

जब सत्त्व और असत्त्व आदि दो धर्मों से किसी वस्तु की युगपद् एककाल में विवक्षा होती है तब तृतीय भंग की प्रवृत्ति होती है । उससे वस्तु की दो धर्मों द्वारा युगपद् कथञ्चिद् अवाच्यता का बोध होता है क्योंकि कोई भी सामासिक अथवा असामासिक पद परस्पर में प्रधान–विशेषणभाव अथवा गौण-विशेषणभाव से दोनों धर्मों के युगपद् प्रतिपादन में समर्थ नहीं होता । जैसे सत्त्व और असत्त्वबोधक पदों के समास करने से निष्पन्न होने वाला 'सदसत्' शब्द प्रधान अथवा गौण भाव से एक साथ उन दोनों का प्रतिपादक नहीं हो सकता क्योंकि यदि सदसद् पदों का बहुव्रीहि समास किया जायगा तो उससे सत्त्वाऽसत्त्व का प्रधान अथवा गौणभाव से युगपद् प्रतिपादन न हो सकेगा क्योंकि बहुव्रीहि अन्य पदार्थ प्रधान होने से उस में समासघटक पदार्थ प्रधान नहीं होता । अतः सत्त्व और असत्त्व समासघटक पदार्थ होने से बहुव्रीहि से प्रधानभाव से बोध्य नहीं हो सकता तथा गौणभाव से भी बोध्य नहीं हो सकता, क्योंकि उक्त बहुव्रीहिजन्यबोध में अन्य पदार्थ का सत्त्वसम्बलितत्व अथवा असत्त्वसंवलितसत्त्व से ही बोध होगा । प्रथम बोध में सत् शब्दार्थ असत् शब्दार्थ में गौण होता है किन्तु असत् शब्दार्थ सत् शब्दार्थ में गौण नहीं होता और द्वितीय बोध में असत् शब्दार्थ सत् शब्दार्थ में गौण होता है किन्तु सत् शब्दार्थ असत् शब्दार्थ में गौण नहीं होता ।

[अव्ययीभावसमास की युगपत्प्रतिपादन में अशक्ति]

अव्ययीभाव समास से भी उक्त धर्मों का प्रधान अथवा गौण भाव से युगपद् बोध नहीं हो सकता क्योंकि अव्ययीभावसमास दो प्रकार का होता है- (१) अव्यय और अनव्यय पदों का-जैसे 'उपकुम्भम्' 'अभिमुखम्' इत्यादि । (२) केवल अनव्यय पदों का जैसे दण्डादण्डि-केशाकेशि । इन में सदसत् पदों में प्रथम अव्ययीभाव नहीं हो सकता क्योंकि उन दोनों में कोई अव्ययपद नहीं है । दूसरा अव्ययीभाव सद् असद् पदों का "सत् असत् च विषयीकृत्य प्रवर्तमानं ज्ञानं सदसद्" इस अर्थ में हो सकता है और उस समास के घटक सत् और असत् पदार्थों में परस्पर विशेषणविशेष्यभावानापन्नत्व लक्षण प्रधानता होने से उस अव्ययीभावसमास (सदसत्) में उभयपदप्रधानता भी है, तथापि परस्पर प्रधान अथवा गौण भावापन्न सत्त्वाऽसत्त्वरूप अर्थ में उक्त समास की प्रवृत्ति नहीं होती ।

[द्वन्द्व आदि समास की युगपत्प्रतिपादन में अशक्ति]

द्वन्द्व समास से भी प्रकृत अर्थ का अर्थात् प्रधानभाव अथवा गौणभाव से सत्त्वाऽसत्त्व का युगपद् प्रतिपादन नहीं हो सकता । क्योंकि द्रव्यवृत्ति द्वन्द्व अर्थात् द्रव्यार्थक पदों के द्वन्द्व की एक को अनुवाद करके अन्य के विधेयविधया बोधन में प्रवृत्ति नहीं होती । जैसे द्रव्यार्थपदों का 'धव-खदिरौ' इत्यादि द्वन्द्व समास एक पदार्थ का अनुवाद कर अन्य पदार्थ का विधेयविधया बोधक नहीं होता । गुणवृत्तिद्वन्द्व अर्थात् गुणबोधकपदों का द्वन्द्व जैसे 'रक्तपीते' इत्यादि समास भी द्रव्याश्रित गुण का प्रतिपादक होता है अतः उससे प्रधानभाव से गुणों का प्रतिपादन नहीं हो सकता ।

तत्पुरुष से भी धर्मद्वय का प्रधान अथवा गौणभाव से प्रतिपादन नहीं हो सकता क्योंकि उस में उत्तरपदार्थ ही प्रधान होता है । द्विगुसमास में पूर्वपद के संख्यावाचित्व का नियम है । सदसत् शब्दों में

कोई शब्द संख्यावाची नहीं है अतः सदसद् शब्दों का द्विगु समास मान कर भी सत्त्वाऽसत्त्व का युगपद् प्रतिपादन नहीं माना जा सकता।

कर्मधारय समास भी गुण के आश्रयभूत द्रव्य को विषय करता है अतः वह भी समासमात्र से गुण का प्रतिपादन नहीं कर सकता।

सत्-असत् पद के एकशेष से भी उक्त धर्म के बोध का समर्थन सम्भव नहीं है क्योंकि उन शब्दों में एकशेष का विधायक कोई शास्त्र नहीं है। दूसरी बात यह है कि वह भी द्वन्द्व के समान ही अर्थ का प्रतिपादक होता है अतः द्वन्द्व के निरास से उसका भी निरास हो जाता है। उक्त समासों से भिन्न कोई समास नहीं है जिस के द्वारा सत्त्व-असत्त्व रूप गुणद्वय में युगपद् समस्तपद की वाच्यता की सम्भावना की जा सके। जब समास वाक्य से उक्त धर्मद्वय का युगपद् बोध सम्भव नहीं है तो विग्रह वाक्य से भी वह सम्भव नहीं हो सकता, क्योंकि विग्रहवाक्य वृत्ति=समस्त-समास का अभिलापक होता है। समास और विग्रह से भिन्न ऐसा कोई अकेला पद या वाक्य लोकप्रसिद्ध नहीं है जो अकेले युगपद् उक्तधर्मद्वय का प्रतिपादक हो क्योंकि जो भी ऐसा पद या वाक्य होता है वह एक दूसरे की अपेक्षा से ही द्रव्यादि अर्थ का बोधक होता है। अतः वह तथाभूत अर्थ का अर्थात् सत्त्व-असत्त्व उभय धर्मों से आश्लिष्ट एक अर्थ का अकेले प्रतिपादक नहीं हो सकता।

यदि यह शंका कि जाय कि—"जैसे 'पुष्पदन्त' पद युगपद् सूर्य और चन्द्र का बोधक होता है एवं 'तौ सत्' इस पाणिनिसूत्र [३-२-१२७] में 'सत्' संज्ञापद शतृ और शानच् प्रत्यय युगल का युगपद् बोधक होता है उसीप्रकार कोई एक सांकेतिक पद सत्त्व और असत्त्व का भी युगपद् बोधक हो सकता है।"—तो यह ठीक नहीं है क्योंकि पुष्पदन्त पद से क्रमशः सूर्य-चंद्र की उपस्थिति होती है एक साथ नहीं। तथा 'सत्' यह संज्ञा पद भी युगपद् उक्त अर्थद्वय का बोधक न होकर क्रम से ही बोधक होता है क्योंकि यह न्याय है कि एक बार उच्चरित पद एक ही अर्थ का बोधक होता है।

"एकं पदमेकदैकधर्मावच्छिन्नमेवार्थं बोधयति' इत्येतन्न्यायार्थः, तेन नानार्थकशब्दस्थल एकपदादुभयोपस्थितावपि नोभयबोधः (किंतु) पुष्पदन्तादिपदाद् रवि-चन्द्रयोरुभयत्वेनोभयबोधस्तु सुघट एव, अन्यथा घटपदाद् घटत्वेनाखिलघटबोधोऽपि न स्यादि"ति चेत् ? अस्त्वेतदापाततः, तथापि प्रातिस्विकरूपेणाऽवक्तव्यत्वमेव। एतेन 'सत्' इति पदादेव शक्त्या सत्त्वस्य, लक्षणया चासत्त्वस्योपस्थितिरस्तु, शक्य-लक्ष्ययोर्युगपदन्वयस्तु 'गंगायां मत्स्य-घोषौ' इत्यादाविवोपपद्यते, इत्युक्तावपि न क्षतिः, क्रमिकमुख्यार्थद्वयजन्यप्रतीत्यपेक्षया युगपदवक्तव्यत्वस्याऽबाधात्, श्रोतुस्तथा जिज्ञासयैव तथोक्तेः, एकत्र जनितापेक्षान्वयस्य स्यात्पदस्येतरत्र व्युत्पत्ताकाङ्क्षत्वेनोक्तवदन्वयाऽयोगात्।

['पुष्पदन्त' शब्द से एक साथ सूर्य-चन्द्र के बोध की आशंका का समाधान]

यदि यह कहा जाय कि—"उक्त न्याय का अर्थ यह है कि एक पद एककाल में एकधर्मविशिष्ट ही अर्थ का बोधक होता है, इसलिये नानार्थक शब्दस्थल में एकपद से अर्थद्वय की उपस्थिति होने पर भी अर्थद्वय का शाब्दबोध नहीं होता क्योंकि अनेकार्थकपद से द्वय का बोध भिन्न भिन्न धर्मों द्वारा

ही हो सकता है अतः उक्त न्याय के विरोध से अनेकार्थकपद से युगपद् अर्थद्वय का बोध नहीं हो सकता। किन्तु पुष्पवन्तशब्द से सूर्य और चन्द्ररूप अर्थद्वय का बोध हो सकता है, यद्यपि वह सूर्यत्व-चन्द्रत्वरूप भिन्न भिन्न धर्मों द्वारा नहीं होता किन्तु सूर्य-चन्द्र उभयस्वरूप सूर्यचन्द्रोभयानुगत धर्म द्वारा होता है। यदि उक्त न्याय का यह अर्थ नहीं किया जायगा तो एकबार उच्चरित एक पद से एक ही अर्थबोध उक्त न्याय से अनुमत होने के कारण घटपद से घटत्वरूप से समस्त घटों का बोध भी नहीं हो सकेगा। और जब उक्त न्याय का प्रस्तुत अर्थ स्वीकार किया जायगा तब किसी सांकेतिक पद के सकृद् उच्चारण से भी सत्त्व और असत्त्व उभय साधारण किसी धर्म के द्वारा सत्त्वाऽसत्त्वोभय का युगपद् बोध होने में कोई बाधा हो नहीं सकती"–तो इस कथन को आपाततः स्वीकार कर के यह कहा जा सकता है कि सत्त्व-असत्त्व उभयसाधारण किसी रूप से सत्त्वाऽसत्त्व का किसी एक पद से युगपद् सम्भव होने पर भी प्रातिस्विकरूप से अर्थात् सत्त्वमात्रवृत्ति एवं असत्त्वमात्रवृत्तिरूप से सत्त्व-असत्त्व का युगपद् अवक्तव्यत्व तो अक्षुण्ण ही रहेगा। अतः वस्तु को स्यादवक्तव्य मानने में कोई बाधा नहीं है।

[उच्छृङ्खल मत अवाच्यताबाधक नहीं है]

इस संदर्भ में किसी उच्छृङ्खल वक्ता का यह कहना है कि जैसे 'गङ्गायां मत्स्य-घोषौ' इस वाक्य से मत्स्यशब्दार्थ में गङ्गा शब्द के जलरूप शक्यार्थ का और घोषशब्द के अर्थ में गङ्गापद के तीररूप लक्ष्यार्थ का युगपद् अन्वय होता है उसीप्रकार सत् पद से, शक्ति द्वारा सत्त्व की और लक्षणा द्वारा असत्त्व की उपस्थिति मान कर उन दोनों का समभिव्याहृत घटादिपद के अर्थ में युगपद् अन्वय मानने में कोई क्षति नहीं है' तो यह ठीक नहीं है क्योंकि क्रम से प्रवृत्त प्रथम और द्वितीयभङ्ग से होनेवाली प्रतीति की अपेक्षा सत्त्व-असत्त्व की युगपद्अवक्तव्यता में कोई बाधा नहीं है।

तात्पर्य यह है कि जैसे प्रथम और द्वितीयभङ्गों से सापेक्ष सत्त्व-असत्त्व का बोध होता है उसप्रकार एकपद से सापेक्ष सत्त्वाऽसत्त्व का बोध युगपद् नहीं हो सकता। क्योंकि श्रोता को वस्तु के सापेक्षसत्त्वाऽसत्त्व की युगपद् जिज्ञासा है अत एव उस जिज्ञासा के अनुरोध से वस्तु के सापेक्ष-सत्त्वाऽसत्त्व की ही युगपद् अवक्तव्यता तृतीयभङ्ग से बतायी जाती है। यदि यह कहा जाय कि–'स्यात् पद के समभिव्याहार में एक सत् पद से शक्ति और लक्षणा द्वारा सापेक्ष सत्त्वाऽसत्त्व का युगपद् बोध हो सकता है' तो यह ठीक नहीं है, क्योंकि सत् पद के एक अर्थ में स्यात् पद से अपेक्षा का अन्वय हो जाने पर अन्य अर्थ में स्यात्पदार्थ अपेक्षा के अन्वय की आकांक्षा निवृत्त हो जाती है। अत एव उक्त रीति से अन्वय नहीं हो सकता, अर्थात् जैसे क्रमिकभङ्गद्वय से स्यात्पदार्थान्वित सत्त्वाऽसत्त्व का बोध होता है उसी प्रकार शक्ति से सत्त्व और लक्षणा से असत्त्व परक सत् पद और स्यात्पद के परस्पर समभि-व्याहार से स्यात्पदार्थान्वित सत्त्वाऽसत्त्व का बोध नहीं हो सकता।

अत एव न निजार्थान्तरैकान्ताभ्युपगमेऽप्यर्थस्य तथा वाच्यता, तथाभूतस्य तस्याऽत्यन्ताऽसत्त्वात्, सर्वथा सत्त्वेऽन्यतोऽव्यावृत्तत्वात् महासामान्यवत् घटार्थत्वानुपपत्तेः, अर्थान्तरत्वे पररूपादिवत् स्वरूपादपि व्यावृत्तेः, खरविषाणवदसत्त्वाद्वाच्यत्वैव इति वदन्ति।

[एकान्त शक्यार्थ–लक्ष्यार्थ का युगपद् शाब्दबोध अशक्य]

एवं सत् शब्द के निजार्थ-शक्यार्थ सत्त्व के एकान्त का अभ्युपगम एवं अर्थान्तर-असत्त्वार्थ-

असत्त्व के एकान्त का अभ्युपगम करने पर भी वो अर्थ उक्तउभयरूप से युगपद् शब्दबोध्य नहीं हो सकता क्योंकि उक्त उभयरूप से युक्त अर्थ अत्यन्तासत् है कारण सत् पद के शक्यार्थ को सर्वथा सत् मानने पर वह महासामान्य के समान अन्य व्यावृत्त नहीं होगा। अतः वह घटात्मित अर्थ न हो सकेगा, क्योंकि घट सर्वथा नहीं है। एवं सत् पद के लक्ष्यार्थ को अर्थान्तर अर्थात् एकान्त अर्थान्तर-सर्वथा असत् मानने पर जैसे पर रूप से अर्थ असत् होता है वैसे स्वरूप से भी असत् होगा-अतः खरविषाण के समान अलीक हो जाने से शब्दबोध्य नहीं होगा।

न च घटशब्दप्रवृत्तिनिमित्ते विधिरूपे सिद्धेऽसंबद्ध एव तत्र पटाद्यर्थप्रतिषेध इति वाच्यम्, पटादेस्तत्राभावाभावे घटशब्दप्रवृत्तिनिमित्तस्य घटत्वस्यैवाऽसिद्धेः। शब्दानां चार्थज्ञापकत्वं न कारकत्वम्, इति तथाभूतार्थप्रकाशनं तथाभूतेनैव शब्देन विधेयम्, इति नाऽसंबद्धस्तत्र पटार्थ-प्रतिषेधः। अथवा, 'सर्वं सर्वात्मकम्' इति सांख्यमतव्यवच्छेदार्थं तत्प्रतिषेधो विधीयते। न च तदभिमतार्थस्य सिद्ध्यसिद्धिभ्यां व्याहतो निषेध इति वाच्यम्; विकल्पतः सिद्धस्यापि तं प्रति व्यवहारव्युदासाय निषेधौचित्यात्। विकल्पतः सिद्धिश्च खण्डशोऽखण्डशो वेत्यन्यदेतत्।

[पटादि अर्थ का प्रतिषेध असंबद्ध नहीं है]

यदि यह कहा जाय कि "घट में घटशब्द की प्रवृत्ति का घटत्वरूप भावात्मक निमित्त सिद्ध है, अतः उसी से घट में घटशब्द के व्यवहार आदि का नियमन हो जायगा, इसलिये उस में पटादि अर्थ का प्रतिषेध असम्बद्ध है, अर्थात् उस में पटाद्यात्मना असत्त्व का प्रभाव है इसलिये एक वस्तु में सत्त्व-असत्त्व उभय का सम्बन्ध अयुक्त है।"- तो यह ठीक नहीं है क्योंकि घट में पटादि के अभाव का पटाद्यात्मना असत्त्व का अभाव मानने पर उस में घटशब्द के प्रवृत्तिनिमित्त घटत्व की ही सिद्धि नहीं हो सकती, क्योंकि पटाद्यात्मना असत्त्व के अभावाधिकरण पटादि में घटत्व नहीं होता। यदि यह कहा जाय कि "घट और पटादि में पटाद्यात्मना असत्त्व का अभाव समान होने पर भी घटशब्द की महीमा से ही घट की घटात्मकता सिद्ध होगी और पटादि में नहीं होगी, क्योंकि उस में प्रामाणिकों द्वारा घटशब्द का प्रयोग नहीं होता"-तो यह उचित नहीं है। क्योंकि शब्द अर्थ का ज्ञापक होता है, कारक नहीं होता, अतः जो अर्थ जिस रूप में प्रमाणान्तर से सिद्ध है उस रूप से उस अर्थ के वाचक शब्द से ही उस रूप से उस अर्थ का प्रकाशन मान्य है। अतः घट में पटाद्यात्मना असत्त्व को घट से असम्बद्ध नहीं माना जा सकता, क्योंकि पटाद्यात्मना असत्त्व के बिना उस की घटरूपता ही सिद्ध नहीं हो सकती।

[सांख्यमत के निषेधार्थ पटादिरूप से असत्त्व का निरूपण]

अथवा यह भी कहा जा सकता है कि घट में पटाद्यात्मना असत्त्व इसलिये मानना चाहिये जिससे 'पुरुष से भिन्न समस्त प्रकृतिरूप एकोपादानक होने से सर्वात्मक है' इस सांख्यमत का निषेध हो सके। यदि यह कहा जाय कि "सिद्ध अर्थ की सिद्धि और असिद्धि दोनों से सांख्यमत का निषेध व्याहत है अतः उसका निषेध घट में पटाद्यात्मना असत्त्व के अभ्युपगम का प्रयोजन नहीं हो सकता।" तो यह ठीक नहीं है क्योंकि सब में सब का अभेद कल्पना से गृहीत है। उसी के कारण सब में सब की अभिन्नता का व्यवहार भी प्रसक्त होता है, अत एव उस व्यवहार का निषेध भी

व्यापकभूत है। सब में सब के अभेद की काल्पनिक सिद्धि घटादि एकोपादानक होने से पटादि से अभिन्न है-इस रूप में साक्षात् भी हो सकती है। तथा एकोपादानक होने से सब रूप से सब वस्तु से अभिन्न है-इसप्रकार परम्परया भी हो सकती है। इन दोनों ही प्रकार की सिद्धि से घटादि का पटाद्यात्मना व्यवहार प्रसक्त होता है अतः उस के निषेध के लिये घटादि में पटाद्यात्मना असत्त्व का अभ्युपगम आवश्यक है।

यद्वा, नाम-स्थापना-द्रव्य-भावभिन्नेषु घटेषु विधित्सिताऽविधित्सितप्रकारेण प्रथम-द्वितीयौ भङ्गौ। तत्प्रकाराभ्यां युगपदवाच्यः। यद्यविधित्सितरूपेणापि घटः स्यात् तदा प्रतिनियतनामादिभेदव्यवहाराभावप्रसक्तिरिति विधित्सितस्यापि नात्मलाभ इति सर्वाभाव एव भवेत्। यदि च विधित्सितप्रकारेणाप्यघटः स्यात् तदा तन्निबन्धनव्यवहारोच्छेदप्रसक्तिरेव। एकान्ताभ्युपगमे च तथाभूतार्थस्याऽप्रामाणिकत्वादवाच्यः।

[२-निक्षेपापेक्षा सप्तभंगीगत भंगत्रय का उपपादन]

अथवा प्रथम तीन भङ्गों की उपपत्ति इसप्रकार भी हो सकती है कि घटादि पदार्थ नाम-स्थापना-द्रव्य-भावरूप निक्षेप चतुष्टय के भेद से चतुर्विध होता है। उन में कभी नामात्मकस्वरूप से, कभी स्थापनात्मकस्वरूप से, कभी द्रव्यात्मकस्वरूप से, तो कभी भावात्मकस्वरूप से घटादि की विवक्षा होती है। जिस रूप से घटादि विवक्षित होता है उस रूप से उस की सत्ता होती है और अन्यरूप से उस की असत्ता होती है। अतः विवक्षित रूप से वस्तु की सत्ता बताने के लिये प्रथमभंग की और अविवक्षितरूप से असत्ता बताने के लिये द्वितीयभंग की और दोनों रूपों से धर्म की युगपद् रूप से विवक्षा करने पर अवाच्यता बताने के लिये तृतीयभङ्ग की प्रवृत्ति होती है।

यह शंका नहीं की जा सकती कि-'घट जैसे विवक्षित याने विधित्सितरूप से सत् होता है वैसे अविधित्सितरूप से भी सत् होता है'-क्योंकि यदि विधित्सितरूप के समान अविधित्सितरूपसे भी घट यदि सत् होगा तो नाम-स्थापनादि भेद से घट में जो भेदव्यवहार होता है उसका अभाव हो जायगा। फलतः विधित्सितरूप से भी वस्तु का अभाव हो जाने से सर्वाभाव की प्रसक्ति होगी। अतः घटादि को अविधित्सितरूप से असत् मानना आवश्यक है। इसीप्रकार यह भी शंका नहीं की जा सकती कि 'घट जैसे अविधित्सितरूप से असत् है उसीप्रकार विधित्सितरूप से भी असत् है'-क्योंकि विधित्सितरूप से भी असत् मानने पर उस रूप से सत्त्व के आधार पर जो घटादिव्यवहार होता है उसका उच्छेद हो जायगा। अतः एकान्तवस्तु के अभ्युपगम पक्ष में एकान्तभूतवस्तु प्रामाणिक न होने से वस्तु सर्वथा अवाच्य-व्यवहारातीत हो जायगी।

अथवा, स्वीकृतप्रतिनियतप्रकारे तत्रैव नामादिके यः संस्थानादिस्तल्लक्षणरूपेण घटः, इतरेण चाघटः, इति प्रथम-द्वितीयौ। ताभ्यां युगपदभिधातुमशक्तेरवाच्यः। विवक्षितसंस्थानादिनेव यदीतरेणापि घटः स्यात् एकस्य सर्वघटात्मकत्वप्रसक्तिः, अथ विवक्षितेनाप्यघटः पटादाविव घटार्थिनस्तत्राऽप्यप्रवृत्तिप्रसक्तिः। एकान्तपक्षेऽप्ययमेव दोष इत्यसत्त्वादवाच्यः।

[३—संस्थानादि से भंगत्रयापेक्षाभेदनिरूपण]

अथवा यह कहा जा सकता है कि नामस्थापनादि प्रत्येक घट का पृथक् पृथक् आकार नियत है अतः उन में एक एक घट का अपने आकार से सत्त्व है और अन्याकार से असत्त्व है। इसी सत्त्वाऽसत्त्व को बताने के लिये प्रथम और द्वितीय भङ्ग प्रवृत्त होते हैं। स्वसंस्थान से सत्त्व और परसंस्थान से असत्त्व इन दोनों का एकपद से युगपद् बोध सम्भव नहीं होता है। इसी बात को बताने के लिये तृतीयभङ्ग प्रवृत्त होता है। यह आवश्यक है कि विवक्षितसंस्थान से सत्त्व और अविवक्षित संस्थान से असत्त्व माना जाय। क्योंकि अविवक्षितसंस्थान से भी सत्त्व मानने पर एक ही घट में सभी संस्थानों का सम्बन्ध हो जाने से एक घट में सर्वघटात्मकत्व की प्रसक्ति होगी। इसी प्रकार यह भी मानना आवश्यक है कि विवक्षित घट अविवक्षित संस्थानादि से ही असत् है, किन्तु विवक्षित संस्थान से असत् नहीं है क्योंकि विवक्षित संस्थान से भी असत् माना जायगा तो घटपटादितुल्य हो जायगा। अत एव जैसे पटादि में घटार्थी की प्रवृत्ति नहीं होती, उसी प्रकार विवक्षित घट में भी घटार्थी की प्रवृत्ति न हो सकेगी। एकान्त पक्ष में भी यही दोष होता है अतएव उस पक्ष में सर्वथा घटाभाव की आपत्ति अनिवार्य है।

अथवा, स्वीकृतप्रतिनियतसंस्थानादौ मध्यावस्था स्वं रूपम्, कुशूलकपालादिलक्षणे पूर्वोत्तरावस्थे पररूपम्, ताभ्यां सदसत्त्वात् प्रथम-द्वितीयौ, युगपत्ताभ्यामभिधातुमसामर्थ्यात् तृतीयः। मध्यावस्थावदितरावस्थाभ्यामपि यदि घटः स्यात्, तदवस्थानाद्यनन्तरप्रसक्तिस्तदा स्यात्। यदि च मध्यावस्थारूपेणाप्यघटस्तदा सर्वदा घटाभावापत्तिः। एकान्तपक्षेऽप्ययमेव प्रसङ्ग इत्यसत्त्वाऽवाच्यः।

[४—अवस्थाभेद से भंगत्रय का उपपादन]

अथवा जिस का नियतसंस्थान अभ्युपगत है ऐसे घटादि की तीन अवस्थाएँ होती हैं-मध्यावस्था, पूर्वावस्था और उत्तरावस्था। इन में मध्यावस्था स्वरूप और पूर्वोत्तरावस्था पररूप हैं। जैसे, भावघट की कम्बुग्रीवादिमत्त्व मध्यावस्था है और उसके पूर्व की कुशूल-पिण्डादि अवस्था पूर्वावस्था है और कपाल—भग्नघट का भाग आदि उत्तरावस्था है। मध्यावस्था को स्वरूप इसलिये कहा कि उसी अवस्था में प्राधान्येन घट शब्द का व्यपदेश होता है। पूर्वोत्तर अवस्था में घट शब्द का व्यपदेश न होने से उन्हें घट का पूर्वरूप कहा जाता है। इसप्रकार 'घट' शब्द से निर्देशयोग्य भाव अपनी मध्यावस्थात्मक स्वरूप से सत् होता है और पूर्वोत्तरावस्थात्मक पर रूप से असत् होता है। इस सत्त्वाऽसत्त्व को बताने के लिये प्रथम-द्वितीयभंग की प्रवृत्ति होती है। इन विभिन्नावस्थात्मकरूपों से घट के सत्त्वासत्त्व का युगपद् अभिधान शक्य न होने से उसको बताने के लिए तृतीयभङ्ग की प्रवृत्ति होती है। मध्यावस्था से जो घट होता है वह यदि पूर्वोत्तरावस्था से घट हो तो घट अनादि अनन्त हो जायेगा। अर्थात् पूर्वोत्तरावस्था में भी घटशब्दव्यपदेश की प्रसक्ति होगी। यदि घट पूर्वोत्तरावस्था के समान मध्यावस्था में भी अघट होगा तो घट का सार्वदिक अभाव हो जायगा अर्थात् मध्यावस्था में भी घटपद का प्रयोग न हो सकेगा। एकान्तपक्ष में-घट को सर्वथा सत् या असत् मानने के पक्ष में भी यही आपत्ति है, अतः एकान्ततः घट के असत् होने से सर्वथा अघटरूपत्व की प्रसक्ति होगी।

अथवा, तस्मिन्नेव मध्यावस्थास्वरूपे वर्तमाना-ऽवर्तमानक्षणरूपतया सदसत्त्वात् प्रथम-द्वितीयौ । ताभ्यां युगपदनभिधेयत्वात् तृतीयः । यदि वर्तमानक्षणवत् पूर्वोत्तरक्षणयोर्घटः स्यात्, वर्तमानक्षणमात्रमेवासौ प्राप्त, पूर्वोत्तरयोर्वर्तमानताप्राप्तेः । न च वर्तमानक्षणमात्रमपि पूर्वोत्तरापेक्षस्य, तदभावेऽभावात् । अथातीताऽनागतक्षणवद् वर्तमानक्षणरूपतयाऽप्यघटः, सर्वदा तस्याऽभावः स्यात् । एकान्तपक्षेऽप्ययमेव दोष इत्यसत्त्वाद्वाच्यः ।

[५-क्षणभेद से भंगत्रय का उपपादन]

अथवा यह कहा जा सकता है कि-मध्यावस्थास्वरूप वर्तमान घट भी वर्तमानक्षणात्मना सत् और पूर्वोत्तरक्षणात्मना असत् होता है । इसी सत्त्वाऽसत्त्व को बताने के लिये प्रथम-द्वितीय भङ्ग की और इन दोनों की युगपद् अनभिधेयता बताने के लिये तृतीय भङ्ग की प्रवृत्ति होती है । आशय यह है कि मध्यावस्थापन्न वर्तमानघट भी केवल वर्तमानक्षणरूप में ही सत् होता है । पूर्वोत्तरक्षणरूप में सत् नहीं होता । क्योंकि यदि वर्तमानक्षणात्मक घट को पूर्वोत्तरक्षणरूप में भी सत् माना जाय तो घट वर्तमानक्षणमात्रात्मक हो जायगा क्योंकि पूर्वोत्तरक्षणरूप में वर्तमानक्षणमात्रात्मक वस्तु का अभ्युपगम तभी हो सकता है जब पूर्वोत्तरक्षण भी वर्तमानक्षणात्मक हो; और सच बात तो यह है कि वर्तमानक्षणरूप से सत् वस्तु को पूर्वोत्तरक्षणरूप से सत् मानने पर वह वर्तमानक्षणरूप से भी सत् न हो सकेगी क्योंकि उस पक्ष में उक्त रीति से पूर्वोत्तरक्षण का अभाव होने से तत्सापेक्ष होने के कारण वर्तमानक्षण का भी अभाव हो जायगा ।

इसीप्रकार अतीत अनागतक्षण में जैसे घट वर्तमानक्षणरूप से घट नहीं किन्तु अघट होता है उसीप्रकार यदि वर्तमानक्षण में भी घट अघट होगा तो घट का सर्वथा अभाव हो जायगा । अतः उसे वर्तमानक्षण में सत् मानना आवश्यक है । इसप्रकार घटात्मकवस्तु में सापेक्ष सत्त्वाऽसत्त्व की सिद्धि निर्विवाद है । जो दोष वर्तमानक्षण में सत् वस्तु को पूर्वोत्तरक्षणरूप में भी सत् और पूर्वोत्तर क्षण रूप से वर्तमान में असत् को वर्तमानक्षणरूप से भी असत् मानने पर प्रसक्त होता है वह वस्तु के सर्वात्मना सत्त्व और असत्त्व के एकान्त पक्ष में भी प्रसक्त होता है । अतः एकान्त वस्तु सत् न होने से उस पक्ष में वस्तु में सर्वथा अवाच्यत्व की प्रसक्ति होती है ।

अथवा, क्षणपरिणतिरूपे घटे लोचनजप्रतिपत्तिविषयत्वाऽविषयत्वाभ्यां स्वरूप-पररूपाभ्यामाद्य-द्वितीयौ । ताभ्यां युगपदादिष्टस्तृतीयः । यदीन्द्रियान्तरजप्रतिपत्तिविषयत्वेनापि घटः स्यात्, इन्द्रियसंकरः स्यात् । यदि च चक्षुर्जप्रतिपत्तिविषयत्वेनापि न घटः, तर्हि तस्याऽरूपत्वप्रसक्तिः । एकान्तपक्षेऽप्ययमेव दोष इत्यसत्त्वाद्वाच्यः ।

[६-भिन्न भिन्न इन्द्रिय की अपेक्षा भंगत्रयनिरूपण]

अथवा यह कहा जा सकता है कि क्षणपरिणतिरूप-क्षणमात्रस्थायी घट का नेत्रजन्यप्रतिपत्तिविषयत्व स्व रूप है और अन्यइन्द्रियजन्य प्रतिपत्तिविषयत्व पर रूप है । अतः उस घट का स्वरूप से सत्त्व और पररूप से असत्त्व का प्रतिपादन करने के लिये प्रथम-द्वितीयभङ्ग की प्रवृत्ति होती है । और दोनों रूपों से उसकी युगपद् विवक्षा होने पर उसकी दोनों रूपों से युगपद् अवाच्यता बताने के लिये तृतीय-

भङ्ग की प्रवृत्ति होती है। यदि नेत्रजन्यबोध के विषय क्षणिक घट को अन्य इन्द्रियजन्यप्रतिपत्ति-विषयत्वरूप से भी सत् माना जायगा तो एकघट व्यक्ति में दो इन्द्रियों का संकर होगा जो प्रमाण-व्यवस्थावादी बौद्ध को अनिष्ट है। यदि क्षणिक घट को नेत्रजन्यप्रतिपत्तिविषयत्वरूप से भी असत् माना जायगा तो वह वायु आदि के समान अरूप हो जायगा। घट के सर्वथा सत्त्व या असत्त्वरूप एकान्तपक्ष में भी यही दोष होता है, अतः एकान्त सत् अथवा एकान्त असत् वस्तु असिद्ध होने से उस पक्ष में सर्वथा अवाच्यत्व की प्रसक्ति होती है।

अथवा, दृश्यमान एव घटे घटशब्दवाच्यता स्वं रूपम्, कुटशब्दाभिधेयत्वं पररूपम्, ताभ्यां सदसत्त्वात् प्रथम-द्वितीयौ। युगपत्ताभ्यामर्पितोऽवाच्यः। यदि हि घटशब्दवाच्यत्वेनेव कुटशब्दवाच्यत्वेनापि घटः स्यात्, तर्हि त्रिजगत एकशब्दवाच्यताप्रसक्तिः, घटस्य वाऽशेषपटादिशब्दवाच्यत्वप्रसक्तिः, घटशब्दवाच्यताप्रतिपत्तौ समस्ततद्वाचकशब्दप्रतिपत्तिप्रसंगश्च। घटपदेनापि यद्यवाच्यः स्यात्, सदा घटशब्दोच्चारणवैयर्थ्यप्रसक्तिः। एकान्ताभ्युपगमेऽपि घटस्यैवाऽसत्त्वात् तद्वाचकशब्दसंकेताभावादवाच्य एव।

[७–घटादिशब्दवाच्यतारूप से भंगत्रय]

अथवा यह भी कहा जा सकता है कि दृश्यमानघट का घटशब्दवाच्यता स्व रूप है और कुटशब्दवाच्यता पर रूप है। अतः घटशब्दवाच्यत्वात्मक स्व रूप से घट का सत्त्व बताने के लिये प्रथमभङ्ग, कुटशब्दवाच्यत्वात्मक पर रूप से घट का असत्त्व बताने के लिये द्वितीयभङ्ग और उन दोनों रूपों से घट की युगपद् विवक्षा होने पर उक्त रूपों से घट की युगपद् अवाच्यता बताने के लिये तृतीयभङ्ग की प्रवृत्ति होती है। इस संदर्भ में यह ज्ञातव्य है कि दृश्यमान घट घटशब्दवाच्यत्वरूप से ही सत् होता है क्योंकि यदि उसे कुटशब्दवाच्यत्वरूप से भी सत् माना जायगा तो त्रैलोक्य की समस्त वस्तुओं में एकशब्दवाच्यता की आपत्ति होगी अथवा घट में पटादिअशेष शब्द की वाच्यता की प्रसक्ति होगी। जैसे घट को देखकर घटशब्दवाच्यता की प्रतिपत्ति होती है वैसे उक्त रीति से समस्त शब्दों के घटवाचक हो जाने से समस्त शब्दों की वाच्यता की प्रतिपत्ति का प्रसङ्ग होगा। तथा, यदि घट को अन्य शब्दों से अवाच्य मानने के समान घट शब्द से भी अवाच्य माना जायगा तो घट-शब्द का उच्चारण व्यर्थ होगा। अतः घट को घटशब्दवाच्यत्वेन सत् और कुटादि शब्दवाच्यत्वेन असत् मानना आवश्यक है। एकान्तवादी के पक्ष में भी घट अवाच्य ही होगा क्योंकि उस पक्ष में घट ही असत् होता है। अत एव उसके वाचक किसी शब्द का संकेत नहीं हो सकता।

अथवा, घटशब्दाभिधेये तस्मिन्नेव घटे हेयोपादेयान्तरङ्गबहिरङ्गोपयोगानुपयोगरूपतया सदसत्त्वात् प्रथम-द्वितीयौ। ताभ्यां युगपदादिष्टोऽवाच्यः। यदि हि हेयादिरूपेणाप्यर्थक्रियाक्षमादिरूपेणेव घटः स्यात्, पटादीनामपि घटत्वप्रसक्तिः। यदि चोपादेयादिरूपेणाप्यघटः स्यात्, अन्तरङ्गस्य वक्तृ-श्रोतृगतहेतु-फलभूतघटाकारावबोधकविकल्पोपयोगस्याप्यभावे घटस्याभावः। एकान्ताभ्युपगमेऽयमेव दोष इत्यवाच्यः।

[८–उपादेयादिरूप से भंगत्रय का प्रतिपादन]

अथवा यह भी कहा जा सकता है कि घटशब्दाभिधेय घट में उपादेयरूप जलाहरणादि रूप

अर्थक्रियोपायत्वात्मक स्व रूप है उस स्व रूप से सत्त्व, एवं हेयरूप देहाच्छादनादिरूपअर्थक्रियानुपायत्वात्मक पर रूप है उस पर रूप से असत्त्व होता है। एवं उपयोगात्मक अर्थात् वक्तृश्रोतृगतजलाहरणादिसाधनताज्ञानात्मक जो विकल्प है वह घट का अन्तरङ्ग आकाररूप होने से स्व रूप है, उससे सत्त्व और अनुपयोगात्मक घट का बाह्याकार यह बहिरङ्ग पर रूप है, उससे असत्त्व है। घट के उक्त विध सत्त्वाऽसत्त्व के प्रतिपादनार्थ प्रथम-द्वितीय भङ्ग की प्रवृत्ति होती है। उन दोनों धर्मद्वय से घट की युगपद् विवक्षा होने पर उक्त दोनों धर्मों से घट की अवक्तव्यता के प्रतिपादनार्थ तृतीयभङ्ग की प्रवृत्ति होती है। यहां भी यह ज्ञातव्य है कि जैसे घट उपादेयभूत अर्थक्रियोपायत्व रूप से घट होता है उसी प्रकार यदि हेयभूतअर्थक्रियानुपायत्वरूप से भी घट होगा, एवं घट जैसे उक्त उपयोगात्मना घट होता है उसी प्रकार यदि अनुपयोगात्मना भी घट होगा तो पटादि में भी घटत्व की प्रसक्ति होगी। यदि घट हेयरूप के समान अर्थक्रियोपायत्वस्वरूपोपादेयरूप से भी अघट होगा और यदि अनुपयोगात्मक बहिरंग रूप के समान उक्त अन्तरंग उपयोगात्मना भी अघट होगा तो उपादेय और उपयोगात्मक अन्तरंग घट का अभाव हो जाने से घट के सर्वथा अभाव की प्रसक्ति होगी क्योंकि घट अर्थक्रियानुपायत्व और अर्थक्रियोपायत्व दोनों रूपों से नहीं है, तथा घट अनुपयोगात्मक और उपयोगात्मक इन दो रूपों से भी नहीं है, उन से अतिरिक्त तृतीयरूप कोई है नहीं जिस रूप से उसका अस्तित्व सम्भव हो।

उपयोग-अनुपयोगात्मना घट के सत्त्वाऽसत्त्व के सम्बन्ध में कहने का आशय यह है कि घटशब्दाभिधेय घट रूप अर्थ से जलाहरणादि कार्य सब होता है जब कोई वक्ता जिसे जलाहरणसाधनतारूप से घट का ज्ञान है-वह 'घट से पानी ले आओ' इन शब्दों का प्रयोग करता है और उससे श्रोता को जलाहरणसाधनतारूप से घट का ज्ञान होता है। अतः वक्ता और श्रोता के उक्त ज्ञानों में हेतुफल भाव होने से घटशब्दाभिधेय घट हेतुफलभूत उक्त ज्ञान में आरूढ होने से उपयोगरूप होता है। यह उसका अन्तरङ्ग आकार अर्थात् स्वरूप होता है और उक्त उपयोगानात्मक जो घट का बाह्याकार है वह बहिरङ्गरूप अर्थात् पर रूप होता है। इन दोनों में उक्त उपयोगात्मकस्वरूप घट से घटशब्दाभिधेय घट सत् होता है और उक्तोपयोगानात्मक पर रूप से असत् होता है। उक्त दोनों रूपों से केवल सत् अथवा केवल असत् मानने पर घट का सर्वथा अभाव हो जायगा। एकान्ताभ्युपगम पक्ष में भी यही दोष है इसलिये उस पक्ष में घट सर्वथा अवाच्य है।

अथवा, तत्रैवोपयोगेऽभिमतार्थाविबोधकत्वा-ऽनभिमतार्थानवबोधकत्वतः सदसत्त्वात् प्रथमद्वितीयौ। ताभ्यां युगपदादिष्टोऽवाच्यः। विवक्षितार्थप्रतिपादकत्वेनेवेतररूपेणापि यदि घटः स्यात्, तदा प्रतिनियतोपयोगानुपपत्तिः, एवं च विविक्तरूपोपयोगप्रतिपत्तिर्न भवेत्। तदुपयोगप्रतिनियतरूपेणापि यद्यघटः स्यात् तदा सर्वाभावोऽविशेषप्रसङ्गो वा, न चैवम्, तथाप्रतीतेः। एकान्तपक्षेऽप्ययमेव प्रसंग इत्यवाच्यः।

[६-अभिमतार्थबोधकत्वादिरूप से भंगत्रय का प्रतिपादन]

अथवा यह कहा जा सकता है कि शब्दजन्य श्रोतृगत विकल्पात्मक उपयोग में अभिमत अर्थ यानी विवक्षित अर्थ की बोधकता होती है और अनभिमत-अविवक्षित अर्थ की बोधकता नहीं होती है। अतः उपयोग यानी शब्दजन्य ज्ञानात्मकघट में अभिमतार्थबोधकत्वरूप से सत्त्व है और अन-

भिमतार्थबोधकत्वरूप से असत्त्व है अर्थात् घट शब्द जन्यज्ञान घटविषयकबोधत्वरूप से उपयोगात्मक घट है और अनभिमत पटादिविषयकबोधत्वरूप से उपयोगात्मक घट नहीं है। इस सत्त्वासत्त्व को बताने के लिये प्रथम-द्वितीय भंग की प्रवृत्ति होती है। और दोनों धर्मों से युगपद् विवक्षा होने पर युगपद् अवाच्यता दर्शाने के लिये तृतीयभंग की प्रवृत्ति होती है। यहाँ भी यह ध्यान रखना आवश्यक है कि उपयोग जैसे विवक्षितार्थबोधकत्वरूप से घट होता है उसी प्रकार यदि इतररूप-अविवक्षितार्थ-बोधकत्व रूप से भी घट होगा तो विभिन्नशब्दों से विभिन्नार्थ नियत उपयोग की अनुपपत्ति होगी। क्योंकि प्रत्येक शब्द जन्य उपयोग विवक्षित अर्थ के समान अविवक्षित सभी अर्थों का बोधक होगा तो प्रत्येक शब्द जन्योपयोग सर्वार्थविषयक हो जायगा। इस प्रकार इस पक्ष में विविक्तरूप से अर्थात् विभिन्न-विषयकत्वरूप से उपयोग की प्रतिपत्ति की भी अनुपपत्ति होगी।

यदि उक्त उपयोग घटशब्दजन्यज्ञानप्रतिनियतरूप अर्थात् विवक्षितघटबोधकत्वरूप से भी अघट होगा तो सर्वाभाव की अथवा सर्वाऽविशेष की आपत्ति होगी। आशय यह है कि शब्दजन्यघटोपयोग घटबोधकत्वरूप और अविवक्षितपटादिबोधकत्व दोनों रूप से यदि असत् है तो उसमें सर्व विषयों के अभाव का प्रसङ्ग होगा क्योंकि पटादिबोधकत्वरूप से असत् होने से वह पटादिविषयक नहीं होगा और घटविषयबोधकत्व रूप से भी असत् होने से घटविषयक भी नहीं होगा, अथवा उक्त उपयोग में निर्विषयकपदार्थों का अविशेष-अवैलक्षण्य प्रसक्त होगा क्योंकि जैसे घटपटादि बाह्यार्थ निर्विषयक होते हैं उसी प्रकार इस पक्ष में उपयोग भी निर्विषयक होगा और यह स्वीकार नहीं किया जा सकता क्योंकि उक्त उपयोग की विषयपुरस्कारेण और निर्विषयक वैलक्षण्येन प्रतीति होती है।

एकान्त पक्ष में भी यही दोष है अतः उस पक्ष में उपयोगघट भी सर्वथा अवाच्य होगा।

अथवा, घटत्वं स्वं रूपं, सत्त्वम् असत्त्वं च पररूपे, ताभ्यां प्रथम-द्वितीयौ। अभेदेन ताभ्यां निर्दिष्टो घटोऽवक्तव्यः, तथाहि-यदि सत्त्वमनूद्य घटत्वं विधीयते, तदा सत्त्वस्य घटत्वेन व्याप्तेर्घटस्य सर्वगतत्वप्रसङ्गः, तथाभ्युपगमे प्रतिभासबाधा व्यवहारविलोपश्च। तथाऽसत्त्वमनूद्य यदि घटत्वं विधीयते तदा प्रागभावादेश्चतुर्विधस्यापि घटत्वेन व्याप्तेर्घटत्वप्रसङ्गः। अथ घटत्वमनूद्य सदसत्त्वे विधीयेते, तदा घटत्वं यत् तदेव सदसत्त्वे इति घटमात्रं सदसत्त्वे प्रसज्येते, तथा च पटादीनां प्रागभावादीनां चाभावप्रसक्तिः। इति प्रावचनन्यायेन विशेषणविशेष्यलोपात् 'सन् घटः' इत्येवमवक्तव्यः, 'असन् घटः' इत्येवमप्यवक्तव्यः स्यात्। अनेकान्तपक्षे तु कथंचिद्वाच्य इति न कश्चिद् दोषः।

[१०—घटत्वादिरूप से भंगत्रय का प्रतिपादन]

अथवा यह भी कहा जा सकता है कि घटत्व असाधारण होने से घट का स्व रूप है। और सत्त्व तथा असत्त्व पररूप है अतः घटत्व रूप से घट का सत्त्व और 'सत्त्वाऽसत्त्व' रूप से घट का असत्त्व बताने के लिये प्रथम-द्वितीयभङ्ग की प्रवृत्ति होती है। किन्तु अभिन्नतया उन दोनों रूप से घट का निर्देश करने पर घट अवक्तव्य होगा।

आशय यह है कि घटत्व ही घट का स्व रूप है। सत्त्व और असत्त्व उसका पर रूप हैं, वे घट के स्वरूप नहीं हो सकते क्योंकि 'सत्त्व-असत्त्व' घट का स्व रूप होना दो प्रकार से सम्भव हो

सकता है। सत्त्व एवं असत्त्व का अनुवाद करके उसमें घटत्व का विधान किया जाय अथवा घटत्व का अनुवाद करके सत्त्वाऽसत्त्व का विधान किया जाय। किन्तु ये दोनों ही पक्ष समीचीन नहीं है। क्योंकि यदि 'यत्सत्त्वं तद् घटत्वं' इसप्रकार सत्त्व का अनुवाद कर घटत्व का विधान किया जायगा तो सत्त्व में तादात्म्य से घटत्व की व्याप्ति का लाभ होगा और तब सत्त्व के सर्वगत होने से तदात्मक घटत्व में सर्वगतत्व की प्रसक्ति होगी। और इसका अभ्युपगम नहीं किया जा सकता, क्योंकि इस अभ्युपगम में पटादि में घटभेद के प्रतिभास का बाध होगा तथा पटादि में घटभिन्नत्वव्यवहार का लोप होगा। इसीप्रकार 'यदसत्त्वं तद् घटत्वम्' इसप्रकार असत्त्व का अनुवाद कर घटत्व का विधान किया जायगा तो असत्त्व में तादात्म्य से घटत्व की व्याप्ति का लाभ होने से प्रागभावादिरूप चतुर्विध अभावात्मक पदार्थों में घटत्व का प्रसङ्ग होगा तथा, जैसे 'सत्त्व–असत्त्व' का अनुवाद कर घटत्व का विधान नहीं हो सकता उसीप्रकार 'यद् घटत्वम् तद् सत्त्वं असत्त्वं वा' इसप्रकार घटत्व का अनुवाद कर सत्त्वाऽसत्त्व का भी विधान नहीं हो सकता क्योंकि ऐसा मानने पर सत्त्व एवं असत्त्व घटत्वात्मक ही होगा अत एव घटमात्र में ही सत्त्वाऽसत्त्व का पर्यवसान होने से घट भिन्न सत् और असत् का अस्तित्व सम्भव न हो सकने से पटादि और प्रागभावादि में अभाव की प्रसक्ति होगी। इस का फल यह होगा कि सत्त्व असत्त्व का घटत्व से ऐक्य हो जाने से 'विभिन्नरूपों से उपस्थित पदार्थों में ही विशेषण–विशेष्यभाव होता है' इस न्याय से घटत्व के साथ सत्त्वासत्त्व का ऐक्य होने पर सत् पदार्थ और घटपदार्थ में विशेषण–विशेष्यभाव का लोप हो जाने से 'सन् घटः' अथवा 'असन् घटः' इस रूप से घट अवक्तव्य हो जायगा। किन्तु अनेकान्तपक्ष में घटत्व ही घट का स्व रूप और सत्त्व-असत्त्व ये दोनों पर रूप होने से घट में घटत्व रूप सत्त्व और सत्त्वाऽसत्त्वरूप से असत्त्व रहता है, अतः इन सत्त्वाऽसत्त्वरूप दोनों धर्मों से घट की युगपद्विवक्षा की अपेक्षा से ही घट अवाच्य होगा। अतः अनेकान्त पक्ष में कोई दोष नहीं है॥ १०॥

यद्वा घटोऽर्थपर्यायः, स्वान्यत्राऽवृत्तेः स्वं रूपं, 'घटः' इति नाम व्यञ्जनपर्यायस्तदतद्विषयत्वात् पररूपम् , ताभ्यां प्रथम-द्वितीयौ। अभेदेन ताभ्यां निर्देशेऽवक्तव्यः। यतोऽत्रापि यदि व्यञ्जनमनूद्य घटार्थपर्यायविधिः, तदा तस्याऽशेषघटात्मकताप्रसक्तिः, इति भेदनिबन्धनतद्व्यवहारविलोपः। अथार्थपर्यायमनूद्य व्यञ्जनपर्यायविधिः, तथापि(तत्रापि)सिद्धविशेषानुवादेन घटत्वसामान्यस्य विधानादकार्यत्वादिप्रसङ्ग इति घटस्याभावादवाच्यः। अनेकान्तपक्षे तु युगपदभिधातुमशक्यत्वात् , कथञ्चिदवाच्यः।

[११–अर्थपर्यायादिरूप से भंगत्रय का प्रतिपादन]

अथवा यह कहा जा सकता है कि अर्थपर्यायात्मक घट का अर्थपर्याय स्व रूप है क्योंकि स्व से भिन्न में वह नहीं रहता है। अर्थात् तत्तद्घटात्मक अर्थपर्याय तत्तद्घट में ही रहता है, तत्तद्घट से अन्य में न रहने के कारण तत्तद्घट का स्व रूप होता है। और 'घट'नाम(शब्द)रूप व्यञ्जन पर्याय तत्तअर्थपर्यायात्मक तत्तद्घट का पररूप है क्योंकि वह अर्थपर्यायात्मक तद्घट में तथा अन्यत्र अर्थात् अर्थपर्यायात्मक घटान्तर में प्रवृत्त होने से वह पर साधारण होने के कारण पर रूप है। इन दो रूपों में अर्थपर्यायात्मक स्व रूप से घट का सत्त्व बताने के लिये प्रथमभंग का और व्यञ्जन पर्यायात्मक पर रूप से असत्त्व बताने के लिये द्वितीयभंग का प्रयोग होता है। यदि अभिन्नतया अर्थपर्याय और व्यञ्जन-

पर्याय इन दोनों रूपों से घट का निर्देश होगा तो घट अवक्तव्य होगा क्योंकि अभिन्न तथा उन दोनों रूपों से घट का निर्देश करने के लिये उन दोनों की अभिन्नता आवश्यक है और वह दो रूप से सिद्ध हो सकती है जैसे, व्यञ्जन का अनुवाद कर घटार्थपर्याय का विधान किया जाय अथवा घटार्थपर्याय का अनुवाद कर व्यञ्जनपर्याय का विधान किया जाय–किन्तु ये दोनों ही पक्ष समीचीन नहीं है क्योंकि यदि व्यञ्जनपर्याय का अनुवाद कर घटार्थपर्याय का विधान किया जाए तो व्यञ्जन घट में अन्य समस्त घटार्थपर्यायरूपता की प्रसक्ति होगी जिस के फलस्वरूप नामस्वरूप व्यञ्जनपर्याय एवं घटात्मक अर्थपर्याय में भेद का अभाव हो जाने से घटनाम एवं घट में भेदव्यवहार का लोप हो जायगा। अर्थात् घट नाम यह घट का है ऐसा व्यवहार न होकर घट नाम ही घट है इस व्यवहार की आपत्ति होगी।

इसीप्रकार यदि अर्थपर्याय का अनुवाद कर व्यञ्जन पर्याय का 'घट यह घट नाम है' इस रूप में विधान किया जायगा तो उसका पर्यवसान सिद्ध घट विशेष का अनुवाद कर घटत्व सामान्य के विधान में होगा। क्योंकि 'घट' नामरूप व्यञ्जनपर्याय घटत्वसमनियत होता है। क्योंकि तत्तन्नामतादात्म्यापन्न अर्थ तत्तन्नाम के प्रवृत्तिनिमित्त का आश्रय होता है। अतः व्यञ्जनपर्याय के विधान का पर्यवसान घटत्वसामान्य के विधान में न्यायप्राप्त है और इस विधान के फलस्वरूप सभी घटों में अकार्यत्वादि का प्रसङ्ग होगा। क्योंकि जब स्थापनादि सभी घटों में एक सामान्यघटत्व होगा तो तदवच्छिन्न के प्रति स्थापनादि किसी भी घट की सामग्री को व्यतिरेक व्यभिचार के कारण उत्पादक नहीं माना जा सकेगा, फलतः घट का अभाव प्रसक्त हो जाने से तद्वाचक पद का संकेत सम्भव न होने से घट अवाच्य हो जायगा। अथवा यह भी कहा जा सकता है कि घट नाम है इस विकल्प में घट अनेक व्यक्ति स्वरूप होने से उन सभी के साथ घट नाम का अभेद संभवित नहीं है, फलतः घटार्थपर्याय को घटत्व सामान्यरूप लेकर उसमें घट नाम के अभेद का विधान करना होगा। तात्पर्य घटत्वसामान्य यह घट नाम हुआ फलत. घट नाम नित्यघटत्वसामान्यरूप बन जाने से नित्य हो जाएगा यानी अकार्य-अजन्य हो जाएगा। अगर इष्टापत्ति की जाए तब घट नाम से वाच्य घटत्व सामान्य ही हुआ, घट नहीं हुआ इस प्रकार घट अवाच्य हुआ। किन्तु अनेकान्तपक्ष में घट सर्वथा अवाच्य नहीं होगा क्योंकि वह अर्थपर्यायात्मक स्वरूप से सत् और व्यञ्जनपर्यायात्मक पर रूप से असत् होता है अतः एक एक रूप से वाच्य होगा किन्तु उभय रूपों से युगपद् विवक्षा की अपेक्षा से ही अवाच्य होगा॥ ११॥

यद्वा, सत्त्वमर्थान्तररूपं(=पररूपं), तस्य विशेषवदेकत्वादनन्वयिरूपता, अत एव न तद् वाच्यम्, अन्त्यविशेषवत्। अन्त्यविशेषस्तु स्वं रूपं सोऽप्यवाच्यः, अनन्वयात्। प्रत्येकाऽवक्तव्याभ्यां ताभ्यामादिष्टो घटोऽवक्तव्यः। अनेकान्ते तु कथञ्चित् तथा।

[१२—सत्त्वादिरूप से भंगत्रय]

अथवा वस्तु का स्वतोव्यावृत्त अन्त्य विशेष यह स्व रूप है, और सत्त्व यह पर रूप है-अर्थान्तर रूप है और वह वस्तु के अन्तिम व्यावर्तक वस्तु के असाधारणधर्म के समान होने से अर्थात् एकव्यक्ति मात्रवृत्ति होने से अनन्वयी है, अर्थात् अनेकान्वयी–अनेकानुगत नहीं है। और इसीलिये वह अन्त्यविशेष के समान वाच्य नहीं होता, क्योंकि गोत्व-अश्वत्वादि अनेकान्वयी धर्म ही पद का वाच्यार्थ होता है। यदि अनन्वयी धर्म को पद का वाच्यार्थ माना जायगा तो व्यवहार द्वारा एक एक व्यक्ति में ही पद की वाच्यता का पर्यवसान हो जाने से तत् तत् व्यक्ति का ही ग्रह होगा। अतः गृहीत-

त्तिक पद से अन्यार्थ का बोध नहीं हो सकेगा। अन्त्य विशेष यानी वस्तु का अन्तिम व्यावर्तक धर्म स्वमात्रवृत्ति होने से वस्तु का स्व रूप है, वह भी अनन्वयी होने से अवाच्य होता है। अतः व्यक्त्यन्तररूपात्मक 'पर' रूप और अन्त्य विशेष यानी अन्तिमव्यावर्तकधर्मात्मक 'स्व' रूप, ये दोनों अवाच्य होने से इन दो रूपों से वस्तु को एक पद से युगपद् विवक्षा करने पर भी वस्तु अवाच्य ही होगी। किन्तु अनेकान्तवाद में स्वरूप और पररूप कथंचित् अन्वयी होने से उनसे पदवाच्यता सम्भव होने के कारण उक्त रूपों से वस्तु कथंचित् ही अवक्तव्य होगी।

अथवा, 'संद्रुतरूपाः सत्त्वादयो घट' इत्यत्र दर्शने सत्त्वादयः पररूपं, संद्रुतरूपं स्वं, ताभ्यामादिष्टो घटोऽवक्तव्यः, यतः संद्रुतरूपस्य सत्त्व-रजः-तमस्सु सत्त्वे सत्त्व-रजः-तमसामभावप्रसक्तिः, तेषां परस्परवैलक्षण्येनैव सत्त्वादित्वात्, संद्रुतरूपत्वे च वैलक्षण्याभावादभाव इति विशेष्याभावादवाच्यः। असत्त्वे चाऽसत्कार्योत्पादप्रसङ्गः। न चैतदभ्युपगम्यते। अभ्युपगमेऽपि विशेषणाभावादवाच्यः। अनेकान्ते तु कथञ्चित्तथा।

[१३—संद्रुतरूपादि से भंगत्रय का प्रतिपादन]

'संद्रुतरूप अर्थात् गौण-प्रधानभाव से परस्पराऽविविक्त हो कर एकात्मना परिणत-सत्त्वादि ही घट है'—यह सांख्यदर्शन का मत है। इस मत के अनुसार असंद्रुतसत्त्वादि अर्थात् परस्परविविक्त सत्त्वादि घट का पर रूप है और संद्रुतरूप परस्पराऽविविक्त सत्त्वादि घट का स्व रूप है। इन रूपों से एक साथ विवक्षित होने पर घट अवक्तव्य-सवथा अवक्तव्य हो जाता है क्योंकि यदि सत्त्व-रजस्-तमस् में सन्द्रुतरूप मानने पर अर्थात् सत्त्व-रजस्-तमस् को परस्पर अविविक्तस्वरूप मानने पर सत्त्व-रजस्-तमस् का अभाव हो जायगा-क्योंकि सत्त्वादि की सिद्धि परस्परविविक्तरूप में ही होती है। अतः उन्हें यदि सन्द्रुतरूप माना जायगा तो उन में वैलक्षण्य न हो सकेगा, फलतः परस्पर-विलक्षण सत्त्व-रजस्-तमस् का अभाव होने से 'सन्द्रुत सत्त्व-रजस्-तमस् ही घट है' यह नहीं कह सकते क्योंकि इस उक्ति में विशेष्य रूप में प्रतीत होने वाले सन्द्रुत सत्त्व-रजस्-तमस् का अभाव होने से सन्द्रुतसत्त्वाद्यात्मक घट का भी अभाव हो जायगा। अतः घट अवाच्य होगा। और सन्द्रुत सत्त्वादि का अभाव होने पर घट उत्पत्ति अथवा अभिव्यक्ति के पूर्व असत् होगा अतः उसकी उत्पत्ति मानने से असत्कार्यवाद की आपत्ति होगी। जो कि सांख्यमत में इष्ट नहीं है। यदि घटादिरूप असत्कार्य का अभ्युपगम किया जायगा तो 'सन्द्रुत अमुक वस्तु घट है' यह कहना सम्भव न होगा। फलतः सन्द्रुतत्वरूपविशेषण का अभाव होने से सन्द्रुत घट का अभाव होगा। इस अभाव के कारण घट भी अवाच्य होगा। किन्तु अनेकान्तवाद में अर्थात् घटादि की उत्पत्ति के पूर्व सत्त्वादि असंद्रुतरूप है और घटादि काल में सन्द्रुतरूप है-इस प्रकार सत्त्वादि में कथञ्चित् सन्द्रुताऽसन्द्रुतोभयरूपता होने से उक्त रीति से विशेष्याभाव या विशेषणाभाव न होने के कारण घट का अभाव नहीं होगा, अतः अनेकान्तवाद में घट असन्द्रुतसत्त्वाद्यात्मक पररूप से और सन्द्रुत सत्त्वाद्यात्मक स्वरूप से कथञ्चित् अवक्तव्य हो सकता है।

यद्वा, रूपादयः पररूपम्, असंद्रुतरूपत्वं स्वं रूपम्, ताभ्यामादिष्टोऽवक्तव्यः, यतोऽरूपादिव्यावृत्ता रूपादयः, एवं च रूपादीनां घटताऽवाच्यः, अरूपादित्वात् घटस्य। न हि परस्पर-

त्रिलक्षणबुद्धिग्राह्या रूपादय एकानेकात्मकप्रत्ययग्राह्यारूपादिरूपघटतां प्रतिपद्यन्त इति विशेष्यलोपादवाच्यः। अथाप्यरूपादिरूपा रूपादयः, नन्वेवं रूपादय एव न भवन्ति, इति तेषामभावे केऽसंद्रुतरूपतया विशेष्या येनासंद्रुतरूप-रूपादयो घटो भवेत्? इत्येवमप्यवाच्यः। अनेकान्तवादे तु कथञ्चित्तथा।

[१४–रूपादि से भंगत्रय का उपपादन]

अथवा तृतीय भंग के बारे में इसप्रकार अवधारणा की जा सकती है। गुणगुणी के अभेदवाद में घटादि यह रूपादि का समूह है। समूह रूप में गृह्यमाण न होकर पृथक् पृथक् गृह्यमाण रूपादि यह घट का पर रूप है, क्योंकि घट केवल एक एक रूपाद्यात्मक नहीं है। और असंद्रुतरूपत्व अर्थात् समूहरूपतया गृह्यमाण रूपादिस्वरूप यह घट का स्व रूप है। इन दोनों रूपों से घट की युगपद् विवक्षा होने पर एकान्तवाद में घट सर्वथा अवक्तव्य हो जाता है। क्योंकि रूपादिसमूहभावानापन्न प्रत्येक रूपादि, यह घट नहीं है। घट स्वयं अरूपादि है क्योंकि घटशब्द से घट का भान होता है रूपादि का नहीं। अब गुण–गुणी का अभेद मानने से घट रूपादिसमूहभावापन्न होता है, तब रूपादि–समूहभावापन्न घटादि अर्थ एक एक रूपादि से भिन्न होने के कारण, अरूपादिशब्द से व्यवहृत होनेवाले घटादि अर्थ से व्यावृत्त है-भिन्न है और अरूपादि घट समूहभावापन्नरूपाद्यात्मक होने से एक एक रूपादि मात्र स्वरूप नहीं है। अतः रूपादि में घटात्मकता अवाच्य है। क्योंकि परस्परविलक्षणबुद्धि से ग्राह्य एक एक रूपादि 'एकानेकात्मक प्रत्यय' अर्थात् एक समूहात्मना अनेक को ग्रहण करनेवाले ज्ञान से ग्राह्य जो अरूपादिस्वरूप घट, उस घट की अभिन्नता नहीं प्राप्त कर सकते। इसलिये विशेष्य का लोप होने से अर्थात् समूहभावापन्न होने पर रूपाद्यात्मकता न रह जाने के कारण 'समूहभावापन्नरूपादि' इस उक्ति में विशेष्यभूत हो कर प्रतीत होने वाले रूपादि का अभाव होने से समूहभावापन्न रूपाद्यात्मक घट का अभाव हो जायगा। फलतः असत् हो जाने से घट सर्वथा अवाच्य हो जायगा।

यदि यह कहा जाय कि रूपादि अरूपादिव्यावृत्त नहीं है किन्तु अरूपादि स्वरूप है तो यह कहना समीचीन नहीं है क्योंकि जब वह अरूपादि स्वरूप होगा तो रूपादि यानी रूपादिस्वरूप कैसे हो सकेगा अतः रूपादि का अभाव हो जाने पर असंद्रुतरूपत्व विशेषण से उन्हें विशेषित नहीं किया जा सकता। अत एव घट असंद्रुतरूपादि स्वरूप नहीं हो सकता। अतः ऐसा कहने पर भी घट अवाच्य होगा। क्योंकि इस रूप से घटस्वरूप का प्रतिपादन करने पर भी घट का अभाव हो जाता है। किन्तु अनेकान्तवाद में घट के कथञ्चिद् रूपादि-अरूपादि उभयात्मक होने से उभयरूप से युगपद् विवक्षा करने पर घट की कथञ्चिद् अवाच्यता हो सकती है।

यद्वा, रूपादयः पररूपं, मतुबर्थः स्वरूपम्, रूपाद्यात्मकैकाकारावभासप्रत्ययविषयव्यतिरेकेणापररूपसंबन्ध्यनवगतेर्विशेष्याभावाद् न रूपादिमान् घट इत्यवाच्यः। न चैकाकारप्रतिभासग्राह्यव्यतिरेकेणापररूपादिप्रतिभासः, इति विशेषणाभावादप्यवाच्यः। अनेकान्ते तु कथञ्चित् तथा।

अथवा, बाह्यः पररूपम्, उपयोगस्तु स्वं रूपम्, ताभ्यामादिष्टोऽवक्तव्यः, तथाहि–य उपयोगः स घट इत्युक्तौ उपयोगमात्रमेव घट इति सर्वोपयोगस्य घटत्वप्रसक्तिः, इति प्रति-

वाच्यः । यो घटः स उपयोग इत्युक्तावुपयोगस्यार्थत्वप्रसक्तेरुपयोगाभावे घटस्याप्यभाव इति कथं नावाच्यः ? । तदिदमुक्तम्–[सम्मति-३६]

* "अत्थंतरभूएहि य णियएहि अ दोहि समयमाइट्ठं ।
वयणविसेसाईयं दव्वमवत्तव्वयं पडइ ॥१॥" इति ।

[१५–मतुपर्थादिरूप से भंगत्रय का प्रतिपादन]

अथवा तृतीयभङ्ग की उपपत्ति इसप्रकार हो सकती है कि 'रूपादिमान् घटः' इस व्यवहार के अनुसार रूपादि घट का पर रूप है और मतुप् प्रत्ययार्थ-'रूपादि का सम्बन्धी' घट का स्व रूप है। इसप्रकार घट रूपाद्यात्मक पर रूप से असत् और रूपादिसम्बन्ध्यात्मक स्व रूप से सत् होता है। इन दोनों रूपों से युगपद् विवक्षा होने पर एकान्तवाद में घट सर्वथा अवाच्य हो जाता है। क्योंकि रूपादि-स्वरूप एकाकारावभास का प्रत्यय अर्थात् निमित्तभूत विषय जो 'रूपाद्यात्मक' है उस के अभाव में अन्य मतुप्प्रत्ययार्थ 'रूपसम्बन्धी' की विशेष्यरूप में अवगति नहीं होती। इस प्रकार विशेषणभूत रूपादि के बिना विशेष्य का भी अभाव होने से 'रूपादिमान् घटः' यह व्यवहार सम्भव न होने के कारण रूपादि से भिन्न 'रूपादिसम्बन्धी' घट का अभाव हो जाने से घट सर्वथा अवाच्य हो जाता है।

एवं एकाकार प्रतिभास से गृह्यमाण जो 'रूपसंबन्धी'स्वरूप विषय उसके अभाव में विशेषण-भूत 'रूपादि' का भी प्रतिभास नहीं होता। अतः विशेष्य रूपादि का विशेषणरूप में अभाव होने से भी विशिष्टात्मक घटादि का अभाव होने से घट सर्वथा अवाच्य हो जाता है। किन्तु अनेकान्तवाद में रूपादि और रूपादिसम्बन्धी में कथञ्चिद् भेदाभेद होने से घटादि की कथञ्चिद् अवक्तव्यता होती है।

[१६–बाह्यादिरूप से भंगत्रय का प्रतिपादन]

अथवा तृतीयभंग का निरूपण एक और अन्यप्रकार से किया जा सकता है। जैसे यह कहा जा सकता है कि बाह्यघट-घट का पररूप है और उपयोग-ज्ञानात्मक आन्तरघट घट का स्व रूप है। इन दोनों रूपों से घट की युगपद् विवक्षा करने पर एकान्तवाद में घट सर्वथा अवक्तव्य होता है। जैसे 'जो उपयोग है वह घट है' ऐसा कहने पर उपयोगमात्र ही घट है इस प्रकार का बोध होने से सभी उपयोग में घटत्व की प्रसक्ति होती है अतः घट का कोई प्रतिनियत स्व रूप न होने से प्रतिनियतस्व-रूपात्मक घट का अभाव होने से घट अवाच्य हो जाता है। तथा 'जो घट है वह उपयोग है' यह कहने पर उपयोग में अर्थत्व की अर्थात् बाह्यार्थत्व की प्रसक्ति होने से उपयोग का अभाव हो जाने के कारण उपयोगात्मक घट का अभाव हो जाता है। इसलिये घट सर्वथा अवाच्य क्यों नहीं होगा ? अनेका-न्तवाद में घट के कथञ्चिद् बाह्य और उपयोग उभयात्मक होने से घट में कथञ्चिद् अवाच्यता होगी।

उक्त रीति से प्रथम और द्वितीय भंगों के बाद तृतीयभङ्ग की उपपत्ति के सम्बन्ध में विचार करने पर जो निष्कर्ष फलित होता है वह सम्मतिसूत्र गाथा ३६ में इस प्रकार कहा गया है–"अर्थ और अर्थान्तर अर्थात् स्व रूप और पर रूप इन दो रूपों से युगपद् आदिष्ट=विवक्षित होने पर द्रव्य शब्दातीत हो जाने से अवक्तव्य हो जाता है।"

*अर्थान्तरभूतैः निजकैश्च द्वाभ्यां समकमादिष्टम् । वचनविशेषातीतं द्रव्यमवक्तव्यतां पतति ॥१॥

यदा च देशोऽस्तित्वेऽवक्तव्यत्वानुविद्धस्वभाव आदिश्यते, अपरश्च देशोऽस्तित्वनास्तित्वाभ्यामेकदैव विवक्षितोऽस्तित्वानुविद्ध एवावक्तव्यत्वस्वभावे, तदा पञ्चमभङ्गप्रवृत्तिः, प्रथम-तृतीयकेवलभङ्गव्युदासोऽत्र विवक्षाभेदकृतो द्रष्टव्यः, प्रथम-तृतीययोः परस्परानुपरक्तयोः प्रतिपाद्येनाधिगन्तुमिष्टत्वात्, प्रतिपादकेनापि तथैव विवक्षितत्वात्, अत्र तु तद्विपर्ययात्, अनन्तधर्मात्मकस्य धर्मिणः प्रतिपाद्यानुरोधेन तथा भूतधर्माक्रान्तत्वेन वक्तुमिष्टत्वात्। तदिदमाह—

* "सब्भावे आइट्ठो देसो देसो अ उभयहा जस्स ।
तं 'अत्थि अवत्तव्वं' च होइ दविअं विअप्पवसा ॥" [सम्मति गाथा ३८]

[स्यादस्ति अवक्तव्यश्च—पंचमभंग]

जब किसी वस्तु के किसी एक अंश को अवक्तव्य बताते हुए उसका अस्तित्व बताना होता है और दूसरे अंश के एक काल में अस्तित्व और नास्तित्व की विवक्षा होने पर उसका अस्तित्व बताते हुए उसे अवक्तव्य बताना होता है तब सप्तभङ्गी वाक्य के अवयवभूत पञ्चमभङ्गवाक्य का प्रयोग होता है। जैसेः—वस्तु के दो अंश हैं, अस्तित्व और नास्तित्व। इनमें से जब अवक्तव्य के साथ अस्तित्व का तथा अस्तित्व के साथ अवक्तव्य का प्रतिपादन करना होता है तब 'स्याद् अस्ति च अवक्तव्यश्च' इस भङ्ग का प्रयोग होता है यह भङ्ग विवक्षाभेद के कारण केवल प्रथम और केवल तृतीय भङ्ग से भिन्न होता है। प्रतिपाद्य=बोधनीय पुरुष प्रथम और तृतीयभङ्ग के प्रतिपाद्य अर्थ को एक दूसरे से असम्बद्ध रूप में जानना चाहता है अतएव प्रतिपादक=बोधयिता पुरुष को भी वैसी ही विवक्षा होती है। फलतः प्रथम भङ्ग से प्रधानरूप से अस्तित्व मात्र का ही बोध होता है, नास्तित्व उसके कुक्षिगत हो कर गौण रहता है, और तृतीय भङ्ग से अस्तित्व, नास्तित्व दोनों का सम प्रधानरूप से बोध होता है, क्यों कि वे दोनों भङ्ग वैसी जिज्ञासा से प्रयुक्त होते हैं। किन्तु पञ्चमभङ्ग में उन दोनों भङ्गों से अन्तर है उसका कारण यह है कि वस्तु अनन्तधर्मात्मक होती है, अतः प्रतिपाद्यपुरुष को अनेकरूपों में उसकी जिज्ञासा हो सकती है, वक्ता को उसके अनुसार ही जिज्ञासित धर्म के रूप में ही वस्तु को प्रतिपादित करने की इच्छा होती है। पञ्चमभङ्ग का प्रयोग यतः वस्तु की एक अंश के अवक्तव्यत्व से अनुविद्ध अस्तित्व की और दूसरे अंश के अस्तित्व से अनुविद्ध अवक्तव्यत्व की जिज्ञासा से होता है न कि प्रधानरूप से अस्तित्व मात्र की, किं वा प्रधानरूप से अस्तित्व नास्तित्व दोनों की जिज्ञासा से होता है अतः जिज्ञासानुसारी बोध का जनक होने से यह केवल प्रथम और तृतीय से भिन्न होता है। उक्त बात सम्मतिग्रन्थ के प्रथमकांड की अडतीसवीं गाथा में इस प्रकार कही गयी है—

"जिस द्रव्य का कोई एक अंश सत्‌रूप में और दूसरा अंश एक साथ ही सत्-असत् उभय रूप में वर्णित होता है वह द्रव्य जिज्ञासा और विवक्षा के कारण कथञ्चित् अस्ति और अवक्तव्य होता है।"

यदा च वस्तुनो देश एकोऽसत्त्वेऽवक्तव्यत्वानुविद्धे निश्चितः, अपरश्चासत्त्वानुविद्धो युगपदुभयथा विवक्षितस्तदा तथाव्यपदेश्यावयवत्ववशादवयविनि षष्ठभङ्गप्रवृत्तिः, केवलद्वितीय-तृतीयभङ्गव्युदासः प्राग्वत् प्रतिपाद्यजिज्ञासावशात्। तदिदमाह—[सम्मति गाथा—३९]

* सद्भाव आदिष्टो देशः देशश्चोभयथा यस्य। तद् 'अस्ति-अवक्तव्यं च भवति द्रव्यं विकल्पवशाद् ॥

*"आइट्ठोऽसब्भावे देसो देसो य उभयहा जस्स। तं णत्थि अवत्तव्वं च होइ दविअं विअप्पवसा॥"

['स्यान्नास्ति-अवक्तव्यश्च'—छट्ठा भंग]

जब वस्तु के एक अंश को अवक्तव्य बताते हुए असद् बताना होता है और दूसरे अंश को एक ही काल में सद्-असद् दोनों रूपों में विवक्षा होने पर उसे असद् बताते हुए अवक्तव्य बताना होता है तब अंश का उक्त रूप में व्यपदेश होने से अंशी वस्तु में 'स्यान्नास्ति च अवक्तव्यश्च' इस छठे भङ्ग का प्रयोग होता है यह भङ्ग भी प्रतिपाद्यपुरुष की जिज्ञासा के कारण-(केवल प्रथम भङ्ग और केवल तृतीय भङ्ग से भिन्न पञ्चम भङ्ग के समान) केवल द्वितीय और केवल तृतीय भङ्ग से भिन्न होता है। सम्मतिग्रन्थ के उनचालीसवीं गाथा में यह बात निम्नरूप में कही गयी है—

"जिस वस्तु के एक अंश का असत्त्व अवक्तव्यत्व के साथ वर्णित होता है और दूसरे अंश के असत्त्व और सत्त्व दोनों की सह विवक्षा होने पर असत्त्व के साथ अवक्तव्यत्व प्रतिपादित होता है तब वह द्रव्य नास्ति और अवक्तव्य होता है।"

यदा च वस्तुनो देश एकः सत्त्वे नियतः, द्वितीयश्चाऽसत्त्वे, तृतीयस्तूभयथाऽभिधित्सि-तस्तदा तथाभूतविशेषणाध्यासितस्यानेनैव प्रकारेण प्रतिपादनादीदृशेऽर्थेऽपरभङ्गविषयाऽप्रसरात् सप्तमभङ्गप्रवृत्तिः। तदिदमाह—[सम्मति गाथा—४०]

卐"सब्भावासब्भावे देसो देसो अ उभयहा जस्स।
तं अत्थि णत्थवत्तव्वयं च दविअं विअप्पवसा॥" इति।

['स्यादस्ति-नास्ति-अवक्तव्यश्च'—सप्तम भंग]

जब वस्तु का एक अंश सद्रूप में, दूसरा अंश असद् रूप में और तीसरा अंश सद्-असद् उभयरूप में विवक्षित होता है तब उक्त विशेषणों के आश्रयभूत वस्तु का सत्त्व-असत्त्व और अवक्तव्यत्व रूप से ही प्रतिपादन होता है, इस प्रकार प्रतिपादित होने वाले अर्थ में अन्य किसी भङ्ग के विषय का प्रवेश न होने से उक्तरूप में वस्तु का प्रतिपादन करने के लिए सप्तम भङ्ग का प्रयोग होता है, जिसका आकार स्याद् अस्ति च नास्ति च अवक्तव्यश्च इस रूप में मान्य है। यह बात सम्मतिग्रन्थ की चालीसवीं गाथा में निम्नरूप में कही गयी है—

"जिस द्रव्य का एक अंश सद्रूप में, दूसरा अंश असद्रूप में, और तीसरा अंश सद्-असदुभय रूप में सह विवक्षित होने से अवक्तव्य रूप में, प्रतिपादित होता है वह द्रव्य जिज्ञासा और विवक्षा के अनुसार स्याद् अस्ति स्यान्नास्ति और स्याद् अवक्तव्य' होता है।"

अथानन्तधर्मात्मके वस्तुनि तत्प्रतिपादकवचनस्य सप्तधा परिकल्पनेऽष्टमोऽपि विकल्पः किं न स्वीक्रियते ? इति चेत् ? न, तत्परिकल्पनानिमित्ताऽभावात्, सावयवात्मकस्य निरवय-वात्मकस्य चान्योन्यनिमित्तकस्य जिज्ञासायां चतुर्थादिप्रथमादिविकल्पानामेव प्रवृत्तेः। किञ्च, क्रमेण धर्मद्वयं गुण-प्रधानभावेन प्रतिपादयन् प्रथम-द्वितीयावेव भङ्गावाददीत, युगपत्तु द्वयम-

---

* आदिष्टोऽसद्भावे देशो देशश्चोभयथा यस्य। तद् 'नास्ति अवक्तव्यं' च भवति द्रव्यं विकल्पवशाद्॥

卐 सद्भावाऽसद्भावे देशो देशश्चोभयथा यस्य। तद् 'अस्ति-नास्तिक-अवक्तव्यं' च द्रव्यं विकल्पवशाद्॥

भिधित्सुस्तृतीयमेव, क्रमेण प्राधान्येन द्वयमभिधित्सुराद्य-द्वितीयसंयोगनिष्पन्नं चतुर्थमेव, एकं विभज्यापरं चाविभज्याभिधित्सुः प्रथम-तृतीयसंयोगनिष्पन्नं पञ्चमम्, द्वितीय-तृतीयसंयोगनिष्पन्नं षष्ठं वा, द्वौ देशौ विभज्य तृतीयं चाऽविभज्याभिधित्सुराद्य-द्वितीय-तृतीयसंयोगनिष्पन्नं सप्तममेव, इति चतुरादिदेशोपादानेऽपि द्वित्र्यादीनामेकविभाजकोपरागविश्रमाद् न सप्तमाधतिक्रमः, एककरदण्डसंयोगे करद्वयदण्डसंयोगे वा दण्डित्वाविशेषात्। 'अनेकान्त उद्भूतद्वित्वादिविवक्षया स्यादेव विशेष' इति चेत्? स्यादेव तर्हि भङ्गावान्तरभेदोऽपि। अत एव मल्लवादिप्रभृतिभिरेते कोटीशो भवन्ती भेदा अभिहिताः। विभाजकोपाध्यनतिक्रमात्तु न विभागव्याघात इति तत्त्वम्।

[आठवें विकल्प की आशंका का निरसन]

सप्तभङ्गी के विषय में यह प्रश्न उठता है कि जब वस्तु अनन्तधर्मात्मक है तब उसके प्रतिपादक वचन की जैसे सात भङ्गों में कल्पना की जाती है उसी प्रकार आठवें भङ्ग की भी कल्पना का सम्भव होने से उसे क्यों नहीं स्वीकार किया जाता ? इसका उत्तर यह है कि आठवें भङ्ग की कल्पना का कोई निमित्त नहीं है, अतः उसे नहीं स्वीकार किया जाता। बात यह है कि वस्तु सावयव और निरवयव भेद से दो प्रकार की होती है। सावयवत्वमूलक वस्तु की जिज्ञासा के अनुसार चतुर्थ, पञ्चम, षष्ठ और सप्तम इन चार भङ्गों का प्रयोग होता है एवं निरवयवत्वमूलक वस्तु की जिज्ञासा के अनुसार प्रथम, द्वितीय और तृतीय भङ्गों का प्रयोग होता है। सावयव और निरवयवरूप में वस्तु को विभाजित करने पर इन दोनों रूपों का प्रतिद्वन्द्वी कोई तीसरा विभाजकरूप न होने से वस्तु की तन्मूलक जिज्ञासा न होने के कारण अष्टम भङ्ग को अवसर नहीं मिलता।

[भंगविभाजक उपाधि सात से अधिक नहीं]

अष्टम भंग न होने में उक्त कारण से अतिरिक्त यह भी एक कारण है-जैसे कोई व्यक्ति जब किसी वस्तु के दो धर्मों का मुख्य और गौण रूप से प्रतिपादन करता है तो उसके लिए स्यादस्ति और स्यान्नास्ति ये प्रथम और द्वितीय भंग ही उपादेय होते हैं। प्रथम में अस्तित्व मुख्य रूप से और नास्तित्व गौण रूप से तथा द्वितीय में नास्तित्व मुख्य रूप से और अस्तित्व गौणरूप से विवक्षित होता है। वही व्यक्ति जब मुख्य रूप से वस्तु के दोनों धर्मों का एक साथ प्रतिपादन करना चाहता है तब उसके लिए 'स्याद् अवक्तव्य' यह तृतीय भंग ही उपादेय होता है। फिर वही व्यक्ति जब वस्तु के दो धर्मों को मुख्यरूप से क्रमशः प्रतिपादित करना चाहता है तब उसे 'स्याद् अस्ति च नास्ति च' यह चतुर्थ भंग ही उपादेय होता है। इस भंग की निष्पत्ति प्रथम और द्वितीय भंगों के सहयोग से होती है। जब दोनों भंगों के प्रतिपाद्य विषय का मुख्यरूप से एक साथ वर्णन अशक्य हो जाता है तब वस्तु को उस रूप में अवक्तव्य बताने के लिए तृतीय भंग का अवलम्बन किया जाता है। जब वस्तु के प्रस्तुत दो धर्मों में एक को दूसरे से विभाजित कर और दूसरे को पहले से अविभाजित कर वस्तु का प्रतिपादन अभिमत होता है तब 'स्याद् अस्ति च अवक्तव्यश्च' इस पञ्चम भंग का, तथा 'स्यान्नास्ति च अवक्तव्यश्च' इस षष्ठ भंग का प्रयोग किया जाता है, उनमें पञ्चम भंग की निष्पत्ति प्रथम और तृतीय भंग के सहयोग से होती है इसीलिए इसके द्वारा प्रथम भंग के प्रतिपाद्य अस्तित्व का और

तृतीय भंग के प्रतिपाद्य अस्तित्व और नास्तित्व का मुख्य रूप से क्रमशः प्रतिपादन की अशक्यता के कारण वस्तु के अवक्तव्यत्व का प्रतिपादन होता है, एवं षष्ठभंग से द्वितीय भंग से प्रतिपाद्य वस्तु के नास्तित्व का और तृतीय भंग से प्रतिपाद्य अस्तित्व और नास्तित्व का मुख्य रूप से एक साथ वर्णन शक्य न होने से वस्तु की अवक्तव्यता का प्रतिपादन होता है। वस्तु के प्रस्तुत अस्तित्व, नास्तित्व, अस्तित्व-नास्तित्व उभय इन तीन रूपों में प्रथम दो रूपों को विभाजित कर और तीसरे रूप को अविभाजित करके वस्तु का प्रतिपादन अभीष्ट होने पर 'स्याद् अस्ति च नास्ति च अवक्तव्यश्च' इस सप्तम भंग का प्रयोग होता है-इस भंग की निष्पत्ति प्रथम, द्वितीय और तृतीय भंगों के सहयोग से होती है। वस्तु यतः यद्यपि अनन्त धर्मात्मक है अतः उसके उक्त तीन रूपों से अतिरिक्त भी चतुर्थ पञ्चम आदिरूप हो सकते हैं, फलतः उनका उपादान करने पर अन्य भंगों की भी सम्भावना हो सकती है, किन्तु विचार करने पर उक्त सात भंगों से पृथक् भंग की सम्भावना क्षीण हो जाती है क्योंकि वस्तु के दो, तीन, चार, पांच आदि सभी रूपों का पर्यवसान एक विभाजक के साथ सम्बन्ध में होता है। अतः चतुर्थ आदि भंगों से भिन्न भंग की कल्पना निरवकाश हो जाती है। जैसे, एक हाथ का संयोग अथवा दोनों हाथों में दण्ड का संयोग होने से पुरुष के दण्डी होने में कोई अन्तर नहीं होता उसी प्रकार एक अंश को विभाजित तथा दूसरे अंश को अविभाजित कर किंवा दो अंश को विभाजित कर तृतीय अंश को अविभाजित कर वस्तु की विवक्षा होने पर पञ्चम, षष्ठ और सप्तम भंग की निष्पत्ति होती है, उसी प्रकार वस्तु के चौथे पांचवे रूप का उपादान करने पर भी एक को विभाजित कर एवं अन्य को अविभाजित कर वस्तु की विवक्षा होने पर पञ्चम और षष्ठ भंग, एवं चौथे अथवा पांचवें रूप और उसके प्रतिद्वन्द्वी रूप इन दोनों को विभाजित और तीसरे को अविभाजित कर वस्तु की विवक्षा होने पर सप्तम भंग की ही निष्पत्ति हो सकती है न की किसी अन्य भंग की। इस प्रकार वस्तु के चौथे पांचवे रूप का उपादान करने पर भी निष्पन्न होने वाले भंग में चतुर्थ आदि भंगों से भिन्नता नहीं हो सकती।

यदि यह कहा जाय कि-'वस्तु यतः अनेकान्त रूप है, अनेकविध धर्मों का अभिन्न आस्पद है अतः दो धर्मों के द्वित्व आदि स्पष्ट रूपों से प्रतिपादन करने की कामना होने पर निष्पन्न होने वाले भंगों में वस्तु के एक-एक रूप को लेकर निष्पन्न होने वाले भंगों की अपेक्षा वैलक्षण्य हो सकता है जैसे स्थैर्य और क्षणिकत्व इन दोनों धर्मों की विवक्षा होने पर वस्तु 'स्याद् उभयं स्थिरं क्षणिकं च' स्यान्न स्थिरं च क्षणिकं च' इस प्रकार के भंग, अस्तित्व आदि अनेकरूप को लेकर निष्पन्न होने वाले स्याद अस्ति स्यान्नास्ति आदि भंगों से स्पष्ट विलक्षण है अतः उक्त प्रकार के सात भंगों के ही होने का आग्रह निराधार है"-इसका उत्तर यह है कि उक्त स्थिति में भंग के अवान्तर भेद भी मान्य ही है, इसीलिए मल्लवादी आदि विद्वानों ने सप्तभंगी के कोटिशः भेद माने हैं, किन्तु वास्तविकता यह है कि सप्तभंगी की विभाजक उपाधियाँ उन कोटि प्रकार के भंगों को भी आत्मसात करती हैं अतः भंगों के प्रातिस्विक रूप से कोटिशः भेद होने पर भी विभाजक उपाधियों की सात ही संख्या होने के कारण भङ्गों के सप्तविधविभाग का व्याघात सम्भव नहीं है।

इयं च सप्तभङ्गी प्रतिभङ्गं सकलादेशस्वभावा विकलादेशस्वभावा च। प्रमाणप्रतिपन्नानन्तधर्मात्मकवस्तुनः कालादिभिरभेदवृत्तिप्राधान्यात् , अभेदोपचाराद् वा यौगपद्येन प्रतिपादकं वचः सकलादेशः। तद्विपरीतो विकलादेशः। अभेदवृत्तिप्राधान्यम्='द्रव्यार्थिकनयगृहीतसत्ताद्-

भिन्नानन्तधर्मात्मकवस्तुशक्तिकस्य सदादिपदस्य कालाद्यभेदविशेषप्रतिसंधानेन पर्यायार्थिकनय-पर्यालोचनप्रादुर्भवच्छक्यार्थबाधप्रतिरोधः ।' अभेदोपचारश्च='पर्यायार्थिकनयगृहीतान्यापोहपर्यवसितसत्त्वादिमात्रशक्तिकस्य तात्पर्यानुपपत्त्या सदादिपदस्योक्तार्थे लक्षणा ।'

[सप्तभङ्गी में सकलादेश–विकलादेश]

उक्त सप्तभङ्गी अपने प्रत्येक भंग द्वारा सकलादेश और विकलादेश का स्वभाव धारण करती है। सकलादेश उस वचन को कहा जाता है जिससे वस्तु की समग्रता का, प्रमाण द्वारा निर्णीत अनन्त धर्मात्मकता का, काल आदि द्वारा उपपन्न अभेदवृत्ति की प्रधानता से अथवा अभेद के उपचार से युगपद् प्रतिपादन होता है। कहने का आशय यह है कि प्रमाण द्वारा यह सिद्ध है कि वस्तु अनन्त धर्मात्मक है। वस्तु की अनन्त धर्मात्मकता ही उसकी समग्रता है जो वस्तु में एक ही काल में विद्यमान रहती है। वस्तु की समग्रता का प्रतिपादन करने वाले वचन को ही सकलादेश कहा जाता है। यह प्रतिपादन कभी अभेदवृत्ति की प्रधानता से होता है और कभी अभेद में लक्षणा द्वारा होता है। जो वचन इससे विपरीत होता है अर्थात् वस्तु का समग्ररूप से प्रतिपादन न कर आंशिक रूप से प्रतिपादन करता है उसे विकलादेश कहा जाता है। अभेदवृत्ति की प्रधानता का अर्थ यह है कि द्रव्यार्थिकनयानुसार काल आदि के द्वारा प्रतिपाद्य वस्तु के अनन्त धर्मों में अभेद का ज्ञान होने से वस्तु में अनन्त धर्मों में अभेद बुद्धि द्वारा, पर्यायार्थिक नय की दृष्टि से होने वाले सत् आदि पदों से घटित वाक्यार्थ के बाध का विघटन होना। आशय यह है कि द्रव्यार्थिक नय द्वारा सत् आदि पदों का सत्ता आदि से अभिन्न अनन्त धर्मात्मक वस्तु में शक्तिज्ञान होता है। अतः सत् आदि पदों से घटित वाक्य से अनन्त धर्मात्मक वस्तु का बोध होना चाहिए, किन्तु पर्यायार्थिक नय द्वारा वस्तु के विभिन्न धर्म पर्यायों के उपस्थित होने पर एक वस्तु में विभिन्न धर्मों की अभिन्नता बाधित होने से सत् आदि पदों से घटित वाक्य का अर्थ-बोध दुर्घट हो जाता है। ऐसी स्थिति में जब काल आदि की दृष्टि से प्रतिपाद्य वस्तु के धर्मों में अभेद का ज्ञान होने से वस्तु में अभिन्नरूप से गृहीत अनन्त धर्मों के अभेद का ज्ञान होता है तब उससे उक्त रीति से पर्यायार्थिकनयप्रयुक्त वाक्यार्थ बोध का अवरोध होने से सत् आदि पदों से घटित वाक्य से अनन्त धर्मात्मक वस्तु का बोध सम्पन्न होता है। इस प्रकार होने वाला वस्तु की समग्रता का बोध ही अभेदवृत्ति के प्राधान्य से अनन्त धर्मात्मक वस्तु का प्रतिपादनरूप सकलादेश है।

अभेदोपचार का अर्थ है अभेद से अनन्त धर्मात्मक वस्तु में सद् आदि पद की लक्षणा। इसका आश्रय उसी स्थिति में लिया जाता है जब पर्यायार्थिक नय द्वारा अन्यापोह- असद् व्यावृत्ति स्वरूप सत्ता आदि धर्ममात्र में सत् आदि पद का शक्तिग्रह होता है। स्पष्ट है कि इस शक्तिग्रह से सत्ता आदि से अभिन्न अनन्त धर्मात्मक वस्तु का बोध नहीं हो सकता, किन्तु सद् आदि का प्रयोग अनन्त धर्मात्मक वस्तु का प्रतिपादन करने के तात्पर्य से ही होता है। सत्ता आदि धर्ममात्र में सत् आदि पद के शक्तिग्रह से इस तात्पर्य की उपपत्ति न होने से पर्यायार्थिक नय द्वारा गृहीत वस्तु-धर्मों और उनके आश्रयभूत वस्तु के अभेद में अर्थात् सत्ता आदि से अभिन्न अनन्त धर्मात्मक वस्तु में सत् आदि पद की लक्षणा होती है। इस लक्षणा से ही सत्ता आदि धर्ममात्र में सत् आदि पद का शक्तिग्रह होने की दशा में भी सत् आदि पद से घटित वाक्य से अनन्त धर्मात्मक वस्तु का बोध होता है। उक्त रीति से सत् आदि पद द्वारा अनन्त धर्मात्मक वस्तु प्रतिपादन ही अभेदोपचार मूलक सकलादेश कहा जाता है।

अब सत् आदि पद का द्रव्यार्थिक नय द्वारा सत्ता आदि से अभिन्न अनन्त धर्मात्मक वस्तु में शक्तिग्रह नहीं होता, अथवा काल आदि की दृष्टि से वस्तुधर्मों में अभेदबुद्धि होकर वस्तु में उन धर्मों की अभिन्नता का ग्रह नहीं होता, किं वा सत्ता आदि मात्र में सत् आदि पद का शक्तिग्रह होने पर तात्पर्यानुपपत्ति से सत् आदि पद की अनन्त धर्मात्मक वस्तु में लक्षणा नहीं होती उस स्थिति में सत् आदि पद से घटित वाक्यों से समग्र रूप से वस्तु का बोध न होकर आंशिकरूप से वस्तु का बोध होने से विकलादेश होता है।

कालादयश्चाष्टाविमे—१. कालः, २. आत्मरूपम्, ३. अर्थः, ४. संबन्धः, ५. उपकारः, ६. गुणिदेशः, ७. संसर्गः, ८. शब्द इति च। १. तत्र यत्कालमस्तित्वं तत्कालाः शेषानन्तधर्मा वस्तुन्येकत्रेति तेषां कालेनाऽभेदवृत्तिः। २. यदेव चास्तित्वस्य तद्गुणत्वमात्मरूपं तदेवान्यगुणानामपीत्यात्मरूपेणाऽभेदवृत्तिः। ३. य एव चाधारोऽर्थो द्रव्याख्योऽस्तित्वस्य स एवान्यपर्यायाणामित्यर्थेनाऽभेदवृत्तिः। ४. य एव चाविष्वग्भावः संबन्धोऽस्तित्वस्य स एवान्येषामिति संबन्धेनाऽभेदवृत्तिः। ५. य एव चोपकारोऽस्तित्वेन वस्तुनः स्वप्रकारकप्रतीतिविषयत्वलक्षणः, स एवान्येषामित्युपकारेणाऽभेदवृत्तिः। ६. य एव च गुणिनः संबन्धी देशः क्षेत्रलक्षणोऽस्तित्वस्य, स एवान्येषाम्, इति गुणिदेशेनाऽभेदवृत्तिः। ७. य एव च वस्तुनः संसर्गोऽस्तित्वस्याधाराधेयभावलक्षणः, स एवान्येषाम्, इति संसर्गेणाऽभेदवृत्तिः। ८. य एव च 'अस्ति' इति शब्दोऽस्तित्वधर्मात्मकस्य वस्तुनो वाचकः, स एवाशेषानन्तधर्मात्मकस्यापि, इति शब्देनाऽभेदवृत्तिः।

[कालादि आठ का परिचय]

काल आदि पदार्थ, जिनकी दृष्टि से वस्तु-धर्मों में अभेदज्ञान होता है, उनकी संख्या आठ है, जैसे–१. काल, २ आत्मरूप, ३. अर्थ, ४. सम्बन्ध, ५. उपकार, ६ गुणीदेश, ७. संसर्ग और ८. शब्द।

१. जिस काल में किसी वस्तु का अस्तित्व होता है उस काल में अस्तित्व से भिन्न भी उसके अनन्त धर्म होते हैं। ये सभी धर्म एक काल में होने से काल की दृष्टि से अभिन्न होते हैं। वस्तु के अनन्त धर्मों की यह अभिन्नता कालमूलक अभेदवृत्ति है।

२. अस्तित्व जिस वस्तु का धर्म होता है वह उसका गुण=विशेषण कहा जाता है इस प्रकार तद्गुणत्व अस्तित्व का आत्मरूप होता है। अस्तित्व के समान ही वस्तु के अन्य धर्म भी उसके गुण कहे जाते हैं इस लिए तद्गुणत्व उनका भी आत्मरूप होता है। वस्तु के सभी धर्मों में तद्गुणत्वस्वरूप से अभेदवृत्ति होती है।

३. अर्थः–जो द्रव्यात्मक अर्थ अस्तित्व का आधार होता है वही द्रव्य अन्य पर्याय धर्मों का भी आश्रय होता है। आधार के एक होने से उसमें आश्रित सभी धर्मों में अभिन्नता होती है, यह अभिन्नता अर्थमूलक अभेदवृत्ति है।

४. वस्तु के साथ अस्तित्व का जो अपृथग्भाव-सम्बन्ध होता है वही वस्तु के साथ उसके अन्य धर्मों का भी सम्बन्ध होता है। इस प्रकार सम्बन्ध की एकता से अन्य धर्मों में अभिन्नता होना उसकी सम्बन्धमूलक अभेदवृत्ति है।

५. अस्तित्व धर्म के द्वारा वस्तु का जो उपकार होता है वही उसके अन्य धर्मों द्वारा भी उसका उपकार है और वह उपकार है वस्तु को स्वप्रकारक प्रतीति का विषय बनाना। स्पष्ट ही यह उपकार अस्तित्व तथा वस्तु के अन्य धर्मों में समान है। उपकार की एकता की दृष्टि से निष्पन्न वस्तु धर्मों की यह एकता उनकी उपकार-मूलक अभेदवृत्ति है।

६. गुणिदेशः-द्रव्य के सम्बन्धी देश को गुणिदेश कहा जाता है, उसे क्षेत्र शब्द से भी अभिहित किया जाता है। जिस क्षेत्र में स्थित द्रव्य में उसका अस्तित्व होता है उसी क्षेत्र में स्थित द्रव्य में वस्तु के अन्य धर्म भी रहते हैं। इस प्रकार द्रव्य के सभी धर्मो का एक गुणिदेश (क्षेत्र) होने से उनमें अभिन्नता होती है। यह अभिन्नता गुणिदेशमूलक अभेदवृत्ति है।

७. वस्तु और अस्तित्व के बीच जो आधाराधेयभाव सम्बन्ध होता है वही, वस्तु और उसके अन्य धर्मों के बीच भी होता है। संसर्ग-दृष्टि से वस्तु-धर्मों को यह अभिन्नता उसकी संसर्गमूलक अभेदवृत्ति है।

८. जो अस्ति शब्द अस्तित्व धर्म से अभिन्न वस्तु का वाचक है वही शब्द अस्तित्व से भिन्न समग्र धर्मों से भी अभिन्न वस्तु का भी वाचक है इस प्रकार अस्ति इस एक शब्द से वस्तु के समग्र धर्मों के वाच्य होने के कारण एक शब्द वाच्यत्व की दृष्टि से उन सभी में अभिन्नता है। यह अभिन्नता उनकी शब्द मूलक अभेदवृत्ति है।

केचित्तु--"अनन्तधर्मात्मकवस्तुप्रतिपादकत्वाऽविशेषेऽप्याद्यास्त्रय एव भङ्गा निरवयवप्रतिपत्तिद्वारा सकलादेशाः, अग्रिमास्तु चत्वारः सावयवप्रतिपत्तिद्वारा विकलादेशाः" इति प्रतिपन्नवन्तः।

एते च सप्तापि भङ्गाः स्यात्पदाऽलाञ्छिता अवधारणैकस्वभावा विषयाऽसत्त्वाद् दुर्नयाः, स्यात्पदलाञ्छितस्त्वेतदन्यमोऽपीतरांशाऽप्रतिक्षेपादेकदेशव्यवहारनिबन्धनत्वात् सुनय एव। 'अस्ति' इत्यादिकस्तु स्यात्कारैवकारविनिर्मुक्तो धर्मान्तरोपादानप्रतिषेधाऽकरणात् स्वार्थमात्रप्रतिपादनप्रवणः सुनयोऽपि न व्यवहाराङ्गमिति द्रष्टव्यम्।

[सकलादेश के विषय में अन्य मत]

कुछ विद्वानों ने यह माना है कि सप्तभङ्गी के सभी भंग अनन्त धर्मात्मक वस्तु का प्रतिपादन करने में समान है तथापि प्रारम्भ के तीन ही भंग वस्तु का निरवयव बोध=अखण्ड बोध के उत्पादक होने से सकलादेश हैं और अगले चार भंग वस्तु के सावयव बोध=आंशिक बोध का जनक होने से विकलादेश है।

सप्तभंगी के सभी भंग जब 'स्यात्' पद से रहित होते हैं तब वे प्रस्तुत अंश विशेष का अवधारण करते हैं। चूंकि विषयभूत वस्तु प्रस्तुत अंशमात्र का ही आधार नहीं होता, अतः अवधारित विषयभूत वस्तु का अस्तित्व न होने से असत् का बोधक होने से दुर्नय हो जाते हैं। किन्तु जब उक्त भंग 'स्यात्' पद से युक्त होते हैं तब एक भंग भी अपने मुख्यरूप से प्रतिपाद्य अंश से भिन्न अंश का निषेध न करते हुए एक अंश से ही वस्तु के व्यवहार का जनक होने से सुनय ही होता है। और जब

अस्ति या नास्ति पद 'स्यात् पद किंवा एव पद से' रहित होकर भङ्ग के घटक होते हैं तब उससे जिस अंश के अस्तित्व किंवा नास्तित्व का बोध होता है उससे भिन्न अंश की स्वीकृति अथवा निषेध कुछ भी न होने से उससे अपने अर्थ मात्र का ही प्रतिपादन होता है, उस स्थिति में अस्ति पद अथवा नास्ति पद से घटित भङ्ग सुनय होते हुए भी व्यवहार का अङ्ग नहीं होता अत एव स्यात् पद किंवा एव पद के अभाव में अस्ति अथवा नास्ति पद से घटित भङ्ग का अस्तित्व अमान्य है।

अयं च सप्तविधोऽपि वचनमार्गोऽर्थनयेऽविशिष्टः। तत्र प्रथमः संग्रहे सामान्यग्राहिणि, द्वितीयो व्यवहारे विशेषग्राहिणि, तृतीय ऋजुसूत्रे पृथक्त्वमनिच्छति, चतुर्थः संग्रह-व्यवहारयोः, पञ्चमः संग्रहर्जुसूत्रयोः, षष्ठो व्यवहार-ऋजुसूत्रयोः, सप्तमः संग्रह-व्यवहारर्जुसूत्रेषु। व्यञ्जननये च सविकल्पो निर्विकल्पश्च। प्रथमेऽर्थैकत्वेऽपि पर्यायशब्दवाच्यताविकल्पसद्भावात् प्रथमः सविकल्पः। द्वितीय-तृतीययोर्द्रव्यार्थनिर्गतपर्यायाभिधायकत्वाद् निर्विकल्पो द्वितीयः, शब्दादिषु तृतीयः। संयोगादन्ये।

उक्त के यह सातों प्रकार अर्थनय में निर्विशेष होते हैं अर्थात्-व्यञ्जननयों में जैसे दो वर्ग हैं वैसा यहाँ नहीं है। जैसे—प्रथम प्रकार-प्रथम भङ्ग वस्तु के सामान्यग्राही संग्रह नय में समावेश होगा क्योंकि वह सत्त्वग्राही है। द्वितीय प्रकार—द्वितीयभङ्ग वस्तु के विशेषग्राही व्यवहार में, क्योंकि यह सामान्यवादी नहीं है। तीसरा प्रकार—तृतीय भंग वस्तु के सामान्य और विशेष अंश को पृथक् रूप में ग्रहण न करने वाले ऋजुसूत्रनय में, चौथा प्रकार चतुर्थभङ्ग संग्रह और व्यवहारनय में, पांचवां प्रकार—पञ्चमभंग संग्रह और ऋजुसूत्रनय में, छठां प्रकार छठां-भंग व्यवहार और ऋजुसूत्रनय में, सातवां प्रकार—सप्तम भंग संग्रह, व्यवहार और ऋजुसूत्रनय में निविष्ट है। किन्तु व्यञ्जननय में उक्त सातों भंगों के दो वर्ग हो जाते हैं—सविकल्प और निर्विकल्प। प्रथम शब्दनय में प्रथम भंग का प्रतिपाद्य सामान्य अर्थ यद्यपि एक होता है किन्तु उसमें पर्याय शब्द की वाच्यतारूप विकल्प के होने से प्रथम भंग सविकल्प होता है। द्वितीय और तृतीय यानी समभिरूढ और एवंभूत द्रव्यरूप अर्थ से निर्गत (पृथग्भूत) पर्याय के अभिधायक होते हैं, इसलिए द्वितीय भंग निर्विकल्प है। तथा तृतीय भंग शब्द आदि पर्याय का मुख्य रूप से बोधक होने से शब्दादि तीनों नय में निर्विकल्प होता है। शेष भंग शब्दादि तीन के अन्योन्य संयोग से सविकल्प और निर्विकल्प होते हैं। ※

अथवा, वक्तृस्थप्रत्ययरूपेऽर्थनये सप्ताप्येते संभविनः। श्रोतृस्थप्रत्ययरूपे व्यञ्जननये तु शब्द-समभिरूढयोः संज्ञाक्रियाभेदेऽप्यभिन्नार्थप्रतिपादनात् सविकल्पः प्रथमभङ्गः। एवंभूतस्तु क्रियाभेदाद् भिन्नमेवार्थं प्रतिपादयतीति तत्र निर्विकल्पो द्वितीयभङ्ग एव। अयथतव्यस्तु शब्दाऽविषयत्वाद् नास्त्येवेति वदंति, सद्भावाद्यर्पणया ऋजुसूत्राद् विशेषिततरार्थाभ्युपगमस्य शब्दनये भाष्यकृता पक्षान्तरमधिकृत्याभिहितत्वात्, तदपेक्षया तत्र सप्तापि सविकल्पाः, यथाश्रुते तु निर्विकल्पा इत्यप्यनुजानीमः ॥ २३ ॥

※ इस विषय को पूर्वमुद्रित सम्मति० के पृष्ठ ४४८-गाथा ४१ की व्याख्या में, तथा राजवार्तिक [४ ४२] पृष्ठ २६१ में भी देख सकते हैं।

उक्त बात नय को शब्दात्मक होने की दृष्टि से कही गयी है किन्तु नय के ज्ञानात्मक होने पर उक्त बात अन्य प्रकार से कही जा सकती है। जैसे-अर्थनय वक्तृगत ज्ञानरूप है अतः उसमें सप्तभंगी के सभी भंग सम्भव हैं। व्यञ्जननय श्रोतृगत ज्ञान रूप है अतः शब्द और समभिरूढनय में सविकल्प प्रथम भंग समाविष्ट होता है क्योंकि संज्ञा और क्रिया का भेद होने पर भी उनसे अभिन्न अर्थ का प्रतिपादन होता है, एवंभूतनय क्रियाभेद से भिन्न अर्थ का ही प्रतिपादन करता है अत एव उसमें निर्विकल्प द्वितीयभंग समाविष्ट होता है। अवक्तव्य शब्द का विषय नहीं होता, क्योंकि शब्द का विषय होने पर अवक्तव्य हो ही नहीं सकता, अतः एवम्भूत नय में अवक्तव्यादि भंग नहीं है– ऐसा तज्ज्ञों का कहना है। फलतः श्रोतृगत ज्ञानरूप व्यञ्जननय में प्रथम और द्वितीय भंग से भिन्न भंगों का अस्तित्व सम्भव नहीं होता। भाष्यकार ने सद्भाव की अर्पणा–सद्रूपता की प्रतीति का सम्पादन करने से शब्दनय में ऋजुसूत्र से विलक्षण अर्थ का अभ्युपगम होने की जो बात कही है वह अन्य पक्ष पर आधारित है। उस अपेक्षा से व्यञ्जननय में सातों भंग सविकल्प रूप में सम्भव है, किन्तु यथाश्रुत स्थिति में निर्विकल्प हैं, यह भी हमें उचित लगता है।

तदेवं सप्तभङ्ग्यात्मकप्रमाणेनानेकान्त एव निश्चयो युज्यते, नैकान्त इति निगमयन्नाह–

मूलम्—अनेकान्तत एवातः सम्यग्मानव्यवस्थितेः।
स्याद्वादिनो नियोगेन युज्यते निश्चयः परम् ॥ २४ ॥

अतः=उक्तयुक्तेः अनेकान्तत एव=अनेकान्तमतमवलम्ब्यैव सम्यग्मानव्यवस्थितेः=अविसंवादिप्रमाणव्यवस्थानात्, स्याद्वादिनो नियोगेन=नियमेन निश्चयो युज्यते, परं=केवलम्। 'परम्' इत्यनेनैकान्ते मानस्यैवानवतार इति सूचितम्। तथाहि-न तावदध्यक्षादेकान्तसिद्धिः, अनेकान्तस्यैव सर्वैरध्यक्षमनुभवात्, एकस्यैव वस्तुनो वस्त्वन्तरसंबन्धाविर्भूतानेकसंबन्धिरूपत्वात्, पितृ-पुत्र-भ्रातृ-भागिनेयादिविशिष्टैकपुरुषवत्, पूर्वा-ऽपरा-ऽन्तरिता-ऽनन्तरित-दूरा-ऽऽसन्न-नव-पुराण-समर्था-ऽसमर्थदेवदत्त-चैत्रस्वामिकलब्ध-कृतहृतादिरूपघटवद् वा।

[सप्तभङ्गी प्रमाण से अनेकान्त गर्भित निश्चय]

२४वीं कारिका में यह विषय निर्धारित किया गया है कि सप्तभङ्गी प्रमाण से अनेकान्त मत के अवलम्बन से ही निश्चय युक्तियुक्त सिद्ध होता है न कि एकान्त के अवलम्बन से। कारिका का अर्थ इस प्रकार है-सप्तभंगी द्वारा उपस्थापित युक्ति से अनेकान्त मत के अवलम्बन से ही सम्यक् मान की व्यवस्था होती है अर्थात् अविसंवादी प्रमाण की सिद्धि होती है। अतः केवल स्याद्वाद के नियम से ही युक्तिपूर्ण निश्चय सम्पन्न होता है। केवल स्याद्वाद के नियम से ही निश्चय युक्तिसंगत होता है इस कथन से यह सूचित होता है कि एकान्त के पक्ष में प्रमाण की प्रवृत्ति ही नहीं होती। जैसे-यह स्पष्ट है कि प्रत्यक्ष प्रमाण से एकान्त की सिद्धि नहीं हो सकती क्योंकि सभी को अनेकान्त का ही प्रत्यक्ष अनुभव होता है। एक ही वस्तु अन्य वस्तुओं के सम्बन्ध से अनेक सम्बन्धीरूप में अवभासित होती है, जैसे-एक ही पुरुष पिता, पुत्र, भ्राता भगिनीपुत्र, आदि अनेक रूपों में अवगत होता है, एवं एक ही घट पूर्व, पश्चिम, व्यवहित, अव्यवहित, निकटस्थ-दूरस्थ, नवीन,

प्राचीन, समर्थ, असमर्थ, देवदत्तस्वामिक, देवदत्तलब्ध, चैत्रलब्ध, देवदत्तकृत, चैत्रहृत आदि अनेक रूपों में अवगत होता है। इस प्रकार यह अत्यन्त सुस्पष्ट है कि प्रत्यक्ष द्वारा कोई वस्तु किसी एक ही रूप में दृष्ट न होकर अनेक रूप में दृष्टिगोचर होती है।

यत्पुनरुच्यते मण्डनेन–

"पित्रादिविषयेऽपेक्षा जननादिप्रभाविता। एकक्रियाविशेषेण व्यपेक्षा ह्रस्व-दीर्घयोः" ॥१॥ इति।

तत्तु दृष्टान्त-दार्ष्टान्तिकयोरापेक्षिकपर्यायत्वपर्यवसानाद् नातिचतुरस्रम्। यदप्येतद् विश्रुण्वतोक्तम्–'शब्दार्थस्तत्र सापेक्षो न वस्तु' इति। तदप्यशब्दार्थस्य वस्तुनः सिद्धौ शब्दस्य च कल्पनामात्रपर्यवसितत्वे शोभते। येषामपि मतम्–'पितृत्वपुत्रत्वादयो धर्मा एव तत्तन्निरूपिता भिद्यन्ते, धर्मी त्वेकस्वभाव एव'–तेषामपि 'एतदपेक्षयाऽयं पिता, एतदपेक्षया च न पिता' इत्यादिप्रतीत्यननुरोध एव। धर्मिभेदप्रतीतेर्धर्माभावावगाहितायां 'घटः पटो न' इत्यादावपि तथात्वापत्त्या च भेदकथैवोत्सीदेदिति। येऽपि 'नगर–त्रैलोक्यादिवत् पितृ–पुत्रादिभावभाग् ज्ञानाकार एव' इति प्रतिपन्नवन्तः तेऽपि शबलार्थानुपपत्तिभीताः शबलज्ञानमाश्रयन्तो व्याघ्रात् त्रस्यन्तः कूपान्तःपातिन इति दिग्।

[पितृत्वादि धर्म केवल प्रातीतिक-मण्डनमिश्र]

इस सन्दर्भ में मण्डन मिश्र ने यह कहा है कि "पिता–पुत्र आदि रूप में ज्ञात होने वाला पुरुष वास्तव में एकान्त रूप ही होता है उसमें अनेकरूपता की प्रतीति, उत्पत्ति उत्पादन आदि विभिन्न क्रियाओं के कारण होती है। अतः अनेकरूपता उसका वास्तविकरूप नहीं है किन्तु अनेकों के सम्बन्ध के कारण केवल व्यावहारिकरूप है। क्रियाविशेष रूप से एक में अनेकरूपता की बुद्धि ठीक उसी प्रकार ज्ञातव्य है जैसे ह्रस्व, दीर्घरूप में अन्य की प्रतीति के द्वारा किसी वस्तु में ह्रस्व, दीर्घरूपता ज्ञात होती है। कहने का आशय यह है कि कोई वस्तु स्वयं अपने ही व्यक्तित्व के आधार पर ह्रस्व या दीर्घ नहीं होती किन्तु अपने से दीर्घ प्रतीत होने वाली वस्तु की अपेक्षा ह्रस्व और अपने से ह्रस्व प्रतीत होने वाली अन्य वस्तु की अपेक्षा दीर्घ प्रतीत होती है तो जैसे वस्तु का ह्रस्वत्व और दीर्घत्व उसका वास्तवरूप न होकर मात्र प्रातीतिक या व्यावहारिक ही होता है ठीक उसी प्रकार पितृत्व, पुत्रत्व आदि भी एक पुरुष का वास्तविक रूप न होकर केवल प्रातीतिक एवं व्यावहारिक ही रूप है। अतः वास्तव में वस्तु अनेकान्त रूप न होकर एकान्त रूप ही होती है।"

[मण्डन मिश्र के कथन का निराकरण]

व्याख्याकार की दृष्टि में मिश्र का उक्त कथन समीचीन नहीं है क्योंकि जैसा विवेचन किया गया है उसके अनुसार दृष्टान्त-ह्रस्व, दीर्घ रूप में प्रतीत होने वाली वस्तु और दार्ष्टान्तिक–दृष्टान्त द्वारा समर्थनीय पिता–पुत्र आदि रूप में प्रतीत होने वाला एक पुरुष, तथा पूर्व पर आदिरूप में प्रतीत होने वाला एक घट, एवं पुरुष और उक्त दृष्टान्त तथा अन्य वस्तु के सम्बन्ध से अनेकरूपों में प्रतीत होने वाली वस्तु रूप दार्ष्टान्तिक का पर्यवसान उनकी आपेक्षिक पर्यायरूपता में होता है। आशय यह

है कि वस्तु की अनेकान्तरूपता वस्तु का सापेक्ष पर्याय है। अतः उसे वस्तु का निरपेक्ष रूप बताना तो असंगत हो सकता है किन्तु उसे उसका अपना रूप बताना कथमपि असंगत नहीं हो सकता।

वस्तु की आपेक्षिक पर्यायरूपता का विवरण करते हुए कुछ विद्वानों द्वारा जो यह कहा गया है कि–'शब्दार्थ सापेक्ष होता है वस्तु सापेक्ष नहीं होती' वह कथन भी तभी समीचीन हो सकता है जब वस्तु अशब्दार्थ हो तथा शब्द कल्पनामात्र हो, किन्तु यह बात सिद्ध नहीं है।

[केवल धर्मभेद मानने पर पिता-पुत्र आदि प्रतीतियों की अनुपपत्ति]

जिन विद्वानों का यह मत है कि 'पितृत्व- पुत्रत्व आदि धर्म ही निरूपक भेद से भिन्न होते हैं किन्तु जिस धर्मी में ये धर्म प्रतीत होते हैं वह एकरूप ही होता है।' उनकी दृष्टि में अमुक व्यक्ति अमुक की अपेक्षा पिता है और अमुक की अपेक्षा पिता नहीं है ऐसी प्रतीतियों का अनुरोध यानी समर्थन नहीं हो पाता, साथ ही ऐसा मानने वालों को यह भी विचार करना चाहिए कि धर्म–भेद की प्रतीति का उपपादन यदि धर्म और उसके अभाव के अवगाहन द्वारा किया जायगा तो 'घटः पटो न' ऐसी प्रतीतियों के सम्बन्ध में भी यह कहा जा सकेगा कि यह प्रतीति एक पदार्थ में घटत्वरूप धर्म और पटत्वरूप धर्म के अभाव का अवगाहन करती है न कि घटरूप धर्मी में घटत्व धर्म एवं पटरूप धर्मी के भेद को विषय करती है, फलतः भेद की चर्चा ही समाप्त हो जायगी।

[चित्राकारज्ञानवाद में चित्राकार अर्थ की आपत्ति]

जिन विद्वानों ने यह माना है कि–'जैसे नगर, त्रैलोक्य आदि की अतिरिक्त सत्ता नहीं है किन्तु नगर एवं त्रैलोक्य नाम की वस्तु के बिना ही नगराकार और त्रैलोक्याकार केवल ज्ञानमात्र होता है उसीप्रकार पिता–पुत्र आदि की भी अतिरिक्त सत्ता नहीं है किन्तु पिता–पुत्र आदि रूप में ज्ञानमात्र होता है। फलतः ज्ञानाकार रूप में ही उनकी सत्ता है बाह्य सत्ता नहीं है' ऐसे विद्वानों ने चित्र यानी अनेकात्मक अर्थ की अनुपपत्ति से त्रस्त हो उसे स्वीकार न कर चित्र अनेकात्मकज्ञान को स्वीकार किया है। अतः ऐसे विद्वान उन मनुष्यों की श्रेणि में आते है जो व्याघ्र के भय से भागकर कुँए में गिर पड़ते हैं। फलतः चित्राकार ज्ञान मानने और चित्राकर अर्थ न मानने में कोई औचित्य नहीं प्रतीत होता।

एवं चानुमानादिनापि नैकान्तसिद्धिः, अध्यक्षबाधितेऽर्थेऽनुमानादिप्रमाणप्रवृत्तेः। किञ्च, साधर्म्यतः परः साध्यं साधयेत्, वैधर्म्यतो वा ? । उभयथापि तत्पुत्रत्वादेर्गमकत्वप्रसङ्गः, प्रकरणसम–कालात्ययापदिष्टयोर्हेत्वाभासत्वाऽभावेनाऽबाधकत्वात्, निश्चितस्वसाध्याविनाभूतहेतूपलम्भस्यैव साध्यधर्मिणि साध्यप्रतिपत्तिरूपत्वेन तयोस्तदप्रतिपन्थित्वात्। न च यथा तवात्राऽगमकत्वं तथा ममापीति शङ्कनीयम्, ममाक्षिप्तपरस्परस्वरूपाजहद्वृत्तिसाधर्म्यवैधर्म्यस्वभावनिबन्धनत्रैरूप्यनिश्चयाभावेन तस्याऽगमकत्वात्, परस्य च तथाऽनभ्युपगमात्।

[अनुमानादि से भी एकान्तसिद्धि अशक्य]

उक्त रीति से अनुमान आदि से भी एकान्त की सिद्धि नहीं हो सकती क्योंकि जो अर्थ प्रत्यक्ष बाधित होता है उसमें अनुमान आदि प्रमाणों की प्रवृत्ति नहीं होती।

अनुमान के विरुद्ध एक बात और है वह यह कि एकान्तवादी को वस्तु की एकान्तरूपता का साधन साधर्म्य अथवा वैधर्म्य से ही करना होगा किन्तु दोनों ही पक्षों में तत्पुत्रत्व आदि धर्मों में

अनेकान्तरूपता के अनुमापकत्व की प्रसक्ति होगी। यदि यह कहा जाय कि-'वस्तु में एकान्तरूपता के साधक हेतु के होने से तत्पुत्रत्व आदि प्रकरणसम यानी सत्-प्रतिपक्ष एवं अनेकान्तरूपता का बाध होने से कालात्ययापदिष्ट होगा, अत एव तत्पुत्रत्व आदि में अनुमापकता का बाध हो जायगा' -तो यह उचित नहीं है क्योंकि हेतुत्व के सम्पादक पक्षसत्त्व, सपक्षसत्त्व और विपक्षासत्त्व का विघटक ही हेत्वाभास होता है। प्रकरणसम और कालात्ययापदिष्ट उक्त रूपों में से किसी के विघटक नहीं हैं अत एव हेत्वाभास न होने के कारण उनसे अनुमापकता का बाध नहीं हो सकता।

यदि यह कहा जाय कि-'साध्य के धर्मी यानी पक्ष में साध्यबुद्धि का उक्त दोनों में विघटन होता है अत एव वे भी हेत्वाभास हैं, क्योंकि जैसे हेतुत्व के सम्पादन उक्त रूपों का जिनके द्वारा विघटन होता है वे भी अन्ततः साध्यधर्मी में साध्यबुद्धि के विरोध में ही पर्यवसायी होने से हेत्वाभास होते हैं। अतः साध्यधर्मी में साध्यबुद्धि के साक्षात् विरोधी प्रकरणसम और कालात्ययापदिष्ट का भी हेत्वाभास होना युक्तिसंगत है। इसलिए उनके द्वारा तत्पुत्रत्व आदि में अनेकान्तरूपता की अनुमापकता का बाध हो सकता है'-तो यह ठीक नहीं है क्योंकि साध्य के अविनाभूत यानी व्याप्यरूप में निश्चित हेतु का पक्ष में जो उपलम्भ अर्थात् बोध होता है वही साध्यधर्मी में साध्य की बुद्धि है और उक्त बोध में प्रकरणसम और कालात्ययापदिष्ट विरोधी नहीं हो सकते, क्योंकि प्रकरणसम पक्ष साध्याभावव्याप्यप्रकारक निश्चय द्वारा तथा कालात्ययापदिष्ट साध्याभाव प्रकारक निश्चय द्वारा पक्ष में साध्यप्रकारक बोध के ही विरोधी हो सकते हैं न कि साध्य व्याप्य हेतु प्रकारक बुद्धि के विरोधी हो सकते हैं। अतः उक्त रीति से उन्हें हेत्वाभास बताना संगत नहीं हो सकता।

[अनेकान्तवादरूपता की अनुमापकता का समान रूप से अभाव नहीं है]

यदि यह शंका की जाय कि-'जैसे अनेकान्तवादी के मत में तत्पुत्रत्व आदि एकान्तरूपता का अनुमापक नहीं हो सकता, उसी प्रकार एकान्तवादी के मत में वह अनेकान्तरूपता का भी अनुमापक नहीं हो सकता'-तो यह ठीक नहीं है क्योंकि अनेकान्तवादी के मत में तत्पुत्रत्व आदि की एकान्तरूपता का अनुमापक न होने का कारण है 'उसमें अनुमापकता के प्रयोजक त्रिरूपता के निश्चय का अभाव' जिसे एकान्तवादी के मत में अनेकान्त-अनुमापकता के अभाव के कारणरूप में प्रस्तुत नहीं किया जा सकता, क्योंकि एकान्तवाद में अनुमापक की त्रिरूपात्मकता मान्य नहीं हो सकती। अनेकान्तवादी के कथन का आशय यह है कि जो हेतु पक्ष सत्त्व सपक्ष सत्त्व और विपक्षासत्त्व इन तीनों रूपों से अभिन्न होता है वही अनुमापक होता है और यह त्रिरूपता साधर्म्य, वैधर्म्य के परस्पर स्वरूप का आक्षेप जिस धर्मी में होता है उस पक्षभूत धर्मी में अजहद्वृत्ति तथा साधर्म्य और वैधर्म्य के स्वभाव से होती है, तात्पर्य यह है कि पक्ष में सपक्ष के साधर्म्य से विपक्ष के वैधर्म्य का और विपक्ष के वैधर्म्य से सपक्ष के साधर्म्य का आक्षेप होता है, हेतु उसमें अजहद्वृत्ति-वृत्ति का त्याग न करने से पक्षसत्त्वात्मक होता है एवं साधर्म्यस्वभाव होने से सपक्षसत्त्वात्मक तथा वैधर्म्यस्वभाव होने से विपक्षासत्त्वात्मक होता है। इस प्रकार त्रिरूपात्मक हेतु ही साध्य का अनुमापक होता है। तत्पुत्रत्व आदि में निश्चित एकान्तरूप सपक्ष की साधर्म्यरूपता एवं निश्चित अनेकान्तरूप विपक्ष की वैधर्म्यरूपता तथा उन दोनों के परस्पर स्वरूप जिसमें आक्षिप्त हों ऐसे वस्तु रूप पक्ष में अजहद्वृत्तिता न होने से त्रिरूपता का निश्चय न होने के कारण उसमें एकान्त की अनुमापकता का अभाव होता है। यही बात तत्पुत्रत्व आदि में अनेकान्तरूपता के अनुमापकत्व का अभाव बताने में नहीं कही जा सकती,

क्योंकि एकान्तवादी प्रत्येक वस्तु को एकरूपात्मक ही मानता है. अत एव हेतु को त्रिरूपात्मक होने के आधार पर अनुमापक और त्रिरूपात्मकता का निश्चय न होने के आधार पर अननुमापक नहीं कहा जा सकता।

किञ्च, परस्य स्वसमानाधिकरणात्यन्ताभावाऽप्रतियोगिसाध्यसामानाधिकरण्यसाध्याभाववदवृत्तित्व-साध्यसंबन्धितावच्छेदकरूपवत्त्वादिव्याप्तीनां नानात्वात् साधने साध्यव्याप्यत्वमपि दुर्ग्रहम् । न च सर्वासामपि वह्निनिरूपितव्याप्तीनां प्रत्येकं वह्न्यनुमित्यङ्गत्वमेव, कार्यतावच्छेदके तत्तद्व्यवहितोत्तरत्वादिदानाच्च न व्यभिचार इति वाच्यम्, अनुगतहेतु-हेतुमद्भावं विनाऽनुगतव्यवहारप्रवृत्त्याद्यनुपपत्तेः, अनुमितिजनकतावच्छेदकतया सिद्धाया एकस्या एव व्याप्तेः प्रतिस्वं विभज्यानुभवाद् भेदभिन्नत्वस्वीकारौचित्यात् । एवं विशिष्य तत्तद्धर्मावच्छिन्नकारणताश्रयेऽपि तत्तद्धर्मसामानाधिकरण्येन सामान्यकारणताव्यपदेशसमर्थनमपि परेषां शब्दान्तरेण सामान्यविशेषभावमेव वस्तुनो द्रढयति, अर्पिताऽनर्पितसिद्धेः, इति द्रष्टव्यम्, "यत्सामान्ये यत्सामान्यं हेतुस्तद्विशेषे तद्विशेषोऽपि" इति न्यायोपपत्तेः, आर्थन्यायेन भावेनाऽप्रधानगुणभावयोगाच्चेति।

[त्रिरूपवत्ता एकान्तवाद में मानने पर भी अनिस्तार]

उक्त के सन्दर्भ में यदि यह कहा जाय कि-एकान्तवाद में हेतु में त्रिरूपात्मकता तो नहीं मानी जा सकती किन्तु उसे त्रिरूप से युक्त मानने में कोई बाधा नहीं है, अतः उस मत के आधार पर भी यह कहा जा सकता है कि तत्पुत्रत्व आदि में वस्तु को अनेकान्तता की अनुमापकता के प्रयोजक उक्त त्रिरूप से युक्तता का निश्चय न होने के कारण तत्पुत्रत्व आदि में अनेकान्त की अनुमापकता का अभाव हो सकता है तो इस कथन के सम्भव होने पर भी अन्य दोष का परिहार होना सम्भव नहीं है और वह दोष है हेतु में साध्य की व्याप्ति के ज्ञान का सम्भव न होना। कहने का आशय यह है कि एकान्तवादी के मत में व्याप्ति के अनेक भेद हैं। जैसे-(१) हेतु के अधिकरण में विद्यमान अत्यन्ताभाव के अप्रतियोगी साध्य का हेतुनिष्ठ सामानाधिकरण्य एवं (२) हेतु में साध्याभावाधिकरण निरूपित वृत्तित्व का अभाव, तथा (३) साध्यसम्बन्धिता का अवच्छेदक हेतुता अवच्छेदक रूपवत्त्व ...आदि। इन सभी का एककाल में ज्ञान सम्भवित न होने से हेतु में साध्य की व्याप्ति का ज्ञान न हो सकने के कारण व्याप्तिज्ञान से अनुमिति के जन्म का उपपादन नहीं किया जा सकता।

[व्यक्तिनिष्ठकार्य-कारणभाव से अनुमितित्वनियामक शून्यता]

यदि यह कहा जाय कि-'उक्त प्रकार कि वह्नि निरूपित जितनी व्याप्तियाँ हैं उनमें प्रत्येक व्याप्ति स्वतन्त्ररूप से वह्नि की अनुमिति की प्रयोजक हैं अर्थात् उक्त व्याप्तियों में किसी भी एक व्याप्ति का ज्ञान होने से अनुमिति का जन्म मानना निरापद है, क्योंकि वह्नि की अनुमिति में प्रत्येक व्याप्तिज्ञान को स्वतन्त्ररूप से कारण मानने पर अनुमिति और व्याप्तिज्ञान में कार्यकारणभाव के सम्भावित व्यतिरेक व्यभिचार का परिहार तत्तद्व्याप्तिज्ञान के तत्तद्व्याप्तिज्ञानाव्यवहितोत्तर

ज्ञान के प्रति कारण मान कर किया जा सकता है'–तो यह ठीक नहीं है क्योंकि अनुमिति और व्याप्ति-ज्ञान में उक्त रूप से कार्यकारणभाव मानने पर उनके बीच अनुगत कार्यकारणभाव नहीं होगा। फलतः तत्तद्व्याप्तिज्ञान से उत्पन्न होने वाले ज्ञान में अनुमिति पद का अनुगत व्यवहार नहीं हो सकेगा। क्योंकि उक्त रूप से अनुगत कार्यकारणभाव न होने पर अनुमितित्व का कोई नियामक न हो सकेगा। यतः उक्त व्याप्तियों में किसी एक व्याप्ति के ज्ञान से जन्य (ज्ञाननिष्ठ) ज्ञानत्व को अनुमितित्व का नियामक मानने पर अन्य व्याप्ति के ज्ञान से जन्यज्ञान अनुमितिरूप न हो सकेगा और यदि प्रत्येक व्याप्तिज्ञानजन्यज्ञानत्व को समुदित रूप से अनुमितित्व का नियामक माना जायगा तो किसी भी ज्ञान में सम्पूर्ण व्याप्तिज्ञानजन्यज्ञानत्व न होने से कोई भी ज्ञान अनुमितिरूप न हो सकेगा। अतः उक्त अनुपपत्ति को देखते हुए यही स्वीकार करना उचित है कि अनुमिति के प्रति व्याप्तिज्ञान कारण है और एक ही व्याप्ति उस कारणता की अवच्छेदक है, उसी का व्याप्ति के उक्तरूपों में कभी किसी स्वरूप और कभी किसी अन्य रूप से अनुभव होता है। उक्त सभी व्याप्तियों में व्याप्तित्व रूप एक सामान्य धर्म है उसी रूप से व्याप्ति का ज्ञान अनुमिति सामान्य के प्रति कारण है। इस कारण व्याप्ति एकान्तरूप से एक अथवा अनेक न होकर भेदमिश्रित अभिन्नत्व (अभेद) रूप अर्थात् अनेकान्त रूप है।

[एकान्तवादी की मान्यता से अनेकान्त का समर्थन]

इस सन्दर्भ में यह भी ज्ञातव्य है कि एकान्तवाद में सामान्य कार्यकारणभाव का समर्थन इस रूप में किया जाता है कि 'सामान्य धर्म के आश्रयभूत कार्यविशेष की सामान्यधर्म के आश्रयभूत कारण विशेष में जो विशेष धर्मावच्छिन्न कार्यनिरूपित विशेष धर्मावच्छिन्न कारणता है वही सामान्य कार्यकारणता के रूप में व्यवहृत होती है' इससे भी वस्तु को सामान्यविशेषात्मक रूप से अनेकान्त-रूपता की ही पुष्टि होती है। यह भी ज्ञातव्य है कि वस्तु में सामान्यविशेष उभयरूपता के अभाव में यद्यपि अर्थतः यह प्राप्त होता है कि वस्तु में प्रधानगुणभाव नहीं हो सकता किन्तु 'सामान्यरूप से जिन वस्तुओं में कार्यकारणभाव होता है, विशेषरूप से भी उनमें कार्यकारणभाव होना आवश्यक है' यह न्याय अवश्य स्वीकार्य है क्योंकि इसे न मानने पर सामान्यकार्यकरण के आधार पर ही विशेषकारण से विशेष कार्य की उत्पत्ति माननी होगी और उस स्थिति में जिन दो कपालों से एक घट की उत्पत्ति होती है उन्हीं से अन्य घट की उस घट के साथ ही उत्पत्ति का प्रसंग होगा। अतः घट सामान्य के प्रति कपाल सामान्य कारण है इस कार्यकारणभाव के साथ ही तत्तद्घट के प्रति तत्तत्कपाल कारण है यह कार्यकारणभाव भी मानना आवश्यक है और यह तभी हो सकता है जब वस्तु सामान्य-विशेष उभयात्मक हो। और जब वस्तु उस प्रकार की होगी तो उसमें प्रधानगुणभाव भी बिना किसी कठिनाई के उपपन्न हो सकेगा।

किञ्च, परः साध्यं साधयन् न तावत् सामान्यं साधयेत्, केवलस्य तस्याऽसंभवात्। नापि विशेषम्, तस्यानुयायित्वेन साधयितुमशक्यत्वात्। न च सामान्योपरागेण विशेषस्याप्यनु-यायित्वम्, समवायनिषेधेन तदुपरागाऽसिद्धेः 'पर्वतो जातिमद्वान्' इत्याद्यतिप्रसङ्गाच्च। नाप्युभयम् उभयदोषाऽनतिवृत्तेः। नाप्यनुभयम्, तस्याऽसत्त्वात्, इत्याद्यूह्यम्। तदिदमुक्तम्-[सम्मति–१५३]

* "साहम्मओ व्व अत्थं साहिज्ज परो विहम्मओ वावि ।
अन्नोन्नं पडिकुट्ठा दो वि अ एए असव्वाया ॥ १ ॥ इति ।

अनेकान्ते तु न साध्यसिद्धिरनुपपन्ना, कथञ्चिद् वह्निमत्तायाः साध्यत्वेन 'पर्वतो द्रव्यवान्' इत्यादावनतिप्रसङ्गात्, वह्निमत्ताया द्रव्यवत्तासामान्यक्रोडीकृतत्वेऽपि कथञ्चिद्व्यतिरेकात्, विवादास्पदीभूतसामान्य-विशेषोभयात्मकसाध्यधर्माधारसाध्यधर्मिसिद्धेश्च; अन्यथा 'पर्वतसामान्यं वह्निमत्तयाऽनुमिनोमि' 'इमं पर्वतं वह्निमत्तयाऽनुमिनोमि' इत्यादि विभज्याध्यवसायाकारानुपपत्तेः, इतरत्र संशयाऽनिवृत्तिप्रसङ्गाच्च । इत्यन्यत्र विस्तरः । तदिदमाह-[सम्मति गाथा-१५४]

× "दव्वट्ठिअवत्तव्वं सामण्णं पज्जवस्स य विसेसो ।
एए समोवणीया विभज्जवायं विसेसंति ॥१॥ इति ।

तदेवं 'स्याद्वादिनो न क्वचिदपि निश्चयो युज्यते' इति पूर्वपक्षिणोक्तं निराकृतम् ॥ २४॥

[एकान्तवाद में साध्यस्वरूप का निर्वचन अशक्य]

उक्त के अतिरिक्त एकान्तवाद में एक और भी संकट है, वह यह कि एकान्तवाद में साध्य के स्वरूप का निर्वचन अशक्य है क्योंकि सामान्य को साध्य नहीं कहा जा सकता यतः विशेष के अभाव में केवल सामान्य का अस्तित्व नहीं होता । विशेष को भी साध्य नहीं कहा जा सकता क्योंकि साध्य को साध्यधर्मी-पक्ष और सिद्धधर्मी-दृष्टान्त उभय में अनुगत होना चाहिए, किन्तु विशेष ऐसा नहीं होता । स्पष्ट है कि पर्वतीय वह्नि का सम्बन्ध महानस में और महानसीय वह्नि का सम्बन्ध पर्वत में नहीं होता ।

[अनुगतरूपता की शंका का निराकरण]

विशेष की साध्यता के समर्थन में यदि यह कहा जाय कि-'विशेष व्यक्तिगत रूप से पक्ष, दृष्टान्त उभय में भले अनुगत न हो किन्तु सामान्य रूप से उसके अनुगत होने में कोई बाधा नहीं है यतः पर्वतीय और महानसीय वह्नियों में वह्नित्व सामान्य का अस्तित्व होने से यह कहना दुष्कर है कि महानसीय वह्नि के सामान्य रूप का पर्वतीय वह्नि में और पर्वतीय वह्नि के सामान्य रूप का महानसीय वह्नि में अभाव है । अतः वह्निविशेष को वह्नित्व रूप सामान्य धर्म द्वारा पक्ष-दृष्टान्त दोनों में अनुगत कहा जा सकता है'—

किन्तु यह कथन ठीक नहीं है क्योंकि यतः समवाय सम्बन्ध प्रमाण द्वारा सिद्ध नहीं हो पाता अतः विशेष व्यक्तियों में सामान्य धर्म का उपराग (सम्बन्ध) सिद्ध नहीं हो सकता है । इसके साथ ही इस कथन में कि-'सामान्य रूप से विशेष अनुगत होने से विशेष भी साध्य हो सकता है'-यह आपत्ति है कि उक्त बात को स्वीकार करने पर जातित्व रूप में वह्नित्व को विषय करने वाली 'पर्वतः जातिमद्वान्' अनुमिति भी 'पर्वतो वह्निमान्' इस रूप में व्यवहृत होने लगेगी । जैसे उक्त कारणों से केवल सामान्य

* साधर्म्यतो वाऽर्थं साधयेत् परो वैधर्म्यतो वाऽपि । अन्योन्यं प्रतिकुष्ठा द्वावपि चैतेऽसद्वादाः ॥

× द्रव्यार्थिकवक्तव्यं सामान्यं पर्यवस्य च विशेषः । एतौ समोपनीतौ विभज्यवादं विशिष्टः ॥

अथवा केवल विशेष को साध्य नहीं माना जा सकता उसी प्रकार दोनों को मिलित रूप में भी साध्य नहीं माना जा सकता क्योंकि केवल सामान्य और केवल विशेष को साध्य मानने पर प्रसक्त होने वाले दोष मिलित साध्य के पक्ष में भी ज्यों के त्यों बने रहेंगे। सामान्य विशेष से भिन्न को भी साध्य नहीं माना जा सकता क्योंकि इस तरह की कोई वस्तु ही नहीं है जो सामान्य और विशेष की श्रेणी से बहिर्भूत हो। यह बात सम्मति ग्रन्थ की १५३ वीं गाथा में इस प्रकार कही गयी है "एकान्तवादी साध्य को साधर्म्य से सिद्ध करेगा या वैधर्म्य से ? दोनों ही अन्योन्य अपहृत होने से असद्वाद ही हैं।"

एकान्तवाद में साध्यसिद्धि के सम्बन्ध में जो अनुपपत्ति बतायी गयी है, अनेकान्तवाद में उसको अवसर नहीं है क्योंकि अनेकान्तवाद में कथञ्चित् वह्निमत्ता साध्य होने से 'पर्वतः द्रव्यवान्' इस अनुमिति में 'पर्वत: वह्निमान्' इस अनुमिति की अभिन्नता का प्रसंग नहीं हो सकता, क्योंकि द्रव्य सामान्य में वह्नि का समावेश होने पर भी वह्नि में द्रव्य का कथञ्चित् भेद भी रहता है अतः जिस अपेक्षा से वह्नि में द्रव्य का भेद है उस अपेक्षा से 'पर्वतो द्रव्यवान्' इस अनुमिति में 'पर्वतः वह्निमान्' इस प्रकार की अनुमितिरूपता की आपत्ति सम्भव नहीं हो सकती।

[अनेकान्तवाद में साध्यसिद्धि निर्बाध]

अनेकान्तवाद में साध्यसिद्धि की अनुपपत्ति न होने का एक और कारण है वह यह कि अनेकान्तवाद के अनुसार साध्यधर्मी—पक्ष 'सामान्य-विशेष उभयरूप साध्यात्मक धर्म' के आश्रयरूप में विवाद का विषय होता है। अतः अनुमान द्वारा उक्त साध्यरूप धर्म के आश्रय रूप में साध्यधर्मी की सिद्धि होती है। इस प्रकार की सिद्धि में उस तरह की कोई बाधा नहीं है जो एकान्तवाद में साध्य-सिद्धि के विरुद्ध खड़ी होती है। यह भी ध्यान देने योग्य है कि यदि अनुमान द्वारा सामान्य विशेष उभयस्वरूप साध्यधर्म के आधाररूप में साध्य-धर्मी की सिद्धि न मानी जायगी तो वह्नि के आश्रयरूप पर्वत सामान्य की अनुमिति की एवं वह्नि के आश्रयरूप में पर्वत विशेष की अनुमिति की जो प्रतीति होती है उसकी उपपत्ति न हो सकेगी। उक्त उभय प्रतीतियों में किसी एक ही प्रतीति को मानकर यदि किसी एक ही प्रकार की अनुमिति मानी जायगी तो अन्य प्रकार की अनुमिति से निवर्तनीय संशय की निवृत्ति न हो सकेगी। फलतः वह्नि के आश्रयरूप में पर्वत सामान्य की अनुमिति होने पर पर्वत विशेष में वह्नि संशय की, तथा पर्वतविशेष में वह्नि की अनुमिति होने पर पर्वत सामान्य में वह्नि संशय की, निवृत्ति न होगी। इस विषय का विस्तार ग्रन्थान्तर में उपलब्ध हो सकता है। यही बात सम्मतिग्रन्थ की १५४ वीं गाथा में इस प्रकार कही गयी है-द्रव्यास्तिकनय का वाच्य केवल सामान्य है और पर्यायास्तिक का केवल विशेष है। दोनों परस्पर मिलकर विभज्यवाद को विशेषित करते हैं। इस प्रकार 'स्याद्वादीयों के मत में कहीं भी निश्चय की उपपत्ति नहीं हो सकती' यह पूर्वपक्षी का कथन अपहस्तित हो जाता है ॥ २४ ॥

इत्थं च 'संसार्यपि न संसारी' इत्याद्यप्यर्थतो निरस्तमेव, तथापि विशिष्य तद् निरसितुकामस्तत्र प्रयोजनमाह—

मूलम्—एतेन सर्वमेवेति यदुक्तं तन्निराकृतम्।
शिष्यव्युत्पत्तये किञ्चित्तथाप्यपरमुच्यते ॥ २५ ॥

एतेन=अनन्तरोदितेन स्याद्वादसाधनेन सर्वमेव यदुक्तं पूर्वपक्षिणा तद् **निराकृतम्**, अधिकस्याप्युक्ततुल्ययोगक्षेमत्वात् । तथापि **शिष्यव्युत्पत्तये**=प्रपञ्चज्ञशिष्यमतिविस्फारणाय **किञ्चिदपरम्**=अवशिष्टविषयम् उच्यते ॥ २५ ॥ तथाहि—

[एकान्तवादी द्वारा उद्भावित सभी दोषों का निराकरण]

उक्त रीति से अनेकान्तवाद का प्रतिपादन हो जाने पर उस वाद में एकान्तवादी द्वारा उद्भावित संसारस्थ भी अनेकान्तवाद के अनुसार असंसारी हो जायगा ऐसे सभी दोषों का यद्यपि अर्थतः निराकरण हो जाता है तो भी विशेषरूप से उन दोषों का निराकरण करने के तात्पर्य से उसका प्रयोजन बताने के लिए २५ वीं कारिका की रचना की गयी है, जिसका अर्थ यह है कि स्याद्वाद-अनेकान्तवाद का जो प्रतिपादन अभी तत्काल ही किया गया है उससे पूर्वपक्षी एकान्तवादी द्वारा कहे गये सम्पूर्ण दोष निवृत्त हो जाते हैं और जो दोष पूर्व पक्षी द्वारा प्रदर्शित नहीं किए गये हैं किन्तु उनका प्रदर्शन भी सम्भव है, उक्त दोषों के समान ही उनका भी योगक्षेम होने से उक्त दोषों की निराकरण की रीति से ही उनका भी निराकरण हो जाता है। अतः इस सम्बन्ध में कुछ बात भी आवश्यक न होने पर भी विशेष जिज्ञासु शिष्यों की बुधि की वैशद्य और विस्तार के लिये कुछ अन्य बात जो अभी तक नहीं कही गयी है प्रस्तुत सन्दर्भ में कही जायगी ।। २५ ।।

मूलम्—संसारी चेत्स एवेति कथं मुक्तस्य संभवः ? ।
मुक्तोऽपि चेत्स एवेति व्यपदेशोऽनिबन्धनः ॥ २६ ॥

संसारी चेत् स एव=संसार्येव, एवकार एकान्ते, इति हेतोः=संसारिणः सर्वथा संसारित्वात्, **कथं मुक्तस्य संभवः**=संसारिण्ययं मुक्त इत्यादिव्यपदेशः ? । क्षणभेदस्त्वत्र न परिहारः, सर्वथाऽसारूप्यात् । **स्यान्मतम्**अन्येषाम्—'स एव संसारी स एव च मुक्तः, न तु न संसारी न मुक्तश्च, संसारित्व-मुक्तत्वयोः संसारिमुक्तभेदविरोधित्वात्, प्रतियोगितावच्छेदकेन सहान्योन्याभावस्य विरोधे कालभेदाऽनिवेशादिति ।' **असदेतत्**, 'इदानीमयं संसारी न मुक्तः -इदानीं स मुक्तो न संसारी' इत्यादिव्यवहारात् संसारि-मुक्तयोरसंसार्य-ऽमुक्तयोश्च कालभेदेन विभिन्नतया व्यवस्थितेः । 'विभेदे कथमेकत्रोभयथा व्यवहार' इति चेत् ? सोऽयमेकान्तवादिन एव शिरसि प्रहारः ।

[संसारी और असंसारी में अनेकान्त की उपपत्ति]

कारिका २६ में पूर्वकारिका द्वारा किये गये संकेत को स्पष्टरूप से प्रतिपादित किया गया है जो इस प्रकार है। एकान्तवाद के अनुसार संसारी जीव यदि केवल संसारी ही होगा, असंसारी किसी भी दृष्टि से न होगा तो वह मुक्त कैसे हो सकेगा, कभी भी उसे मुक्त कैसे व्यवहृत किया जा सकेगा ? क्षणभेद से उसकी भिन्नता स्वीकार करके भी उक्त प्रश्न का परिहार नहीं किया जा सकता, क्योंकि संसारक्षण में स्थित व्यक्ति और मुक्तक्षण में स्थित व्यक्ति में पूर्णरूप से सारूप्य का अभाव होने से इस प्रकार का व्यवहार न हो सकेगा कि जो पहले संसारी था वह अब मुक्त हो गया।

यदि यह कहा जाय कि-'इस प्रकार का व्यवहार मान्य नहीं है, मान्य केवल यह व्यवहार है कि संसारक्षण में स्थित व्यक्ति केवल संसारी होता है और मुक्तक्षण में स्थित व्यक्ति केवल मुक्त होता है'-तो यह ठीक नहीं है क्योंकि यह दोनों व्यवहार अन्योन्य सापेक्ष हैं, अतः दोनों व्यवहारों की उपपत्ति किसी एक या सदृश में ही करना उचित है।

[दो रूपों के समावेश में विरोध की शंका]

अन्य विद्वानों का यह मत हो सकता है कि-'संसारी और मुक्त एक ही व्यक्ति होता है, समय भेद से एक व्यक्ति में संसारित्व और मुक्तत्व का समावेश सर्वथा युक्तिसंगत है। संसारी और मुक्त के लिए यह कहना कथमपि सम्भव नहीं है कि वह संसारी भी होता है और संसारी नहीं भी होता है, यह मुक्त भी होता है और मुक्त नहीं भी होता है, क्योंकि संसारित्व संसारी भेद का और मुक्तत्व मुक्तभेद का विरोधी है, यह भेद इस सामान्य नियम पर आधारित है कि प्रतियोगिता-अवच्छेदक के साथ अन्योन्याभाव का विरोध है। यह विरोध कालभेद की अपेक्षा नहीं करता अर्थात् उन दोनों का विरोध इस रूप में नहीं है कि जिसमें जिस अन्योन्याभाव का प्रतियोगिता-अवच्छेदक धर्म जिस काल में रहता है उस काल में वह अन्योन्याभाव उसमें नहीं रहता है, किन्तु यह विरोध इस रूप में है कि अन्योन्याभाव और प्रतियोगिता-अवच्छेदक दोनों का अस्तित्व एक व्यक्ति में नहीं होता"-

[सर्वसम्मत व्यवहार के बल से शंका का निरसन]

किन्तु यह मत समीचीन नहीं है क्योंकि 'इस समय अमुक व्यक्ति संसारी है मुक्त नहीं है' और 'अमुक समय अमुक व्यक्ति मुक्त है संसारी नहीं है' इस प्रकार का व्यवहार सर्वसम्मत है और इस व्यवहार के अनुसार समय भेद से संसारी और मुक्त एवं असंसारी और अमुक्त दोनों परस्पर भिन्न होकर सिद्ध है। यदि यह अनुपपत्ति उद्भावित की जाय कि-'संसारी और असंसारी तथा मुक्त और अमुक्त परस्पर भिन्न है तो एक व्यक्ति में संसारी और असंसारी तथा मुक्त एवं अमुक्त का व्यवहार सम्भव नहीं हो सकता'-तो यह अनुपपत्ति एकान्तवादी के ही सिर पर चोट पहुँचाने वाली है, क्योंकि वह संसारी को सर्वथा संसारी ही और मुक्त को सर्वथा अमुक्त ही मानने के लिए विवश है, क्योंकि वह एकान्तवादी है।

अथ 'नित्यज्ञानादिमद्भिन्नः संसारी, तद्भेदश्च न तत्रेति संसार्येव स' इति चेत् ? कथं तर्हि मुक्ते 'असंसारी' इति व्यवहारः ? 'गौणः स' इति चेत् ? न, स्वेच्छामात्रानुरोधेऽपि लोक-शास्त्रव्यवहारानुरोधात्। अत एवाह-मुक्तोऽपि चेत् स एव=मुक्त एव, न संसारी, इति हेतोः प्रागप्यस्य संसारिस्वभावत्वाभावात् अनिबन्धनः=निर्निमित्तः व्यपदेशः 'मुक्तः सः' इत्युल्लेखवान् ॥ २६ ॥

[मुक्त दशा में असंसारी का व्यवहार गौण नहीं है]

यदि यह कहा जाय कि-'नित्यज्ञान आदि के आश्रय से भिन्न व्यक्ति संसारी है और संसारी का भेद उस व्यक्ति में नहीं है इसलिए वह व्यक्ति केवल संसारी ही है'-तो ऐसा मानने पर मुक्त में असंसारी होने का व्यवहार नहीं हो सकेगा। यदि इस व्यवहार को गौण बताकर इसकी उपपत्ति

की जाय तो ठीक नहीं हो सकता। ऐसा मानने पर अपनी इच्छा का अनुरोध तो हो जाता है किन्तु लोक व्यवहार, शास्त्र व्यवहार का अनुरोध नहीं हो पाता यतः उक्त व्यवहार लोकशास्त्र उभय दृष्टि से मुख्य व्यवहार है।

मुक्त में असंसारी व्यवहार लोक-शास्त्र दोनों दृष्टि से मुख्य होने के कारण कारिका के उत्तरार्ध में यह कहा गया है यदि मुक्त सदा मुक्त ही होता है संसारी कभी नहीं होता तो मुक्त में संसारित्वस्वभाव मुक्त होने के पूर्व भी न होने से 'स मुक्तः'=वह मुक्त हुआ, इस व्यवहार का कोई निमित्त न हो सकेगा। फलतः जैसे संसारनिवृत्त दशा में 'स मुक्तः एव' व्यवहार होता है उसी प्रकार संसार दशा में भी उसमें मुक्त पद का व्यवहार होने लगेगा क्योंकि मुक्त सदा मुक्त ही होता है इस पक्ष में संसार के अभाव की दशा में मुक्त कहा जाने वाला व्यक्ति संसार दशा में भी मुक्त ही है ॥२६॥

एतदेव स्पष्टयति–

मूलम्—संसाराद् विप्रमुक्तो यन्मुक्त इत्यभिधीयते ।
नैतत्तस्यैव तद्भावमन्तरेणोपपद्यते ॥ २७ ॥

यत्=यस्मात्, संसाराद् विप्रमुक्तो मुक्त इत्यभिधीयते, मुचेरवधिसापेक्षत्वात्। एतत् इत्थंभूतं मुक्तत्वम् तस्यैव=संसारिण एव तद्भावमन्तरेण=मुक्तभावाभ्युपगमं विना नोपपद्यते। 'इष्यत एव तस्यैव तद्भावः धर्मिण्येव धर्मोपगमात्, धर्मिणोऽपि कथञ्चित्परावृत्तिस्तु नेष्यत' इति चेत्? न, संसारिस्वभावं परित्यज्य मुक्तस्वभावोपादानाद् धर्मिणोऽपि कथञ्चित्परावृत्तेः। 'विशिष्टधर्मिभेदेऽपि शुद्धधर्म्यभेदाद न दोष' चेत्? अयमेव द्रव्यतोऽभेदः, पर्यायतश्च भेद इत्यनेकान्तो यदि 'स्यात्'-पदानुविद्धः, तादृशाभेदस्यापि तादृशभेदनान्तरीयकत्वात्। मुक्तेऽपि तदा संसारिभेदेऽपि प्राक् तदभेदात्। 'तत्कालापेक्षया तत्र तद्भेद एवे'ति चेत्? नैतावतैवापेक्षाविश्रामः, तत्कालेऽपि तदन्यकालाऽभेदादिकृतापेक्षाऽऽनन्त्यात्। 'तावदपेक्षानियतवस्तुप्रतीतिर्न कथमपि स्यादि'ति चेत्? सत्यम्, स्यात्पदमहिम्ना प्रधानोपसर्जनभावेन तथाप्रतीत्युपपत्तेः, प्रत्यक्षेऽपि सम्यग्दर्शनगुणमहिम्ना तथाभावात्; मिथ्यादृशां तु सापेक्षयोर्धर्मयोरेकत्र निमित्तभेदं विना भानस्य संशयवद् दोषजन्यत्वनियमात्। अत एव 'सदसतोरविशेषणात् सर्वं ज्ञानं मिथ्यादृशां विपर्यस्तम्, सम्यग्दृशां च संशयादिकमपि तादृशदोषाऽजन्यत्वादविपर्यस्तम्' इति परिभाषन्ते। इत्यन्यत्र विस्तरः ॥ २७ ॥

[संसारी धर्मी का ही मुक्तधर्मी में परावर्त्तन]

कारिका २७ में पूर्व कारिका के वक्तव्य को ही स्पष्ट किया गया है। कारिका का अर्थ इस प्रकार है–संसार से विमुक्त को ही मुक्त कहा गया है, क्योंकि मुच्-धातु का अर्थ मुक्ति अवधि-सापेक्ष होती ही है, जब कोई किसी से बन्धा हुआ होता है तभी बन्धन से उसकी मुक्ति होती है। संसार से विमुक्त व्यक्ति को मुक्त कहना संसारी को ही कालान्तर में मुक्त माने बिना

संगत नहीं हो सकता, अतः संसारी को मुक्त कहने से यह स्पष्ट है कि संसारी असंसारी भी होता है। यदि यह कहा जाय कि-"जो व्यक्ति संसारी है वही संसार से मुक्त होता है यह बात एकान्तवादी को मान्य है, क्योंकि संसार और संसारनिवृत्ति इन दोनों धर्मों का सम्बन्ध एक ही धर्मी में होता है, किन्तु एतावता यह नहीं कहा जा सकता कि धर्म का परिवर्तन होने पर कथञ्चित् धर्मी भी परिवर्तित हो जाता है। धर्म का परिवर्तन होने पर भी धर्मी का परिवर्तन मान्य नहीं है"-तो यह कथन ठीक नहीं है, क्योंकि संसारित्व और मुक्तत्व यह दोनों धर्मी के स्वभाव हैं अतः एक स्वभाव को त्याग कर अन्य स्वभाव का ग्रहण करने पर धर्मी में भी कथञ्चित् भिन्नता आ ही जाती है क्योंकि मुक्तत्व-स्वभाव से सम्पन्न धर्मी को संसारित्व स्वभाव से मुक्त नहीं कहा जाता।

[शुद्ध धर्मी के भी कथंचिद् भेद की उपपत्ति]

यदि यह कहा जाय कि-'संसारित्व विशिष्ट धर्मी और मुक्तत्व विशिष्ट धर्मी इन दोनों में भेद होने पर भी शुद्ध धर्मी की अभिन्नता बनी ही रहती है, अतः धर्मी विभिन्न धर्मों का आस्पद होने पर भी स्वयं अभिन्न हो रहता है-इस एकान्तवादी मान्यता में कोई दोष नहीं है'-तो यह कथन भी ठीक नहीं है क्योंकि वस्तु का द्रव्यदृष्टि से अभिन्न होना और पर्यायदृष्टि से भिन्न होना ही अनेकान्तवाद है, क्योंकि 'स्यात्' पद से,-जिसका अर्थ कथंचित् है,-अनुविद्ध एकान्त ही अनेकान्त हो जाता है। यह जो कहा गया है कि,-विशिष्ट धर्मी में भेद होने पर भी शुद्ध धर्मी की अभिन्नता बनी रहती है,-यह समीचीन नहीं है क्योंकि विशिष्ट धर्मी का भेद शुद्ध धर्मी के कथञ्चित् भेद का व्याप्य है। अतः व्यापक के अभाव में व्याप्य का अभाव होता है इस नियम के अनुसार शुद्ध धर्मी में कथञ्चित् भेद न मानने पर विशिष्ट धर्मी में भेद नहीं हो सकता। 'मुक्त धर्मी में भी मुक्तकाल में संसारी का भेद होने पर भी मुक्ति के पूर्व संसारी का अभेद होता है, अतः संसारी और मुक्त में कथञ्चित् भेद और अभेद होने से 'जो जिससे भिन्न है वह उससे सदा भिन्न ही रहता है और जो जिससे अभिन्न है वह उससे अभिन्न ही होता है' इस प्रकार का एकान्तवाद स्वीकार्य नहीं हो सकता।

[मुक्तिकाल में भी संसारी के अभेद का उपपादन]

यदि यह कहा जाय कि-"मुक्तिकाल की अपेक्षा मुक्त धर्मी में संसारी का भेद ही है अभेद नहीं है, इस प्रकार के एकान्तवाद में कोई बाधा नहीं है"-तो यह भी ठीक नहीं है क्योंकि इतने मात्र से ही अपेक्षा की विश्रान्ति नहीं हो जाती, क्योंकि मुक्तिकाल में भी मुक्तिकाल से भिन्नकाल का कथञ्चित् अभेद है, इन दोनों कालों में भी सर्वथा भेद ही नहीं है, अतः जिस अपेक्षा से मुक्तिकाल में मुक्तिकाल से अन्यकाल का अभेद है उस अपेक्षा से मुक्त में संसारी का अभेद होने से मुक्तकाल की अपेक्षा भी मुक्त में संसारी का केवल भेद ही नहीं माना जा सकता। और इस प्रकार की अपेक्षाओं का कोई अन्त नहीं है। यदि यह कहा जाय कि-'उक्त प्रकार की अनन्त अपेक्षाओं से नियतवस्तु की प्रतीति कथमपि नहीं सम्भव हो सकती'-तो यह कथन इस रूप में अवश्य सत्य है कि मुख्य रूप से सम्पूर्ण अपेक्षाओं के साथ वस्तु की प्रतीति नहीं हो सकती, किन्तु जब किसी वस्तु के किसी सापेक्ष स्वरूप को स्यात् पद से अभिहित किया जाता है तब विवक्षित रूप की मुख्यरूप से और अन्य सापेक्ष सभी रूपों की गौण रूप से प्रतीति हो सकती है, क्योंकि स्यात् पद का यह वैशिष्ट्य है कि वह अपने सन्निहित पद के अर्थ में अन्य सभी अर्थों को समाविष्ट कर देता है। वस्तु की सभी सापेक्ष रूपों द्वारा प्रतीति शब्द द्वारा जैसे स्यात् पद की महिमा से उपपन्न होती है, उसी प्रकार

प्रत्यक्षस्थल में सम्यग् द्रष्टा के सम्यग् दर्शन गुण की महिमा से वैसी प्रतीति होती है, किन्तु मिथ्यादर्शी को सापेक्ष दो धर्मों का एक धर्मी में निमित्त भेद के बिना जो बोध होता है वह संशय के समान दोषवश ही होता है। ॐइसीलिए विद्वानों का यह कथन है कि सत् और असत् दोनों प्रकार के पर्यायों में क्या अन्तर है यह ज्ञान न होने के कारण मिथ्यादर्शी का सभी ज्ञान विपर्यासरूप होता है जब कि सम्यग्दृष्टि का संशय आदि ज्ञान भी तथाविध दोषजन्य न होने से यथार्थ होता है। इस विषय का विस्तार अन्यत्र तत्त्वार्थमहाशास्त्र और विशेषावश्यकभाष्यादि में प्राप्य है॥ २७॥

फलितमाह—

मूलम्—तस्यैव च तथाभावे तन्निवृत्त्यनिवृत्त्यात्मकम् ।
द्रव्य-पर्यायवद्वस्तु बलादेव प्रसिध्यति ॥ २८ ॥

तस्यैव च=संसारिणः, **तथाभावे**=मुक्तभावेऽभ्युपगम्यमाने, **तद्**=अधिकृतं वस्तु, **निवृत्त्यनिवृत्त्यात्मकं**=निवृत्त्यऽनिवृत्तिस्वभावम् **बलादेव**=स्याद्वादसाम्राज्यादेव द्रव्य-पर्यायवत् प्रसिध्यति, तस्यैव तथा भवनादिति ॥ २८ ॥

कारिका २८ में पूर्वकारिकाओं में उक्त बातों के निष्कर्ष का कथन है जो इस प्रकार है, संसारी जीव को ही मुक्त मानने में स्याद्वाद के प्रभाव से ही यह सिद्ध हो जाता है कि संसारी-मुक्त अधिकृत वस्तु कथञ्चित् निवृत्ति और अनिवृत्ति उभयस्वरूप है। वस्तु द्रव्य पर्याय उभयात्मक होती है अतः प्रत्येक वस्तु की द्रव्य रूप से अनिवृत्ति और पर्यायरूप से निवृत्ति होती है। अतः संसारी जीव जब मुक्त होता है तब उसकी संसारात्मकता की निवृत्ति और आत्मद्रव्यात्मकता की अनिवृत्ति होती है॥ २८॥

तदिदं लोकानुभवतोऽपि साधयन्नाह—

मूलम्—लज्जते बाल्यचरितैर्बाल एव न चापि यत् ।
युवा न लज्जते चान्यस्तैरायत्यैव चेष्टते ॥ २९ ॥

लज्जते **बाल्यचरितैः**=चौर्या-ऽसंस्पृश्यस्पर्श-क्रीडादिभिः, अतो बाल एव युवा, 'अहमेव पूर्वं चौर्यमनुष्ठितवान्' इति लज्जानिबन्धनाऽभेदप्रत्यभिज्ञानाद् बाल-यूनोरभेदसिद्धेः। न चाप्येकान्तो बाल एव **यत्**=यस्माद् युवा, एवं हि 'अयमिदानीं युवा, न बालः' इति भेदप्रतिभासो नानुरुद्धः स्यात्। न च बालस्वभावाऽपरित्यागे युवस्वभावपरिग्रहोऽपि स्यात्, उत्तरस्वभावे पूर्वस्वभावपरित्यागस्य हेतुत्वात्। न च तत्काले यूनि बालसामान्यभेद एव, 'इदानीं युवा न बालः' इति प्रतीतिरिति वाच्यम्, यतो न **चान्यः**=भिन्नसंतानान्तरयुवा, **तैः**=बाल्यचरितैः लज्जते, न अतस्तत्र तत्संतानीयबालभेद एव। तदेवमतीतवर्तमानयोर्भेदा-

ॐ द्रष्टव्य-सदसतोरविशेषाद्यदृच्छोपलब्धेरुन्मत्तवत्-इति तत्त्वार्थमहाशास्त्र १-३३। तथा, सदसदविसेसणाओ० इति गाथा विशेषावश्यके उपदेशपदादौ च।

भेदो भावितः । एवमनागत-वर्तमानयोरपि, यत आयत्यैव=वार्धके सुखहेतुधनाद्यर्थमेव चेष्टते । अतो युव-वृद्धयोरभेदः । न ह्यन्यो अन्यार्थं चेष्टत इति ॥ २९ ॥

[लोकानुभव से कथंचिद् भेदाभेद का उपपादन]

कारिका २९ में पूर्व कारिकोक्त निष्कर्ष का लोकानुभव द्वारा समर्थन किया गया है । कारिका का अर्थ इस प्रकार है-बाल्यकाल में जो चोरी, अस्पृश्य विष्टादि के स्पर्श, तथा क्रीडादि जिन कार्यों से लज्जित नहीं होता, वह ही युवान होने पर अपनी इस अवस्था में उन्हीं कार्यों से लज्जित होता है, वह अनुभव करता है कि पूर्वकाल में मैंने ही इन कार्यों को किया है जिसे अब करने में लज्जा होती है । इससे स्पष्ट है कि जो व्यक्ति पूर्वकाल में बालक था वही कालान्तर में युवान होता है, क्योंकि यदि ऐसा न हो तो युवान को बाल्यकाल के कार्यों से, बालक पर्याय के साथ लज्जा के मूलभूत अभेद की प्रत्यभिज्ञा न होती । अतः प्रत्यभिज्ञा से बाल और युवान का अभेद निर्विवाद है । बालक एकान्तरूप से बालक ही नहीं होता क्योंकि युवान होने पर इस प्रकार की भेदबुद्धि होती है कि सम्प्रति यह युवान है, बालक नहीं है ।

[बाल और युवान में भी एकान्तभेद नहीं है]

इसके अतिरिक्त यह भी ज्ञातव्य है कि बालस्वभाव का परित्याग हुए बिना युवान स्वभाव की प्राप्ति नहीं होती, क्योंकि उत्तर स्वभाव की प्राप्ति में पूर्व स्वभाव का परित्याग कारण है । यदि बाल और युवान में एकान्ततः भेद हो तो पूर्व स्वभाव परित्याग पूर्वक उत्तरकालिक स्वभाव की प्राप्ति की उपपत्ति नहीं हो सकती । यदि यह कहा जाय कि 'यौवनकाल में युवावस्था में बालक से पूर्ण भिन्नता होती है क्योंकि उस समय यह प्रतीति होती है कि-वर्तमान में यह युवा है बालक नहीं हैं' तो यह कहना उचित नहीं है क्योंकि बालक सन्तान से भिन्न सन्तान के युवान को बाल्यकाल के कार्यों से लज्जा नहीं होती । अतः जिस युवा को बाल्यकाल के कार्यों से लज्जा होती है उसे बालक के सन्तान का ही व्यक्ति मानना होगा । अतः उसमें उस सन्तान के बालक का भेद मात्र ही सिद्ध नहीं होता । फलतः उक्त रीति से अतीत और वर्तमान में कथञ्चित् भेद-अभेद दोनों की सिद्धि होती है । इसी प्रकार अनागत और वर्तमान में भेद-अभेद दोनों का अभ्युपगम आवश्यक है, क्योंकि युवा पुरुष ही वृद्धावस्था में सुख देने वाले धन आदि का संग्रह करने की चेष्टा करता है । इस चेष्टा से यह स्पष्ट है कि वर्तमान युवा और अनागत वृद्ध में, अभेद है । यदि दोनों में भेद मात्र ही हो तो युवान की उक्त चेष्टा की उपपत्ति नहीं हो सकती क्योंकि कोई एक व्यक्ति किसी अन्य व्यक्ति के लिए प्रयत्नशील नहीं होता ॥ २९ ॥

न चाप्यभेद एवेत्याह—

मूलम्—युवैव न च वृद्धोऽपि नान्यार्थं चेष्टनं च तत् ।
अन्वयादिमयं वस्तु तदभावोऽन्यथा भवेत् ॥ ३० ॥

न च युवैव वृद्धोऽपि=सर्वथा वृद्धपर्यायापन्न एव, 'इदानीमयं युवा न वृद्धः' इति प्रतीतेः । न च तत्काले तत्र यूनि तत्संतानीयवृद्धभेद एव, यतोऽन्यार्थं संतानान्तरवृद्धवत् न च चेष्टनं=कायव्यापाररूपम् । तत्=तस्मात्, वस्तु अन्वयादिमयं, आदिना व्यतिरेकग्रहाद-

न्वय-व्यतिरेकशबलम्, अन्यथा तदभावः=अधिकृतवस्त्वभावो भवेत्, सर्वथाऽसत्सद्भाव-विरोधात्। तदिदमुक्तं सम्मतिकृता [प्रथमकाण्डे]

* पडिपुण्णजोव्वणगुणो जह लज्जइ बालभावचरिएण।
कुणइ य गुणपणिहाणं अणागयसुहोवहाणत्थं ॥ ४३ ॥
ण य होइ जोव्वणत्थो बालो अन्नो वि लज्जइ न तेण।
णवि अ अणागयतग्गुणपसाहणं जुज्जइ विभत्ते ॥ ४४ ॥ इति।

[बाल और युवान अवस्था में एकान्त अभेद भी नहीं]

कारिका ३० में युवा और वृद्ध में एकान्त अभेद का खण्डन किया गया है। कारिका का अर्थ इस प्रकार है-'जो व्यक्ति युवा होता है वह युवा होने के साथ ही वृद्ध भी होता है, वह यौवन काल में भी वृद्ध पर्याय से युक्त होता है। इस प्रकार युवा और वृद्ध में अ यन्त अभेद है'-यह नहीं कहा जा सकता क्योंकि व्यक्ति के यौवन काल में 'यह व्यक्ति वर्त्तमान में युवा है वृद्ध नहीं है' यह प्रतीति होती है। यदि व्यक्ति युवा काल में भी वृद्ध पर्याय का आश्रय हो तो यह प्रतीति नहीं हो सकती, अतः स्पष्ट है कि युवा और वृद्ध में एकान्त अभेद नहीं है। 'युवा काल में यु । व्यक्ति में वह जिस सन्तान का युवान है उस सन्तान के वृद्ध का एकान्त भेद ही है' यह भी नहीं कहा जा सकता क्योंकि युवा व्यक्ति अपने सन्तानवर्त्ती वृद्ध के लिए आवश्यक साधनों से संग्रह के लिए चेष्टाशील होता है। यदि युवा अपने सन्तानवर्त्ती वृद्ध से पूर्णतया भिन्न ही हो तो तदर्थ उसकी चेष्टा नहीं हो सकती क्योंकि अन्य के लिए व्यक्ति चेष्टाशील नहीं होता। इस तरह युवा और वृद्ध में एकान्त अभेद और एकान्त भेद दोनों सम्भव नहीं है।

वस्तु अन्वय और व्यतिरेक अर्थात् भेदाभेद दोनों से मिश्रित होती है। यदि वस्तु को ऐसा न माना जायगा तो उसका अभाव ही हो जायेगा, क्योंकि, एकान्त असद्भाव वाली वस्तु में सद्भाव का होना विरोध है। इसी बात को सम्मतिकार ने ४३, ४४वीं गाथा में इस प्रकार कहा है— "यौवन की प्राप्ति होने पर व्यक्ति बाल्यकालीन कार्यों से लज्जित होता है और वृद्धावस्था में सुख की उपलब्धि के लिए तदनुकूल साधनों का संग्रह करता है।" "युवावस्था का व्यक्ति बाल्यावस्था के व्यक्ति से एकान्त भिन्न नहीं होता क्योंकि यदि वह भिन्न होता तो बाल्यावस्था के कार्यों से लज्जित न होता, क्योंकि अन्य व्यक्ति को अन्य के कार्यों से लज्जा नहीं होती। इसी प्रकार युवा व्यक्ति वृद्धावस्था के व्यक्ति से भी एकान्ततः भिन्न नहीं होता, यदि वह भिन्न होता तो उसको आने वाली अवस्था के लिए सुख-साधनों का संग्रह न करता क्योंकि अन्य व्यक्ति के लिए अन्य इस प्रकार का संग्रह नहीं करता।"

यत्तु-'बाल्याद्याः शरीरस्यैवावस्थाः, आत्मा तु बाल्याद्यवस्थाभेदाद् न निवर्तते भिद्यते वा, नित्यैकरूपत्वात्तस्य, शरीरं तु परिणामभेदाद् भिद्यत एव' इति नैयायिकादीनां मतम्, तदसत्, 'अहं बालः' इत्यादि प्रतीत्या बालत्वाद्यवस्थानामहंत्वसामानाधिकरण्यस्य

* प्रतिपूर्णयौवनगुणो यथा लज्जते बालभावचरितेन। करोति च गुणप्रणिधानमनागतसुखोपधानार्थम् ॥
न च भवति यौवनस्थो बालोऽन्योऽपि लज्जते न तेन। नापि चानागततद्गुणप्रसाधनं युज्यते विभक्ते ॥

'प्राग् बाल आसम् इदानीं युवास्मि' इत्यादिधिया चाहंतास्पदस्य बाल्य-यौवनादिभेदेनोत्पाद-नाशस्थित्यात्मकस्य सिद्धेः। न चेदेवम्, बाल्यादिवद् मनुष्यत्वादेरपि 'शरीरमात्रनिष्ठत्वे मनुष्यत्वादिप्रयोज्यो गुणविशेष आत्मनि न घटेत। 'मनुष्यत्वादिकं संयोगादिवदुभयाश्रितमि'ति चेत् ? बाल्यादिकमपि तथैव। न चैवं "गौरोऽहम्" इत्यादिधिया कायाऽऽत्मनोरभेदः सिध्यंश्चार्वाकमतं न प्रतिक्षिपेदिति वाच्यम्; स्यात्कारस्यैव चार्वाक-नैयायिकयोरुभयोरपि वारणे समर्थत्वात्, मृगपतेरिव मृगवारणयोः। 'शरीरस्यापि बाल्यादिभेदेन भेद एव' इति वदतामभेदप्रत्यभिज्ञाप्रतिः। न च विभिन्नपरिणामवत्त्वलक्षणवैधर्म्यज्ञानकालोत्पत्तिकायास्तस्यास्तज्जातीयाभेदविषयकत्वमेवेति वाच्यम्; घटे श्यामत्व-रक्तत्वयोरिव शरीरे विभिन्नपरिमाणयोर्विधर्मत्वेनाऽप्रतिसंधानात्, विशिष्टवैधर्म्यस्य शुद्धव्यक्त्यभेदाऽविरोधित्वं च समानम्।

[बाल्यादि अवस्था शरीर की नहीं, आत्मा की है]

इस सन्दर्भ में नैयायिक आदि का यह कहना है कि-"बाल्य-यौवन आदि भाव शरीर की ही अवस्थाएँ हैं, आत्मा तो बाल्य आदि अवस्था के भेद से न निवृत्त ही होता है और न भिन्न ही होता है, वह तो नित्य एकरूप ही रहता है, किन्तु शरीर अवस्था भेद से परिवर्तित होता रहता है"-किन्तु यह कथन ठीक नहीं है क्योंकि 'मैं बालक हूं' इस प्रकार की प्रतीति में बाल्य-अहंत्व का सामानाधिकरण्य अर्थात् अहं अर्थ आत्मा बाल्य का आस्पद होना सिद्ध है। एवं 'मैं पहले बालक था अब युवा हूं' इस प्रतीति से यह भी सिद्ध है कि अहंता का आस्पद-आत्मा बाल्य-यौवन आदि के भेद से एक साथ ही उत्पत्ति विनाश और स्थिति रूप है। यदि यह न माना जायगा तो बाल्य आदि के समान मनुष्यत्व आदि भी शरीर का ही धर्म होगा और उस स्थिति में मनुष्यत्व आदि मूलक विशेषगुण भी आत्मा का धर्म न हो सकेगा। यदि मनुष्यत्व आदि को संयोग आदि के समान शरीर-आत्मा उभय में आश्रित माना जायगा तो बाल्य-यौवन आदि भी मनुष्यत्वादि के समान ही उभयाश्रित होगा।

[चार्वाकवाद की आपत्ति का निवारण]

यदि यह कहा जाय कि-'उक्त प्रतीतियों के आधार पर बाल्यादि को यदि आत्मा का धर्म माना जायगा, तो 'मैं गौर हूं' इस प्रतीति के आधार पर शरीर और आत्मा का अभेद सिद्ध होने से चार्वाक के शरीरात्मवाद का खण्डन न हो सकेगा ?'-तो यह ठीक नहीं है क्योंकि स्याद्वाद सिद्धान्त में 'स्यात्' के सहयोग से चार्वाक और नैयायिक दोनों का उसी प्रकार वारण हो जाता है जैसे मृगपति मृगशब्द के साथ पतिशब्द के जोड़ देने से सामान्य मृग और हस्ती दोनों का वारण हो जाता है। बाल्य आदि के भेद से आत्मा के भेद की बात तो अलग रहे, शरीर का भी बाल्य आदि के भेद से एकान्त भेद नहीं माना जा सकता, क्योंकि ऐसा मानने पर एक व्यक्ति के बाल-युवा और वृद्ध शरीर में जो अभेद की प्रत्यभिज्ञा होती है उसकी उपपत्ति न होगी।

[बाल्यादि अभेद की प्रत्यभिज्ञा सजातीयाभेदग्राहक होने की शंका का उत्तर]

यदि यह कहा जाय कि-'बाल युवा और वृद्ध शरीर में विभिन्न परिणामरूप वैधर्म्य का ज्ञान होता है अतएव उस काल में होने वाली अभेद की प्रत्यभिज्ञा को व्यक्ति के अभेद की ग्राहक नहीं

मानी जा सकती, किन्तु वह सजातीय के अभेद का ही ग्राहक हो सकती है। अतः बाल-युवा आदि शरीरों में होने वाली अभेद की प्रत्यभिज्ञा से उनमें ऐक्य नहीं सिद्ध हो सकता है'–तो यह ठीक नहीं है, क्योंकि एक घट में कालभेद से होने वाले श्याम और रक्त रूप जैसे श्याम और रक्त घट का वैधर्म्य नहीं होता अतः श्याम और रक्त घट का अभेद बाधित नहीं होता, उसी प्रकार बाल युवा आदि शरीरों का भिन्न परिमाण भी बाल-युवा शरीर के वैधर्म्य रूप में गृहीत नहीं होता। अतः उनके आधार पर बाल युवा शरीर का भी अभेद बाधित नहीं हो सकता। यदि यह कहा जाय कि–'घट और शरीर में समदृष्टि रखना उचित नहीं है, क्योंकि श्याम और रक्त घट में जो वैधर्म्य है वह शुद्ध घट व्यक्ति के अभेद का विरोधी नहीं है किन्तु शरीर के सम्बन्ध में वैसी ही बात नहीं है'–यह कहना समीचीन नहीं है क्योंकि घट के समान ही शरीर के विषय में भी यह कहा जा सकता है कि–बाल्यावस्था और युवावस्था के शरीर में जो भिन्न परिमाणरूप वैधर्म्य है वह शुद्ध शरीर व्यक्ति के अभेद का विरोधी नहीं है।

येऽपि' उक्तप्रत्यभिज्ञाभीता बाल्यादिभेदेऽपि शरीरमेकमेव' इत्येकान्तेऽभिनिविशन्ते, तदुक्तं **पदार्थरत्नमालाकृता**-परे तु 'तत्राश्रय एक एव, प्रत्यभिज्ञानात्' इति मन्यमानाः परिमाणान्तरोत्पादमाहुः इति; तेऽपि मन्दाः, अबाधितभेदव्यवहारादिविलोपात्। अथ 'युवा न बालः' इत्यत्र यूनि बालवैधर्म्यमेव भासते। तत्र नञो वृत्तिमान् भिन्नं चार्थः, वृत्तिमति बालत्वविशिष्टं विशेषणावच्छेदककालावच्छिन्नाधेयतया वृत्तिमान्, भिन्ने तत्रैव च कालादिरन्वेति; तथा च 'इदानीं न बालः' इत्यस्य 'बालत्वविशिष्टवृत्तिमद्भिन्नैतत्कालीनधर्मवान्' इत्यर्थः। युक्तं चैतत्, 'न पृथग्' इति प्रतीतेस्तदवधिकपृथक्त्वाऽभाववद्द्रव्यत्वेन तदन्योन्याभावाभावसिद्धेः। तदाहुर्न्यायाचार्याः–'श्यामाद् रक्तो विधर्मा न तु पृथग्' इति चेत्? न, 'प्राग् न बालः' इत्यस्याप्यापत्तेः, बाल्यकालावच्छेदेन बालवृत्तिभिन्नस्य सत्त्वादेः प्राक्कालवृत्तेर्यूनि सत्त्वात्। ईदृशश्यामवैधर्म्यस्य श्यामनिष्ठत्वात् 'श्यामो न श्यामः' इत्यादेरपि प्रसङ्गात्। प्रत्यक्षसिद्धभेदप्रतीतेरपह्नवे प्रत्यभिज्ञायामप्यनाश्वासात्, अभेदसिद्धावपि भेदाऽविरोधात्, भेदाभेद एव प्रत्यभिज्ञाया उपपादयिष्यमाणत्वाच्चेति दिग्। तदेवमन्वयादिमयमेव वस्त्विति सिद्धम्।

[शरीरादि में एकान्त अभेदवादी पदार्थरत्नमालाकार कथित मत का निरसन]

कुछ लोग ऐसे हैं जो बाल युवा आदि शरीरों में अभेद की प्रत्यभिज्ञा से त्रस्त होकर 'बाल्य यौवन आदि अवस्थाओं का भेद होने पर भी शरीर अभिन्न ही होता है' इस एकान्त पक्ष में अभिनिविष्ट होते हैं। जैसे की पदार्थरत्नमालाकार ने कहा है कि अन्य लोगों की यह मान्यता है कि बाल्य आदि विभिन्न अवस्थाओं का आश्रयभूत शरीर एक ही होता है। क्योंकि उन अवस्थाओं के शरीर में अभेद की प्रत्यभिज्ञा होती है, अतः शरीर नहीं बदलता किन्तु उसमें पूर्व परिणाम की निवृत्ति होकर अन्य परिणाम की उत्पत्ति होती है।' ऐसे सभी लोग "व्याख्याकार श्री यशोविजयजी" की दृष्टि में मन्द प्रज्ञ हैं क्योंकि विभिन्न अवस्थाभेद से शरीर में जो भेद का अबाधित व्यवहार होता है उसका लोप हो जाता है।

['युवा न बालः' प्रतीति में भेद के बदले वैधर्म्य के भान की शंका]

यदि यह कहा जाय कि–

'युवा न बालः' इस प्रतीति में युवा में बालक के वैधर्म्य का ही भान होता है भेद का नहीं, क्योंकि उक्त प्रतीति के 'युवा न बालः' इस अभिलाप-वाक्य में नञ् पद के दो अर्थ हैं वृत्तिमान् और भिन्न। वृत्तिमत् में बाल शब्दार्थ का बालत्वरूप विशेषण के अवच्छेदकीभूत काल से अवच्छिन्न आधेयता सम्बन्ध से अन्वय होता है। अथवा यह भी कहा जा सकता है कि वृत्तिमत् के एक देश वृत्ति में बाल का बालत्वावच्छेदक कालावच्छिन्नत्व विशिष्ट निरूपितत्व सम्बन्ध से अन्वय होता है। और उक्त रीति से बाल में अन्वित वृत्तिमत् का नञ् के द्वितीय अर्थ भिन्न के एक देश भेद में प्रतियोगिता सम्बन्ध से अन्वय होता है। इस प्रकार 'युवा न बालः' का अर्थ होता है 'बालत्वावच्छेदक काल में बालवृत्ति धर्म से भिन्न धर्म का आश्रय युवा है।' इसी प्रकार 'इदानीं अयं न बालः' का अर्थ होता है 'बालत्वावच्छेदक काल में बालवृत्ति धर्म से भिन्न एतत्कालवृत्ति धर्म का आश्रय अमुक व्यक्ति।' इस प्रकार उक्त नञ् पद से युवा में बाल भेद का बोध न होकर यौवनकालीन धर्म में बाल्यकालीन धर्म के भेद का ही बोध होने से युवा में बाल्यवैधर्म्य का ही भान होता है, न कि युवा में बालभेद का ज्ञान। उक्त प्रतीति से युवा में बालभेद का भान न होकर बालवैधर्म्य का ही भान मानना युक्ति-संगत है, क्योंकि–'युवा बालात् न पृथग्' इस प्रतीति में बालावधिक पृथक्त्व के अभाव का भान होने से बाल अन्योन्याभाव का अभाव सिद्ध होता है क्योंकि जिसमें जिसकी अपेक्षा पृथक्त्व नहीं होता उसमें उस वस्तु का अन्योन्याभाव नहीं होता। न्यायाचार्य ने भी 'श्याम घट से रक्तघट विलक्षण होता है, पृथक्=भिन्न नहीं होता' यह कहकर उक्त बात का ही समर्थन किया है। इस प्रकार युवा और बाल का भेद सिद्ध न होने से दोनों में एकान्त अभेद ही है'–

[केवल वैधर्म्य का भान मानने पर आपत्ति–उत्तर]

किन्तु यह कथन ठीक नहीं है। क्योंकि युवा और बाल में वैधर्म्य मात्र ही मानने पर युवा पहले भी बाल नहीं था इस प्रतीति की आपत्ति होगी, क्योंकि बाल्यकालवच्छेदेन बाल्यवृत्ति धर्म से भिन्न प्राक्कालवृत्ति सत्त्व आदि बाल का वैधर्म्य युवा में विद्यमान है। उक्त प्रकार के वैधर्म्य का नञ् पद से बोध मानने पर श्याम घट में भी श्याम का उक्त प्रकार का वैधर्म्य सम्भव होने से 'श्यामो न श्यामः' इस प्रतीति की भी आपत्ति होगी, क्योंकि श्यामत्वकालावच्छेदेन श्याम वृत्ति से भिन्न मृद्-रूपता श्याम में विद्यमान होने से श्याम में श्याम का उक्त प्रकार का वैधर्म्य सुलभ है। दूसरी बात यह है कि युवा में बाल का भेद प्रत्यक्षसिद्ध है फिर भी यदि उक्त रीति से उसका अपलाप किया जायगा तो प्रत्यभिज्ञा से भी आस्था ऊठ जायगी, क्योंकि प्रत्यभिज्ञा के विषय में भी यह कहा जा सकता है कि वह अभेद को ग्रहण न कर साधर्म्य मात्र को ग्रहण करती है। किञ्च, प्रत्यभिज्ञा द्वारा अभेद की सिद्धि होने पर भी अभेद के साथ भेद मानने में कोई विरोध न होने से यह बताया जायगा कि प्रत्यभिज्ञा से अभेद मात्र की सिद्धि न होकर भेद–अभेद उभय की सिद्धि होती है। उक्त रीति से वास्तविकता का विचार करने पर यह निर्विवाद सिद्ध है कि वस्तु अन्वय-व्यतिरेक अर्थात् भेदाभेद उभयात्मक होने से अनेकान्तरूप ही होती है।

न चैवमनेकान्ते 'षडेव जीवनिकायाः' इति श्रद्धानवतो सम्यक्त्वभङ्गः, विभागवाक्याद् न्यूनताऽलाभेऽनेकान्तव्याघाताद् मिथ्यात्वापत्तेरिति वाच्यम्; भावतस्तेषामनेकान्तपरिज्ञान-

शून्यानामसम्यग्दृष्टित्वादेव, जीवराश्यपेक्षया तेषां कायानामपि पुद्गलतया जीव-पुद्गलप्रदेशानां च परस्पराऽविनिर्भागवृत्तितयैकत्वस्याऽश्रद्धानात् । द्रव्यत एव च 'भगवतैवमुक्तम्' इति जिनवचनरुचिस्वभावत्वेन सम्यग्दृष्टित्वात् । तदुक्तम्–[सम्मति० ३-२८]

> * णिअमेण सद्दहंतो छक्काए भावओ ण सद्दहइ ।
> हंदी अपज्जवेसु वि सद्दहणा होइ अविभत्ता ॥१॥ इति ।

[जीवनिकाय में षट्त्वनिर्धारण में मिथ्यात्व की शंका]

यदि यह शङ्का की जाय कि–"अनेकान्तवाद में 'जीवनिकाय छः ही होते हैं' इस प्रकार श्रद्धा रखने वालों के सम्यक्त्व की हानि होगी क्योंकि विभाग से न्यूनता का लाभ न होने से मिथ्यात्व की प्रसक्ति अनिवार्य है। कहने का आशय यह है कि जब किसी वस्तु का विभाग किया जाता है तब यह बोध होता है कि जितनी संख्या में विभाग किया गया, विभाज्य वस्तु की उससे न्यून या अधिक संख्या नहीं है। अतः जीवनिकाय का छः संख्या में विभाग कर देने पर उनकी भी न्यून-अतिरिक्त संख्या का अभाव बुद्धिगत होगा, जब कि अनेकान्तवाद में एकान्ततः किसी संख्याविशेष का निर्धारण मान्य नहीं है। अतः 'जीवनिकाय की छः संख्या है' इस प्रकार के श्रद्धान का असम्यक् होना अनिवार्य है।"

[भाव सम्यक्त्व और द्रव्यसम्यक्त्व का विभाग]

किन्तु यह शङ्का उचित नहीं है क्योंकि जीवनिकाय के सम्बन्ध में उक्त श्रद्धा के आश्रय व्यक्तियों को अनेकान्त का यथार्थ बोध न होने से वे सम्यग्दृष्टि से शून्य ही हैं, अतः उनमें असम्यक्त्व का आपादन इष्ट ही है। उक्त श्रद्धानधारियों के असम्यक्त्व का आधार यह भी है कि उन्हें–जीवराशि की अपेक्षा उनके पुद्गलात्मक शरीर की अपेक्षा, और जीव-पुद्गल के प्रदेशों की अविभक्त स्थिति से-कायपुद्गल और जीव के प्रदेशों में विद्यमान एकत्व का श्रद्धान नहीं है, वे द्रव्य से ही सम्यक् दृष्टि केवल इतने ही माने में हैं कि वे जो कुछ मानते हैं उसका 'भगवान ने ऐसा कहा है' यह कहकर समर्थन करते हैं क्योंकि इस प्रकार वे भगवान जिनके वचनों में स्वभावतः रुचिसम्पन्न होते हैं। जैसा कि सम्मति ग्रन्थ की गाथा में कहा गया है कि–"नियम से षट्कायों में श्रद्धा रखने वाला भी व्यक्ति वास्तव में भावतः श्रद्धाशून्य होता है, किन्तु यह विशेष बात है कि अपर्यव में भी उसकी श्रद्धा विभाजित नहीं होती।"

न चैवं तत्र सम्यग्दृष्टित्वव्यवहारेऽपि सम्यग्दर्शनप्रत्ययिकनिर्जरानापत्तिः, नय-निःक्षेपादिपरिच्छेदाधीनसकलसूत्रार्थपरिज्ञानसाध्यादिशिष्टप्रवचनरुचिस्वभाव-भावसम्यक्त्वसाध्यनिर्जरानवाप्तावपि भावसम्यक्त्वसाधकतया द्रव्यसम्यक्त्वस्वरूपव्यवस्थितेर्मार्गानुसार्यवबोधमात्रानुपक्तरुचिमात्रान्यनिर्जराऽनपायात् । इदं तु ध्येयम्–ज्ञान-दर्शन-चारित्राणां शिबिकावाहकपुरुषवद् मिलितानामेव मोक्षहेतुत्वाभिधानादगीतार्थे तदभावेन मोक्षानापत्तेः, अनेकान्तपरिच्छेदरूपस्य ज्ञानस्य

* नियमेन श्रद्दधानः षट्कायान् भावतो न श्रद्दधाति । हन्त अपर्यवेष्वपि श्रद्धानं भवत्यविभक्तम् ॥

गीतार्थे साक्षात्, अगीतार्थे च स्वाश्रयपारतन्त्र्येण हेतुत्वम् । निश्चयतस्तद्गतफले तद्गताध्यवसायस्यैव हेतुत्वेऽपि गीतार्थापेक्ष एवाऽगीतार्थस्य प्रतिक्षणविलक्षणस्तथाभूतपरिणामः, नान्यथा । प्रकाशकमपेक्ष्यैव हि प्रकाश्यः प्रकाश्य(?श)स्वभावो न त्वन्धकारमाकाशादिकं वेति । एवं चापवादिक एकाकिविहारविधिरपि गीतार्थमपेक्ष्यैव, न त्वगीतार्थम्, तस्य गीतार्थपरतन्त्रस्यैव कर्ममात्रेऽधिकारित्वादिति विवेचितमेतदध्यात्ममतपरीक्षायाम् ।

[सम्यग्दर्शनमूलक निर्जरा के अभाव की शंका का उत्तर]

यदि यह शंका की जाय कि-'उक्त श्रद्धानधारियों में जिनवचन में रुचिसम्पन्न होने के आधार पर सम्यक् दृष्टि का व्यवहार सम्भव होने पर भी उन्हें सम्यकदर्शनमूलक निर्जरा का लाभ न होगा'-तो यह ठीक नहीं है। क्योंकि, उक्त श्रद्धानधारियों को यद्यपि वह निर्जरा नहीं प्राप्त हो सकती जो नय-निक्षेप आदि निश्चय से निष्पन्न सम्पूर्ण सूत्रों के अर्थबोध, उससे साध्य प्रवचन में विशिष्ट रुचि, एतत्स्वभाववाले भाव सम्यक्त्व से उपलब्ध होती है। तथापि, द्रव्यसम्यक्त्व भावसम्यक्त्व का साधक होता है और उक्त श्रद्धानधारियों में द्रव्यसम्यक्त्व है इसलिए मार्गानुसारी अवबोध से संगत रुचि विद्यमान होने से सम्पन्न होने वाली निर्जरा का लाभ उनको होने में कोई बाधा नहीं है।

यह ध्यान देने योग्य है कि ज्ञान दर्शन और चारित्र को मिलित रूप में ठीक उसी प्रकार मोक्ष का कारण बताया गया है जिस प्रकार पालकी ढोने वाले मनुष्यों में मिलित रूप से पालकी के वहन की कारणता होती है। अतः अगीतार्थ (=सूत्रार्थ के सम्यग्बोध से शून्य अपरिपक्व) साधकों में ज्ञान-दर्शन-चारित्र का मिलित अस्तित्व न होने से उनका मोक्ष न हो सकेगा। तथापि यह कहना होगा कि अनेकान्त का निश्चयात्मक ज्ञान गीतार्थ (यानी सूत्रार्थ के सम्यग्ज्ञाता) साधक के मोक्ष का साक्षात् हेतु होता है और अगीतार्थ साधक के मोक्ष का स्वाश्रय की परतन्त्रता द्वारा हेतु होता है। अर्थात् अगीतार्थ, गीतार्थ के सहयोग से मोक्ष की प्राप्ति करता है।

[गीतार्थ के ज्ञान से अगीतार्थ को मुक्तिलाभ कैसे ?]

निश्चयनयानुसार यद्यपि फल और अध्यवसाय में सामानाधिकरण्य से ही कार्यकारणभाव है, इसलिए गीतार्थ के अनेकान्तज्ञान से अगीतार्थ को मोक्ष प्राप्त करने के विधान का औचित्य आपाततः नहीं प्रतीत होता, तथापि यह व्यवस्था मान्य है कि गीतार्थ की अपेक्षा रख करके ही अगीतार्थ में प्रतिक्षण परिणमन के क्रम से अनेकान्त ज्ञानात्मक विलक्षण स्वभाव की सिद्धि होती है, अन्यथा नहीं। अतः अगीतार्थ के सन्दर्भ में मोक्षरूप फल और अनेकान्त निश्चयरूप हेतु की उक्तरीति से एकनिष्ठता (=सामानाधिकरण्य) उपपन्न हो जाती है। क्योंकि प्रकाशक की अपेक्षा से ही प्रकाश्य वस्तु का प्रकाश स्वभाव उपपन्न होता है न कि अन्धकार और आकाश आदि की अपेक्षा से। इस प्रकार यह स्पष्ट है कि अपवादरूप में एकाकी विहार करने का आदेश गीतार्थ के लिए ही है अगीतार्थ के लिए नहीं, क्योंकि उसे गीतार्थ की अपेक्षा रख करके ही कर्ममात्र में अधिकार प्राप्त है। इस बात का विवेचन अध्यात्ममतपरीक्षा नामक ग्रन्थ में विशद रूप से किया गया है।

एवं 'गच्छति-तिष्ठति' इत्यादौ, 'दहनाद् दहनः—पचनात् पचनः' इत्यादौ, 'जीवद्रव्यमजीवद्रव्यं' चेत्यादावप्यन्वयव्यतिरेकव्याप्तिर्भावनीया, गतिस्थित्यादिपरिणतस्याप्यूर्ध्वगतिभूतल-

स्थित्याद्यपेक्षयैव गति-स्थितिमत्त्वात्, अन्यथाऽभिप्रेतदेशप्राप्ति-स्थितिवदनभिप्रेतदेशप्राप्ति-स्थित्योरपि प्रसङ्गात्, तथास्वभावसत्त्वे कारणाभावस्याऽप्रयोजकत्वात्, कारणसमाजेन तथास्वभावस्यैवाक्षेपात् अन्यथाऽतिप्रसङ्गात्। दहनादेरपि दाह्यादिपरिणामयोग्यापेक्षयैव दहनादित्वात्, अन्यथा चाऽतथात्वात्, अदहनस्याप्युदकादिद्रव्यस्य स्वयमदहनत्वेऽपि पृथिव्याद्यदहनव्यावृत्ततया कथञ्चिदतथात्वात्, समयाविरोधेन भजनाप्रवृत्तेः, जीवाऽजीवयोरपि कुम्भाद्यपेक्षया जीवापेक्षया चाऽतथात्वात्, अन्यथा सर्वस्य सर्वात्मकतापत्तेः। तदिदमाह—

[सम्मति. ३/२९-३०-३१]

*गइपरिणयं गई चेव केइ णिअमेण दविअमिच्छंति।
तं पि अ उड्ढगइअं तहा गई अण्णहा अगई ॥ १ ॥
गुणणिव्वत्तिअसण्णा एवं दहणादओ वि दट्ठव्वा।
जं तु जहा पडिसिद्धं दव्वमदव्वं तहा होइ ॥ २ ॥
कुम्भो ण जीवदविअं जीवो वि ण होइ कुंभदविअं ति।
तम्हा दो वि अदविअं अण्णोण्णविसेसिआ हुंति ॥ ३ ॥ इति।

[गति-स्थिति-दहन-पचन-जीव-अजीवादि में अनेकान्त दृष्टि]

इसी प्रकार 'गच्छति तिष्ठति' इत्यादि 'दहनात् दहनः-पचनात् पचनः' इत्यादि, एवं 'जीवद्रव्यमजीवद्रव्यं' इत्यादि में भी उक्तरीति से अन्वय और व्यतिरेक व्याप्ति की भावना करनी चाहिए। अर्थात् गति और स्थिति के होने पर गतिमत्ता और स्थितिमत्ता का अन्वय और गति-स्थिति के अभाव में गतिमत्ता और स्थितिमत्ता का व्यतिरेक आदि की अवगति करनी चाहिए, क्योंकि गति और स्थिति आदि में परिणत द्रव्य में भी ऊर्ध्वदिगवच्छिन्नगति और भूतलावच्छिन्न स्थिति आदि की अपेक्षा से ही द्रव्य ऊर्ध्वगतिमान और भूतलस्थितिमान होता है। यदि ऐसा न माना जाय तो और सर्वदिग् अपेक्षा से गति आदि माना जाय तो गति स्थिति आदि में परिणत द्रव्य की जैसे इष्टदेश में प्राप्ति और स्थिति होती है उसी प्रकार अनिष्ट देश में, जहां उस द्रव्य को न प्राप्त होना है और न स्थित होना है वहाँ भी उसकी प्राप्ति और स्थिति की आपत्ति होगी। यह नहीं कहा जा सकता कि-"गति स्थिति आदि में परिणत द्रव्य की तत्तद्दिगपेक्षा से नहीं किन्तु स्वभाव से ही इष्ट देश में प्राप्ति और स्थिति होती है।"-क्योंकि स्वभाव का आश्रय लेने पर कारण का अभाव कार्याभाव का प्रयोजक न हो सकेगा। कारणसमुदाय से ही स्वभाव विशेष की उपपत्ति माननी होगी, अन्यथा कारणसमुदाय के अभाव में भी उक्त स्वभाव के सम्भव होने से कारणसमुदाय के न रहने पर भी कार्यजन्म का अतिप्रसङ्ग होगा।

* गतिपरिणतं गत्यैव केचिद् नियमेन द्रव्यमिच्छन्ति। तदपि चोर्ध्वगतिकं तथागतेऽन्यथाऽगतेः ॥
गुणनिर्वर्तितसंज्ञा एवं दहनादयोऽपि द्रष्टव्याः। यत्तु यथा प्रतिषिद्धं द्रव्यमद्रव्यं तथा भवति ॥
कुम्भो न जीवद्रव्यं जीवोऽपि न भवति कुम्भद्रव्यमिति।
तस्माद् द्वावप्यद्रव्यमन्योन्यविशेषितौ भवतः ॥

दहन (अग्नि) आदि में भी दाह आदि परिणाम के योग्य काष्ठादि द्रव्य की अपेक्षा से ही दाहकता होती है, उसके अभाव में दाहकता नहीं होती। उदक आदि द्रव्य जो दहन से भिन्न है वह यद्यपि स्वयं ही अदहनरूप है, तथापि पृथ्वी आदि दहनभिन्न द्रव्य से व्यावृत्त होने के कारण कथञ्चित् अदहन रूप नहीं भी होता है। इस स्थिति में यह शङ्का उचित नहीं हो सकती कि– स्वयं अदहन को अन्य अदहन से भिन्न होने के कारण अदहन न होने की दशा में अदहन वर्ग में उदक आदि और पृथ्वी आदि का परिगणन उचित नहीं है'-क्योंकि स्वीकृत सिद्धान्त का विरोध न करके ही भजना-वर्गीकरण की उपपत्ति होती है।

जीव और अजीव द्रव्य भी क्रमशः कुम्भ आदि और जीव की अपेक्षा जीवभिन्न और अजीवभिन्न होते हैं, क्योंकि जीव यदि कुम्भ आदि की अपेक्षा भी जीव होगा और अजीव द्रव्य जीव की अपेक्षा भी अजीव होगा तो यह तभी सम्भव हो सकता है जब जीव और कुम्भ आदि में तथा अजीव और जीव में अभिन्नता हो और ऐसा होने पर सभी वस्तुओं में सर्वात्मकता की आपत्ति होगी। जैसा कि सम्मति सूत्र की गाथाओं में स्पष्ट कहा गया है कि–"कुछ लोग गति में परिणत द्रव्य को गति होने पर नियमेन गतिमान द्रव्य मानते हैं किन्तु वह भी गतिपरिणत द्रव्य ऊर्ध्वगतिक होने पर ऊर्ध्वगति अपेक्षा ही सम्भव होता है। क्योंकि ऊर्ध्वगति अभिमुख क्रिया होने पर ही उर्ध्व गतिमत्ता होती है अन्यथा वह नहीं होती। इस प्रकार दहन आदि द्रव्य भी दाहकता आदि गुण के द्वारा ही दहन आदि संज्ञा को प्राप्त करते हैं। जिस द्रव्य और अद्रव्य का जिस अपेक्षा से प्रतिषेध होता है उस अपेक्षा से क्रम से वह अद्रव्य और द्रव्यरूप होता है। स्पष्ट है कि कुम्भ जीवद्रव्य नहीं होता, जीव भी कुम्भद्रव्य नहीं होता, इसलिए दोनों ही परस्परापेक्षया अद्रव्य होते हैं।"

नन्वेवमजीवो जीवापेक्षया नाऽजीव इति जीवोऽपि स्यात्। नैवम्, अभावपरिणतेः परापेक्षत्वेऽपि भावपरिणतेः स्वापेक्षत्वात्। नन्वेवं जीवदेशो नाजीवो नवा संपूर्णजीव इति नोजीवः स्यात्, 'स्यादेवे'ति चेत्, कथं त्रैराशिकनिरासः स्यात्? इति चेत्? सत्यम्, एकान्तमाश्रयत एव त्रैराशिकस्य नयान्तरेण निरासात्, सैद्धान्तिकैस्तु नयमतभेदेन तथाभ्युपगमात्। तथाहि–'जीवः, नोजीवः, अजीवः, नोऽजीवः' इत्याकारिते (A) नैगमदेश-संग्रह-व्यवहार-र्जुसूत्रसाम्प्रतसमभिरूढाः (१) जीवं प्रत्यौपशमिकादिभावग्राहिणः पञ्चस्वपि गतिषु 'जीवः' इति जीवद्रव्यं प्रतियन्ति, (२) नोजीवः' इति च नोशब्दस्य a सर्वनिषेधार्थपक्षेऽजीवद्रव्यमेव, b देशनिषेधार्थपक्षे च देशस्याप्रतिषेधाज्जीवस्य देश-प्रदेशौ, (३) 'अजीवः' इति चाऽकारस्य सर्वप्रतिषेधार्थत्वात् पर्युदासाश्रयणाच्च जीवादन्यं पुद्गलद्रव्यादिकमेव, (४) 'नोअजीवः' इति च a सर्वप्रतिषेधाश्रयणे जीवद्रव्यमेव, b देशप्रतिषेधाश्रयणे चाजीवस्यैव देश-प्रदेशौ। (B) एवंभूतस्तु (१) जीवं प्रत्यौदयिकभावग्राहको 'जीवः' इत्याकारिते भवस्थमेव जीवं गृह्णाति, न तु सिद्धं, तत्र जीवनार्थानुपपत्तेः, आत्म-सत्त्वादिपदार्थोपपत्तेरात्म-सत्त्वादिरूपस्तु सोऽपि स्यादेव। (२) 'नोजीवः' इति चाजीवद्रव्यं, सिद्धं वा; (३) 'अजीवः' इति चाजीवद्रव्यमेव (४) 'नोअ-

जीवः' इति च भवस्थमेव जीवम्, देशप्रदेशौ तु न स्वीकुरुते संपूर्णवस्तुग्राहित्वादयम्। इत्यधिकं नयरहस्ये।

[अजीव जीव बन जाने की आपत्ति का निवारण]

यदि यह शङ्का की जाय–'कि–अजीव को जीव की अपेक्षा अजीव न मानने पर, अजीव जब जीव की अपेक्षा अजीव न होगा तो वह जीव भी हो जायगा। क्योंकि जो अजीव नहीं है उसका जीवात्मक होना न्याय प्राप्त है'–किन्तु यह शङ्का उचित नहीं है क्योंकि अजीव न होना अभावात्मक परिणति है, और नियम यह है कि अभावात्मक परिणति तो पर की अपेक्षा होती है किन्तु भावात्मक परिणति तो स्वयं अपनी ही अपेक्षा से होती है। अतः अजीवद्रव्य जीव की अपेक्षा अजीव न होने पर भी अजीव जीव नहीं हो सकता, क्योंकि जीव होने के लिए सहज भाव से ही जीव होना आवश्यक है।

[त्रैराशिक मत की नोजीव की मान्यता के निवारण का आशय]

इस पर यदि यह शङ्का की जाय कि–'जीव का एक देश' अजीव नहीं होता और सम्पूर्ण जीव भी नहीं होता अतः वह नोजीव हो जायगा और इस आपत्ति को स्वीकार नहीं किया जा सकता, क्योंकि इसे स्वीकार कर लेने पर त्रैराशिक का अर्थात् जीव-अजीव-नोजीव तीन राशि मानने वाले रोहगुप्त निह्नव का निराकरण नहीं हो सकेगा'–तो इसके उत्तर में टीकाकार का कहना है कि जीव के एक देश का 'नोजीव' होना ठीक ही है, ऐसा मानने पर त्रैराशिक के निराकरण की अनुपपत्ति की चिन्ता करना उचित नहीं है क्योंकि एकान्तवाद का आश्रय लेने पर ही नयान्तर से त्रैराशिक का निराकरण होता है। किन्तु सिद्धान्ती नयमत के भेद से तीन राशि को स्वीकार करते ही हैं।

[जीवादि विषय में सात नय की मान्यता]

जैसे 'जीवः नोजीवः' 'अजीवः नोअजीवः' इस प्रकार के शब्द प्रयोग में (A) नैगम, संग्रह व्यवहार, ऋजुसूत्र, साम्प्रत और समभिरूढ ये छ नय जीव के औपशमिक आदि भावों का ग्राहक होने से पांचों गतियों में (१) जीवः इस रूप में जीव द्रव्य को स्वीकार करते हैं और (२) नोजीवः इस प्रयोग में नो शब्द को a सर्वनिषेधात्मक मानने पर अजीव द्रव्य को ही ग्रहण करते हैं और b नोशब्द को देशनिषेधात्मक मानने पर, देशविशेष का प्रतिषेध न होने से जीव के देश और प्रदेश को ग्रहण करते हैं। और (३) अजीवः इस शब्द प्रयोग में अकार के सर्वप्रतिषेधात्मक होने से तथा पर्युदास का आश्रयण करने से जीव से भिन्न पुद्गल द्रव्य आदि को ग्रहण करते हैं (४) नोअजीवः इस प्रयोग में नो शब्द के a सर्वप्रतिषेधरूप अर्थ का आश्रय करने पर जीव द्रव्य का ही ग्रहण करते हैं और b देशप्रतिषेधरूप अर्थ का आश्रय करने पर अजीव के ही देश और प्रदेश को ग्रहण करते हैं (B) किन्तु एवंभूत नय जीव के औदयिक भाव का ग्राहक होने से (१) जीवः इस प्रकार के प्रयोग में भवस्थ जीव का ही ग्राहक होता है, सिद्ध जीव का ग्राहक नहीं होता, क्योंकि सिद्ध में जीवन अर्थ की उपपत्ति नहीं होती। आत्मा, सत्त्व आदि पदार्थ की उपपत्ति होने से सिद्ध आत्मा और सत्त्व आदि स्वरूप होता ही है। (२) नोजीवः इस प्रयोग में अजीव द्रव्य अथवा सिद्ध का ग्राहक होता है। और (३) अजीवः इस प्रयोग में अजीव द्रव्य का ही ग्राहक होता है। (४) नोअजीवः इस प्रयोग में भवस्थ जीव का ही ग्राहक होता है। देश और प्रदेश उसे स्वीकार नहीं है क्योंकि सम्पूर्ण वस्तु का

ही ग्राहक होता है उसके एक देश का नहीं अत: नोजीव और नोअजीव में सर्वनिषेध का ही आश्रय करता है। इससे अधिक यदि जिज्ञासा हो तो उसके लिये पू० उपा० विरचित 'नयरहस्य' ग्रन्थ (पृ०१८५) का अवलोकन करना चाहिए।

एतेन 'अन्वयादिमयत्वे वस्तुनो घटदेशो 'न घटो नाप्यघट' इत्यवक्तव्यः स्यात्' इति प्रावादुकोक्तिर्निरस्ता। घटपदस्य स्कन्धवृत्तित्वे तत्र 'अघटः' इत्येवोक्तेः, "यथा न खण्डं चक्रं सकलं चक्रम्, तथा न धर्मास्तिकायस्य प्रदेशो धर्मास्तिकायः" इति प्रवचनवचनात्। देशवृत्तित्वे च 'नोघटः' इत्येवोक्तेः, तद्देशत्वे सति तद्देशाभावस्य नोपदार्थत्वादिति। एकान्ततिमिरविलुप्तदृशां त्वत्रार्थे महानेवान्धकारः। तथाहि–प्रतीयते तावदयं तन्त्वादिर्न पटादेः पृथगिति सर्वैरविगानेन। तथा च तत्र पटावधिकपृथक्त्वाभाववद् द्रव्यत्वात् पटभेदाभावोऽप्यावश्यकः। न च तत्रान्यादृशमेवाऽपृथक्त्वं प्रतीयते, न तु पृथक्त्वाभावरूपम्, भिन्नयोर्द्रव्ययोरपृथक्त्वाऽयोगादिति वाच्यम्, तयोर्भेदसिद्धावुक्तप्रतीतौ मुख्यपृथक्त्वाभावानवगाहित्वसिद्धिः, तत्सिद्धौ च तयोर्भेदसिद्धिः, अन्यथा भेदधियस्तद्धियैव बाधनादित्यन्योन्याश्रयात्, 'न पृथग्' इति प्रतीतेः सर्वत्रैकाकारत्वेन विषयवैलक्षण्याऽयोगाच्च।

[घट के एक देश में अवक्तव्यत्व शंका का निवारण]

इस संदर्भ में कुछ वावदूक विद्वानों का यह कथन कि–'वस्तुओं को अन्वय व्यतिरेक=भेदाभेद उभयात्मक मानने पर घट का एक देश 'घट और अघट' दोनों में से एक भी न होने से अवक्तव्य हो जायेगा' स्वतः निरस्त हो जाता है। क्योंकि जब घट पद स्कन्ध में प्रयुक्त होता है तब उसे अघट ही कहा जाता है, क्योंकि प्रवचन की यह उक्ति है कि जैसे खण्ड मात्र (एक देश मात्र) चक्र सम्पूर्ण चक्र नहीं होता है, उसी प्रकार धर्मास्तिकाय का एकादि प्रदेश धर्मास्तिकाय नहीं होता। और जब घट पद देश में प्रयुक्त होता है तब 'नोघटः' यही कहा जाता है क्योंकि तद्वस्तु के एकदेशरूप होना और एकदेशरूप न होना यही नो पद का अर्थ होता है। जिन लोगों की दृष्टि एकान्तवाद के तिमिर से आक्रान्त है उनके सामने इस विषय में महान् अन्धकार ही होता है, क्योंकि सभी लोग एकमत से स्वीकार करते हैं कि पट आदि स्थल में दिखायी पड़ने वाले तन्तुआदि पट आदि से पृथक् नहीं है। तो फिर जब ऐसा है तो द्रव्यात्मक होने के कारण तन्तु में पटावधिक पृथक्त्व के अभाव का आश्रय होने से, उसे पटभेद के अभाव का आश्रय भी मानना आवश्यक है। यदि यह कहा जाय कि–'तन्तु में पट का जो अपृथक्त्व प्रतीत होता है वह पृथक्त्वाभाव रूप नहीं है किन्तु उससे भिन्न प्रकार का है, क्योंकि भिन्न दो द्रव्यों में अपृथक्त्व नहीं हो सकता'–तो यहाँ अन्योन्याश्रय दोष के कारण यह ठीक नहीं है क्योंकि तन्तु और पट मे भेद सिद्ध हो जाने पर 'पट में दीख पड़ने वाला तन्तु पट से पृथक नहीं है' इस प्रतीति में मुख्य पृथक्त्वाभाव का अवगाहन न होना सिद्ध हो सकता है, और उक्त प्रतीति में 'मुख्यपृथक्त्वाभाव का अवगाहन नहीं होता' यह सिद्ध होने पर ही उन दोनों में भेद की सिद्धि हो सकती है, क्योंकि ऐसा न मानने पर उक्त प्रतीति से ही भेदबुद्धि का बाध हो जायगा। इस लिए उक्त प्रतीति में पृथक्त्वाभाव का भान न होकर अन्य प्रकार के अपृथक्त्व का

ग्रहण होता है यह मानने में अन्योन्याश्रय है। दूसरी बात यह है कि 'न पृथक्' इस प्रकार की प्रतीति सर्वत्र एकाकार होती है। अतः उसमें विषय वैलक्षण्य नहीं माना जा सकेगा।

नन्वेवं क्षीर-नीरयोरपृथक्त्वादभेदः स्यादिति चेत् ? किं न स्यात् ? 'स्वरूपे सांकर्यादि'ति चेत् ? न, अनेकान्ते यथादर्शनं संकीर्णा–ऽसंकीर्णोभयरूपतोपपत्तेः, स्वभावभेदं विना संबन्धसंकरस्याप्यसंभवात् । यद्येवम्, अविभक्तयोः क्षीरनीरयोरपृथक्त्वमेव, तर्हि हंसचञ्चुविभक्तयोरपि तयोः पृथक्त्वं न स्यात् ? इति चेत् ? न, विभागे पृथक्त्वस्यैवोपपत्ते-र्द्रव्याऽविच्छेदेऽपि पर्यायविच्छेदात् । यदि चैवमनुभवसिद्धमपि तन्तु-पटादीनामपृथक्त्वं प्रति-क्षिप्यते, तदा घटादावपि किं मानम् ? । यश्चैतद्दोषभीतोऽवयवा–ऽवयविनोः स्वतन्त्रावेव भेदाऽभेदौ स्वीकरोति, तस्यापि पटैकदेशोऽपटः पटश्चेत्यवक्तव्यः स्यात् । तस्माद् 'न समुद्रोऽयं नाप्यसमुद्रः किन्तु समुद्रैकदेशः' इतिवत्, 'नायं पटो नाऽप्यपटः किन्तु पटैकदेशः' इति व्यव-हारनिर्वाहार्थं परस्पराऽविनिर्भागवृत्त्यन्वय-व्यतिरेकवदेव स्वीकर्तव्यमिति स्थितम् ॥३०॥

[क्षीर-नीर के अभेद की आपत्ति का प्रत्युत्तर]

यदि यह कहा जाय कि–'उक्त रीति से पृथक्त्व से भेद और अपृथक्त्व से अभेद स्वीकार करने पर क्षीर=दूध और नीर=पानी में भी अपृथक्त्व होने से उनमें अभेद की आपत्ति होगी। इस आपत्ति को स्वीकार नहीं किया जा सकता क्योंकि इसे स्वीकार करने पर दोनों के स्वरूप में सांकर्य हो जायगा, अर्थात् क्षीर नीररूप हो जायगा और नीर क्षीररूप हो जायगा।'-किन्तु यह कहना ठीक नहीं है क्योंकि अनेकान्तवाद में वस्तु के सम्बन्ध में जो मान्यता है उसके अनुसार वस्तु में संकीर्ण असंकीर्ण उभयरूपता की उपपत्ति होती है। क्योंकि वस्तुओं में यदि केवल असंकीर्णता ही मानी जायगी तो उनके स्वभाव में भेद न होने से उनमें सम्बन्ध का भी सांकर्य अर्थात् एक के साथ दूसरे का सम्बन्ध भी सम्भव न होगा। यदि यह कहा जाय कि–'अविभक्त क्षीर और नीर में अपृथक्त्व ही है तो हंस के चोंच से क्षीर और नीर का विभाग हो जाने पर भी उनमें अपृथक्त्व क्यों न होगा'- तो यह कहना ठीक नहीं है क्योंकि क्षीर और नीर के विभागकाल में उनमें पृथक्त्व की ही उत्पत्ति होती है। विभाग काल में यद्यपि उनके मूल द्रव्य में भेद नहीं होता किन्तु पर्याय में भेद होता है। उक्त प्रकार की मान्यता के सम्बन्ध में यदि यह कहा जाय कि–'तन्तु पट आदि में अपृथक्त्व को हम नहीं मानते हैं'-तो यह ठीक नहीं क्योंकि अनुभव सिद्ध होने पर भी यदि उसका प्रतिषेध किया जायगा तो घट आदि के अस्तित्व में भी कोई प्रमाण न हो सकेगा। इस दोष के भय से जो अवयव और अवयवी में स्वतन्त्रभेद और अभेद स्वीकार करते हैं उनके मत में भी पट का एक देश अपट अथवा पटरूप में अवक्तव्य हो जाता है। इसलिए यही कहना उचित होगा कि जैसे समुद्र के एक देश में यह व्यवहार होता है कि-'न तो यह समुद्र है और न असमुद्र ही है किन्तु समुद्र का एक देश है' उसी प्रकार पट के एक देश में भी 'न तो यह पट है और न अपट ही है किन्तु पट का एक देश है' इस व्यवहार की उपपत्ति के लिए यह मानना होगा कि वस्तु परस्पर में अविभक्त होकर रहने वाले अन्वय व्यतिरेक=भेदाभेद से शबल ही होती है ।।३०।।

उक्तमेव स्पष्टयन्नाह—

मूलम्—अन्वयो व्यतिरेकश्च द्रव्यपर्यायसंज्ञितौ ।
अन्योन्यव्याप्तितो भेदाभेदवृत्त्यैव वस्तु तौ ॥ ३१ ॥

अन्वयो व्यतिरेकश्चेत्येतावंशौ द्रव्य-पर्यायसंज्ञितौ–'द्रव्यं' 'पर्याय'श्चेति द्रव्य–पर्यायपदवाच्यौ । एतेन 'द्रव्यं, गुणाः, पर्यायाश्च' इति विभागः केषाञ्चिदनभिज्ञस्वयूथ्यानां परयूथ्यानां वा निरस्तः, विभिन्ननयग्राह्याभ्यां द्रव्यपर्यायत्वाभ्यामेव विभागात् । यदि च गुणोऽप्यतिरिक्तः स्यात् तदा तद्ग्रहार्थं द्रव्यार्थिक–पर्यायार्थिकवद् गुणार्थिकनयमपि भगवानुपादेक्ष्यत् , न चैवमस्ति, रूप-रस-गन्ध-स्पर्शानामर्हता तेषु तेषु सूत्रेषु "वण्णपज्जवेहिं०" इत्यादिना पर्यायसंज्ञयैव नियमनात् । 'गुण एव तत्र पर्यायशब्देनोक्त' इति चेत् ? नन्वेवं गुण–पर्यायशब्दयोरेकार्थत्वेऽपि पर्यायशब्देनैव भगवतो देशना, इति न गुणशब्देन पर्यायस्य तदतिरिक्तस्य वा गुणस्य विभागौचित्यम् । "एकगुणकालः–दशगुणकालः' इत्यादौ गुणशब्देनापि भगवतो देशनाऽस्त्येव" इति चेत् ? अस्त्येव संख्यानशास्त्रधर्मवाचकगुणशब्देन, न तु गुणार्थिकनयप्रतिपादनाभिप्रायेण । येन च रूपेण विभिन्नमूलव्याकरणि(णी)नयग्राह्यता तेनैव रूपेण विभागः, अन्यथाविभागस्य संप्रदायविरुद्धत्वात् । अत एव "गुणपर्यायवद् द्रव्यम्" इति सूत्रे गुण–पर्यायपदाभ्यां युगपद–ऽयुगपद्भाविपर्यायविशेषोपादानेऽपि न त्रैविध्येन सामान्यविभाग इति तत्त्वम् ।

[द्रव्य-गुण-पर्याय के विभाग की समीक्षा]

कारिका ३१ में पूर्व कारिका में कथित अर्थ को स्पष्ट किया है, कारिका का अर्थ इस प्रकार है–अन्वय और व्यतिरेक वस्तु के इन दोनों अंशों की क्रम से द्रव्य और पर्याय ये दो संज्ञायें हैं । अर्थात् द्रव्य और पर्याय रूप वस्तु के अंश क्रमशः 'द्रव्य' और 'पर्याय' शब्द के वाच्य हैं । इस कथन से, अपने समुदाय के अनभिज्ञों (दिगम्बरों) द्वारा और अन्य समुदाय के सदस्यों द्वारा किया गया यह विभाग कि 'वस्तु के तीन भेद हैं, द्रव्य, गुण और पर्याय,' खण्डित हो जाता है । क्योंकि विभिन्न नयों द्वारा द्रव्य और पर्याय का ही ग्रहण होता है, अतः द्रव्य और पर्याय इन दोनों श्रेणियों में ही वस्तु का विभाग उचित है । यदि गुण भी अतिरिक्त पदार्थ होता तो भगवान ने उसके ग्रहण के लिए गुणार्थिक नय का भी ठीक उसी तरह उपदेश किया होता जैसे द्रव्य के ग्रहण के लिए द्रव्यार्थिक नय का एवं पर्याय के ग्रहण के लिए पर्यायार्थिक नय का उपदेश किया है, किन्तु भगवान ने गुणार्थिक नय का उपदेश नहीं किया है. विभिन्न सूत्रों में रूप, रस, गन्ध और स्पर्श को अर्हत् भगवान ने उन उन सूत्रों में "वण्णपज्जवेहिं" इत्यादि शब्दों द्वारा पर्याय संज्ञा से ही प्रतिपादन किया है ।

उक्त प्रवचनों में पर्याय शब्द से गुण का ही कथन किया गया है', यह शंका नहीं की जा सकती क्योंकि गुण और पर्याय शब्द के समानार्थक होने पर भी भगवान ने पर्याय शब्द से ही पर्याय की देशना की है न कि गुण शब्द से देशना की है । अतः पर्याय से अतिरिक्त गुण का विभाग उचित नहीं

है। कई स्थलों में 'एकगुणकालः' 'दशगुणकालः' कहते हुए गुण शब्द से भी भगवान की देशना प्राप्त है किन्तु वहां गुण शब्द का प्रयोग संख्याशास्त्र में उक्त एक गुना, दो गुना इत्यादि धर्म के अर्थ में है न कि गुणार्थिक नय का प्रतिपादन करने की दृष्टि से गुण शब्द का प्रयोग किया गया है। विभिन्न मूल व्याकरणी अर्थात् भिन्नधर्ममूलकप्रतिपादन करने वाले नय द्वारा जिस रूप से वस्तु का ग्रहण होता है उसी रूप से विभाग मान्य है, अन्य रूप से विभाग सम्प्रदाय से विरुद्ध है [द्र० सम्मति० गाथा-३] इसीलिए 'गुण-पर्यायवत् द्रव्यम्' इस सूत्र में 'गुण और पर्याय' पद से क्रम से एक काल में होने वाले तथा काल क्रम से होने वाले पर्याय विशेष का प्रतिपादन होने पर भी द्रव्य गुण पर्याय तीन श्रेणियों में वस्तु का सामान्य विभाग नहीं किया गया है।

तदिदमाहुः—[सम्मति० ३ काण्डे—गाथा ८—१५]

* रूव-रस-गंध-फासा असमाणग्गहणलक्खणा जम्हा।
तम्हा दव्वाणुगया गुण त्ति ते केइ इच्छंति। ८ ॥
दूरे ता अण्णत्तं गुणसद्दे चेव ताव पारिच्छं।
किं पज्जवाहिओ होज्ज पज्जवे चेव गुणसण्णा ॥ ९ ॥
दो पुण नया भगवया दव्वट्ठिअ-पज्जवट्ठिआ णिअया।
एत्तो अ गुणविसेसे गुणट्ठिअणओ वि जुज्जंतो ॥ १० ॥
जं च पुण अरहया तेसु तेसु सुत्तेसु गोअमाईणं।
पज्जवसण्णा णिअमा वागरिआ तेण पज्जाया ॥ ११ ॥
परिगमणं पज्जाओ अणेगकरणं गुण त्ति तुल्लट्ठा।
तहवि न गुण त्ति भण्णइ पज्जवणयदेसणा जम्हा ॥ १२ ॥
जंपंति अत्थि समए एगगुणो दसगुणो अणंतगुणो।
रूवाईपरिणामो भण्णइ तम्हा गुणविसेसो ॥ १३ ॥
गुणसद्दमन्तरेण वि तं तु पज्जवविसेससंखाणं।
सिज्झइ, णवरं संखाणसत्थधम्मो 'तइगुणो' त्ति ॥ १४ ॥

*रूप-रस-गंध-स्पर्शा असमानग्रहणलक्षणा यस्मात्। तस्माद् द्रव्यानुगता गुणा इति ते केचिदिच्छन्ति ॥८
दूरे तावदन्यत्वं गुणशब्द एव तावत्पारीक्ष्यम्। किं पर्यवाधिको भवेत् पर्यय एव गुणसंज्ञा ॥९॥
द्वौ पुनर्नयौ भगवता द्रव्यास्तिक-पर्यायास्तिकौ नियतौ।
एताभ्यां च गुणविशेषे गुणास्तिकनयोऽपि अयोक्ष्यत् ॥१०॥
यच्च पुनरर्हता तेषु तेषु सूत्रेषु गौतमादीनाम्। पर्यवसंज्ञा नियमाद् व्याकृता तेन पर्यायाः ॥११॥
परिगमनं पर्यायोऽनेककरणं गुण इति तुल्यार्थौ। तथापि न गुण इति भण्यते पर्यवनयदेशना यस्मात् ॥१२॥
जल्पन्त्यस्ति समय एकगुणो दशगुणोऽनन्तगुणः। रूपादिपरिणामो भण्यते तस्माद् गुणविशेषः ॥१३॥
गुणशब्दमन्तरेणापि तत्तु पर्यवविशेषसंख्यानम्। सिध्यति. नवरं संख्यानशास्त्रधर्मो तातिगुण इति ॥१४॥

जह दससु दसगुणम्मि य एगम्मि दसत्तणं समं चेव ।
अहिअम्मि वि गुणसद्दे तहेव एयं पि दट्ठव्वं ॥ १५ ॥ इति ।

[सन्मतिप्रकरण में पर्याय भिन्न गुण का निरसन]

यही बात सम्मति प्रकरण की 'रूव रस गन्ध फासा' इत्यादि आठ गाथाओं में कही गयी है । जैसे-कुछ लोग ऐसा मानते हैं कि रूप, रस, गन्ध और स्पर्श ये चारों द्रव्यग्राही प्रमाण से भिन्न प्रमाण-ग्राह्य और भिन्न लक्षणवाले हैं अतः द्रव्यानुगत गुण हैं (८) । किन्तु गुण की द्रव्य से-भिन्नता दूर रहो गुण शब्द में ही परीक्षा करनी है कि पर्याय से अतिरिक्त में गुण शब्द का तात्पर्य है अथवा पर्याय में ही गुण पद का प्रयोग है ? (९) । भगवान ने द्रव्यास्तिक और पर्यायास्तिक दो ही नयों का उपदेश किया है । यदि पर्याय से भिन्न गुण का अस्तित्व मान्य होता तो गुणास्तिक नय का भी प्रयोग किया गया होता (१०) । तदुपरांत, भगवान ने गौतम आदि को विभिन्न सूत्रों में नियमतः पर्यव शब्द का उपदेश किया है अतः वे पर्यायरूप ही हैं (११) । पर्याय का अर्थ है परिगमन और गुण का अर्थ है अनेक-करण । ये दोनों ही अर्थ वास्तव में समान हैं फिर भी गुण शब्द से इन अर्थों का कथन नहीं होता क्योंकि भगवान ने इन अर्थों की पर्याय शब्द से ही देशना की है । (१२) कुछ लोग कहते हैं कि शास्त्र में एकगुण, दशगुण, अनन्तगुण श्याम इत्यादि रूप में रूपादि का प्रतिपादन किया है इससे प्रतीत होता है कि गुण पर्याय से विलक्षण है (१३) । किन्तु गुण शब्द के बिना भी पर्यायविशेष के संख्यान का वह बोधक है । 'इतना गुना है' इसमें जो गुण शब्द का प्रयोग होता है वह संख्या-शास्त्रोक्त धर्म के लिए है न कि पर्याय से भिन्न गुण नामक वस्तु के लिए है (१४) । जैसे दश संख्या में और दशगुणित एक में दशत्व समान ही होता है, गुण शब्द का प्रयोग करने से कोई अतिरिक्त अर्थ नहीं निकलता । उसी प्रकार जहां अन्यत्र भी गुण शब्द का प्रयोग है वहां भी उससे कोई अतिरिक्त (गुणात्मक) अर्थ नहीं ग्रहण किया जा सकता ॥१५॥

तौ=द्रव्य-पर्यायसंज्ञितावन्वय-व्यतिरेकौ, अन्योऽन्याप्तितो हेतोः भेदाभेदवृत्त्यैव= एकान्तभेदाभेदनियतसंबन्धव्यावृत्तया जात्यन्तरात्मिकया वृत्त्यैव, वस्तु=यथास्थितधीव्यपदेश-निबन्धनम् , अन्यथाऽन्योन्यव्याप्तत्वव्यवहारस्यैव तत्र दुर्घटत्वात् ॥३१॥

द्रव्य और पर्याय शब्द से वाच्य अन्वय और व्यतिरेक में परस्पर व्याप्ति है अर्थात् पर्याय द्रव्यानात्मक नहीं होता और द्रव्य पर्यायानात्मक नहीं होता, इसीलिए भेदाभेद वृत्ति, जो एकान्त भेद और एकान्त अभेद में नियत सम्बन्ध से भिन्न अन्य जातीय है, उसीके द्वारा वस्तु अपनी यथार्थ स्थिति के अनुसार बुद्धि और व्यवहार का निमित्त होती है । यदि द्रव्य और पर्याय में भेदाभेद सम्बन्ध न माना जायगा तो उनमें परस्पर व्याप्तता के व्यवहार की उपपत्ति न होगी ॥३१॥

एतदेव विशदतरमाह—

मूलम्—नान्योऽन्यव्याप्तिरेकान्तभेदेऽभेदे च युज्यते ।
अतिप्रसङ्गादैक्याच्च शब्दार्थानुपपत्तितः ॥ ३२ ॥

अन्योन्यव्याप्तिः=अन्योन्यव्याप्तत्वशब्दार्थः, एकान्तभेदे, अभेदे च=एकान्ताभेदे

यथा दशसु दशगुणे चैकस्मिन् दशत्वं सममेव । अधिकेऽपि गुणशब्दे तथैवैतदपि द्रष्टव्यम् ॥ १५ ॥

चेत्यर्थः 'प्रतिपाद्ययोरभ्युपगम्यमाने' इति शेषः, न युज्यते=न घटते । कुतः ? इत्याह—अति-प्रसङ्गात्=एकान्तभेदेऽन्योन्यपदार्थोपपत्तावपि व्याप्तिपदार्थानुपपत्तेः, ऐक्याच्च-एकान्ताऽभेदे व्याप्तिपदार्थोपपत्तावप्यन्योन्यपदार्थानुपपत्तेश्च, शब्दार्थानुपपत्तितः='गुण–गुणिनावन्योन्य-व्याप्तौ' इत्यादि प्रकृतवाक्यार्थानुपपत्तेः ॥ ३२ ॥

[भेदाभेद के बिना अन्योन्यव्याप्ति का असंभव]

कारिका ३२ में उक्त बात को ही और स्पष्ट किया गया है, कारिका का अर्थ इस प्रकार है–प्रतिपाद्य विषयों में एकान्तभेद अथवा एकान्त अभेद मानने पर उनमें अन्योन्य व्याप्ति अर्थात् परस्पर में एक दूसरे की व्याप्यता नहीं उपपन्न हो सकती, क्योंकि एकान्त भेद मानने पर अन्योन्य पदार्थ तो उपपन्न हो जाता है क्योंकि भेद पक्ष में दो का अस्तित्व है किन्तु व्याप्ति पदार्थ की उपपत्ति नहीं होती क्योंकि सह्याद्रि-हिमालय की तरह भिन्न वस्तुओं में एक दूसरे से व्याप्ति नहीं होती। एवं एकान्त अभेद मानने पर एक ही वस्तु होती है तो यद्यपि उसमें व्याप्ति पदार्थ उपपन्न हो सकता है, स्वयं का स्वयं से व्याप्त होना स्वाभाविक है, किन्तु तथापि अन्योन्य पदार्थ की उपपत्ति नहीं होती क्योंकि अन्योन्यता एक में न होकर दो वस्तुओं में ही होती है। अतः दोनों पक्षों में 'गुण-गुणिनौ अन्योन्यव्याप्तौ'–'गुण और गुणी एक दूसरे से व्याप्त होते हैं' इस वाक्यार्थ की उपपत्ति नहीं हो सकती। अतः उक्त वाक्यार्थ की उपपत्ति के अनुरोध से वस्तु में एकान्तभेद अथवा एकान्त अभेद नहीं माना जा सकता ।।३२।।

एतदेवान्वयमुखेनाह—

मूलम्—अन्योन्यमिति यद्भेदं व्याप्तिश्चाह विपर्ययम् ।
भेदाभेदे द्वयोस्तस्मादन्योन्यव्याप्तिसंभवः ॥ ३३ ॥

यत्=यस्मात्, 'अन्योन्यम्' इति पदं भेदमाह, तद्भिन्नतद्वृत्तित्वे सति तद्भिन्नतद्वृत्तित्वस्यान्योन्यपदार्थत्वात्, 'घट–पटावन्योन्यसंयुक्तौ' इत्यत्र 'घट–पटौ घटभिन्नपटवृत्तित्वे सति पटभिन्नघटवृत्तियः संयोगस्तद्वन्तौ' इत्यन्वयबोधदर्शनात् । व्याप्तिश्च=व्याप्तिपदं च, विपर्ययम्=अभेदम् आह, 'घटो नीलव्याप्तः' इत्यत्र 'घटो नीलाभिन्नः' इति विवरणात् । तस्माद् द्वयोर्भेदाभेद एवाभ्युपगम्यमाने अन्योन्यव्याप्तिसंभवः=अन्योन्यव्याप्तिशब्दार्थोपपत्तिः । एवं च गुण-गुण्यादिकमन्योन्यव्याप्तमिति शब्दादेव भेदाभेदसिद्धिः ॥ ३३ ॥

[अन्योन्य और व्याप्ति का अर्थ]

कारिका ३३ में उक्त अर्थ को ही अन्वय द्वारा कहा गया है. कारिका का अर्थ इस प्रकार है-अन्योन्य पद भेद का बोधक है क्योंकि एक से भिन्न दूसरे में विद्यमान होते हुए दूसरे से भिन्न एक में विद्यमान होना-अन्योन्य पद का अर्थ है। जैसे, 'घटपटौ अन्योन्यसंयुक्तौ' घट और पट अन्योन्य में संयुक्त हैं'-इस वाक्य से यह समझा जाता है कि घट और पट, घट भिन्न पट में वृत्ति और पट भिन्न घट में वृत्ति संयोग, के आश्रय हैं।

व्याप्ति पद विपर्यय यानी अभेद का बोधक होता है, जैसे, 'घटो नील-व्याप्तः-घट नील से व्याप्त है' इस वाक्य से 'घट नील से अभिन्न हैं' इस प्रकार का बोध होता है। इससे स्पष्ट है कि दो वस्तुओं में भेद और अभेद दोनों के मानने पर ही 'अन्योन्यव्याप्ति' शब्द के अर्थ की उपपत्ति होती है। इस प्रकार यह स्पष्ट है कि 'गुण-गुणी आदि अन्योन्य व्याप्त होते हैं' इस प्रयोग से ही गुण-गुणी आदि में भेद और अभेद दोनों की सिद्धि होती है।

न च 'वह्न्यालोकावन्योन्यं व्याप्तौ' इतिवदत्र परस्परं व्याप्तिप्रत्यय एव, समवायेन गुणादेस्तादात्म्येन गुण्यादिव्याप्तत्वात्, तादात्म्येन गुण्यादेश्च समवायेन गुणादिव्याप्तत्वादिति वाच्यम्, नील-घटयोरन्योन्यव्याप्तिप्रतीत्यनुपपत्तेः, क्षीरनीरादिसाधारणान्योन्यव्याप्त्यभिप्रायेणैव तथा प्रयोगाच्चेति भावः। अपि च, 'घटो न नीलरूपम्--नीलरूपं न घटात् पृथक्' इति प्रत्यक्षतोऽपि गुणगुण्यादावनुभूयेते एव भेदाऽभेदौ। न च 'नीलं न घटात् पृथक्' इत्यत्र घटावधिकपृथक्त्वाभाव एवार्थः, घटाऽवृत्तिरूपे घटाऽपृथक्त्वाप्रत्ययात्। न चात्र पृथक्पदस्याऽसमवेतत्वमर्थः, तथा च नीलं न घटासमवेतमित्यर्थ इति वाच्यम्; 'घटो न नीलात् पृथक्' इत्यस्यानुपपत्तेः घटस्य नीलाऽसमवेतत्वादेव, 'घटो घटत्वाद् न पृथक्' इत्यत्र घटत्वाऽसमवेतत्वाऽप्रसिद्धेश्च।

[भेदाभेद के विना अन्योन्यव्याप्ति सम्भावना का निरसन]

यदि यह कहा जाय कि-"जैसे 'वह्न्यालोकौ अन्योन्यव्याप्तौ=वह्नि और आलोक एक दूसरे से व्याप्त हैं' यहाँ वह्नि (अग्नि) और आलोक में अभेद होने पर उनमें एक दूसरे की व्याप्ति होती है अर्थात् जहाँ वह्नि का आलोक होता है वहाँ वह्नि होता है और जहाँ वह्नि होता है वहाँ वह्नि का आलोक होता है इस प्रकार इन दोनों में व्याप्ति होती है। उसी प्रकार गुण और गुणी में अभेद न होने पर भी समवाय और तादात्म्य सम्बन्ध से दोनों में व्याप्ति हो सकती है जैसे, समवाय सम्बन्ध से जहाँ गुण है वहाँ तादात्म्य सम्बन्ध से गुणी है एवं तादात्म्य सम्बन्ध से जहाँ गुणी है वहाँ समवाय सम्बन्ध से गुण है। इस प्रकार गुणी और गुण में एकान्त भेद पक्ष में भी परस्पर व्याप्ति हो सकती है"-

तो यह कहना ठीक नहीं है। क्योंकि एकान्तभेद में ही अन्योन्यव्याप्ति मानने पर नील और घट में अन्योन्यव्याप्ति की प्रतीति नहीं हो सकती, क्योंकि नील और घट में एकान्त भेद नहीं है, अन्यथा 'नीलो घटः' इस प्रकार का प्रयोग नहीं हो सकता। और दूसरी बात यह है कि क्षीर और नीर आदि में जिस प्रकार की अन्योन्यव्याप्ति है उस प्रकार अन्योन्यव्याप्ति के अभिप्राय से ही गुण और गुणी में अन्योन्यव्याप्ति का व्यवहार होता है। दूसरी बात यह है कि 'घटो न नीलरूपं=घट नील रूप से भिन्न है'। नीलरूपं न घटात् पृथक्=नीलरूप घट से पृथक्-भिन्न नहीं है' इस प्रत्यक्ष प्रतीति से भी गुण और गुणी में भेदाभेद का अनुभव होता है। यदि यह कहा जाय कि -'नीलं न घटात् पृथक्' इस वाक्य से नीलरूप में घटावधिक पृथक्त्व के अभाव की ही प्रतीति होती है'-तो यह ठीक नहीं है। क्योंकि घट में अविद्यमान रूप में घटावधिक पृथक्त्व के अभाव की प्रतीति नहीं होती।

[पृथक् शब्द का समवेतत्व अर्थ नहीं]

यदि यह कहा जाय कि 'पृथक् पद का अर्थ है असमवेतत्व । अतः 'नीलं न घटात् पृथक्' से नीलरूप घट में असमवेत नहीं है यह बोध होता है'–तो यह ठीक नहीं है क्योंकि ऐसा मानने पर 'घटो न नीलात् पृथक्=घट नील से पृथक् नहीं है'–इस प्रतीति की उपपत्ति नहीं होगी, क्योंकि पृथक्त्व का असमवेतत्व अर्थ मानने पर घट में नीलासमवेतत्वरूप नीलपृथक्त्व के रहने से घट में उसके अभाव की प्रतीति नहीं हो सकती और दूसरी बात यह है कि यदि पृथक्त्व को असमवेतत्व रूप माना जायगा तो 'घटो घटत्वात् न पृथक्-घट घटत्व से पृथक् नहीं है' इस वाक्यार्थ की अनुपपत्ति हो जायगी । क्योंकि पृथक्त्व के असमवेतत्व रूप होने में 'घटत्वात् न पृथक्' का अर्थ होगा घटत्वसमवेतत्वाभावाभाव का आश्रय, जो घटत्व में किसी वस्तु के समवेत न होने से घटत्वसमवेतत्व की असिद्धि होने के कारण असम्भव है ।

किञ्च, 'घटो घटाद् न पृथक्' इत्यत्राभेदरूपमपृथक्त्वं प्रतीयते, इत्यन्यत्रापि तदेव । न हि पृथक्त्वं भेदादतिरिच्यते, 'घटः पटात् पृथक्' इत्यस्य 'पटाद् भिन्नः' इतिविवरणात्, पृथगादिपदयोगे पञ्चम्या आनुशासनिकत्वादेव 'घटान्न' इत्यादेरसंभवात् । तदेव चाऽपृथक्त्वं तादात्म्यमिति गीयते यत् प्रत्यभिज्ञानादिनियामकम् । अत एव पाकरक्ते घटे 'अयं न श्यामः' इति 'श्यामाद् न पृथक्' इति चोपपद्यते, अन्यत्वरूपभेदस्य पृथक्त्वरूपभेदाभावस्य चान्योन्यानुविद्धस्योपपत्तेः । न हि 'पृथक्त्वमन्यत्वमेव' इति नव्यनैयायिकानामिवास्माकमेकान्ताभ्युपगमः, येनानुपपत्तिः स्यात् । न च तेषामप्यत्र 'न पृथक्' इत्यस्य 'तत्तद्व्यक्तित्वावच्छिन्नभेदाभाववान्' इत्यर्थाद् नानुपपत्तिरिति वाच्यम्, सामान्यसंशयाऽनिवृत्तेः, श्यामपदस्य लक्षणां विनापि यथाश्रुतार्थप्रतिसंधानाच्च ।

[पृथक्त्व से अतिरिक्त भेद असिद्ध है]

दूसरी बात यह है कि 'घट घट से पृथक् नहीं है' इस वाक्य से घट में घटाभेद रूप घट के अपृथक्त्व की प्रतीति होती है । अतः अन्यत्र भी 'पृथक् नहीं है' इस शब्द से अभेदरूप अपृथक्त्व का ही बोध मानना उचित है क्योंकि पृथक्त्व भेद से भिन्न नहीं है यह बात 'घट पट से पृथक् है' इस वाक्य के 'घट पट से भिन्न है' इस विवरण से सिद्ध होती है । यदि पृथक्त्व भेद से भिन्न होता तो पृथक् शब्द का भिन्न शब्द से विवरण न होता । ऐसा मानने पर यह शङ्का नहीं की जा सकती कि पृथक् पद और नञ् को एकार्थक मानने पर जैसे पृथक् पद के योग में पञ्चमी होने से 'घटात् पृथक्' यह प्रयोग होता है उसी प्रकार नञ् पद के योग में भी पञ्चमी सम्भव होने से 'घटात् न' इस प्रयोग की आपत्ति होगी'-क्योंकि पृथक् आदि पद के योग में ही पञ्चमी का अनुशासन है, न कि उनके समानार्थक पद के भी योग में, अतः उक्त शङ्का उचित नहीं है ।

[अपृथक्त्व ही प्रत्यभिज्ञानादिनियामक तादात्म्य है]

'न पृथक्' शब्द से जिस अपृथक्त्व का बोध होता है उसे तादात्म्य कहा जाता है और वही प्रत्यभिज्ञा आदि का नियामक है । इसीलिए पाक द्वारा रक्त घट में 'अयं न श्यामः' और 'अयं श्यामात्

न पृथक्' इन दोनों प्रतीतियों की उपपत्ति होती है। अन्यत्वरूप भेद और पृथक्त्वरूप भेदाभाव एक दूसरे से अनुविद्ध होकर ही उपपन्न होते हैं। नव्य नैयायिकों के समान हम जैनों की यह एकान्त मान्यता नहीं है कि पृथक्त्व अन्यत्व रूप ही है, अतएव जैन मत में उक्त दोनों प्रतीतियों की अनुपपत्ति की सम्भावना नहीं है। यदि यह कहा जाय कि 'नव्य नैयायिकों के मत में भी 'न पृथक्' शब्द का 'तत्तद्-व्यक्तित्वावच्छिन्न प्रतियोगिताक भेदाभाववान् तत्तद्व्यक्ति के भेदकूटाभाव का आश्रय' अर्थ होने से 'रक्तो घटः श्यामात् न पृथक्' इस प्रतोति की अनुपपत्ति नहीं हो सकती, क्योंकि श्यामरूप और रक्तरूप के आश्रयभूत घट व्यक्ति के एक होने से रक्त घट में श्यामघट व्यक्ति का भेद न होने के कारण श्यामघटव्यक्ति के भेद का अभाव है"-तो यह ठीक नहीं है। क्योंकि 'श्यामात् न पृथक्' शब्द से 'श्यामघटव्यक्तेः न पृथक्' इस बोध से 'रक्तघटः श्यामात् पृथक् न वा' इस सामान्य संशय की निवृत्ति नहीं हो सकती। इसकी निवृत्ति तो श्याम से पृथक्त्वाभाव अर्थात् श्याममेदाभाव के बोध से ही हो सकती है, जो नव्यन्याय के मत में सम्भव नहीं है, और दूसरी बात यह है कि यदि 'श्यामात् न पृथक्' इस वाक्य से तद्व्यक्तित्व रूप से श्याम के भेद के अभाव का बोध माना जायगा तो यह तद्व्यक्ति में 'श्याम' पद की लक्षणा के बिना नहीं हो सकेगा, जब कि उसके बिना भी 'श्यामात् न पृथक्' इस वाक्य से यथाश्रुत अर्थ का बोध होता है।

एतेन 'भेदाऽभेदयोरेकदैकत्र विरोध एव। न च भेदोऽन्योन्याभाव एव, अभेदस्तु तादात्म्यमिति न विरोधः, तादात्म्यस्याऽभेदव्यवहारे हेतुत्वात्' इति गङ्गेशाकूतं निरस्तम्; तादात्म्येनापि प्रकृते 'न पृथक्' इत्यभेदाभिलापरूपस्याभेदव्यवहारस्य जननादेवः 'प्रमेयमभिधेयम्' इत्यादावपि प्रमेयसामान्येऽभिधेयभेदस्तोमाभावविवक्षायां तदभेदव्यवहारोपपत्तेः, वने वनाभेदव्यवहारवत्। न चेदेवम्, प्रमेया-ऽभिधेययोस्तादात्म्यमपि दुर्घटं स्यात्, भेदाभेदविकल्पग्रासात्। 'अभिधेयतादात्म्यमभिधेयत्वमेव, अभिधेयवत् इत्यादिधियां विशेषश्च तत्र तादात्म्यस्यासंसर्गत्वात्, स्वरूपसंबन्धस्यैव संसर्गत्वादि'ति तु तुच्छम्, अभिधेयत्वा-ऽभिधेयस्वरूपाऽविशेषात्।

[एक वस्तु में भेद-अभेद के विरोध का निरसन]

प्रस्तुत सम्बन्ध में गङ्गेश का यह अभिप्राय है कि एक काल में एक वस्तु में भेद और अभेद का विरोध ही है, जो वस्तु जिस समय जिससे भिन्न है वह वस्तु उसी समय उससे अभिन्न नहीं हो सकती। "भेद अन्योन्याभावरूप है और अभेद भेद का अभाव न होकर तादात्म्य रूप है, अतः अन्योन्याभावात्मक भेद और तादात्म्य रूप अभेद में कोई विरोध नहीं है" यह नहीं कहा जा सकता है, क्योंकि तादात्म्य अभेद व्यवहार का हेतु नहीं होता, अतः भेद और तादात्म्य को लेकर वस्तु में भेदाभेदव्यवहार का समर्थन नहीं किया जा सकता'-किन्तु यह गंगेश का अभिप्राय उक्त रीति से वस्तु में भेदाभेद का उपपादन शक्य होने से निरस्त हो जाता है। और 'तादात्म्य अभेद व्यवहार का हेतु नहीं है' गङ्गेश का यह कथन भी निराकृत हो जाता है क्योंकि जिस वस्तु में जिसका तादात्म्य होता है उस वस्तु में उस वस्तु के अभेद का भी 'यह इससे पृथक् नहीं है' इस रूप में व्यवहार निर्विवाद है। यह भी स्पष्ट है कि प्रमेयमभिधेयम्' इस प्रकार प्रमेय में अभिधेय का अभेद व्यवहार होता

है और यह अभेद अभिधेय व्यक्ति जितने हैं उन सभी व्यक्तियों के भेदसमुदाय के अभाव रूप है। यह अभेद अभिधेय के भेदसामान्याभाव रूप नहीं है, क्योंकि अभिधेयत्व केवलान्वयी होने से अभिधेय भेद अप्रसिद्ध होने के कारण अभिधेय-भेदाभाव अप्रसिद्ध है। अतः तत्तत् अभिधेय व्यक्ति के भेदकूट के अभाव रूप तादात्म्य से ही प्रमेय में अभिधेय के अभेद व्यवहार की उपपत्ति मान्य है।

प्रमेय में अभिधेय का यह अभेदव्यवहार ठीक उसी प्रकार है जैसे वन में वनाभेद का व्यवहार होता है। आशय यह है कि वन का अर्थ होता है 'वृक्षों का समूह' समूह का भेद एक-एक वृक्ष में रहने से वृक्ष समुदाय स्वरूप वन में वन का भेद रहने के कारण वन में वनभेद के अभाव रूप अभेद का अस्तित्व नहीं माना जा सकता। अत एव यही मानना होता है कि वनाभेद का अर्थ है एक-एक वृक्ष व्यक्ति के भेद समुदाय का अभाव। यह अभाव वन में रह सकता है, क्योंकि वृक्ष व्यक्तियों का भेदकूट किसी भी वृक्ष में न रहने से वृक्ष समुदायात्मक वन में भी नहीं रह सकता। अतः वन में वृक्ष व्यक्ति के भेदकूट का अभाव रूप वनाभेद का होना निष्कंटक है।

[भेदाभेद के बिना प्रमेय-अभिधेय का तादात्म्य दुर्घट]

यदि ऐसा न माना जायगा तो प्रमेय और अभिधेय का तादात्म्य भी अनुपपन्न हो जायगा, क्योंकि प्रमेय में अभिधेय का अत्यन्त भेद और अत्यन्त अभेद, दोनों ही विकल्पों में प्रमेय में अभिधेय का तादात्म्य नहीं बन सकता, क्योंकि जिसमें जिस वस्तु का अत्यन्त भेद होता है उसमें उस वस्तु का तादात्म्य नहीं होता है, जैसे घट और पट में। एवं जिस वस्तु का जिसमें अत्यन्त अभेद होता है उसमें भी उस वस्तु का तादात्म्य नहीं होता, इसीलिए 'घटो घटः' यह प्रयोग नहीं होता। "अभिधेयत्व ही अभिधेय का तादात्म्य है तथा 'प्रमेयमभिधेयम्' इस बुद्धि में प्रमेयमभिधेयवत् इस बुद्धि का वैलक्षण्य है क्योंकि 'प्रमेयमभिधेयम्' इस बुद्धि में तादात्म्य संसर्ग है और 'प्रमेयमभिधेयवत्' इस बुद्धि में तादात्म्य संसर्ग नहीं है, किन्तु स्वरूप सम्बन्ध ही संसर्ग है" यह कहना भी ठीक नहीं है, क्योंकि अभिधेयत्व और अभिधेय के स्वरूप में कोई भेद नहीं है, अतः अभिधेयत्व को 'अभिधेय के तादात्म्यरूप मानने पर उक्त बुद्धियों में वैलक्षण्य नहीं हो सकता।

एतेन 'तादात्म्यत्वादिना संसर्गतादिना विशेषः' इत्यपि **निरस्तम्**। अतिरिक्तमेव तादात्म्यत्वम्, इत्थमेव 'भूतलं संयोगि–भूतलं संयोगिमत्' इति ज्ञानयोर्वैलक्षण्यम्' आद्ये तादात्म्यत्वेन, अन्त्ये संयोगत्वादिना संयोगादेः प्रकारतावच्छेदकत्वस्वीकारात्। "तादात्म्यमेव वाधिकम्, तत्तत्तादात्म्यत्वस्य तद्वृत्तिनानागुणादौ कल्पने, तत्र कारणतावच्छेदकत्वादिकल्पने च गौरवात्।" इत्यपि **न पेशलम्**, अतिरिक्ततादात्म्यसंबन्धानुपपत्तेः, शबलवस्तुविशेषं विना धीविशेषानुपपत्तेः संयोगि-संयोगिमतोरेव कथञ्चिद्विशेषानुभवाच्चेति दिग्।

[भिन्न भिन्न संसर्ग की कल्पना अयुक्त]

यह कहना कि "अभिधेयत्व और अभिधेय स्वरूप में स्वरूपतः भेद न होने पर भी यह भेद माना जा सकता है कि 'प्रमेयमभिधेयम्' इस प्रतीति में अभिधेयत्व तादात्म्यत्व रूप से सम्बन्ध होता है और 'प्रमेयमभिधेयवत्' इस प्रतीति में अभिधेयत्व स्वरूपत्व रूप से संसर्ग होता है"—निरस्त हो जाता है। क्योंकि तादात्म्यत्व अतिरिक्त ही है। इसी प्रकार 'भूतलं संयोगि' और 'भूतलं संयोगि-

सत्' इन दोनों में भी वैलक्षण्य सिद्ध होता है। पहले ज्ञान में संयोग तादात्म्यत्व रूप से और दूसरे में संयोगत्व रूप से प्रकारतावच्छेदक होता है। "अथवा यह कहा जा सकता है कि तादात्म्य अतिरिक्त ही है, क्योंकि तत्तद् वस्तु का तादात्म्यत्व यदि तत्तद्वस्तु में विद्यमान गुण आदि विभिन्न पदार्थों में माना जायगा तो जहाँ तादात्म्य सम्बन्ध कारणतावच्छेदक होता है वहाँ कारणवृत्ति गुण आदि भिन्न पदार्थों में कारणतावच्छेदकत्व की कल्पना होने से गौरव होगा।" यह कथन भी समीचीन नहीं है क्योंकि अतिरिक्त तादात्म्य सम्बन्ध की कल्पना अनुपपन्न है। शबल वस्तु विशेष को स्वीकार किए बिना उसकी बुद्धियों में विशेष की उपपत्ति नहीं हो सकती, तथा संयोगी और संयोगिवान् में ही कथञ्चित् विशेष का अनुभव होता है।

किञ्च, अत्यन्तभिन्ना-ऽभिन्नाभ्यां व्यावृत्तं सामानाधिकरण्यमपि भेदाभेदे प्रमाणम्, भेदाभेदोभयत्वेन साध्यत्वे साध्याऽप्रसिद्धेरभावात्। साध्यतावच्छेदकावच्छिन्नस्य हि प्रसिद्धिरपेक्षिता, न ह्येकत्र तत्प्रसिद्धिरपि, गौरवात्, घटे घटत्वसत्त्वोभयानुमित्युच्छेदप्रसङ्गाच्च। एतेन 'एकान्तभेदाभेदान्यतराभावस्य भेदविशिष्टाभेदस्य वा साध्यतायां साध्याऽप्रसिद्धिः, प्रत्येकं साध्यतायां चासाधारण्यम्' इति **निरस्तम्**। न चोभयत्वमप्येकविशिष्टापरत्वमेवेत्युक्तदोषानतिवृत्तिरेवेति **वाच्यम्**, अविशिष्टयोरपि गोत्वा-ऽश्वत्वयोरुभयत्वप्रत्ययात्। न चैवं स्वतन्त्रभेदाभेदोभयसिद्धावपि मिलिततदुभयासिद्धयोद्देश्यासिद्धेरर्थान्तरत्वम्, अन्तर्मुखव्याप्त्या मिलितत्वसिद्धेः; अन्यथा पर्वते वह्निसामान्यसिद्धावपि पर्वतीयवह्नेरसिद्धप्रसङ्गात्। इत्यन्यत्र विस्तरः।

[समानविभक्तिवाले पदों के प्रयोग से भेदाभेद की सिद्धि]

सामानाधिकरण्य यानी समानविभक्ति वाले पदों का प्रयोग भी भेदाभेद में प्रमाण है, क्योंकि यह अत्यन्त भिन्न और अत्यन्त अभिन्न में नहीं होता, जैसे 'घट: पट:' ऐसा प्रयोग एवं 'घटो घट:' ऐसा प्रयोग मान्य नहीं है। किन्तु 'नीलो घट:' इस प्रकार नील घट का सामानाधिकरण्य मान्य है। इससे सिद्ध होता है कि नील और घट में भेदाभेद है अन्यथा 'घट: पट:' और 'घटो घट:' के समान 'नीलो घट:' प्रयोग भी न होता। उक्त सामानाधिकरण्य भेदाभेद में अनुमान के रूप में प्रमाण है, जिसका प्रयोग इस प्रकार हो सकता है कि 'घट नील से भिन्नाभिन्न है क्योंकि नील पद के समानविभक्ति वाले पद से व्यवहृत होता है। जो जिससे भिन्नाभिन्न नहीं होता वह उसके बोधक पद के समानविभक्तिवाले पद से व्यवहृत नहीं होता जैसे घट पद के समानविभक्तिवाले पद से व्यवहृत होने वाला पट और घट।'

यदि यह कहा जाय कि 'नील का भेदाभेद इस अनुमान प्रयोग के पूर्व सिद्ध नहीं है अत: नील के भेदाभेद का साध्य के रूप में प्रयोग करने पर साध्याऽप्रसिद्धि होगी'–ठीक नहीं है, क्योंकि नीलभेद और नीलाभेद उभयरूप से नील के भेदाभेद को साध्य करने पर साध्याऽप्रसिद्धि नहीं हो सकती, क्योंकि नील का भेद और नील का अभेद दोनों अलग-अलग प्रसिद्ध है। अत: साध्याऽप्रसिद्धि दोष नहीं हो सकता, क्योंकि साध्यतावच्छेदकावच्छिन्न की ही प्रसिद्धि अपेक्षित होती है न कि उसकी एक अधिकरण में प्रसिद्धि अपेक्षित होती है, क्योंकि वैसा मानने पर गौरव होता है। और दूसरी बात यह है कि यदि एक अधिकरण में साध्यतावच्छेदकावच्छिन्न की प्रसिद्धि अनुमान के लिए अपेक्षित

मानी जायगी तो घटत्व और सत्ता उभय की अनुमिति का उच्छेद हो जायगा, क्योंकि घटत्व और सत्ता उभय की अनुमिति उसी धर्मी में होगी जिसमें दोनों का अस्तित्व हो, और ऐसा व्यक्ति उन दोनों की अनुमिति के पूर्व असिद्ध है।

[साध्य अप्रसिद्धि दोष का निवारण]

भेदाभेद के अनुमान के सम्बन्ध में भेदाभेद को उक्त रूप से साध्य मान लेने पर यह कहना भी कि-"भेदाभेद यदि एकान्तभेद और एकान्त अभेद के अन्यतर के अभाव रूप में साध्य होगा अथवा भेद विशिष्ट अभेद के रूप में साध्य होगा तो दोनों ही दशा में साध्य की अप्रसिद्धि होगी, क्योंकि वस्तु में किसी न किसी का एकान्तभेद अथवा एकान्त अभेद होता ही है और भेदाभेद के एक-निष्ठ सिद्ध होने के पूर्व भेद विशिष्ट अभेद सम्भव नहीं है। यदि भेद-अभेद प्रत्येक को साध्य माना जायगा तो उसका साधक हेतु असाधारण हो जायगा क्योंकि प्रत्येक को साध्य मानने का अर्थ होगा साध्य कहीं सिद्ध नहीं है। फलतः हेतु के पक्षमात्र वृत्ति होने से उसका असाधारण होना अनिवार्य है"-यह निरस्त हो जाता है।

[उभयत्व रूप से साध्य करने पर कोई दोष नहीं]

यदि यह शङ्का की जाय कि भेदाभेद को भेदाभेदोभयत्व रूप से साध्य मानने पर भी साध्याऽ-प्रसिद्धि दोष की निवृत्ति नहीं होगी क्योंकि उभयत्व एकविशिष्टापरत्व रूप होने से भेदाभेदोभयत्व भी भेदविशिष्टअभेदत्व रूप होगा, और वह एकनिष्ठ भेदाभेद की सिद्धि के पूर्व असिद्ध है।'-तो यह उचित नहीं है क्योंकि जिन वस्तुओं में परस्पर वैशिष्ट्य नहीं होता उन वस्तुओं में भी उभयत्व की प्रतीति होती है जैसे गोत्व और अश्वत्व में। अतः उभयत्व को एकविशिष्टापरत्व रूप न मान कर संख्या रूप किं वा बुद्धिविशेषविषयत्व रूप ही मानना होगा।

[अर्थान्तर की आपत्ति का निवारण]

यदि यह कहा जाय कि-'भेदाभेद को उभयत्वरूप से साध्य मानने पर स्वतन्त्र रूप से भेद और अभेद की सिद्धि होने पर भी भेदमिलितअभेद किंवा अभेद मिलितभेद की सिद्धि न होने से उद्देश्य की सिद्धि न होने के कारण अर्थान्तर होगा'-तो यह ठीक नहीं है। क्योंकि अन्तर्मुख व्याप्ति से भेद-अभेद में परस्पर मिलितत्व की सिद्धि हो जायगी। अन्यथा अन्तर्मुखव्याप्ति की उपेक्षा करने पर धूम हेतु से पर्वत में वह्निसामान्य की सिद्धि होने पर भी पर्वतीय वह्नि की सिद्धि न हो सकेगी। कहने का आशय यह है कि जैसे पाकशाला आदि में 'यत्र यत्र धूमः तत्र तत्र वह्निः' इस दृष्ट बहिर्मुख-व्याप्ति से धूम सामान्य से वह्निसामान्य का अनुमान होता है उसी प्रकार-'यत्र पर्वतीयो धूमः तत्र पर्वतीयो वह्निः' इस 'पक्ष में दर्शनयोग्य अन्तर्मुख व्याप्ति' से पर्वतीय धूम से पर्वतीय वह्नि की सिद्धि भी होती है। उसी प्रकार बहिर्मुखव्याप्ति से स्वतन्त्र रूप से भेद-अभेद उभय की सिद्धि के समान अन्तर्मुखव्याप्ति से भेदमिलित अभेद की भी सिद्धि हो सकती है। इस विषय का और विस्तार अन्यत्र द्रष्टव्य है।

न च व्यतिरेकव्याप्तौ व्याप्याऽप्रसिद्धिः, प्रतियोगिमति तदभावाऽयोगादिति वाच्यम्; तेन रूपेण प्रतियोगिमति तेन रूपेण तदभावस्यैवाऽयोगात्। एतेन 'तत्रैव तद्-तदभावौ विना-

वच्छेदेन वर्तेते, ज्ञायेते च; यथा वृक्षे मूलशाखाद्यवच्छेदेन संयोग-तदभावौ, तदिह घटे घटत्वावच्छेदेन नीलत्वावच्छिन्नभेदो वर्तताम्, ज्ञायतां वा, तदभावस्तु किमवच्छेदेन ? इति निरस्तम्, अन्योन्यव्याप्तयोस्तयोर्देशभेदेनाऽनुपपत्तावपि द्रव्यार्थता-पर्यायार्थतारूपभेदेनोपपत्तेः, यथेदत्व-द्वित्वाभ्यामेकत्व-द्वित्वयोः । विचित्ररूपत्वाच्च वस्तुनो नयभेदेन विचित्रा प्रतीतिः, यथा शाखावच्छेदेन संयोगः, तदभावश्च मूलादिनानावच्छेदेन; तथा घटे नीलभेदोऽपि घटत्वावच्छेदेन, तदभावस्तु तत्तद्व्यक्तित्वादिनानावच्छेदेन । 'एकप्रतियोगितावच्छेदकावच्छिन्नभेद-तदभावयोर्विरुद्धाधिकरणतावच्छेदकावच्छेदेन वृत्तित्वनियमस्त्वसिद्धः, विरुद्धत्वस्थले विभिन्नत्वस्यैव लाघवेन निवेशौचित्यात्' इत्यपि नयविशेषानुरुद्धं शुद्धमनुजानीमः ।

[व्यतिरेक व्याप्ति में व्याप्याप्रसिद्धि दोष का निवारण]

यदि यह कहा जाय कि "व्यतिरेकव्याप्ति में व्याप्य की प्रसिद्धि नहीं होगी, क्योंकि प्रतियोगी के आश्रय में उसका अभाव नहीं होता। कहने का आशय यह है कि साधन में साध्य की व्याप्ति तभी ज्ञात होती है जब दोनों कहीं एकत्र दृष्ट हो, जैसे पाकशाला में वह्नि और धूम एक साथ दृष्ट होने से वह्निव्याप्य धूम की प्रसिद्धि होती है, किन्तु जो साध्य और साधन कहीं एकत्र दृष्ट नहीं होते उनमें व्याप्तिग्रह नहीं हो सकता। अत: नील के भेद-अभेद उभय को साध्य करने पर उक्त उभय कहीं एकत्र दृष्ट न होने से सामानाधिकरण्य में उसकी व्याप्ति की सिद्धि नहीं हो सकती, क्योंकि साध्यव्यतिरेक में साधनव्यतिरेक का व्याप्तिग्रह जिन अधिकरणों में होता है उनमें 'साध्य और साधन का अस्तित्व नहीं होता"- तो यह ठीक नहीं है क्योंकि जिस रूप से जहाँ प्रतियोगी रहता है वहाँ उस रूप से ही उसका अभाव नहीं होता, रूपान्तर से उसका अभाव होने में कोई बाधा नहीं होती, अत: नील भेद जिस रूप से जहाँ है उस रूप से वहाँ नील का अभेद न होने पर भी अन्य रूप से उसका अभेद रह सकता है ।

[द्रव्य-पर्यायात्मना भेदाभेद का उपपादन]

इस सन्दर्भ में कुछ लोगों का यह कहना है कि एक ही अधिकरण में प्रतियोगी और अभाव भिन्न-भिन्न अवच्छेदक द्वारा रह सकते है और ज्ञात हो सकते हैं। जैसे एक ही वृक्ष में शाखा में संयोग और मूल में संयोगाभाव रहता है और ज्ञात होता है । अतः घट में घटत्वावच्छेदेन नील का भेद रह सकता है और ज्ञात हो सकता है किन्तु अन्य अवच्छेदक न होने से उसमें नील-भेदाभाव नहीं रह सकता है और न ज्ञात हो सकता है।' किन्तु यह कहना अनायास खण्डित हो जाता है, क्योंकि नील भेद और नीलाभेद परस्पर व्याप्त होते हैं। अतः देशभेद से उनका अस्तित्व न होने पर भी द्रव्यार्थता और पर्यायार्थता रूप के भेद से उन दोनों की उपपत्ति हो सकती है, अर्थात् द्रव्यात्मना नील का अभेद और पर्यायात्मना नील का भेद दोनों एक साथ रह सकते हैं। यह ठीक उसी प्रकार है जैसे एकत्व और द्वित्व, इदन्त्व और द्वित्व रूप से एक ही में 'अयमेकः-इमौ द्वौ' इस रूप में रहते हैं और प्रतीत होते हैं। सच तो यह है कि वस्तु का रूप विचित्र है, नय भेद से उसकी विचित्रता प्रतीत होती है जैसे, वृक्ष में शाखावच्छेदेन संयोग और मूल अन्तदेश आदि विभिन्न देशावच्छेदेन संयोग का अभाव रहता है उसी प्रकार घट में घटत्वावच्छेदेन नील भेद और घटनिष्ठ तत्तद्व्यक्तित्व आदि

विभिन्न धर्मावच्छेदेन नील भेद का अभाव रह सकता है, क्योंकि 'तद्धर्मावच्छिन्न प्रतियोगिताक भेद और उसका अभाव विरुद्ध अधिकरणतावच्छेदक द्वारा ही रहते हैं' यह नियम असिद्ध है। यहाँ विरुद्ध अधिकरणतावच्छेदक द्वारा ऐसा न कह कर विभिन्न अधिकरणतावच्छेदक द्वारा कहने मे लाघव है। यह बात भी नयविशेष के अनुरूप होने से शुद्ध है अतः हम उसे मान्यता प्रदान करते हैं।

अपि च, 'नील-घटयोरभेदः' इत्यादिप्रयोग एव भेदाभेदाभ्युपगमं विना न सुघटः, चार्थे द्वन्द्वानुशासनात्, भेदस्य च चार्थत्वात्। अथ द्वन्द्वे न भेदस्य संसर्गतया प्रकारतया वा भानम्, द्वन्द्वस्य परस्परानन्वितपदार्थबोधकत्वात्। "चैत्र-चैत्रपुत्रौ' इत्यादौ द्वितीयस्यैव चैत्र-पदस्य स्वार्थसंसर्गधीजनकत्वात्, नामार्थयोर्भेदेनाऽनन्वयात्, द्वयोः प्राधान्यानुभवविरोधाच्चेति चेत्? न, द्वन्द्वे भेदाऽभानेऽभेदभ्रमाद्यनिवृत्तिप्रसङ्गात्, भिन्नतया भानादेव द्वयोः प्राधान्यानुभवाच्च। किञ्च, भेदं विना द्विवचनानुपपत्तिः, द्वित्वस्य भेदनियतत्वात्। न च 'षडेव पदार्थाः' इत्यादौ षट्त्वादिवदत्र विभिन्नधर्मप्रकारकबुद्धिविषयत्वरूपं द्वित्वं, तच्च प्रकृते न भेदनियतमिति वाच्यम्, द्विवचनाद् निरुपचरितस्यैव द्वित्वस्य प्रतीतेः, 'एको द्वौ' इत्यत्रापि द्वित्वावच्छिन्ने द्वित्वाऽविवक्षयैवोपपत्तेः। विचित्रनयविवक्षया तु तत्र द्वित्वतो द्वित्वादिकं प्रतीयत एव।

यह भी ज्ञातव्य है कि–'यदि भेदाभेद न माना जायगा तो 'नील-घटयोः अभेदः' इस प्रयोग की उपपत्ति न होगी क्योंकि चार्थ में (च शब्द के अर्थ में) द्वन्द्व समास का विधान है और भेद ही चार्थ है, अतः यदि नील और घट में केवल अभेद ही होगा तो नील और घट का द्वन्द्व समास नहीं हो सकता है।

[द्वन्द्व समास में भेदभान के निरसन का प्रयास]

यदि यह कहा जाय कि–'द्वन्द्व में भेद का संसर्गरूप अथवा प्रकार रूप में भान नहीं हो सकता क्योंकि द्वन्द्व समास परस्पर में अनन्वित पदार्थ का बोधक होता है और यदि भेद का संसर्ग रूप में या प्रकार रूप में भान माना जायगा तो एक पदार्थ दूसरे पदार्थ से अन्वित हो जायगा। 'चैत्र-चैत्रपुत्रौ' से प्रथम चैत्रपद के अर्थ का चैत्रपुत्र पदार्थ में अन्वय नहीं होता है किन्तु दूसरे चैत्रपद के अर्थ का पुत्रत्व में निरूपितत्व संसर्ग का बोध होता है; उस बोध में यह शङ्का नहीं हो सकती कि-'पुत्रत्व में चैत्र का निरूपितत्व सम्बन्ध से अन्वय सम्भव नहीं है'-क्योंकि दो नामार्थों का भेद सम्बन्ध से अर्थात् अभेदान्य सम्बन्ध से अन्वय मान्य है। द्वन्द्व में भेद का भान मानने में यह भी बाधा है कि यदि द्वन्द्व में एक पदार्थ दूसरे पदार्थ में भेद सम्बन्ध से अन्वय अथवा भेद द्वारा विशेषण होगा तो द्वन्द्व में दोनों पदार्थों के सर्वमान्य प्राधान्यानुभव का विरोध होगा। अतः द्वन्द्व में भेद का भान सम्भव न होने से यह कहना कि भेदाभेद का अभ्युपगम किए बिना 'नील-घटयोः अभेदः' यह प्रयोग अनुपपन्न है, ठीक नहीं है"–

[द्वन्द्व समास में भेद का भान न मानने में आपत्ति]

किन्तु यह कथन उचित नहीं है क्योंकि द्वन्द्व में भेद का भान न मानने पर अभेदभ्रम आदि की निवृत्ति न हो सकेगी। और जो द्वन्द्व में दोनों पदार्थों में प्राधान्य के अनुभव की बात कही गयी है वह भी तभी हो सकती है जब दोनों पदार्थों का भिन्नरूप में भान हो। अतः सिद्ध है कि घट में

नील-अभेद के समान नील-भेद भी मानना ही होगा, अन्यथा उनमें द्वन्द्व न हो सकेगा। आशय यह है कि यदि नील और घट में केवल भेद होगा तो 'नील-घटयोः अभेदः' इस प्रकार दोनों में अभेद की उक्ति असंगत होगी और यदि दोनों में अभेद ही होगा तो 'नीलघटयोः' इस द्वन्द्व की अनुपपत्ति होगी। इतना ही नहीं किन्तु यह भी ज्ञातव्य है कि नील और घट में भेद का बोध माने बिना उक्त प्रयोग में 'नील-घट' शब्द से द्विवचन विभक्ति की भी उपपत्ति न हो सकेगी, क्योंकि द्वित्व भेदव्याप्य होता है।

[विलक्षण द्वित्व भेदव्याप्य न होने की शंका का निरसन]

यदि यह कहा जाय कि "जैसे 'षडेव पदार्थाः' में षड् शब्द से षट्त्व संख्या का बोध नहीं होता है क्योंकि गुण आदि पदार्थों में संख्या नहीं रहती किन्तु द्रव्यत्व गुणत्व आदि विभिन्न धर्म-प्रकारक 'द्रव्यं गुणः'....इत्यादि बुद्धि की विषयतारूप षट्त्व का ही बोध होता है, उसी प्रकार 'नील-घटयोः' में नील और घट में 'नीलत्व और घटत्वरूप भिन्नधर्मप्रकारक बुद्धि की विषयता' रूप द्वित्व का ही बोध होता है, और यह द्वित्व भेदव्याप्य नहीं है"–तो यह कथन भी ठीक नहीं है क्योंकि द्विवचन विभक्ति से मुख्य द्वित्व का ही बोध होता है जो भेद का व्याप्य होता है। 'एकः द्वौ' इस प्रतीति का अभाव तो एकत्वावच्छिन्न में द्वित्व की विवक्षा न होने से ही उपपन्न होता है, अतः यह नहीं कहा जा सकता कि एक में भी मुख्य द्वित्व के रहने से 'एकः द्वौ' इस प्रतीति का अभाव नहीं होना चाहिये। वास्तव में विचित्र नय की विवक्षा से अर्थात् एक में द्वित्व की आश्रयता बताने की इच्छा होने पर 'एकः द्वौ' इस प्रयोग में द्वित्व की प्रतीति होती ही है। केवल उसके अवच्छेदक रूप में एकत्व विवक्षित नहीं रहता, किन्तु एक में भी द्वित्वावच्छेदेन द्वित्व के रहने से उसकी प्रतीति में कोई बाधा नहीं हो सकती।

"यद्यद्धर्मप्रकारकबुद्धिविषयत्वं गौणीकृतद्वित्वादिव्यवहारनिमित्तं तत्तद्धर्मावच्छेदेन पर्याप्तम्, तेन 'एको द्वौ' इत्यादेर्न्युदासः" इत्येकान्तस्तु न शोभते, 'रूप-रसवतोरभेदः' इतिवत् 'रूप-रसवान् द्वौ' इत्यस्य प्रसङ्गात्, अप्रसङ्गाच्च 'घटौ' इत्येकशेषस्य। तत्र घटत्वादेर्द्वित्वावच्छेदकत्वेऽन्यत्राप्येकत्र घटत्वेन द्वित्वबोधस्य प्रमाणत्वापत्तेः। किञ्च, पदार्थभेदनियतत्वादपि द्वन्द्वस्य नीलघटयोरभेदसंवलितो भेदः। 'प्रतिपाद्यभेदनियतत्वमेव तस्य, क्वचित् पदार्थभेदे, क्वचित् पदार्थतावच्छेदकभेदे तत्प्रवृत्तेः' इति त्वेकघटाभिप्रायकघटपदद्वयेऽपि द्वन्द्वापत्तेर्न शोभते।

[एकान्तवादी को 'रूप-रसवान् द्वौ' इस प्रयोग की आपत्ति]

एकान्तवादी का यह कहना है कि–"एकः द्वौ' इस प्रयोग के न होने का अन्य कारण है, वह यह कि यद्-यद्-धर्मप्रकारक बुद्धि की विषयता द्वित्व आदि के गौण व्यवहार का निमित्त होती है तत्-तत्-धर्मावच्छेदेनैव द्वित्व की पर्याप्ति होती है। अतः एकत्वप्रकारकबुद्धिविषयत्व द्वित्व व्यवहार का निमित्त नहीं है अतः एकत्वावच्छिन्न में द्वित्व की पर्याप्ति न होने से 'एकः द्वौ' यह प्रतीति अथवा प्रयोग नहीं होता"–किन्तु यह कथन शोभास्पद नहीं है क्योंकि उक्त रीति से द्वित्व की पर्याप्ति मानने पर जैसे 'रूप-रसवतोरभेदः' प्रयोग होता है उसी प्रकार 'रूप-रसवान् द्वौ' इस प्रयोग की भी आपत्ति

होगी क्योंकि रूपत्व और रसवत्व प्रकारक 'रूपं रसवांश्च' इस बुद्धि की विषयता द्वित्व के गौण व्यवहार का निमित्त है। अतः जैसे 'रूपरसवतोः' में द्विवचन से द्वित्व का बोध होता है उसी प्रकार 'रूप-रसवान् द्वौ' में द्विशब्द से रूपत्व और रसत्वावच्छिन्न में द्वित्व की प्रतीति होने में कोई बाधा नहीं है।

इस आपत्ति के साथ ही दूसरी आपत्ति यह है कि 'घटौ' यह एकशेष उपपन्न न हो सकेगा क्योंकि घटत्वमात्रप्रकारकबुद्धि विषयता द्वित्व के गौण व्यवहार का निमित्त नहीं होती। अतः घटत्वावच्छेदेन द्वित्व की पर्याप्ति न होने से घटत्वमात्रावच्छिन्न में द्वित्व के बोधक 'घटौ' इस एकशेष की उपपत्ति सम्भव नहीं है और यदि घटत्व को द्वित्व का अवच्छेदक माना जायगा तो जैसे दो घट में 'घटौ' एकशेष से द्वित्व का बोध होता है उसी प्रकार 'घटः द्वौ' इस वाक्य से भी घटत्वावच्छेदेन द्वित्व का बोध सम्भव होने से यह वाक्य भी प्रमाण हो जायगा।

[द्वन्द्वसमास पदार्थभेदनियत मानना होगा]

उक्त के अतिरिक्त यह ज्ञातव्य है कि द्वन्द्व समास पदार्थभेद से नियत है, अतः नील और घट में अभेद मिश्रित भेद मानना आवश्यक है क्योंकि भेद माने विना 'नील-घटयोः' इस प्रकार नील और घट में द्वन्द्व नहीं हो सकता। इस सम्बन्ध में यह कहना कि– 'द्वन्द्व समास पदार्थभेद में नियत नहीं है किन्तु प्रतिपाद्य भेद में नियत है और प्रतिपाद्य पदार्थ भी होता है तथा पदार्थतावच्छेदक भी होता है इसके अनुसार ही कहीं पदार्थभेद में द्वन्द्व होता है और कहीं पदार्थतावच्छेदक भेद में द्वन्द्व होता है। 'नीलघटयोरभेदः' में पदार्थतावच्छेदक भेद में द्वन्द्व समास होता है"– यह ठीक नहीं है, क्योंकि एक घट के अभिप्राय से दो घट पदों का प्रयोग करने पर भी द्वन्द्व की आपत्ति होगी. फलतः एक घट की विवक्षा से 'घटौ' इस प्रयोग का भी औचित्य होने लगेगा क्योंकि वहाँ पर भी घट पद के प्रतिपाद्य घट और घटत्व में भेद है।

अथैकपदप्रतिपाद्यत्वसामानाधिकरण्येनापरप्रतिपाद्यत्वावच्छिन्नभेदे एकपदजन्यप्रतिपत्तिविषयितात्वसामानाधिकरण्येनापरपदजन्यप्रतिपत्तिविषयितात्वावच्छिन्नभेदे वा द्वन्द्वः, इत्थमेव मेयवदभिधेयवद्बोधकतदादिपदद्वन्द्वानपवाद इति चेत् ? न, विषयिताया ज्ञानस्वरूपत्वे तदभेदे तदभेदात्, तद्-इदम्-पदाभ्यां द्वन्द्वाद्युपपत्तेश्च, ताभ्यां तद्व्यक्तेरेवोपस्थापनात्, तत्तेदंतयोः परेण व्यक्त्यतिरिक्तयोरनभ्युपगमात्, संस्कारज-प्रत्यक्षज्ञानाभ्यामेव तदिदंपदोल्लेखसमर्थनात्। यदि च विषयाऽभेदेऽपि ज्ञानविषयताभेदः, तदा साकारवादापत्तिरित्यादि सूक्ष्ममीक्षणीयम्, भेदस्याऽस्वाभाविकत्वे संख्यादीनां निरालम्बनत्वप्रसङ्गात्, प्रमीयमाणत्वेनाऽवास्तवत्वाऽयोगाच्च। प्राधान्यमप्राधान्यं पुनराभिमानिकमेव। इति विवेचितमन्यत्र ॥ ३३ ॥

[द्वन्द्वसमास में विलक्षणरीति से नियामक की शंका]

यदि यह कहा जाय कि–' एक पद से प्रतिपाद्य यत्किञ्चिद् व्यक्ति में अपर पद से प्रतिपाद्य सामान्य का भेद, तथा एक पद से होने वाले ज्ञान की यत्किञ्चिद् विषयिता में अन्य पद से होने वाले ज्ञान की विषयितासामान्य का भेद, द्वन्द्व समास का नियामक है। ऐसा मानने पर 'नील घटयोरभेदः'

में नील और घट में द्वन्द्व समास होने में कोई बाधा नहीं हो सकती, क्योंकि नील पद से प्रतिपाद्य यत्किञ्चित् नील पट आदि में घट प्रतिपाद्य सामान्य का भेद है, एवं घट पद से प्रतिपाद्य यत्किञ्चित् पीत घट आदि में नील पद के प्रतिपाद्य सामान्य का भेद है, अतः 'नील घटयोरभेदः' में नील और घट में द्वन्द्व की उपपत्ति के लिए उनमें अभव मिश्रित भेद मानना निर्युक्तिक है। द्वन्द्व का उक्त नियामक मानने पर एक घट के अभिप्राय से प्रयुक्त दो घट पदों में द्वन्द्व की भी आपत्ति नहीं हो सकती, क्योंकि एक घट पद से प्रतिपाद्य में अन्य घट पद के प्रतिपाद्य सामान्य का भेद नहीं है। और न एक घट पद से होने वाले ज्ञान की विषयिता में अन्य घट पद से होने वाले ज्ञान की विषयिता-सामान्य का भेद ही है। द्वन्द्व के उक्त नियामकों में दूसरे नियामक के कारण ही भेयवत् और अभि-धेयवत् के बोधक तद् पद में 'स च स च, तौ' इस प्रकार के द्वन्द्व में कोई बाधा नहीं होती, किन्तु पदार्थ भेद या पदार्थतावच्छेदक भेद को द्वन्द्व का नियामक मानने पर यह द्वन्द्व बाधित हो जाता है क्योंकि मेयवत् के बोधक तद् पद और अभिधेयवत् के बोधक तद् पद के पदार्थ और पदार्थतावच्छेदक किसी में भेद नहीं है"–

[पूर्वपक्षी कल्पित द्वन्द्वनियामक में दोषोद्भावन]

किन्तु यह कथन ठीक नहीं है क्योंकि विषयिता को ज्ञानस्वरूप मानने पर ज्ञान का अभेद होने पर विषयिता का भी अभेद होने से एक घट पद के अभिप्राय से प्रयुक्त दो घट पदों में द्वन्द्व की आपत्ति का परिहार नहीं हो सकता। क्योंकि भिन्न घट पदों से होने वाले ज्ञानों में व्यक्तिगत रूप से भेद होने से उनकी विषयिताओं में भी व्यक्तिगत भेद होने के कारण एक घट पद जन्य ज्ञान की विषयिता में अपर घट पद जन्य ज्ञान की विषयिता का भेद निर्विवाद है। इसके अतिरिक्त तत् पद और इदम् पद में द्वन्द्व समास की अनुपपत्ति होगी क्योंकि तत् पद और इदम् पद से तद् व्यक्ति की ही उपस्थिति होती है। क्योंकि वादी को व्यक्ति से अतिरिक्त रूप में तत्ता और इदन्ता स्वीकार नहीं है। तत् पदार्थ और इदम् पदार्थ में भेद न होने पर भी तत् पद का प्रयोग संस्कार जन्य ज्ञान और इदम् पद का प्रयोग प्रत्यक्षज्ञान के आधार पर होता है। और यदि विषय का भेद न होने पर भी ज्ञानविषयिता में भेद माना जायगा और उसके बल से व्यक्ति के बोधक तत् पद और इदम् पद में द्वन्द्व की उपपत्ति की जायगी तो ज्ञान के साकारवाद की आपत्ति होगी जिसके फलस्वरूप विषय के अभाव में विभिन्नाकार ज्ञान सम्भव होने से विषय का उच्छेद हो जायगा। यह सब दोष उक्त द्वन्द्व नियामकों के सन्दर्भ में सूक्ष्मता से विचारणीय है।

[द्रव्यपर्याय में वास्तवभेद न होने की शंका का निवारण]

कुछ लोगों का यह मत है कि–'द्रव्य और पर्याय में वास्तव में अभेद ही है, किन्तु उनके संख्या और संज्ञा आदि कार्यों में भेद होने से उनमें भेद अस्वाभाविक है'–किन्तु यह मत समीचीन नहीं है, क्योंकि भेद को अस्वाभाविक मान लेने पर संख्या आदि की मान्यता निराधार हो जायगी। यतः द्वित्व त्रित्व आदि संख्याएँ वस्तुतः भिन्न पदार्थों में ही आश्रित होती हैं। दूसरी बात यह है कि द्रव्य और पर्याय में भेद की प्रमात्मक बुद्धि होती है, अतः उसे अवास्तव कहना असंगत है। द्वन्द्व में दोनों पदार्थों के प्राधान्यानुभव के विरोध की आपत्ति दी गयी थी वह उचित नहीं है क्योंकि प्राधान्य और अप्राधान्य पदार्थ न होकर आभिमानिक है। इस विषय का विस्तार से विवेचन अन्यत्र किया गया है ॥ ३३ ॥

तदिदमखिलमभिप्रेत्योपसंहरन्नाह-

मूलम्—एवंन्यायाऽविरुद्धेऽस्मिन् विरोधोद्भावनं नृणाम् ।
व्यसनं वा जडत्वं वा प्रकाशयति केवलम् ॥ ३४ ॥

एवम्=उक्तदिशा न्यायाऽविरुद्धे=प्रमाणाऽप्रतिषिद्धे अस्मिन्=भेदाभेदे, नृणां=तार्किकपुरुषाणां, विरोधोद्भावनम्='विरुद्धौ भेदा-ऽभेदौ नैकत्र संभवतः' इत्यभिधानम्, व्यसनं=जानतामप्यभिनिवेशेन स्याद्वादमात्सर्यधीः. जडत्वं वा=सूक्ष्मार्थानुत्प्रेक्षित्वलक्षणं बुद्धिमान्द्यं वा केवलं प्रकाशयति, तत्कार्यत्वादस्य वस्तुतो विरोधाऽसिद्धेः ॥ ३४ ॥

[भेदाभेद में विरोध उठाना जडता का प्रदर्शन]

उक्त सभी बातों को दृष्टि में रखते हुए कारिका ३४ में उक्त विचार का उपसंहार किया गया है, कारिका का अर्थ इस प्रकार है-वस्तु का भेदाभेद ऐसा तथ्य है जिसमें न्याय का कोई विरोध नहीं है। इस तथ्य के विरुद्ध कोई प्रमाण नहीं है फिर भी तार्किक पुरुष इस तथ्य के सम्बन्ध में विरोध का उद्भावन करते हैं, उनका कहना है कि भेद और अभेद में परस्पर विरोध है अत एव उन दोनों का किसी एक वस्तु में समावेश सम्भव नहीं है। ग्रन्थकार का कहना है कि तार्किक पुरुषों के इस कथन से केवल उनके व्यसन अथवा जड़ता की अभिव्यक्ति होती है, उनके कथन से ऐसा प्रतीत होता है कि वे तथ्य को जानते हुए भी अभिनिवेशवश स्याद्वाद की मान्यता के प्रति द्वेष रखते हैं, अथवा उनके कथन से ऐसा प्रतीत होता है कि उनकी बुद्धि मन्द है-वे सूक्ष्म वस्तु नहीं समझ सकते हैं, क्योंकि इस प्रकार का कथन व्यसन और जड़ता का ही सूचक हो सकता है। सच बात यह है कि भेद और अभेद में परस्पर विरोध नितान्त अप्रसिद्ध है ॥ ३४ ॥

एतदेव स्पष्टयति-

मूलम्—न्यायात्खलु विरोधो यः स विरोध इहोच्यते ।
यद्वदेकान्तभेदादौ तयोरेवाऽप्रसिद्धितः ॥ ३५ ॥

न्यायात्=प्रमाणात् यः खलु विरोधः=अनुभवबाधलक्षणः, स इह=प्रकृतविचारे विरोध उच्यते लोकेन, नाऽन्यः । किंवत् ? इत्याह-यद्वत्=यथा 'एकान्तभेदादावभ्युपगम्यमाने' इति शेषः, तयोरेव=द्रव्य-पर्याययोरेव, अप्रसिद्धितः=स्वरसोदयदनुभवाऽनुपपत्तेः ॥३५॥

[एकान्त भेद और अभेद में विरोध संगत]

कारिका ३५ में पूर्व कारिका के ही वक्तव्य को स्पष्ट किया गया है, कारिका का अर्थ यह है-जो विरोध यानी अनुभवबाध न्यायानुमत=न्यायसम्मत होता है, वस्तुतत्त्व के विचार में उसी का उद्भावन किया जाता है जैसा कि एकान्त भेद किंवा एकान्त अभेद मानने पर द्रव्य और पर्याय की प्रसिद्धि-अर्थात् सहज अनुभूति का उपपादन न होने से सम्भव होता है ॥ ३५ ॥

कथम् ? इत्याह--

मूलम्—मृद्द्रव्यं यत्र पिण्डादिधर्मान्तरविवर्जितम् ।
तद्वा तेन विनिर्मुक्तं केवलं गम्यते क्वचित् ॥ ३६ ॥

मृद्द्रव्यं यद्=यस्माद् न पिण्डादिधर्मान्तरविवर्जितं केवलं क्वचिद् गम्यते। तेन द्रव्यात्मकाभेदमात्राऽभ्युपगमे पिण्डादिभेदाऽप्रसिद्धिः। तद् वा=पिण्डादिधर्मान्तरं तेन=मृद्द्रव्येण विनिर्मुक्तं केवलमाकारमात्रमेव, न क्वचिद् गम्यते। तेन पर्यायाऽऽत्मकभेदमात्राभ्युपगमे मृद्द्रव्यादिभेदाऽप्रसिद्धि ॥ ३६ ॥

[द्रव्य और उसके धर्म एक दूसरे को छोडकर नहीं होते]

पूर्व कारिका में एकान्तभेद आदि मानने पर द्रव्य-पर्याय के अनुभव की जो अनुपपत्ति बतायी गयी, प्रस्तुत ३६वीं कारिका में उसी का उपपादन किया गया है। कारिका का अर्थ इस प्रकार है- मृत्तिका-रूप द्रव्य कहीं भी पिण्ड आदि अन्य धर्मों से मुक्त रह कर केवल मृत्तिका के रूप में नहीं उपलब्ध होता है, इसलिए यदि केवल द्रव्य रूप अभेद का ही अस्तित्व माना जाएगा तो पिण्ड आदि भेदात्मक पर्यायों की अनुपपत्ति होगी, इसलिए द्रव्यात्मक एकान्त अभेद को मान्यता नहीं दी जा सकती। इसीप्रकार पिण्ड आदि पर्याय मृत्तिका से मुक्त होकर केवल आकार मात्र में कहीं भी उपलब्ध नहीं होते, अतः पिण्ड आदि पर्याय रूप भेदों का ही केवल अस्तित्व यदि माना जायगा तो मृत्तिका रूप द्रव्य के अनुभव का अपलाप होगा अतः एकान्त भेद को भी मान्यता नहीं दी जा सकती ॥ ३६ ॥

ततः किम् ? इत्याह-

मूलम्—ततोऽसत्तथा न्यायादेकं चोभयसिद्धितः ।
अन्यथाऽतो विरोधस्तदभावापत्तिलक्षणः ॥ ३७॥

ततः=तस्मात् तत्=मृद्द्रव्यपिण्डादि तथा=परस्परनिरपेक्षम् न्यायात्=अननुभवलक्षणात् असत्=असिद्धम् एकं च=एकमेव मृद्द्रव्यपिण्डादि 'असत्' इति योगः, उभयसिद्धितः=तथोभयोपलब्धेः। यत एवम्, अन्यत्र केवलभेदपक्षेऽभेदपक्षे वा, अतो विरोधः, तदभावापत्तिलक्षणः=द्रव्य-पर्यायाभावप्रसङ्गलक्षणः, स्वानभिमतार्थोपलम्भे परस्य स्वेनैव स्वाभिमतार्थोपलम्भेऽपि परेणाऽसद्विषयत्वस्य वक्तुमशक्यत्वात्, स्वतन्त्रधर्मधर्मिस्वीकारेऽपि वैशेषिकादीनां तत्र भेदाभेदधियोरेकतरभ्रान्तत्वे तदितरभ्रान्तत्वस्य तुल्यत्वात्। ततः सामानाधिकरण्यानुभवबाधरूपो विरोधो न भेदाभेदयोरिति सिद्धम्।

[परस्पर निरपेक्ष द्रव्य और धर्म असिद्ध]

कारिका ३७ में पूर्व कारिका के कथन का फलितार्थ बताया गया है, कारिका का अर्थ इस प्रकार है-पिण्ड आदि धर्मों से रहित मृद्द्रव्य की उपलब्धि न होने से एवं मृद्द्रव्य से मुक्त केवल

पिण्ड आदि आकार की उपलब्धि न होने से मृद्द्रव्य और पिण्ड आदि की परस्पर निरपेक्षता-परस्पर भिन्नता असिद्ध है, क्योंकि दोनों में परस्पर निरपेक्षता का अनुभव नहीं होता। मृद्द्रव्य और पिण्ड आदि एक ही हैं, उनमें कुछ भी भेद नहीं है' यह बात भी असिद्ध है क्योंकि उन दोनों में भेद और अभेद दोनों की उपलब्धि होती है। 'मृत् पिण्डः' इस प्रकार मृत् द्रव्य और पिण्ड आकार दोनों में सामानाधिकरण्य का अनुभव निर्विवाद है इसीलिए भेदाभेद पक्ष से भिन्न केवल भेद पक्ष तथा केवल अभेद पक्ष में द्रव्यपर्याय के अभाव की आपत्ति रूप विरोध का होना अनिवार्य है।

[भेद-अभेद के सामानाधिकरण्य में विरोध का अभाव]

स्पष्ट है कि एक वादी के अनभिमत अर्थ का उपलम्भ अन्य वादी को जो होता है उसे अनभिमतवादी असद्विषयक नहीं कह सकता। और इसी प्रकार एकवादी के अभिमत अर्थ का उपलम्भ जो उसे होता है अन्य वादी उसको असद्विषयक नहीं कह सकता है। फलतः अभेदोपलम्भ और भेदोपलम्भ किसी को असद्विषयक नहीं कहा जा सकता। अतः द्रव्यपर्यायाभाव की आपत्ति केवल भेद पक्ष और केवल अभेद पक्ष में ही होती है। वैशेषिक आदि जो धर्म और धर्मी में स्वातन्त्र्य=भेद मानते हैं वे भेद और अभेद को विषय करने वाली बुद्धि को यदि अभेद अंश में भ्रम कहेंगे तो तुल्यरीति से उसे भेद अंश में भी भ्रम कहा जा सकेगा। फलतः भेद-अभेद किसी की भी सिद्धि न हो सकेगी। अतः निर्विवादरूप से यह सिद्ध होता है कि भेद और अभेद में जो सामानाधिकरण्य का अनुभव होता है उसमें अनुभवबाधरूप विरोध नहीं हो सकता है।

'सहानवस्थाननियमादनयोर्बाधितमेव सामानाधिकरण्यमि'ति चेत् ? न, तन्नियमाऽसिद्धेः, वह्न्यादौ रूपस्य गन्धाऽसामानाधिकरण्यदर्शनेऽपि पृथिव्यां तत्सामानाधिकरण्यवत्, पर्वत-महानसयोः पर्वतीय-महानसीयवह्न्यभावयोः परस्पराऽसामानाधिकरण्यदर्शनेऽपि ह्रदे तदुभय-सामानाधिकरण्यवद् भेदाऽभेदयोः प्रतियोगिविशेषितयोरन्यत्राऽसमाविष्टयोर्दर्शनेऽपि प्रकृते समावेशसंभवात्। नन्वेवं गन्ध-रूपयोरिव भेदा-ऽभेदयोरप्यनवच्छिन्नत्वं स्यादिति चेत् ? अनवच्छिन्नयोरनवच्छिन्नत्वमेव, अवच्छिन्नयोश्चावच्छिन्नत्वमेवेति किं नावबुध्यसे ? वस्तुतो न क्वचिदेकान्तः, रूप-गन्धयोरपि भिन्नस्वभावावच्छेदेन पृथिवीवृत्तित्वोपगमात्, अन्यथैकत्वा-ऽऽपातात्। 'रूपस्वभावेन गन्धो न पृथिवीवृत्तिः' इति व्यवहाराच्चेति। एतेन परस्परग्रहप्रति-बन्धकग्रहविषयत्वरूपो विरोधोऽपि निरस्तः, भेदा-ऽभेदग्रहयोर्विलक्षणसामग्रीकत्वेनैकग्रहेऽ-पराऽग्रहात्, तेन रूपेण च रूपवत्ताग्रहेऽपि गन्धवत्ताऽग्रहादिति द्रष्टव्यम् ॥ ३७ ॥

[भेदाभेद में सहानवस्थान का नियम असिद्ध]

यदि यह कहा जाय कि-'भेद और अभेद में सहानवस्थान का-एकत्र न रहने का नियम है, अत एव उनका सामानाधिकरण्य बाधित है। अतः बाधित सामानाधिकरण्य की प्रतीति से उनमें अविरोध नहीं माना जा सकता'-तो यह ठीक नहीं है, क्योंकि भेदाभेद के सहानवस्थान का नियम असिद्ध है। सच तो यह है कि जैसे अग्नि आदि में रूप और गन्ध के सहानवस्थान का दर्शन होने पर भी पृथ्वी में दोनों का सहानवस्थान होता है, एवं पर्वत और पाकशाला किसी एक में पर्वतीय वह्न्यभाव और

पाकशालागत वह्निभाव के सहानवस्थान का दर्शन होने पर भी जलह्रद में दोनों का सहावस्थान होता है, ठीक उसी प्रकार प्रतियोगी से विशेषित भेद और अभेद का किसी अन्य एक स्थान में सहानवस्थान का दर्शन होने पर प्रकृत द्रव्य में दोनों का समावेश हो सकता है।

[रूप-गन्धवत् भेदाभेद में भी अनवच्छिन्नत्व]

आशय यह है कि एकमृद्द्रव्य के कई आकार होते हैं जैसे पिण्ड, घट आदि। उनमें पिण्ड का अथवा घट का भेद-अभेद दोनों पिण्ड-घट दोनों में से किसी भी एक में नहीं रहता, किन्तु मृद्द्रव्य घटात्मना पिण्ड से भिन्न होता है और मृदात्मना किंवा पिण्डात्मना पिण्ड से अभिन्न होता है, एवं, मृद्द्रव्य पिण्डात्मना घट से भिन्न होता है किन्तु मृदात्मना कि वा घटात्मना घट से अभिन्न होता है। यदि यह कहा जाय कि-'गन्ध और रूप पृथ्वी में जैसे अवच्छेदक भेद के बिना भी समाविष्ट होते हैं उसीप्रकार भेद और अभेद को भी अवच्छेदक भेद के बिना एकत्र समाविष्ट होना चाहिए'-तो इसके उत्तर में यह कहा जा सकता है कि जो अवच्छेदक निरपेक्ष होता है वह अनवच्छिन्न ही होता है और जो अवच्छेदक सापेक्ष होता है वह अवच्छिन्न ही होता है। गन्ध और रूप कहीं भी अवच्छेदक की अपेक्षा नहीं रखते, अत एव ये पृथ्वी में अनवच्छिन्न होते हैं। किन्तु, भेद और अभेद अवच्छेदक की अपेक्षा रखते हैं, जैसे: पिण्ड का भेद घटत्वावच्छिन्न में होता है एवं पिण्ड का अभेद पिण्डत्वावच्छिन्न में होता है। अतएव मृद्द्रव्य में पिण्ड के भेदाभेद को भी अवच्छिन्न होना युक्तिसङ्गत है।

[रूप और गन्ध का अवच्छेदक स्वभाव भेद]

किन्तु यह ज्ञातव्य है कि वास्तव में एकान्त पक्ष कहीं भी मान्य नहीं है। रूप और गन्ध भी भिन्न स्वभावरूप अवच्छेदक द्वारा ही पृथ्वी में अवस्थित होते हैं। यदि ऐसा न होकर ये दोनों अभिन्न स्वभाव से पृथ्वी में अवस्थित हो तो स्वभाव अभेद होने से उनमें ऐक्य की आपत्ति हो जायगी। एक वस्तु का अन्य वस्तु के स्वभाव से न रहना उचित भी है, क्योंकि 'गन्ध रूप के स्वभाव से पृथ्वी में नहीं है' यह सर्वमान्य व्यवहार है। यदि यह कहा जाय कि-भेद और अभेद में सामानाधिकरण्य के अनुभव का बाधरूप विरोध एवं सहानवस्थान के नियमरूप विरोध के न होने पर भी तीसरे प्रकार का विरोध हो सकता है और वह यह कि भेदज्ञान का अभेदज्ञान से एवं अभेदज्ञान का भेदज्ञान से प्रतिबन्ध होने से दोनों में परस्पर ज्ञान के प्रतिबन्धकज्ञान की विषयता है और यही उनमें विरोध है।-किन्तु यह विरोध भी इस आधार पर निराकृत हो जाता है कि भेदग्रह और अभेदग्रह की जनक सामग्रियों में भेद है, उन दोनों सामग्रियों का एक काल में सन्निधान नहीं होता, अतः दोनों का ज्ञान एक साथ नहीं होता, अतः उनके एक साथ न होने के कारण उनमें परस्पर प्रतिबध्य प्रतिबन्धक भाव का होना सम्भव नहीं है किन्तु दोनों की जनक सामग्री का एक काल में उपस्थित न होना ही युक्त है। इसीप्रकार रूप और गन्ध में पृथ्वी द्रव्यात्मना अभेद होने पर भी रूपत्व और गन्धत्व रूप से भेद होने के कारण तथा रूपत्वेन रूपग्रहण और गन्धत्वेन गन्धग्रहण की जनक सामग्री विलक्षण होने से रूपत्वरूप से रूपवत्ता का ज्ञान होने पर भी गन्धत्वरूप से गन्धवत्ता का ज्ञान नहीं होता ॥३७॥

दोषान्तरनिराकरणायाह----

मूलम्---जात्यन्तरात्मके चास्मिन्नानवस्थादिदूषणम्।
नियतत्वाद् विविक्तस्य भेदादेश्चाप्यसंभवात् ॥ ३८ ॥

जात्यन्तरात्मके च=अन्योन्यानुविद्धे च **अस्मिन्**=भेदाभेदेऽभ्युपगम्यमाने अनवस्थादिदूषणं न भवति–A 'येनस्वभावेन भेदस्तेनाभेदः' इत्युक्तौ विरोधः, इति भिन्नाभ्यां स्वभावाभ्यां तदङ्गीकारे तयोरपि तत्र वृत्तौ स्वभावभेदगवेषणायामनवस्था, आदिना B ताभ्यां स्वभावाभ्यां भेदाभेदस्वभावयोः भेदाभेदस्वभावाभ्यां च तयोः स्वभावयोश्च वृत्तौ परस्पराश्रयः, C स्वापेक्षितापेक्षितापेक्षायां चक्रकम्, D स्वापेक्षायामेव चात्माश्रयः, E येन स्वभावेन भेदस्याधिकरणं वस्तु तेनाभेदस्य येन च स्वभावेनाभेदस्याधिकरणं तेन भेदस्य चेति संकर इत्यादि द्रष्टव्यम्। कथमेतद् दूषणं न भवति ? इत्याह--**नियतत्वात्**=स्वभावनियतत्वाद् भेदाभेदवस्तुनः, तथा चोत्पत्तिज्ञप्त्यप्रतिबन्धाद् नानवस्थादिकम्। तदुक्तम्--'न चानवस्था, अन्यनिरपेक्षस्वस्वरूपत एव तथात्वोपपत्तेः' इति। अन्यैरप्युक्तम्--"मूलक्षयकरीं प्राहुरनवस्थां हि दूषणम्" [न्यायमंजरी] इति। तथा, **विविक्तस्य**=अनुभवानुपातिस्वभावबहिर्भूतस्य **भेदादेश्च**=एकान्तवादिपरिकल्पितस्य **असंभवात्**, तेन न संकर इति भावः ॥ ३८ ॥

[अनवस्थादि पाँच दोष का आपादन]

३८वीं कारिका में भेदाभेद पक्ष में सम्भावित अन्य दोषों का निराकरण किया गया है वे दोष हैं–१. अनवस्था, २. परस्पराश्रय, ३. चक्रक, ४. आत्माश्रय और ५. संकर। आशय यह है कि–(१) जिस स्वभाव से जहाँ भेद का अस्तित्व होगा उसी स्वभाव से वहाँ अभेद का भी अस्तित्व माना जायगा तो दोनों में अभेद होगा क्योंकि एक स्वभाव से भेद अभेद का एकत्र अस्तित्व विरुद्ध है। इसलिए भिन्न स्वभावों द्वारा भेद अभेद का अभ्युपगम करना होगा। फिर जिन भिन्न स्वभावों को स्वीकार किया जायगा उनका भी एक स्वभाव से अस्तित्व मानने पर विरोध की आपत्ति होगी अतएव उन भिन्न स्वभावों का भी एकत्र अस्तित्व उपपन्न करने के लिए अन्य भिन्न स्वभावों की कल्पना करनी होगी और यही स्थिति अन्य भिन्न स्वभावों के सम्बन्ध में भी उपस्थित होगी। फलतः अनन्त स्वभाव भेद की कल्पना होने से अनवस्था होगी। (२) तथा, यदि भेदाभेद के एकत्र अस्तित्व की उपपत्ति के लिए स्वीकृत भिन्न स्वभावों से भेदाभेद स्वभाव की और भेदाभेद स्वभावों से उन स्वभावों की वृत्ति माना जायगा तो परस्पराश्रय दोष होगा। (३) तथा, यदि भेदाभेद स्वभाव, उन दोनों के एकत्र अस्तित्व नियामक स्वभावभेद और उन स्वभाव भेदों के एकत्र अस्तित्व नियामक स्वभाव भेदों में परस्परापेक्षा द्वारा एक स्थान में भेदाभेद के अस्तित्व का उपपादन किया जायगा तो 'स्व' को 'स्व' के अपेक्षित के अपेक्षित की अपेक्षा होने से चक्रक होगा। (४) एवं 'स्व' में 'स्व' को ही अपेक्षा हो जाने से अर्थात् भेदाभेद को भेदाभेद के नियामक स्वभाव की ही अपेक्षा हो जाने से आत्माश्रय होगा। (५) और यदि वस्तु जिस स्वभाव से भेद का अधिकरण है उसी स्वभाव से अभेद का, एवं जिस स्वभाव से अभेद का अधिकरण है उसी स्वभाव से भेद का अधिकरण मानी जायगी तो भेद अभेद में संकर हो जायगा अर्थात् भेदाभेद का वैलक्षण्य ही समाप्त हो जायगा, फलतः इन दोषों से ग्रस्त होने के कारण एक वस्तु में भेदाभेद दोनों को मान्यता नहीं प्रदान की जा सकती।

[अनेकान्तवाद में अनवस्थादि दोष का निराकरण]

किन्तु ये सारे दोष परस्परानुविद्ध भेदाभेद पक्ष को स्वीकार करने पर उपस्थित नहीं होते। क्योंकि भेदाभेदात्मक वस्तु की एकत्र स्थिति स्वभाव से ही नियत है तथा भेदाभेद में उत्पत्ति और ज्ञप्ति का नियम न मानने से अनवस्था आदि दोष सम्भव नहीं है। जैसा कि कहा गया है कि–भेदाभेद का एकत्र अस्तित्व मानने में अनवस्था दोष नहीं है, क्योंकि भेद और अभेद दोनों अन्य निरपेक्ष अपने स्वरूप से ही एकत्र अवस्थित होते हैं।' अन्य विद्वानों ने भी कहा है कि 'वही अनवस्था दोष है जिससे मूल हानि की आपत्ति हो'। संकर दोष की भी आपत्ति नहीं हो सकती क्योंकि एकान्तवादी द्वारा स्वीकृत भेद और अभेद अनुभवप्राप्त स्वभाव से भिन्न होने के कारण सम्भव नहीं है। अभिप्राय यह है कि अनवस्था आदि दोष उत्पत्ति और ज्ञप्ति के प्रसंग में ही नियत है जैसे किसी वस्तु की उत्पत्ति के लिए यदि किसी कारण की अपेक्षा है और उस कारण की उत्पत्ति के लिए अन्य कारण की तथा अन्य कारण की उत्पत्ति के कारणान्तर आदि की अपेक्षा हो तो अनवस्था आदि दोष की प्रसक्ति होती है, एवं किसी वस्तु के ज्ञान के लिए यदि किसी ज्ञापक की अपेक्षा है और वह ज्ञापक भी यदि ज्ञात होकर के ही ज्ञापक होता है तो उसके ज्ञान के लिए ज्ञापकान्तर की अपेक्षा होने पर अनवस्था दोष सम्भव है। किन्तु यह बात स्थिति के सम्बन्ध में नहीं लागू होती क्योंकि वस्तु अपने स्वतन्त्र स्वभाव से ही अवस्थित हो सकती है। इसी प्रकार वस्तु में किसी एक ही रूप से भेद अभेद मान्य न होने से भेदाभेद में संकर की भी प्रसक्ति नहीं होती ॥ ३८ ॥

किञ्च, परेण प्रसङ्ग एव कर्तुं न शक्यते, भेदादिपदानां केवलभेदादेरदर्शनात्तत्र शक्तिग्रहाऽसंभवेन प्रयोगस्यैवानुपपत्तेः इत्यभिप्रेत्याह---

मूलम्---नाभेदो भेदरहितो भेदो वाऽभेदवर्जितः।
केवलोऽस्ति यतस्तेन कुतस्तत्र विकल्पनम् ? ॥ ३९ ॥

नाभेदो भेदरहितः, भेदो वाऽभेदवर्जितः केवलोऽस्ति, 'ज्ञायते वा' इति शेषः; यतस्तेन कुतस्तत्र=केवले भेदेऽभेदे वा विकल्पनं=प्रसङ्गापादनं परस्य युज्यते, आश्रयस्यैवासिद्धेः ? । सिद्धौ वा शबलस्वभावस्य तस्य व्याघातेन परविकल्पानवतारात्, आभाससिद्धदूषणेन च वस्त्वदूषणादिति भावः ॥ ३९ ॥

[केवल भेद में शक्तिग्रह का असम्भव]

३९वीं कारिका में यह बताया गया है कि एकान्तवादी द्वारा अनेकान्त मत में विरोध-अनवस्था आदि दोषों का आपादन शक्य ही नहीं है क्योंकि भेद आदि पद से केवल भेद आदि बोध न होने से केवल भेद आदि में भेद आदि पद का शक्तिग्रह सम्भव नहीं है अतः केवल भेद आदि को लेकर कोई भी प्रयोग उपपन्न नहीं हो सकता। कारिका का अर्थ अत्यन्त सुस्पष्ट है, जैसे–भेदरहित अभेद और अभेदरहित भेद, अर्थात् केवल भेद अथवा अभेद ज्ञात नहीं है। अतः केवल भेद अथवा अभेद कोई भी विकल्प को लेकर किसी भी प्रसङ्ग का आपादन एकान्तवादी के लिए सम्भव नहीं है क्योंकि केवल भेद अथवा अभेद को आश्रय बनाकर जो भी प्रयोग होगा उसमें आश्रयासिद्धि होगी और यदि केवल

भेद या अभेद को सिद्ध माना जायगा तो अभेदसह भेद किंवा भेदसह अभेद का केवल भेद और अभेद की सिद्धि से ही व्याघात हो जाने के कारण एकान्तवादी के विकल्प की उपपत्ति नहीं हो सकती। दूसरी बात यह कि वास्तव में केवल भेद और अभेद की सिद्धि न होगी किन्तु सिद्धि का आभास मात्र होगा अतः आभास सिद्धि दोष से वस्तु का दूषित होना सम्भव नहीं हो सकता ॥३९॥

इदमेवाह—

मूलम्—येनाकारेण भेदः किं तेनासावेव किं द्वयम् ? ।
असत्त्वात्केवलस्येह सतश्च कथितत्वतः ॥ ४० ॥

येनाकारेण=येन स्वभावेन भेदः, किं **तेनासावेव**=भेद एव उत **द्वयम्**=भेदश्चाभेदश्चेति ?, आद्य एकान्तः द्वितीये व्यतिकर इति भावः, एतद् विकल्पनं 'कुतः' इति प्राक्तनेन योगः ? इत्याह--इह प्रक्रमे, केवलस्य भेदस्याऽ**सत्त्वात्**=असिद्धत्वात् **सतश्च**=सिद्धस्य च **कथितत्वतः**--उक्तशबलस्वभावत्वात् । ततो निर्विषयाः सर्वे विकल्पा इति भावः ॥ ४० ॥

[एकान्तवादीकृत विकल्पों में अर्थशून्यता]

उक्त बात को ही ४० वीं कारिका में और स्पष्ट शब्दों में कहा गया है। कारिका का अर्थ इस प्रकार है-प्रश्न यह होता है कि जिस स्वभाव से भेद रहता है क्या उस स्वभाव से केवल भेद ही रहता है अथवा भेद-अभेद दोनों रहते हैं ? । यदि पहला पक्ष माना जायगा तो एकान्तवाद की आवृत्ति होगी और यदि दूसरा पक्ष माना जायगा तो व्यतिकर होगा अर्थात् भेद और अभेद में कोई अन्तर न रह जायगा। किंतु यह विकल्प कैसे हो सकता है ? क्योंकि केवल भेद असिद्ध है और जो भेद सिद्ध है वह पूर्वोक्त रीति से शबल=अभेद मिश्रित है इसलिए एकान्तवादी के उक्त सभी विकल्प निर्विषयक हैं ॥ ४० ॥

उपचयमाह—

मूलम्—यतश्च तत्प्रमाणेन गम्यते ह्युभयात्मकम् ।
अतोऽपि जातिमात्रं तदनवस्थादिकल्पनम् ॥ ४१ ॥

यतश्च **तत्**=अधिकृतवस्तु **प्रमाणेन**=प्रत्यक्षेण **हि**=निश्चितम्, **उभयात्मकं**=जात्यन्तरापन्नभेदाभेदभाजनम् गम्यते, अतोऽपि **तत्**=परोक्तम् इहानवस्थादिकल्पनं **जातिमात्रम्**=निर्युक्तिकविकल्पमात्रम्, प्रत्यक्षबाधात्; अन्यथा घटादेरपि विकल्पविशीर्णतया शून्यतापातादिति ॥ ४१ ॥

[एकान्तवादी के विकल्प युक्तिशून्य]

४१ वीं कारिका में पूर्वोक्त का निष्कर्ष बताया गया है। कारिका का अर्थ इस प्रकार है-विचार्यमाण वस्तु प्रमाण द्वारा उभयात्मक अर्थात् विलक्षण भेदाभेद के आश्रय रूप में सिद्ध है, इसलिए एकान्तवादी द्वारा उद्भावित अनवस्था आदि दोषों का विकल्प जातिमात्र है अर्थात् झूठे उत्तर के समान है। क्योंकि उसके पक्ष में उपयुक्त युक्ति नहीं है, उलटा, विलक्षण-भेदाभेद के आश्रयभूत

वस्तु प्रत्यक्ष द्वारा बाधित है, अतः स्पष्ट है कि ऐसे युक्तिहीन विकल्पों से सत्यपक्ष का अपलाप नहीं किया जा सकता। यदि युक्तिहीन विकल्पों से सत्यपक्ष का त्याग होगा तो घट आदि समस्त भाव पदार्थ विकल्पग्रस्त होने से त्याज्य हो जायेंगे और अन्त में सर्वशून्यता की आपत्ति हो जाएगी। जैसे, घट आदि के सम्बन्ध में भी इस प्रकार का विकल्प हो सकता है कि घट जिस स्वभाव से रहता है उसी स्वभाव से उसका स्वभाव भी रहता है या अन्य स्वभाव से रहता है। प्रथम पक्ष में घट और उसके स्वभाव में व्यतिकर होगा और दूसरे पक्ष में अन्य स्वभाव के सम्बन्ध में भी इसी प्रकार का प्रश्न और उत्तर का आश्रय लेने से अनवस्था होगी। फलतः घट का अस्तित्व सिद्ध न होने से शून्यता की आपत्ति अनिवार्य है ॥४१॥

दोषान्तरनिराकरणमप्यतिदिशन्नाह–

मूलम्—एवं ह्युभयदोषादिदोषा अपि न दूषणम्।
सम्यग्जात्यन्तरत्वेन भेदाभेदप्रसिद्धितः ॥ ४२ ॥

एवं हि–भेदाभेदात्मकवस्तुनः प्रत्यक्षसिद्धत्वे हि, **उभयदोषादिदोषा अपि** उभयदोषाभ्यां साधारणाकारेण निश्चेतुमशक्यत्वात् संशयः, ततोऽप्रतिपत्तिः, ततो विषयव्यवस्थाहानिरित्यादयोऽपि न दूषणम्। कुतः? इत्याह–**सम्यग्**=नय-प्रमाणोपयोगेन, **जात्यन्तरत्वेन**= अन्योन्यव्याप्तत्वेन, **भेदाभेदप्रसिद्धितः**=भेदाभेदनिश्चयात्। अयं भावः–प्रत्येकं नयार्पणया प्रत्येकरूपेण, युगपत्तदर्पणया चोभयरूपेण सप्तभंग्यात्मकप्रमाणाच्च प्रतिनियतसकलरूपैर्निश्चयाद् नोभयदोषादितः संशयादिकम्। दुर्नयवासनाजनितं संशयादिकं चेद्दृशविशेषदर्शननिरस्यमिति न मिथ्यात्वदोषात् तथाऽनिश्चीयमानमपि न तथा वस्त्विति स्मर्तव्यम्। न ह्ययं स्थाणोरपराधो यदेनमन्धो न पश्यतीति ॥ ४२ ॥

[संशय और अप्रतिपत्ति दोषयुगल का प्रतिकार]

४२वीं कारिका में यह बताया गया है कि भेदाभेदात्मक पक्ष में एकान्तवादी द्वारा उद्भावित अनवस्था आदि दोष जैसे नहीं होते उसी प्रकार अन्य आपादित दोष भी नहीं हो सकते। कारिका का अर्थ इस प्रकार है भेदाभेदात्मक वस्तु प्रत्यक्षसिद्ध होने के कारण भेदाभेद पक्ष में संशय और अप्रतिपत्ति ये दोनों दोष तथा तन्मूलक अन्य दोष भी नहीं हो सकते क्योंकि नय और प्रमाण द्वारा परस्पर व्याप्त भेदाभेद सिद्ध है। आशय यह है कि भेदाभेद पक्ष में एकान्तवादी द्वारा अन्य प्रकार से भी दोषों का उद्भावन किया जाता है। जैसे–एकान्तवादी का कहना है कि वस्तु को यदि भेद-अभेद उभयात्मक माना जायगा तो भिन्न और अभिन्न का कोई साधारणरूप नहीं होने से किसी एक रूप से वस्तु का निश्चय न हो सकने से इस प्रकार का संशय होगा कि अमुक वस्तु भिन्न है अथवा अभिन्न? और इस प्रकार का संशय होने से वस्तु की प्रतिपत्ति अर्थात् किसी निश्चित रूप से सिद्धि न होगी। इन दोनों दोषों का परिणाम यह होगा कि कोई विषय किसी रूप में व्यवस्थित न हो सकेगा। किन्तु ग्रन्थकार का कहना है कि एकान्तवादी द्वारा उद्भावित होने वाला यह दोष

निराधार है क्योंकि अनेकान्त पक्ष में नय और प्रमाण के उपयोग से भेद व्याप्त अभेद और अभेद व्याप्त भेद की सिद्धि निर्बाध रूप से सम्पन्न होती है।

[नय और प्रमाण से संशयादि का निरसन]

तात्पर्य यह है कि प्रत्येक नय के उपयोग से प्रत्येकरूप से और एक साथ दो नय के उपयोग से उभयरूप से तथा सप्तभङ्गी प्रमाण से सुनिश्चित सभी रूपों से वस्तु का निश्चय हो जाता है। अतः उभयथादि दोष की सम्भावना समाप्त हो जाती है। संशय आदि जो दुर्नय की वासना के कारण प्रतीत होता है उनका, नय और प्रमाण से होने वाले वस्तु के भेदा-भेदात्मक विशेष स्वरूप के निर्णय से, निरसन हो जाता है। अतः यह स्मरणीय है कि मिथ्यात्व दोष से यदि भिन्नाभिन्न रूप में किसी वस्तु का निश्चय नहीं हो पाता तो इतने मात्र से यह नहीं कहा जा सकता कि वस्तु भिन्ना-भिन्नात्मक न होकर एक मात्र भेद अथवा अभेद का ही आधार होती है। यदि वस्तु के भेदाभेदात्मक सहज स्वभाव का अवबोध मिथ्यात्वदोषवश एकान्तवादी को नहीं हो पाता तो इसमें वस्तु का कोई अपराध नहीं है, क्योंकि यह सर्वमान्य उक्ति है कि यदि अन्धा व्यक्ति स्थाणु (बड़े वृक्ष) को नहीं देख पाता, तो इसमें स्थाणु का कोई अपराध नहीं होता है ॥ ४२ ॥

यदनेनापाकृतं तदुपन्यस्यति—

मूलम्—एतेनैतत्प्रतिक्षिप्तं यदुक्तं पूर्ववादिभिः।
विहायानुभवं मोहाज्जातियुक्त्यनुसारिभिः ॥ ४३ ॥

एतेन=अनन्तरोदितेन **एतत्**=वक्ष्यमाणम्, **प्रतिक्षिप्तं**=निराकृतम्, यत् **अनुभवम्**=अविगानेन प्रवृत्तं शबलाध्यक्षम् **मोहात्**=कुतर्कवासनाजनिताज्ञानात् **विहाय**=अप्रामाण्य-संशयादिविषयीकृत्य **जातियुक्त्यनुसारिभिः**=असद्विकल्पमात्रकदाग्रहग्रहिलैः, **पूर्ववादिभिः**=देवधर्म्मुप्रमुखैः उक्तम् ॥ ४३ ॥

४३वीं कारिका में उस वक्तव्य को संकेतित किया गया है जो उक्त कथन से निरस्त हो जाता है। कारिका का अर्थ इस प्रकार है-जात्यात्मक युक्ति का अनुसरण करने वाले असद्विकल्प मात्र के दुराग्रह से ग्रस्त देवबन्धु आदि पूर्ववादियों ने कुतर्कमूलक संस्कार से जनित अज्ञानवश भेदाभेदात्मक वस्तु के प्रत्यक्ष अनुभव को अप्रामाण्य संशय आदि से आक्रान्त बताकर जो कुछ कहा है उस सबका पूर्व कारिका में कथित बात से निराकरण हो जाता है ॥ ४३ ॥

तद्वचनमेवाह—

मूलम्—'द्रव्य पर्याययोर्भेदे नैकस्योभयरूपता।
अभेदेऽन्यतरस्थाननिवृत्ती चिन्त्यतां कथम्' ? ॥ ४४ ॥

द्रव्य-पर्याययोर्भेदेऽभ्युपगम्यमाने नैकस्य वस्तुन उभयरूपता, तयोर्भेदाभिधानात्, एवं चैकमुभयमित्यसिद्धम्। अभेदे पुनरभ्युपगम्यमाने कथमन्यतरस्थान-निवृत्ती=द्रव्यान्वय-पर्यायविच्छेदौ ? इति चिन्त्यताम्, एकस्य निवृत्ति-स्थित्यनुपपत्तेः ॥ ४४ ॥

४४वीं कारिका में पूर्व वादियों का वक्तव्य अंकित किया गया है। कारिका का अर्थ इस प्रकार है–द्रव्य और पर्याय में यदि भेद माना जायगा तो एक वस्तु में द्रव्य-पर्याय उभयरूपता की सिद्धि नहीं हो सकती है और यदि अभेद माना जायगा तो यह एक की स्थिति और अन्य की निवृत्ति की अर्थात् द्रव्यरूप अन्वय और पर्यायरूप विच्छेद की उपपत्ति न हो सकेगी क्योंकि उसी वस्तु की स्थिति और निवृत्ति एक साथ में असंगत है ।। ४४ ।।

अत्रैव हेतुमाह–

मूलम्–'यन्निवृत्तौ न यस्येह निवृत्तिस्तत्ततो यतः ।
भिन्नं नियमतो दृष्टं यथा कर्कः क्रमेलकात्' ।। ४५ ।।

इह=जगति यन्निवृत्तौ यस्य न निवृत्तिस्तदनिवर्तमानं **ततः**=निवर्तमानात् **यतः**=यस्मात् **नियमतः**=समान्यव्याप्तिबलात् **भिन्नं दृष्टं**=भिन्नमनुमितम् । निदर्शनमाह–**यथा कर्कः**=अश्वविशेषः, **क्रमेलकात्**=उष्ट्राद् निवर्तमानाद् अनिवर्तमानो भिन्नो दृष्ट इति भावः ।। ४५ ।।

४५वीं कारिका में पूर्व कारिका की उक्ति का समर्थक हेतु बताया गया है कारिका का अर्थ इस प्रकार है–जिस वस्तु की निवृत्ति होने पर जो वस्तु निवृत्त नहीं होती है वह अनिवृत्त होने वाली वस्तु से भिन्न होती है, यह सामान्य नियम है–जो निवर्तमान उष्ट्र से निवृत्त न होने वाले कर्क=विशेष प्रकार के अश्व में दृष्ट है । इस नियम के बल से यह अनुमान निर्बाधरूप से हो सकता है कि पर्याय के निवृत्त होने पर भी निवृत्त न होने वाला द्रव्य पर्याय से भिन्न है अतः पर्यायात्मक वस्तु का अस्तित्व नहीं हो सकता ।। ४५ ।।

निदर्शितार्थमेव प्रकृते योजयन्नाह–

मूलम्–निवर्तते च पर्यायो न तु द्रव्यं ततो न सः ।
अभिन्नो द्रव्यतोऽभेदे-निवृत्तिस्तत्स्वरूपवत् ।। ४६ ।।

निवर्तते च **पर्यायः**=पिण्डादिः, न तु **द्रव्यं**=मृदादि । ततः **सः**=पर्यायः **द्रव्यतोऽभिन्नो न** किन्तु भिन्न एव, यतोऽभेदे **तत्स्वरूपवत्**=मृद्द्रव्यस्वरूपवत् **अनिवृत्तिः** स्यात् पर्यायस्य । अथवा, नञोऽप्रश्लेषे **निवृत्तिः** स्याद् मृद्द्रव्यस्य, **तत्स्वरूपवत्**=पर्यायस्वरूपवदिति व्याख्येयम् ।। ४६ ।।

४६वीं कारिका में पूर्व कारिका में निदर्शित अर्थ का प्रस्तुत में उपनय किया गया है। कारिका का अर्थ इस प्रकार है–द्रव्य और पर्याय के मध्य पर्याय की यानी पिण्डादि की निवृत्ति होती है किन्तु द्रव्य की अर्थात् मृत्तिका आदि की निवृत्ति नहीं होती। अतः पर्याय द्रव्य से अभिन्न नहीं हो सकता और यदि अभिन्न माना जायगा तो पर्याय की निवृत्ति होने पर पर्याय के समान ही द्रव्य की भी निवृत्ति होगी। अथवा जैसे द्रव्य नहीं निवृत्त होता उसी प्रकार पर्याय की भी निवृत्ति न होगी ।। ४६ ।।

यथैतत् प्रतिक्षिप्तं तथा योजयन्नाह—

मूलम्—प्रतिक्षिप्तं च यद्भेदाभेदपक्षोऽन्य एव हि ।
भेदाभेदविकल्पाभ्यां हन्त ! जात्यन्तरात्मकः ॥ ४७ ॥

प्रतिक्षिप्तं चेदम् यद्=यस्मात्, अन्य एव हि=निश्चितं विलक्षण एव भेदाभेद-विकल्पाभ्यां=प्रत्येकभेदाभेदपक्षाभ्याम्, हन्त ! जात्यन्तरात्मकः=इतरेतरगर्भस्वात्मा भेदाभेदपक्षः । 'हन्त' इति परानवबोधनिबन्धनखेदव्यञ्जकम् ॥ ४७ ॥

४७वीं कारिका में उक्त कथन कैसे निराकृत है उसकी योजना की गयी है । कारिका का अर्थ इस प्रकार है, केवल भेद किंवा अभेद के विकल्प द्वारा जिस पक्ष का निराकरण किया गया है, भेदाभेद पक्ष उससे विजातीय=विलक्षण है । खेद की बात है कि विकल्प के उपस्थापकों ने इस स्पष्ट तथ्य को नहीं समझा ।। ४७ ।।

यदि नामैवं ततः किम् ? इत्याह—

मूलम्—जात्यन्तरात्मकं चैनं दोषास्ते समियुः कथम् ।
भेदेऽभेदे च येऽत्यन्तजातिभिन्ने व्यवस्थिताः ? ॥ ४८ ॥

जात्यन्तरात्मकं चैनं=भेदाभेदविकल्पम् ते=दोषाः कथं समियुः=आगच्छेयुः येऽत्यन्तजातिभिन्ने भेदेऽभेदे च व्यवस्थिताः=लब्धप्रसराः । एकान्तभेद एव ह्येकस्योभयरूपतानुपपत्तिदोषः, एकान्ताभेद एव चान्यतरस्थिति-निवृत्त्यनुपपत्तिः । भेदाभेदे तु न कोऽपि दोषावकाश इति ।

[भेदाभेद पक्ष में वैजात्य का निदर्शन]

४८वीं कारिका में पूर्वोक्त का निष्कर्ष बताया गया है । कारिका का अर्थ इस प्रकार है- वस्तु का भेदाभेदात्मक पक्ष, केवल भेद पक्ष और केवल अभेद पक्ष से विजातीय है । अतः केवल भेद अथवा केवल अभेद पक्ष में जो दोष सम्भावित है वे भेदाभेद पक्ष में नहीं हो सकते । अतः द्रव्य और पर्याय में भेदाभेद पक्ष में अभिमत भेद को स्वीकार करने पर एक वस्तु की उभयात्मकता की अनुपपत्ति नहीं हो सकती । इसी प्रकार भेदाभेद पक्ष में अभिमत अभेद स्वीकार करने पर द्रव्य-पर्याय में एक की निवृत्ति के साथ अन्य की स्थिति की भी अनुपपत्ति नहीं हो सकती क्योंकि एक वस्तु की उभयात्मकता की अनुपपत्ति एकान्तभेद पक्ष में ही सम्भव है और द्रव्य पर्याय में एक की निवृत्ति और अन्य की स्थिति की युगपत् अनुपपत्ति भी एकान्त पक्ष में ही सम्भव है । भेदाभेदात्मक अनेकान्त पक्ष में उक्त दोषों का कोई अवसर नहीं है ।

अत्रायं संप्रदायः-प्रत्येकमुपढौकमानो दोषो न ढौकते जात्यन्तरतापन्ने । दृष्टा हि कैवल्यपरिहारेण तत्प्रयुक्तायाः परस्परानुवेधेन जात्यन्तरभावमापन्नस्य गुड-शुण्ठीद्रव्यस्य कफ-पित्तदोषकारिताया निवृत्तिः; तदाहुः-[वीतरागस्तोत्र ८/६]

"गुडो हि कफहेतुः स्याद् नागरं पित्तकारणम् ।
द्वयात्मनि न दोषोऽस्ति गुडनागरभेषजे ॥ १ ॥" इति ।

अथोक्तदोषनिवृत्तिर्न जात्यन्तरनिमित्ता, किन्तु मिथोमाधुर्य-कटुकत्वोत्कर्षहानिप्रयुक्तेति चेत् ? न, द्वयोरेकतरबलवत्त्व एवान्यापकर्षसंभवात्, तन्मन्दतायामपि मन्दपित्तादिदोषापत्तेश्च । एतेनेतरेतरप्रवेशादेकतरगुणपरित्यागोऽपि निरस्तः, अन्यतरदोषापत्तेः, अनुभवबाधाच्च । अथ मिलितगुड-शुण्ठीक्षोदेन नैकं द्रव्यमारभ्यते, विजातीयानां द्रव्यानारम्भकत्वात्, गुडत्व-शुण्ठीत्वसंकरप्रसङ्गात्; किन्तु कारणविशेषोपनीतरसविशेषवद् गुड-शुण्ठीक्षोदसमाजादेव धातुसाम्याद् गुण-दोषनिवृत्ती इति चेत् ? न, समुदितगुड-शुण्ठीद्रव्यस्याप्येकत्वपरिणतिमत एवोपलम्भात्, धातुसाम्ये रसविशेषवद् द्रव्यविशेषस्यापि प्रयोजकत्वात्, द्रव्यादिवैचित्र्यादाहारपर्याप्तिवैचित्र्योपपत्तेः, अनेकान्ते सांकर्याऽसंभवात्, नृसिंहत्ववदुपपत्तेः । अथ समुदितगुडशुण्ठीद्रव्यं प्रत्येकगुड-शुण्ठीभ्यां विभिन्नमेकस्वभावमेव द्रव्यान्तरम्, न तु मिथोऽभिव्याप्यावस्थितोभयस्वभावं जात्यन्तरमिति चेत् ? न, तस्य द्रव्यान्तरत्वे विलक्षणमाधुर्यकटुकत्वाननुभवप्रसङ्गात्, एकस्वभावत्वे दोषद्वयोपशमाऽहेतुत्वप्रसङ्गात्, उभयजननैकस्वभावस्य चानेकत्वगर्भत्वेन सर्वथैकत्वाऽयोगात्, एकया शक्त्योभयकार्यजननेऽतिप्रसङ्गात्, विभिन्नस्वभावानुभवाच्च । तस्माद् माधुर्य-कटुकत्वयोः परस्परानुवेधनिमित्तमेवोभयदोषनिवर्तकत्वमित्यादरणीयम् ।

[विजातीय वस्तु में प्रत्येक दोष का निराकरण]

इस विषय में यह साम्प्रदायिक मान्यता है कि प्रत्येक में जो दोष होता है वह उन दोनों के विजातीय रूप में निष्पन्न हो जाने पर नहीं होता । यह देखा गया है कि केवल गुड़ से कफ की वृद्धि होती है और केवल सोंठ से पित्त की वृद्धि होती है किन्तु दोनों के योग से जब एक विजातीय औषधि बन जाती है तब उस औषधि के रूप में गुड़ और सोंठ का सेवन होने पर भी कफ और पित्त की वृद्धि नहीं होती, जैसा कि-चिकित्सा शास्त्र में कहा गया है कि-'गुड़ कफ का कारण होता है और सोंठ पित्त का । किन्तु दोनों के मेल से जब 'गुड़नागर' औषधि बन जाती है तब प्रत्येक से होने वाला दोष उभयात्मक औषधि से नहीं होता' ।

[दोष के उत्कर्ष की हानि की बात अयुक्त]

यदि यह कहा जाय कि-गुड़ और सोंठ के योग से उक्त दोष की निवृत्ति विजातीय उत्पत्ति होने के कारण नहीं होती किन्तु सोंठ की कटुता से गुड़ के माधुर्य की अधिकता और गुड़ के माधुर्य से सोंठ की कटुता की अधिकता की हानि होने से होती है-तो यह ठीक नहीं है, क्योंकि गुड़ और सोंठ दोनों में एक के बलवान् होने पर ही अन्य का अपकर्ष हो सकता है, दोनों के समान बल होने पर किसी से किसी का अपकर्ष नहीं हो सकता । और दूसरी बात यह है कि दोनों द्रव्यों का योग होने पर एक दूसरे से दोनों के गुणों में न्यूनता हो जाने पर भी मन्द होकर दोनों के अपने गुण समान रहेंगे । अतः दोनों का योग होने पर कफ और पित्त की अधिक वृद्धि न होने पर भी मन्द-

वृद्धि की आपत्ति अनिवार्य होगी। इस युक्ति से यह भी कथन निरस्त हो जाता है कि-'दो द्रव्यों का परस्पर सम्पर्क होने पर एक के द्वारा अन्य के गुण की निवृत्ति हो जाती है'-क्योंकि ऐसा मानने पर कफ और पित्त में से किसी एक की वृद्धि का दोष अवश्य होगा और उसके साथ ही उक्त बात अनुभव विरुद्ध भी है क्योंकि दोनों द्रव्य का योग होने पर दोनों के रस की अनुभूति निर्विवाद है।

[अनेकान्तवाद में सांकर्य का आपादन]

यदि यह कहा जाय कि-'गुड़ और सोंठ के योग से किसी एक अन्य द्रव्य की उत्पत्ति नहीं हो सकती, क्योंकि विजातीय दो द्रव्य किसी अन्य विलक्षण द्रव्य के उत्पादक नहीं होते और न वे अपनी जातियों के आश्रयभूत ही किसी द्रव्य को उत्पन्न करते हैं। अतः यह नहीं माना जा सकता कि-'गुड़ और सोंठ के योग से गुड़-सोंठ उभयात्मक द्रव्य की उत्पत्ति होती है'-क्योंकि ऐसा मानने पर उस द्रव्य में गुड़त्व और शुण्ठीत्व का सांकर्य हो जायगा किन्तु होता यह है कि जैसे कारण विशेष से गुड़ और सोंठ का योग होने पर उनमें विशेष रस की उत्पत्ति हो जाती है उसी प्रकार गुड़ और सोंठ, उभय के योग से धातुओं में साम्य हो जाने से गुण और दोष की निवृत्ति हो जाती हैं'-तो यह ठीक नहीं है क्योंकि गुड़ और सोंठ का योग होने पर एकात्मना परिणत रूप में ही उनकी उपलब्धि होती है। और साथ ही साथ यह भी ज्ञातव्य है कि धातु साम्य में जैसे रसविशेष प्रयोजक होता है उसी प्रकार द्रव्यविशेष भी प्रयोजक होता है। अतः यह स्वीकार करना समीचीन नहीं है कि-'गुड़ और सोंठ का योग होने पर विशेष रस से युक्त एक विशेष द्रव्य की उत्पत्ति होती है' क्योंकि द्रव्य आदि के वैचित्र्य से ही आहार की परिणति में वैचित्र्य होता है।

[अनेकान्तवाद में संकीर्णवस्तु का स्वीकार]

गुड़ और सोंठ के योग से गुड़-सोंठ उभयात्मक द्रव्य की उत्पत्ति मानने पर जो साङ्कर्य बताया गया वह अनेकान्त पक्ष में सम्भव नहीं है क्योंकि इस पक्ष में वस्तु का सङ्कीर्ण स्वभाव मान्य होने से साङ्कर्य को दोषरूपता अमान्य है। साथ ही साथ यह ज्ञातव्य है कि जैसे नरसिंह उभयात्मक शरीर में नृसिंहत्व की उपपत्ति होती है उसी प्रकार गुड़-सोंठ उभयात्मक द्रव्य में गुड़ शुण्ठीत्व की उपपत्ति हो सकती है। यदि यह कहा जाय कि- मिलित गुड़ और सोंठ अमिलित गुड़ और सोंठ से भिन्न एक अतिरिक्त द्रव्य है जिसका एक अतिरिक्त स्वभाव है न कि परस्पर व्याप्त हो कर स्थित उभयस्वभावात्मक अन्यजातीय वस्तु है'-तो यह ठीक नहीं है क्योंकि मिलित गुड़ और सोंठ को यदि द्रव्यान्तर माना जायगा तो उसमें गुड़ और सोंठ के विलक्षण माधुर्य और कटुता के अनुभव की आपत्ति होगी, और यदि उसे एक स्वभाव माना जायगा तो वह कफ और पित्त की वृद्धिरूप दोषद्वय की निवृत्ति का हेतु न हो सकेगा। और यदि दोषद्वय की निवृत्तिद्वय के जनन में समर्थ एक स्वभाव से युक्त होगा तो इस स्वभाव के अनेकत्व घटित होने से उसकी सर्वथा एकरूपता न हो सकेगी। एक शक्ति से दो कार्य की उपपत्ति मानने में अतिप्रसक्ति भी होगी। साथ ही एक स्वभाव मान्य भी नहीं हो सकता क्योंकि विभिन्न स्वभाव का अनुभव सर्वसम्मत है। इसलिए यही मानना उचित होगा कि गुड़ और सोंठ का योग होने पर दोनों की मधुरता और कटुता का परस्परानुवेध होने से ही उभय दोष की निवृत्ति होती है।

ननु जात्यन्तरत्वेऽपि प्रत्येकदोषनिवृत्तिरिति न नियमः, पृथक् स्निग्धोष्णयोः कफ-पित्तकारित्ववत् समुदितस्निग्धोष्णस्यापि माषस्य तथात्वादिति चेत् ? न, माषे स्निग्धोष्णत्व-

योर्जात्यन्तरात्मकत्वाभावात्, अन्योन्यानुवेधेन स्वभावान्तरभावनिबन्धनस्यैव तत्त्वात् ; अत्र च स्निग्धोष्णत्वयोर्गुञ्जाफले रक्तत्व-कृष्णत्वयोरिव खण्डशो व्याप्त्यावस्थानात्, जात्यन्तरात्मकस्निग्धोष्णत्वशालिनि च दाडिमे श्लेष्म-पित्तोभयदोषाऽकारित्वमिष्टमेव, "स्निग्धोष्णं दाडिमं हृद्यं श्लेष्म-पित्ताविरोधि च" इति वैद्यकवचनादिति । इदमिह तत्त्वम्–तद्भेदस्य तदेकत्वाभावादिनियतत्वेऽपि जात्यन्तरानात्मकस्यैव विलक्षणस्य तस्य तथात्वात्, विलक्षणगुडत्वस्य कफकारितानियतत्ववद् न दोषः । एतेन 'मया भेदसामान्ये तन्नियमः कल्पनीयः, त्वया तु जात्यन्तरानात्मके तत्र, इति गौरवम्' इति **निरस्तम्**, प्रातिस्विकरूपेणैव तन्नियमोपपत्तेरिति दिग् ॥ ४८ ॥

[उरद में स्निग्धता और उष्णता की खंडशः व्याप्ति]

यदि यह कहा जाय कि-'जात्यन्तर होने पर भी उससे प्रत्येक दोष की निवृत्ति होने का नियम नहीं है क्योंकि उदाहरणार्थ, स्निग्ध प्रकृति और उष्ण प्रकृति के द्रव्यों से जैसे कफ और पित्त की उत्पत्ति होती है उसी प्रकार स्निग्ध और उष्ण उभय प्रकृति से युक्त तथा केवल स्निग्ध और केवल उष्णद्रव्य से अन्य जातीय, माष=उर्द से कफ और पित्त दोनों की उत्पत्ति होती है, निवृत्ति उन दोनों में से किसी की भी नहीं होती है'-तो यह ठीक नहीं है क्योंकि माष में जो स्निग्धता और उष्णता है वह जात्यन्तररूप नहीं है क्योंकि परस्पर अनुवेध से स्वभावान्तर होने पर ही जात्यन्तरता की उपपत्ति होती है । माष में स्निग्धता और उष्णता ठीक उसी प्रकार खण्डशः व्याप्त होकर अवस्थित होती है जैसे गुञ्जाफल में रक्तिमा और कालिमा । अनार, जिसमें जात्यन्तर रूप स्निग्धता-उष्णता है उसमें कफ और पित्त दोष की उत्पादकता का न होना इष्ट ही है । जैसा कि वैद्यक में कहा गया है कि-'अनार की प्रकृति स्निग्ध और उष्ण दोनों होती है अतः उससे कफ और पित्त का अवरोध होता है ।'

[जात्यन्तरानात्मक भेद और एक स्वभाव की व्याप्ति]

प्रस्तुत विषय में वास्तविकता यह है कि तद्वस्तु के भेद में तद्वस्तु के एकस्वभाव की जो व्याप्ति है वह जात्यन्तरानात्मक भेद और स्वभाव में ही है । यह ठीक उसी प्रकार जैसे विलक्षण गुडत्व में ही कफकारिता की व्याप्ति का नियम है । इस पर यह कहना कि-'एकान्तवादी के मत में भेदसामान्य में उक्त नियम माननीय होता है और अनेकान्तवादी के मत में जात्यन्तरानात्मक भेद में उक्त नियम के कल्पनीय होने से गौरव होगा' अनायास ही निरस्त हो जाता है, क्योंकि प्रातिस्विकरूप से ही उक्त नियम की उत्पत्ति होती है । अतः सामान्यरूप से नियम की कल्पनीयता के आधार पर उक्त दोष का उद्भावन नहीं किया जा सकता । आशय यह है कि भेद का प्रतियोगी से मुक्त कोई सामान्य स्वरूप नहीं होता अतः प्रतियोगी भेद से भेद भी भिन्न-भिन्न होता है, फलतः अमुकामुक भेद में अमुकामुक के एकस्वभाव की व्याप्ति बन सकती है । अतः व्याप्य भेद में अभेद-सहभावी भेद का समावेश न होने से सामञ्जस्य हो जाने के कारण कोई आपत्ति नहीं हो सकती ॥ ४८ ॥

देशयति—

मूलम्—किञ्चिन्निवर्त्ततेऽवश्यं तस्याप्यन्यत्तथा न यत् ।
अतस्तद्भेद एवेह निवृत्त्याद्यन्यथा कथम् ? ॥

तस्यापि=अधिकृतस्यापि वस्तुनः किञ्चिदवश्यं निवर्त्तते, यदन्यत् किञ्चित् **तथा न**-निवर्त्तत इत्यर्थः । **अतः**=निवर्त्तमानात् **तद्भेद एव**=तस्याऽनिवर्त्तमानस्यांशस्य भेद एव, अन्यथा **निवृत्त्यादि**=निवृत्तिश्चानिवृत्तिश्चेति कथम् ? ॥ ४९ ॥

४९वीं कारिका में भेदाभेद पक्ष के विरुद्ध पुनः प्रश्न खड़ा किया गया है । कारिका का अर्थ इस प्रकार है – विचाराधीन वस्तु का कोई अंश अवश्य निवृत्त होता है अतः जो अंश नहीं निवृत्त होता उसे निवर्तमान अंश से भिन्न मानना होगा, क्योंकि दोनों में ऐक्य मानने पर एक ही समय विचाराधीन वस्तु की निवृत्ति और अनिवृत्ति दोनों की मान्यता कैसे हो सकती है ॥ ४९ ॥

अत्रोत्तरम्—

मूलम्—तस्येति योगसामर्थ्याद् भेद एवेति बाधितम् ।
अभिन्नदेशस्तस्येति यत् तद्व्याप्त्या तथोच्यते ॥ ५० ॥

तस्येति योगसामर्थ्यात्='तस्य किञ्चिद् निवर्त्तते' इत्यत्र तस्येति षष्ठ्यर्थसंबन्धानुभवप्रामाण्यात् , भेद एवेति बाधितं परस्य वचनम् । ननु न बाधितमेतत् 'चैत्रस्य धनम्' इत्यादौ भेद एव षष्ठ्यर्थसंबन्धदर्शनादित्याशङ्कायामाह–**यत्**=यस्मात् , 'तस्य' इति **तद्व्याप्त्या**=तत्स्वभावानुवेधेन अभिन्नदेशः, तथा निवर्त्तत इति क्रियोपसंदानेन उच्यते; तथा च 'तस्य' इत्यत्र 'राहोः शिरः' इतिवदभेदे षष्ठी, समवायनिरासात् इतरसंबन्धानुपपत्तेरिति भावः ॥ ५० ॥

[तस्य किंचित्–यहाँ अभेद अर्थ में षष्ठी]

५०वीं कारिका में उक्त प्रश्न का उत्तर दिया गया है । कारिका का अर्थ इस प्रकार है–'तस्य किञ्चित् निवर्त्तते' इस वाक्य के 'तस्य' शब्द में तत् पद के उत्तर जो षष्ठी विभक्ति का योग है उससे यह कहना कि 'तत् के अंश के साथ तत् का भेद ही है क्योंकि षष्ठी विभक्ति भेद में ही होती है,' बाधित है । तथा–'चैत्रस्य धनम्' इत्यादि स्थलों में भेद में ही षष्ठी देखी जाती है अतः 'तस्य किञ्चित्' में भी तत् पद के उत्तर षष्ठी को भेदाश्रित मानना ही उचित होने से उक्त कथन बाधित नहीं है–यह कहना भी समीचीन नहीं है क्योंकि 'तस्य किञ्चित्' में षष्ठी से किञ्चित् में तत् की व्याप्ति अर्थात् तत् के स्वभाव के अनुवेध का बोध होने से तत् से अभिन्न अंश का ही 'निवर्त्तते' इस क्रिया के साथ सम्बन्ध होता है । फलतः, समवाय सम्बन्ध मान्य न होने से 'राहोः शिरः' इस प्रयोग में जैसे अभेद में ही षष्ठी होती है, क्योंकि राहु और शिर में अभेद से भिन्न सम्बन्ध अनुपपन्न है, उसी प्रकार 'तस्य किञ्चित्' में भी किञ्चित् के साथ तत् के अभेद में ही षष्ठी मान्य है ॥ ५० ॥

निगमयन्नाह—

मूलम्—अतस्तद्भेद एवेति प्रतीतिविमुखं वचः ।
तस्यैव च तथाभावात्तन्निवृत्तीतरात्मकम् ॥ ५१ ॥

अतः='तस्य' इत्यस्याभेदं विनाऽनुपपत्तेः 'तद्भेद एव' इति वचः प्रतीतिविमुखं-प्रत्यक्षादिविरुद्धम् । कुतः ? इत्याह--तस्यैव च=वस्तुनः, तथाभावात्=तथापरिणमनात्, तद्=वस्तु निवृत्त्यनिवृत्त्यात्मकम्=निवृत्त्यऽनिवृत्त्यात्मकं यत् इति ॥ ५१ ॥

५१वीं कारिका में पूर्व कारिका द्वारा कथित अर्थ को निगमित किया गया है। कारिका का अर्थ इस प्रकार है 'तस्य किञ्चित्' में तत् और किञ्चित् में भेद माने बिना तत् पद के उत्तर षष्ठी अनुपपन्न है। इसलिए 'किञ्चित् में तत् का भेद ही है' यह एकान्तवादी का कथन प्रत्यक्षादि प्रतीतियों से विरुद्ध है क्योंकि मूलभूत वस्तु की ही आंशिक निवृत्ति में परिणति होती है अतः अंशतः वस्तु निवृत्त होकर भी पूर्णतः अनिवृत्त ही रहती है ॥ ५१ ॥

इत्थं चैतदङ्गीकर्तव्यमित्याह--

मूलम्--नानुवृत्तिनिवृत्तिभ्यां विना यदुपपद्यते ।
तस्यैव हि तथाभावः सूक्ष्मबुद्ध्या विचिन्त्यताम् ॥ ५२ ॥

नानुवृत्ति-निवृत्तिभ्यां प्रत्यक्षसिद्धाभ्यां स्वभावाभ्यां विना यद् वस्तु उपपद्यते, तस्यैव=वस्तुनः तथाभावः=तथापरिणमनम्, इति सूक्ष्मबुद्ध्या विचिन्त्यतामेतत् ॥ ५२ ॥

५२वीं कारिका में, पूर्वोक्त तथ्य की अवश्य स्वीकार्यता बतायी गयी है। कारिका का अर्थ इस प्रकार है-क्योंकि अनुवृत्ति और निवृत्ति इन प्रत्यक्षसिद्ध स्वभावों के बिना वस्तु नहीं उपपन्न होती, इसलिये वस्तु का ही मूलरूप में स्थिर रहते हुए अंशरूप में निवृत्त्यात्मक परिणाम होता है, यह बात सूक्ष्मबुद्धि से ज्ञातव्य है ॥ ५२ ॥

उपसंहरन्नाह-

मूलम्--तस्यैव तु तथाभावे तदेव हि यतस्तथा ।
भवत्यतो न दोषो नः कश्चिदप्युपपद्यते ॥ ५३ ॥

तस्यैव तु तथाभावे सिद्धे सति तदेव हि यतस्तथा भवति=कारणमेव कार्यतया परिणमत इत्युक्तं भवति। अतो न दोषो नः=अस्माकं कश्चिदपि। एतदुक्तं भवति-कथञ्चिद्-निवर्तमानाभिन्नस्वभावं सद् निवर्तते, तथा निवर्तमानाभिन्नस्वभावं च कथञ्चिदवतिष्ठत इति प्रतीतिसिद्धमेतत्, 'तदेव मृद्द्रव्यं कुशूलात्मना निवर्तते' इत्यत्र च तदाऽनिवर्तमानाभिन्नस्वभाव-परामर्शात्, 'तदेव मृदात्मनाऽवतिष्ठते' इत्यत्र च तदा निवर्तमानाऽभिन्नस्वभावपरामर्शात् ॥५३॥

[मूल वस्तु का ही निवृत्तिरूप परिणाम]

५३वीं कारिका में पूर्व कारिका द्वारा उक्त अर्थ का उपसंहार किया गया है। कारिका का अर्थ इस प्रकार है मूल वस्तु का ही तथाभाव=आंशिक निवृत्ति रूप में परिणमन होता है इस बात की सिद्धि से यह फलित होता है कि कारण का ही कार्यरूप में परिणमन होता है। अतः अनेकान्तवादी के मत में किसी दोष को अवसर नहीं प्राप्त होता। कहने का आशय यह है कि

अनिवर्त्तमान से कथञ्चित् अभिन्न स्वभाव वाले अंश की ही निवृत्ति होती है। एवं निवर्त्तमान अंश से कथञ्चित् अभिन्न स्वभाव वाले की ही अवस्थिति होती है। यह बात प्रतीतिसिद्ध है क्योंकि यह स्पष्ट है कि 'तदेव मृद्द्रव्यं कुशूलात्मना निवर्तते' इस प्रतीति में 'तदेव' से तत् से अभिन्न स्वभाव का ही परामर्श होता है जिसका तात्पर्य यह है कि जो मृद्द्रव्य कुशूल के रूप में था वही अपने कुशूल रूप का त्याग करता है। इसी प्रकार 'तदेव मृदात्मनाऽवतिष्ठते' इस प्रतीति में 'तदेव' से, निवर्त्तमान से अभिन्न स्वभाव का ही परामर्श होता है जिसका अर्थ यह होता है कि कुशूलरूप के निवृत्त होने पर भी मृद्रूप में कुशूल ही अवस्थित रहता है ॥ ५३ ॥

ननु निवर्तमाना-ऽनिवर्तमानयोरेकेनाऽग्रहणात् कथं निवृत्त्यनिवृत्त्यात्मकैकग्रहः ? इत्यत आह—

मूलम्—**इत्थमालोचनं चेदमन्वयव्यतिरेकवत् ।**
वस्तुनस्तत्स्वभावत्वात्तथाभावप्रसाधकम् ॥ ५४ ॥

इत्थं च=उक्तयुक्त्या च **इदं**=निवृत्त्यनिवृत्त्यात्मकवस्तुग्राहि, आलोचनम्, **अन्वय-व्यतिरेकवत्**=उपयोगात्मनाऽन्वयि, अवग्रहे-हा-ऽपाय-धारणात्मना च परस्परं व्यतिरेकि, **वस्तुनस्तत्स्वभावत्वात्**=अन्वय-व्यतिरेकिस्वभावत्वात्, **तथाभावप्रसाधकम्**=अन्वय-व्यतिरेकस्वभावग्राहकम्। एकेनैव ह्युपयोगेन तदेव वस्तु सामान्यतोऽवगृह्यते, ततो निवृत्त्य-निवृत्तिभ्यामीह्यते, ततः 'इत्थं निवृत्तमित्थं चानिवृत्तम्' इति निश्चीयते, ततस्तथैव धार्यते, नचैवमुपयोगैकत्वव्याघातः, श्याम-रक्तघटवदेकत्वाऽविरोधात्। 'अक्रमैकरूपमेव ज्ञानं संवेद्यते न तु क्रमवदपि' इति चेत् ? न, क्वचिद् दोषात् क्रमाऽसंवेदनेऽपि क्वचित् क्रमाऽक्रमस्य स्फुटमेव संवेदनात्। उपयुञ्जते हि लोकाः-"घटमेव जानन्नहं प्राक् सामान्यतः 'किमिदम् ?' इत्यवगृहीतवान्, ततः 'किमनेन घटेन भाव्यमघटेन वा ?' इतीहितवान्, ततः 'कम्बुग्रीवादि-मत्त्वाद् घट एवायम्' इति निश्चितवान्, ततः 'अयमित्थमेव' इत्यवधृतवान्" इति। अत्र हि प्रतिनियतोल्लेखात् क्रमः, 'जानन्' इत्यत्र शतृप्रत्ययाच्चाऽक्रमः स्फुट एव।

[निवृत्ति-अनिवृत्ति उभयरूप वस्तु के ग्रहण की उपपत्ति]

निवर्त्तमान और अनिवर्तमान अंशों का किसी एक ज्ञान से ग्रहण न होने के कारण निवृत्ति-अनिवृत्ति उभयात्मक एक वस्तु का ज्ञान किस प्रकार सम्भव हो सकता है ? प्रस्तुत कारिका ५४ में इसी प्रश्न का समाधान किया गया है। कारिका का अर्थ इस प्रकार है—उक्त युक्ति से निवृत्ति और अनिवृत्ति उभयात्मक वस्तु का ग्रहण करने वाला ज्ञान, उपयोग रूप में अन्वयी तथा अवग्रह-ईहा-अवाय और धारणारूप में व्यतिरेकी होता है, क्योंकि अन्वयी और व्यतिरेकी होना वस्तु का स्वभाव है इसलिए आलोचनात्मक ज्ञान वस्तु के अन्वय व्यतिरेक स्वभाव का ग्राहक होता है। एक ही उपयोग से जिस वस्तु का सर्वप्रथम सामान्यरूप में अवग्रह होता है बाद में उसी वस्तु की निवृत्ति और अनिवृत्तिरूप में ईहा होती है। उसके अनन्तर एक रूप से उस वस्तु की निवृत्ति और अन्य रूप से

अनिवृत्ति का निश्चय होता है और अन्त में निश्चितरूप में उसका अवधारण होता है। इस प्रकार उक्त चार प्रकार से वस्तु का ग्राहक होने पर उपयोग के एकत्व की हानि नहीं होती, उसके एकत्व में ठीक उसी प्रकार कोई विरोध नहीं होता है जैसे पहले श्याम और बाद में रक्त घट के एकत्व में कोई विरोध नहीं होता है।

[क्रमाक्रमोभयात्मक एक ज्ञान की अनुभूति]

इस सन्दर्भ में यह कहना कि 'ज्ञान का अक्रमिक रूप में ही अनुभव होता है, क्रमिक रूप में नहीं होता। अतः उक्त रीति से चार प्रकार से एक उपयोग में अन्वयव्यतिरेकी वस्तु की ग्राहकता का प्रतिपादन नहीं हो सकता,' यह ठीक नहीं है, क्योंकि दोषवश किसी उपयोग में क्रम का अनुभव न होने पर भी अन्य उपयोग में क्रम और अक्रम दोनों की स्फुट अनुभूति होती है। यही कारण है कि लोगों को क्रम-अक्रम दो रूपों में वस्तु का एक ज्ञानोपयोग होता है। जैसे घट का ज्ञानोपयोग होने पर मनुष्य को इस प्रकार का अनुभव होता है कि मुझे घट को ही देखते हुए पहले सामान्य रूप से ही 'यह क्या है' इस प्रकार अवग्रह हुआ, उसके बाद 'क्या यह घट है ? अथवा कोई अन्य वस्तु है ?' इस प्रकार उसकी ईहा हुई; और उसके अनन्तर घट के कम्बुग्रीवा आदि चिह्न को देखने पर 'यह घट ही है' ऐसा निश्चय हुआ; और अन्त में 'यह वास्तव में ऐसा ही है- घट ही है' इस प्रकार अवधारण हुआ। इस रीति से सम्पन्न उपयोग में अवग्रह आदि में वस्तु के प्रतिनियत रूप का उल्लेख होने से क्रम और 'जानन्' के वर्त्तमानकृदन्त में शतृ प्रत्यय से क्रम का अभाव सर्वथा स्फुट है।

यस्त्वक्रमिकांशमेकमेव ज्ञानमुपैति, तस्य घटसामान्यालोचनानन्तरम् 'अनेन घटेन भाव्यम्' इतीहैव दुर्घटा, बह्वर्थपरामर्शरूपत्वात् तस्याः। "घटत्वव्याप्यकम्बुग्रीवादिमानयम्--इत्याकारिकैवेहा" इति तु 'कम्बुग्रीवादिकं घटत्वादिव्याप्यं, तदाश्रयोऽयम्' इत्यादितोऽपि संशयनिवृत्तेर्न सर्वत्र संभवदुक्तिकम्। न चोक्ताकाराऽपीहा सहचारदर्शनादिकं विना व्याप्त्याद्यग्रहात् संभविनी। अव्यवहितनष्टं च तच्चिरतरनष्टतुल्यम्। उद्बुद्धतत्संस्कार एव तत्कार्यकारीत्युपगमे चोद्बुद्धसंस्कार एव ज्ञानमस्त्विति ज्ञानसंकथैवोत्सीदेत्, अनुभवविरोधश्चैवम्, इत्यादि विवेचितं ज्ञानार्णवे ॥ ५४ ॥

[क्रमरहितज्ञानवादी के मत में ईहा की दुर्घटता]

जिस मत में क्रमिक अंशों से निर्मुक्त एक ही ज्ञान का अस्तित्व मान्य है उस मत में सामान्य रूप से घट का आलोचन होने के बाद उस विषय की ईहा नहीं हो सकती; क्योंकि 'इस वस्तु को घट होना चाहिए' ईहा का यह रूप नहीं हो सकता। ऐसी ईहा अनेक अर्थों का परामर्श करती है, जबकि 'इसे घट होना चाहिए' यह ज्ञान केवल एक वस्तु घट का ही परामर्शक है। यदि यह कहा जाय कि-"यह घटत्व के व्याप्य कम्बुग्रीवा का आश्रय है' इस रूप में घट की ईहा होती है" तो इस प्रकार का कथन सर्वत्र सम्भव नहीं है; क्योंकि कम्बुग्रीवा घटत्व का व्याप्य है और यह वस्तु कम्बुग्रीवा का आश्रय है, इस ज्ञान से भी संशय की निवृत्ति होती है। इसके अतिरिक्त उक्त ईहा, सहचारदर्शन आदि के अभाव में व्याप्ति का ज्ञान न होने से, सम्भव भी नहीं हो सकती। क्योंकि अव्यवहित पूर्वकाल में नष्ट होने पर भी सहचारदर्शन आदि चिरपूर्व में नष्ट के समान हो जाता है। यदि यह

कहा जाय कि-'सहचार आदि का उद्बुद्ध संस्कार ही सहचार-दर्शन के कार्य का जनक होता है'-तो यह ठीक नहीं है क्योंकि ऐसा मानने पर यह भी कहा जा सकता है कि 'उद्बुद्ध संस्कार ही ज्ञान है' जिसके फलस्वरूप ज्ञान की सत्ता का ही लोप प्रसक्त होगा। और ऐसा मानने में उपयोग के उक्त अनुभव का विरोध भी है। इस प्रसङ्ग की ऐसी सभी बातों का स्वोपज्ञ 'ज्ञानार्णव' ग्रन्थ में विवेचन किया गया है ॥ ५४ ॥

इत्थं च 'द्रव्य-पर्याययोर्निवृत्त्यनिवृत्तिभ्यां भेद एव' निरस्तम्। अथ 'भेदोऽपि' इत्युक्तौ न बाध इत्याह—

मूलम्—न च 'भेदोऽपि' बाधायै तस्यानेकान्तवादिनः।
जात्यन्तरात्मकं वस्तु नित्यानित्यं यतो मतम् ॥ ५५ ॥

न च भेदोऽप्यधिकृतांशस्येतरांशात् तस्य=वस्तुनः बाधायै=अनेकान्तपक्षव्याघाताय अनेकान्तवादिनः। यतः=यस्मात् जात्यन्तरात्मकं=इतरेतरानुविद्धं सद् वस्तु नित्यानित्यं मतम्, यत एव भिन्नमत एवानित्यम्, यत एव चाभिन्नमत एव नित्यमिति। न हि नित्यत्वमनित्यं वा किञ्चिदेकरूपमस्ति, किन्तु यद् यदाऽन्वीयते तत् तदा नित्यमिति व्यपदिश्यते, यदा च यद् व्यतिरिच्यते, तदा तदनित्यमिति। अत एव प्रागभावः प्राग् नित्यः, ध्वंसश्च पश्चाद् नित्यः, अत एव च नित्या मुक्तिरुपपद्यत इति ॥ ५५ ॥

[द्रव्य-पर्याय में भेदाभेद से नित्यानित्यत्व]

'द्रव्य निवृत्त नहीं होता है, किन्तु पर्याय निवृत्त होता है, इसलिए द्रव्य और पर्याय में केवल भेद ही है' इस बात का निराकरण अब तक किया गया है और अब प्रस्तुत कारिका ५५ में यह बताना है कि-'द्रव्य और पर्याय में भेद भी है'। ऐसा मानने पर वस्तु की अनेकान्तरूपता को बाध नहीं होता। कारिका का अर्थ इस प्रकार है—"प्रस्तुत अंश 'पर्याय' का इतर अंश 'द्रव्य' से भेद भी है" ऐसा मानने से वस्तु के सम्बन्ध में अनेकान्तवादी के पक्ष की हानि नहीं होती, क्योंकि वस्तु परस्परानुविद्ध जात्यन्तर रूप होने से नित्य अनित्य दोनों रूप में मान्य है। पर्यायात्मक वस्तु यतः द्रव्य से भिन्न है, अत एव अनित्य है; एवं यतः वह द्रव्य से अभिन्न है अत एव नित्य है। वस्तु का नित्यत्व और अनित्यत्व कोई एक ही रूप नहीं अपितु वस्तु जब अन्वयी होती है तब वह नित्य होती है, और जिस वस्तु का जब व्यतिरेक होता है तब वह अनित्य होती है। इसीलिए प्रागभाव वस्तु-जन्म के पूर्व नित्य होता है, और ध्वंस वस्तुसत्ता के बाद नित्य होता है। इसीलिए मुक्ति की नित्यता उपपन्न होती है। मुक्ति हो जाने पर उसका व्यतिरेक ठीक उसी प्रकार कभी नहीं होता जैसे ध्वंस का ॥ ५५ ॥

एतदेव समर्थयन्नाह—

मूलम्—प्रत्यभिज्ञाबलाच्चैतदित्थं समवसीयते।
इयं च लोकसिद्धैव तदेवेदमिति क्षितौ ॥ ५६ ॥

प्रत्यभिज्ञाबलाच्च=प्रत्यभिज्ञान्यथानुपपत्त्या च **एतत्**=वस्तु **इत्थं**=नित्यानित्यं समवसीयते। इयं च प्रत्यभिज्ञा **क्षितौ**=पृथिव्याम् **'तदेवेदम्' इति**='तदेवेदम्' इत्युल्लेखवती **लोकसिद्धैव**=आगोपालाङ्गनं प्रसिद्धैव ॥ ५६ ॥

५६वीं कारिका में वस्तु की नित्य-अनित्य रूपता का समर्थन किया गया है। कारिका का अर्थ इस प्रकार है---वस्तु की नित्यता और अनित्यता का निश्चय, प्रत्यभिज्ञा की अन्यथा उपपत्ति न होने से, सम्पन्न होता है; और प्रत्यभिज्ञा वस्तु का विभिन्न रूपों में परिवर्तन होने पर भी 'तदेव इदम्= यह वही है' इस रूप में सारे लोक में गोपाल की अङ्गना तक को ज्ञात है। स्पष्ट ही 'इदम्' शब्द से उल्लिख्यमान विभिन्न परिवर्तित रूपों में और 'तत्' शब्द से उल्लिख्यमान स्थिर वस्तु में उक्त प्रत्यभिज्ञा द्वारा अभेद का बोध होता है, जिससे परिवर्तमान पर्याय और अपरिवर्तमान द्रव्य में एकता होने से द्रव्यात्मना पर्याय की नित्यता और पर्यायात्मना द्रव्य की अनित्यता सिद्ध होती है ॥ ५६ ॥

एतद्बलमेवाह—

मूलम्—न युज्यते च सन्न्यायादृते तत्परिणामिताम्।
कालादिभेदतो वस्त्वभेदतश्च तथागतेः ॥ ५७ ॥

न युज्यते च 'इयं प्रत्यभिज्ञा' इति शेषः **सन्न्यायात्**=सत्तर्काद् विचार्यमाणात् **ऋते**=विना **तत्परिणामितां**=तस्य वस्तुनोऽन्वितविच्छिन्नरूपताम्। कथम्? इत्याह—**कालादिभेदतः**=तत्कालधर्मभेदतः वस्त्वभेदतश्च, **तथागतेः**='तदेवेदम्' इति परिच्छित्तेः, अन्वयप्राधान्येन तदेतत्कालकृततदेतत्कालीनधर्मकृतभेदावभासात्, अन्वयप्रधानत्वाच्च प्रत्यभिज्ञोपयोगस्य न प्राधान्येन भेदावभासः, प्रधानोपसर्जनभावस्य ज्ञाने प्रतिविषयं स्वहेतुक्षयोपशमभेदेनोपपत्तेः। **एतेन** 'स्वरूपविरोधाऽभावादेकतरनिमेक्तभागवद् नैकस्य नानात्वम्, बुद्धेः रूपभेदाद् नानात्वम्, अंशे रूपाभेदाच्चैकत्वम्, इत्युपगमे च नानारूपबुद्ध्युपग्राह्यत्वाद् नानात्वमेव, न त्वेकत्वम्' इत्यादि **निरस्तम्**, नानैकरूपप्रत्यभिज्ञया नानैकरूपस्यैव वस्तुनो ग्रहात् ॥ ५७ ॥

[वस्तु के नित्यानित्यत्व के बिना प्रत्यभिज्ञा की अनुपपत्ति]

५७वीं कारिका में वस्तु को नित्यानित्य न मानने पर 'तदेव इदम्' इस प्रत्यभिज्ञा की अनुपपत्ति स्वरूप प्रत्यभिज्ञा बल का प्रतिपादन किया गया है। कारिका का अर्थ इस प्रकार है—'तदेव इदम्' यह प्रत्यभिज्ञा तर्कपूर्ण विचार करने पर उस स्थिति में उपपन्न नहीं हो सकती जब तक वस्तु को अन्वित=नित्य और विच्छिन्न=अनित्य उभय रूप न माना जायगा क्योंकि 'तदेव इदम्' यह प्रत्यभिज्ञा कालआदिमूलक भेद और वस्तु के अभेद से ही सम्पन्न होती है। इस प्रत्यभिज्ञा में अन्वयि-स्थिर वस्तु को प्रधानरूप से ग्रहण करते हुए तत्कालमूलक और एतत्कालमूलक भेद एवं तत्कालीन और एतत्कालीन धर्ममूलक भेद का भान होता है। अन्वय की प्रधानता होने से प्रत्यभिज्ञात्मक उपयोग

में प्रधानरूप से भेद का भान नहीं होता। ज्ञान में प्रधान और अप्रधानभाव की उपपत्ति तत्तद्विषयक ज्ञान के हेतुभूत क्षयोपशम के भेद से होती है।

इस सन्दर्भ में कुछ लोगों का यह कहना है कि-"जैसे वस्तु का पृथग् भूत एक भाग में स्वरूप विरोध न होने के कारण नानात्व नहीं होता, उसी प्रकार किसी भी एक वस्तु में नानात्व नहीं हो सकता, एवं बुद्धि रूपभेद से अनेक होती है, और अंशतः रूप से अभिन्न होने से एक होती है। ऐसा मानने पर नाना रूप बुद्धि से ग्राह्य होने के कारण 'वस्तु में नानात्व ही होता है, एकत्व नहीं होता है' यह सिद्ध होता है"-किन्तु यह सब बात अनायास निरस्त हो जाती है क्योंकि उक्त रीति से एक-अनेक रूप प्रत्यभिज्ञा से एक-अनेक रूप ही वस्तु का ग्रहण होना युक्तिसिद्ध है ॥ ५७ ॥

एतदेव भावयति—

मूलम्—एकान्तैक्ये न नाना यन्नानात्वे चैकमप्यदः।
अतः कथं नु तद्भावस्तदेतदुभयात्मकम् ॥ ५८ ॥

एकान्तैक्ये पूर्वा-ऽपरयोः न नाना **यत्**=यस्मात् कथंचिदपि, नानात्वे च सर्वथा एक-मप्यदो 'न' इति वर्तते, **अतः**=अस्माद्धेतोः, कथं नु इति निश्चये तद्भावः-'तदेवेदम्' इति प्रत्यभिज्ञोपपत्तिः ? **ततस्तत्**=प्रत्यभिज्ञेयं वस्तु, **उभयात्मकम्**=नाना ऽनानास्वभावम्।

प्रस्तुत ५८वीं कारिका में एक अनेक रूप प्रत्यभिज्ञा से एक-अनेक रूप वस्तु के ग्रहण होने का उपपादन किया गया है। कारिका का अर्थ इस प्रकार है—पूर्ववर्ती और परवर्ती वस्तु में सर्वथा ऐक्य होने पर उनमें किसी भी प्रकार अनेकत्व नहीं हो सकता और उन्हें सर्वथा भिन्न मानने पर उनमें एकत्व भी नहीं हो सकता; फिर ऐसी स्थिति में किसी वस्तु की 'तदेव इदम्' इस रूप में प्रत्यभिज्ञा कैसे हो सकेगी ? किन्तु इस प्रकार की प्रत्यभिज्ञा होती है अतः यह सिद्ध है कि उसकी विषयभूत वस्तु एक-अनेक उभयात्मक है।

इदमिह हार्दम्—यैः पूर्वा-ऽपरकालीनघटादेरैक्यमेव स्वीक्रियते तेषां स्वरूपतो विशिष्ट-भेदे, कालविशेषावच्छिन्नभेदे, श्याम-रक्तादिरूपावच्छिन्नभेदे वा कथं प्रत्यभिज्ञा ?। 'तद्व्यक्ति-त्वावच्छिन्नभेदाभावरूपस्यैकत्वस्य प्रत्यभिज्ञायमानस्याऽबाधाद् नानुपपत्तिरि'ति चेत् ? न, परमाणु-द्व्यणुकादिदेशविगमेन खण्डघटादिसंभावनया तदनिश्चयात्, खण्डघटादिनिश्चयेऽपि तथा प्रत्यभिज्ञानाच्च। 'खण्डघटादौ तद्वृत्तिघटत्वावच्छिन्नभेदाभाव एव प्रत्यभिज्ञायत' इति चेत् ? न, तद्वृत्तिघटत्वस्य घटत्वापेक्षया गुरुत्वेन भेदप्रतियोगितानवच्छेदकत्वात्, घटत्वावच्छिन्नभेदा-भावसंबन्धेन तस्यान्वये च व्यक्त्यन्तरेऽपि तथाप्रत्यभिज्ञाप्रसङ्गात्। 'शुद्धव्यक्त्यभेदेनैव तत्प-दार्थस्येदंपदार्थे भानाद् व्यक्त्यन्तरे 'सोऽयम्' इति प्रत्यभिज्ञा भ्रान्तैवे'ति चेत् ? 'व्यक्तिभेद एव देशभङ्गे न तु रूपभङ्ग' इत्यत्र किं मानम् ? श्याम-रक्तादिदशयोरिव खण्डाऽखण्ड-देशयोरपि विशिष्टभेदस्य सुवचत्वात्, विशिष्टनाशोत्पादरूपवैधर्म्यस्यापि तद्वदेवात्र शुद्धव्य-क्त्यभेदाऽविरोधित्वात् ? इति।

प्रस्तुत विषय का मर्म यह है कि जो लोग पूर्ववर्ती और परवर्ती घट आदि में सर्वथा ऐक्य मानते हैं, उनके मत में भी शुद्ध और विशिष्ट का भेद एवं एककालावच्छिन्न में अन्यकालावच्छिन्न का भेद तथा रक्तरूपावच्छिन्न में श्यामरूपावच्छिन्न का भेद होता ही है, तो फिर उनके मत में पूर्ववर्ती और परवर्ती घट आदि में अभेदात्मक एकत्व की प्रत्यभिज्ञा कैसे हो सकती है ? यदि यह कहा जाय कि–'पूर्ववर्ती घटव्यक्ति और परवर्ती घटव्यक्ति में तद्-व्यक्तित्व एक है अत: तद्-व्यक्तित्वावच्छिन्न-प्रतियोगितानिरूपक भेद उनमें न होने से उस भेद के अभावरूप एकत्व की प्रत्यभिज्ञा होने में कोई बाधा नहीं है' तो यह ठीक नहीं है क्योंकि पूर्वकाल और परकाल के बीच घटव्यक्ति के परमाणु द्व्यणुक आदि का निर्गम होने से परकालवर्ती घट खण्डघट हो सकता है जो पूर्वकालवर्ती अखण्ड घट से भिन्न होने के कारण पूर्वकालीन घटव्यक्ति निष्ठ तद्व्यक्तित्व का आश्रय न होने से तद्व्यक्तित्वावच्छिन्नप्रतियोगिताकभेद का आश्रय है। अत: उसमें उस भेद के अभाव रूप एकत्व की प्रत्यभिज्ञा नहीं हो सकती। इसके साथ यह भी ज्ञातव्य है कि परवर्ती घटव्यक्ति वास्तव में खण्ड घट है यह निश्चय रहने पर भी उसमें पूर्ववर्ती घट के अभेदात्मक एकत्व को विषय करने वाली प्रत्यभिज्ञा होती है जो तद्व्यक्तित्वावच्छिन्नप्रतियोगिताक भेदाभाव रूप एकत्व को ले कर नहीं हो सकती।

यह भी नहीं कहा जा सकता कि–'पूर्वापर घटव्यक्ति के ऐक्य को विषय करने वाली प्रत्यभिज्ञा पूर्वकालीनव्यक्तिवृत्तिघटत्वावच्छिन्नप्रतियोगिताक भेद के अभाव को विषय करती है'– क्योंकि घटत्व की अपेक्षा पूर्वकालीनघटव्यक्तिवृत्ति घटत्व गुरु होने से तदवच्छिन्नप्रतियोगिताकभेद अप्रसिद्ध होने के कारण उसका अभाव भी अप्रसिद्ध होने से प्रत्यभिज्ञा को उक्त भेदाभाव विषयक कहना सम्भव नहीं है।

यह भी नहीं कहा जा सकता कि–"'सोऽयं' इस प्रत्यभिज्ञा में 'तद्' पदार्थ पूर्वकालीन घट-व्यक्ति' का 'इदम्' पदार्थ परकालवर्ती घटव्यक्ति' में घटत्वावच्छिन्नप्रतियोगिताक भेदाभाव सम्बन्ध से भान मानने में उस प्रत्यभिज्ञा की अनुपपत्ति नहीं हो सकती है।"–क्योंकि ऐसा मानने पर पूर्व-कालीन एक घटव्यक्ति की परकालीन अन्य घटव्यक्ति में भी 'सोऽयं' इस प्रत्यभिज्ञा की आपत्ति होगी।

यदि यह कहा जाय कि–'सोऽयं' इस प्रत्यभिज्ञा में इदम् पदार्थ में तद् पदार्थ का शुद्धव्यक्त्य-भेद से ही भान होता है और व्यक्ति का शुद्धव्यक्त्यभेद अन्य व्यक्ति में नहीं होता अत एव एक घट-व्यक्ति को शुद्धव्यक्त्यभेद सम्बन्ध से अन्य व्यक्ति में विषय करने वाली प्रत्यभिज्ञा भ्रमात्मक ही होगी। अत: पूर्वापरवर्ती एक घटव्यक्ति में ही उक्त प्रत्यभिज्ञा प्रमात्मक होगी"–तो यह ठीक नहीं है क्योंकि–'देश भङ्ग=किसी एक भाग का भङ्ग होने पर व्यक्तिभेद होता ही है व्यक्त्यभेद नहीं होता, और रूप का भङ्ग होने पर व्यक्तिभेद नहीं होता' इसमें कोई प्रमाण नहीं है।

[विशिष्टभेद होने पर भी शुद्ध व्यक्ति का अभेद]

अत: जैसे एक घट में पाक से श्यामरूप का नाश हो कर रक्तरूप की उत्पत्ति होने पर रक्त-दशापन्न घट में श्यामदशापन्न उसी घट का विशिष्टभेद होता है उसी प्रकार जब कोई घटव्यक्ति अपने परमाणु द्व्यणुक–आदि भाग का निर्गम होने से खण्ड घट हो जाता है तो खण्डदशापन्न उस व्यक्ति में अखण्डदशापन्न उस व्यक्ति का विशिष्ट भेद हो सकता है और जैसे रक्त दशा में श्याम रूप विशिष्ट घट का नाश और रक्तरूप विशिष्ट घट की उत्पत्ति रूप वैधर्म्य के होने पर भी उनमें शुद्ध व्यक्त्यभेद होने में कोई विरोध नहीं होता, उसी प्रकार पूर्वकालीन अखण्ड घटव्यक्ति का नाश और

खण्डघटव्यक्ति की उत्पत्तिरूप वैधर्म्य के होने पर भी खण्डघट और अखण्डघट में शुद्ध व्यक्त्यभेद होने में कोई विरोध नहीं हो सकता है। अतः पूर्वापरकालीन घटव्यक्ति में उक्तरीति से विशिष्टभेद और शुद्ध व्यक्त्यभेद दोनों सम्भव होने से ही उक्त प्रत्यभिज्ञा की उपपत्ति होती है, न कि पूर्वापर घट में एकमात्र अभेद को ही मान्य करने पर हो सकती है।

किञ्च, एकान्तैक्ये 'सोऽयम्' इति विशेषणविशेष्यभावस्यैवानुपपत्तिः, अन्यथा 'घटो घटः' इत्यपि स्यात्, 'घटो घटस्वभाववान्' इतिवत्। 'क्वचिदेव किञ्चित् स्वस्मिन् प्रकारीभूय भासते' इति चेत्? तर्हि घटे घटत्वं स्वात्मकमेव भासताम्। 'व्यक्तेर्जातिर्विलक्षणैवानुभूयत' इति चेत्? तत्तेदंतयोरपि किं न वैलक्षण्यमनुभवसि? । 'एवं'-रजतमिदम्-इत्यत्रेदमर्थ--रजतयोरपि भेदः स्यादिति चेत्? स्यादेवेदन्त्व-रजतत्वाभ्याम्, स्वद्रव्यान्वयेन तु न स्यादिति न किञ्चिदेतत्। यैस्त्वेकान्ततो नानात्वमेवाङ्गीक्रियते तेषामुक्तप्रत्यभिज्ञाया गन्धोऽपि नास्ति, पूर्वापरयोरेकत्वाऽयोगात्। उक्तं चैतत् प्राक्, वक्ष्यते चानुपदमपि ॥ ५८ ॥

[एकान्ताभेद पक्ष में विशेषण-विशेष्यभाव असंगत]

पूर्वापरकालीन घट में सर्वथा ऐक्य मानने पर उक्त प्रत्यभिज्ञा की उक्त अनुपपत्ति के समान अन्य प्रकार की भी अनुपपत्ति होगी, जैसे; उक्त पक्ष में 'सोऽयं' इस वाक्य में तत् पदार्थ और इदं पदार्थ के अत्यन्त अभिन्न होने पर उनमें विशेषण-विशेष्य भाव की अनुपपत्ति होगी। और यदि तत् पदार्थ तथा इदं पदार्थ के सर्वथा ऐक्य होने पर भी उनमें विशेषण-विशेष्य भाव माना जायगा तो 'घटो घटः' इस वाक्य में भी दो घट पदों के अर्थ में विशेषण-विशेष्य भाव को उसीप्रकार मान्य करना होगा जैसे 'घटः घटस्वभाववान्' इस वाक्य के दोनों पदों के अर्थों में विशेषण विशेष्यभाव मान्य होता है।

यदि यह कहा जाय कि-"स्थलविशेष में ही कोई पदार्थ अपने में ही प्रकारविधया भासित होता है, सर्वत्र नहीं। अतः 'सोऽयं' इस वाक्य में इदं पदार्थ में तत् पद के उसी अर्थ का विशेषणरूप में भान मानने पर और 'घटः घटस्वभाववान्' इस वाक्य में घट में 'घटस्वभाववान्' इस शब्द के उसी अर्थ का विशेषणरूप में भान मानने पर भी 'घटो घटः' में घटपदार्थ में विशेषणरूप से घट पदार्थ के भान की आपत्ति देना उचित नहीं है"-तो यह भी कहा जा सकता है कि घट में घटात्मक ही घटत्व का भान होता है, फलतः घट और घटत्व में प्रतिवादी द्वारा मान्य एकान्तभेद की सिद्धि न होगी।

यदि यह कहा जाय कि-"घटत्व जाति है और 'घट' उसका आश्रयभूत व्यक्ति है अत एव घट में भासमान घटत्व को घटात्मक नहीं माना जा सकता, क्योंकि जाति व्यक्ति से भिन्न रूप में ही अनुभूत होती है"-तो फिर यह भी कहा जा सकता है कि जाति और व्यक्ति के समान ही तत्ता और इदन्ता में भी तो भेद ही है फिर उसे भी भिन्नरूप में क्यों नहीं अनुभव करते? फलतः तत् पदार्थ और इदं पदार्थ के सर्वथा ऐक्य मानने पर उनमें विशेषण-विशेष्यभाव की अनुपपत्ति अपरीहार्य है।

यदि यह शङ्का की जाय कि "जैसे सोऽयं' में तत् पदार्थ और इदं पदार्थ में भेद है उसीप्रकार 'रजतमिदं' इसवाक्य में इदंपदार्थ और रजतपदार्थ में भी भेद होगा" तो यह शङ्का नगण्य

है क्योंकि उनमें केवल द्रव्य रूप से ही अभेद होता है, इदन्त्व और रजतत्व रूप से तो उनमें भेद होता ही है।

और जो लोग पूर्वापर घट में एकान्तरूप से भेद ही मानते हैं उनके मत में तो 'सोऽयं' इस प्रत्यभिज्ञा की कोई सम्भावना ही नहीं हो सकती, क्योंकि उक्त मत में पूर्वापर घट में एकत्व का कोई योग नहीं है यह बात पहले कही जा चुकी है, और आगे भी कही जायगी ।। ५८ ।।

स्वपक्षे तदुपपत्तिमाह—

मूलम्—तस्यैव तु तथाभावे कथञ्चिद् भेदयोगतः ।
प्रमातुरपि तद्भावाद्युज्यते मुख्यवृत्तितः ॥ ५९ ॥

तस्यैव तु=पूर्वस्यैव तु वस्तुनः, **तथाभावे**=तदन्वयस्वभावाऽपरित्यागेनापरस्वभावोपादाने, **कथञ्चिद् भेदयोगतः**=तद्द्रव्यतोऽभेदेऽपि तत्पर्यायतो भेदात् **प्रमातुरपि**=तत्परिच्छेदकप्रमाणपरिणतस्यात्मनोऽपि, **तथाभावात्**=ग्राह्यवद् ग्राहकस्य पूर्वा-ऽपरभावेनैकाऽनेकरूपत्वात्, **युज्यते मुख्यवृत्तितस्**तद्व्यवहाराऽबाधेन यथोक्तप्रत्यभिज्ञा । न ह्यन्य एवानुभवति अन्य एव च प्रतिजानीते, नवा तदनुभव-प्रत्यभिज्ञयोभिन्नैकाश्रयत्वमपि, संबन्धानुपपत्तेः, पूर्वा-ऽपरार्थवदनुभवितृ-प्रत्यभिज्ञातृस्वभावानुभवाच्चेति ॥ ५९ ॥

[पूर्वापरवर्ती ग्राहक में भी भेदाभेद]

५९वीं कारिका में अनेकान्तवाद की दृष्टि से पूर्वापर घट में उक्त प्रत्यभिज्ञा की उपपत्ति बतायी गयी है । कारिका का अर्थ इस प्रकार है-अनेकान्त पक्ष में पूर्वकालिक वस्तु ही अपने मूलभूत स्वभाव का परित्याग न करते हुए अन्य स्वभाव को ग्रहण करती है अतः पूर्वापर वस्तु में मूलद्रव्यात्मना अभेद होने पर भी पर्यायात्मना भेद होता है । प्रमाता व्यक्ति भी पूर्वापर वस्तु के ऐक्य-ग्रहीता रूप में परिणत हो जाता है, अर्थात् वह भी पूर्व वस्तु के स्वभाव को ग्रहण करने के मूलभूत स्वभाव के साथ ही उसके अन्य स्वभाव के ग्राहकरूप में परिवर्तित हो जाता है, फलतः ग्राह्य वस्तु जैसे पूर्वापरवर्ती होने से एक-अनेकरूप होती है। उसी प्रकार ग्रहीता पुरुष भी पूर्वापरवर्ती होकर एक-अनेकरूप हो जाता है । अतः अनेकान्त पक्ष में मुख्यवृत्ति से अर्थात् पूर्वापरवर्ती में अभेदव्यवहार का बाध न होने से ग्राह्य वस्तु में 'सोऽयं' इस प्रत्यभिज्ञा के समान ग्रहीता में भी 'सोऽहं' इस प्रकार की प्रत्यभिज्ञा उपपन्न होती है । निश्चय ही यह नहीं माना जा सकता कि-'पूर्वकाल में वस्तु का अनुभव दूसरा करता है और परकाल में उसकी प्रत्यभिज्ञा कोई अन्य करता है ।' तथा अनुभव और प्रत्यभिज्ञा में भिन्नाश्रयता भी नहीं हो सकती, क्योंकि भिन्नाश्रयता मानने पर दोनों में सम्बन्ध की उपपत्ति नहीं हो सकती है । और यह भी यथार्थ है कि पूर्वापर वस्तु में जैसे एकस्वभावता का अनुभव होता है उसी प्रकार अनुभविता और प्रत्यभिज्ञाता में भी एकस्वभावता का अनुभव होता है । इस प्रकार अनेकान्त पक्ष में पूर्वापरकालीन ग्राह्य वस्तु में और पूर्वापरकालीन ग्रहीता व्यक्ति में मूलरूप से अभेद और पर्यायरूप से भेद होने से ग्राह्य और ग्रहीता में 'स एवाऽहं तदेवेदं प्रत्यभिजाने' इस प्रकार की प्रत्यभिज्ञा का अनुभव होता है ।। ५९ ।।

परमतं दूषयति—

मूलम्—नित्यैकयोगतो व्यक्तिभेदेऽप्येषा न संगता ।
तदिहेति प्रसङ्गेन तदेवेदमयोगतः ॥ ६० ॥

व्यक्तिभेदेऽपि=बाल-युवादिशरीरभेदेऽपि नित्यैकयोगतः=नित्यैकशरीरत्वसामान्यसंबन्धात् एषा उक्तप्रत्यभिज्ञा न सङ्गता । कुतः ? इत्याह—भिन्नयोगाद् भूतले 'इह घटः' इतिवत् 'तदिह' इति प्रसङ्गेन, नित्यैकस्य तत्पदार्थत्वात्; 'तदेवेदमित्यस्य' इति शेषः, अयोगतः=अनुपपत्तेः, नित्या-ऽनित्ययोस्तादात्म्याभावात् । 'तज्जातीयस्य तादात्म्याद् नायोग' इति चेत् ? तथा सति 'तज्जातीयोऽयम्' इति स्यात्, न तु 'सोऽयम्' इति । कथं च क्वचिद् नित्यस्य संबन्धः, क्वचिच्च तद्वतस्तादात्म्यं भासते ? । 'अदृष्टभेदादि'ति चेत् ? तत एव तर्हि शबलवस्तु तदा तदा तथा तथा भासताम्, एकस्य वैचित्र्यकल्पनाया न्याय्यत्वात् 'धर्मी०' इति न्यायात् ॥ ६० ॥

[एक अनुगत नित्य सामान्य के द्वारा प्रत्यभिज्ञा की उपपत्ति असंगत]

६०वीं कारिका में एकान्तवादी के मत को सदोष दिखाया गया है । कारिका का अर्थ इस प्रकार है—एकान्तवादी का यह कहना ठीक नहीं है—'बाल' युवा और वृद्ध शरीर में भेद होने पर भी उनमें एक सामान्य सम्बन्ध है और वह है एक नित्य शरीरत्व सामान्य का होना । इस सम्बन्ध से ही उक्त भिन्न शरीरों में 'तदेव इदं' इस प्रकार एकत्व की प्रत्यभिज्ञा होती है क्योंकि इस मान्यता में शरीर और शरीरत्व इन दो भिन्न वस्तुओं का सम्बन्ध होने से जैसे भूतल और घट में 'इह घटः' इस प्रकार सम्बन्ध की बुद्धि होती है उसी प्रकार 'तदेव-इदं' के स्थान में 'तदिह' इस प्रतीति की आपत्ति होगी क्योंकि उक्त मान्यता में 'तत्' पद का अर्थ है नित्य एक । फलतः 'तदेव इदं' यह प्रत्यभिज्ञा न हो सकेगी क्योंकि तत् पदार्थ नित्य और इदं पदार्थ अनित्य में तादात्म्य का अभाव है । यदि यह कहा जाय कि 'इदं पदार्थ में तत् पदार्थ का तादात्म्य न होने पर भी तज्जातीय का तादात्म्य होने से उक्त प्रत्यभिज्ञा की अनुपपत्ति नहीं हो सकती' तो यह ठीक नहीं है क्योंकि तज्जातीय के तादात्म्य से प्रत्यभिज्ञा की उपपत्ति करने पर उसमें 'सोऽयं' इस आकार के बदले 'तज्जातीयोऽयं' इस आकार की आपत्ति होगी । इसके अतिरिक्त यह भी विचारणीय है कि क्यों कहीं पर नित्य के सम्बन्ध का भान होगा और कहीं पर नित्य सम्बन्धवान् के तादात्म्य का भान होगा ? और यदि इसकी उपपत्ति अदृश्य भेद से की जायगी तो उसकी अपेक्षा यह मानना ही उचित होगा कि-'अदृश्य भेद से भिन्न-भिन्न काल में भिन्न भिन्नरूप से शबल वस्तु यानी नित्य-अनित्य एक-अनेक रूप वस्तु का ही भान होता है,' क्योंकि विभिन्न धर्मों की कल्पना की अपेक्षा एक धर्मी में विभिन्न धर्मों की कल्पना न्यायसङ्गत होने से एक वस्तु में वैचित्र्य की कल्पना ही न्यायसङ्गत है ॥ ६० ॥

न चेयं भ्रान्तिकारणादप्युपपत्तुमर्हति परमत इत्याह—

मूलम्—सादृश्याऽज्ञानतो न्याय्या न च विभ्रमबलादपि ।
एतद्द्वयाग्रहे युक्तं न च सादृश्यकल्पनम् ॥६१॥

सादृश्याज्ञानतः=सादृश्यज्ञानाभावात् , **विभ्रमबलादपि**=भ्रमहेतुसामर्थ्यादपि नैषा क्षणिकेषु विभिन्नेष्वेकत्वप्रत्यभिज्ञा न्याय्या । हेतुं समर्थयति-**एतद्द्वयाग्रहे**=सदृशद्वयस्य क्षणिकज्ञानेन ग्रहीतुमशक्यत्वे न च सादृश्यकल्पनं युक्तम्, संयुक्तद्वयाऽग्रहे संयोगकल्पनवत् । न चाऽसंयुक्तभागद्वयग्रहेऽपि संयोगाऽकल्पनात् संयुक्तभागद्वयग्रहसामग्र्या संयोगकल्पनवत् सदृशद्वयग्रहसामग्रीत एव सादृश्यकल्पनोपपत्तिः, क्रमिकसदृशद्वयग्रहसामग्र्या एकस्या अनुपपत्तेः, अनन्वयिनिरंशज्ञानोपगमे संयुक्तभागद्वयग्रहसामग्र्या अप्यनुपपत्तेः । निरस्तश्च सौगताभिमतः सामग्रीपक्षः प्रागेवेति ॥ ६१ ॥

[क्षणिकपक्ष में सादृश्यज्ञान की असंगति]

६१वीं कारिका में यह बताया गया है कि एकान्तवाद में 'सोऽयं' यह प्रत्यभिज्ञा भ्रम के कारण द्वारा भी नहीं उत्पन्न हो सकती । कारिका का अर्थ इस प्रकार है-क्षणिक भिन्न पदार्थों में एकत्व की प्रत्यभिज्ञा भ्रमजनक कारणसामग्री से भी नहीं उत्पन्न हो सकती क्योंकि एकत्व भ्रम का सादृश्यज्ञानरूप कारण दो क्षणिक पदार्थों में नहीं हो सकता, क्योंकि क्षणिकज्ञान के द्वारा क्रम से उत्पन्न होने वाले दो सदृश पदार्थों का ग्रहण नहीं हो सकता । क्षणिक दो पदार्थों में काल्पनिक सादृश्य भी उसी प्रकार नहीं हो सकता जिस प्रकार दो संयुक्त द्रव्यों का ग्रहण न होने पर उनमें काल्पनिक संयोग नहीं होता ।

यदि यह कहा जाय कि-"संयुक्त भागद्वय के अज्ञान काल में उनमें काल्पनिक संयोग न होने पर भी संयुक्त भागद्वय के ज्ञान की सामग्री से उनमें संयोग की कल्पना होती है, उसी प्रकार सदृशद्वय का ज्ञान न होने पर भी उस ज्ञान की सामग्री से सादृश्य की कल्पना हो सकती है"-तो यह ठीक नहीं है क्योंकि क्रम से उत्पन्न होने वाले सदृशद्वय के ज्ञान की एक सामग्री भी दुर्घट है । साथ ही, ज्ञान अनन्वयी और निरंश होता है इस मान्यता में संयुक्त भागद्वय के ज्ञान की सामग्री भी अनुपपन्न है । अतः उक्त दृष्टान्त से सादृश्यकल्पना का उपपादन नहीं किया जा सकता । और मुख्य बात यह है कि सौगत को मान्य सामग्रीपक्ष का पहले ही (चौथे स्तबक में) निराकरण किया जा चुका है, अतः उस निराकृत पक्ष को लेकर सादृश्यकल्पना की उपपत्ति नहीं की जा सकती ।। ६१ ।।

उत्पद्यतां वा यथा कथञ्चिदेषा, तथापि बाधाभावाद् न भ्रान्तेत्याह—

मूलम्—**न च भ्रान्तापि सद्बाधाभावादेव कदाचन ।**
योगिप्रत्ययतद्भावे प्रमाणं नास्ति किञ्चन ॥ ६२ ॥

न च भ्रान्ताप्युक्तप्रत्यभिज्ञा **कदाचन**=कदाचिदपि, **सद्बाधाभावादेव**=सम्यग्बाधकप्रत्ययानवतारादेव । यद्धि भ्रान्तं ज्ञानं तत्र नियमतो बाधकावतारः, यथा शुक्तौ रजतज्ञाने । 'चेतनेऽचेतनभ्रमे नायं नियम' इति चेत् ? न, तत्रापि विशेषदर्शिनां बाधावतारात् । अत्रापि योगिनां बाधावतारोऽस्त्येवेत्याशङ्क्याह-योगिनां ज्ञानस्योक्तप्रत्यभिज्ञाबाधकत्वे नास्ति प्रमाणं किञ्चन, श्रद्धामात्रशरणत्वात् ॥ ६२ ॥

['यह वही है' ऐसी प्रत्यभिज्ञा अभ्रान्त है]

६२वीं कारिका में यह बताया गया है कि यदि उक्त प्रत्यभिज्ञा किसी प्रकार उत्पन्न भी हो जाय तो बाधक न होने से वह भ्रमात्मक नहीं हो सकती। कारिका का अर्थ इस प्रकार है–पूर्वापरकालीन घट आदि में होने वाली 'सोऽयं घटः' यह प्रत्यभिज्ञा भ्रमात्मक नहीं हो सकती क्योंकि उसके बाधक सम्यक् ज्ञान की उत्पत्ति कभी नहीं होती और वस्तुस्थिति यह है कि भ्रमात्मकज्ञान के बाद बाधक ज्ञान का उदय अवश्य होता है जैसा कि शुक्ति-सीप में रजतभ्रम के स्थल में देखा जाता है।

यह भी नहीं कहा जा सकता कि–"भ्रम के अनन्तर बाधक प्रत्यय की उत्पत्ति का नियम अचेतन में अचेतन के भ्रम के सम्बन्ध में हीं है किन्तु चेतन में अचेतन के भ्रम के सम्बन्ध में नहीं है क्योंकि 'अहं कृशः, अहं स्थूलः' आदि भ्रम जिसे होता है उसे 'नाऽहं कृशः, नाऽहं स्थूलः' इस प्रकार बाधक प्रत्यय नहीं होता"–तो यह ठीक नहीं है क्योंकि चेतन और अचेतन के भेद का ज्ञान जिसे होता है उसे चेतन में अचेतन भ्रम के बाधक प्रत्यय की उत्पत्ति होती ही है।

यदि यह कहा जाय कि–"पूर्वापरवर्त्ती घट आदि पदार्थों में 'सोऽयं' इस प्रकार की भ्रमात्मक प्रत्यभिज्ञा के बाद योगियों को उसके बाधक प्रत्यय की उत्पत्ति होती है" तो यह ठीक नहीं है क्योंकि उक्त प्रत्यभिज्ञा के बाधक योगी के प्रत्यक्ष के उत्पत्ति में श्रद्धा के अतिरिक्त कोई प्रमाण नहीं है और श्रद्धा स्वयं अप्रमाण है ॥ ६२ ॥

एतदेव प्रकटयति––

मूलम्— नाना योगी विजानाति नेत्यत्र का प्रमा ?।
देशनाया विनेयानुगुण्येनापि प्रवृत्तितः ॥ ६३ ॥

नाना=प्रतिक्षणभिन्नम् **योगी विजानाति**=साक्षात्करोति जगत्, **न त्वनाना**=अक्षणिकस्वभावम्, इत्यत्र **का प्रमा**–किं निश्चायकम् ?। "क्षणिकाः सर्वसंस्काराः" इति देशनैवात्रार्थे प्रमाणम्, यथादृष्टार्थस्य योगिना देशनादित्याशङ्क्याह–**देशनाया** उक्तलक्षणायाः **विनेयानुगुण्येनापि**–विनाप्यर्थं श्रोत्रनुग्रहार्थमपि **प्रवृत्तितः**=संभवात् ब्राह्मणभार्यामृतत्वदेशनावत् ॥ ६३ ॥

[योगिज्ञान से क्षणिकत्व की सिद्धि दुष्कर]

६३वीं कारिका में पूर्व कारिका के उक्त अंश की ही पुष्टि की गयी है। कारिका का अर्थ इस प्रकार है–'योगी को जगत् का प्रतिक्षण भिन्नवस्तुसमष्टि रूप में ही प्रत्यक्ष होता है और स्थिर वस्तु की समष्टिरूप में प्रत्यक्ष नहीं होता' इसमें कोई नियामक नहीं है। यदि यह कहा जाय कि–"सभी वस्तुएँ क्षणिक हैं–बुद्ध का यह कथन ही इस बात में प्रमाण है कि योगी को क्षणिक रूप में ही जगत् का साक्षात्कार होता है, क्योंकि वह वस्तु को जिस रूप में देखता है उसी रूप में उसका उपदेश करता है"–तो यह ठीक नहीं है क्योंकि उपदेशयोग्य व्यक्ति की मानसिक स्थिति के अनुसार उसके अनुग्रहार्थ वस्तु का अतद्रूप में भी उपदेश हो सकता है, यह ठीक उसी प्रकार है कि जैसे अपनी जीवित भार्या में आसक्त ब्राह्मण की संन्यास आश्रम में प्रवेश की इच्छा की पूर्ति के लिए, कोई उसे उसकी जीवित भार्या को मृत बताता है ॥६३॥

प्रत्यभिज्ञाभासव्यावृत्ततयाऽस्याः प्रामाण्यमुपपादयति—

मूलम्—या च लूनपुनर्जातनख-केश-तृणादिषु ।
इयं संलक्ष्यते सापि तदाभासा न सैव हि ॥ ६४ ॥

या च लूनपुनर्जातनख-केश-तृणादिषु इयं=प्रत्यभिज्ञा संलक्ष्यते='स एवायं नखः' 'स एवायं केशः' 'तदेवेदं तृणम्' इत्याद्युल्लिख्यते, सापि तदाभासा=प्रत्यभिज्ञाभासा, न सैव हि=न प्रत्यभिज्ञाप्रमैव हि, लूनपुनर्जातत्वप्रतिसंधाने तत्र बाधावतारात् , इयं च वैलक्षण्यात् प्रमैवेति भावः ॥ ६४ ॥

[सभी प्रत्यभिज्ञा भ्रमात्मक नहीं होती]

६४वीं कारिका में पूर्वापर पदार्थ में 'सोऽयं' इस प्रत्यभिज्ञा को 'भ्रमात्मक प्रत्यभिज्ञा' से विलक्षण बताते हुए उसके प्रामाण्य का उपपादन किया गया है। कारिका का अर्थ इस प्रकार है- कटने के बाद पुनः उत्पन्न नख, केश और तृण आदि में जो 'स एव अयं नखः - यह वही नख है' 'स एव अयं केशः--यह वही केश है' 'तदेव इदं तृणम्-यह वही तृण है' इस प्रकार की प्रत्यभिज्ञा होती है केवल वही भ्रमात्मक प्रत्यभिज्ञा है, क्योंकि नख आदि में कटने के अनन्तर पुनः उत्पन्न होने का ज्ञान होने पर 'यह पहला नख नहीं है किन्तु दूसरा नया नख है. यह पहला केश नहीं है किन्तु दूसरा नया केश है, तथा यह पहला तृण नहीं है किन्तु दूसरा नया तृण है' इस प्रकार के बाधक प्रत्यय का उदय होता रहता है। उसके दृष्टान्त से सभी प्रत्यभिज्ञा को भ्रमात्मक नहीं माना जा सकता। इस लिए पूर्वापर पदार्थ में होने वाली 'सोऽयं' यह प्रतिज्ञा, कटने के बाद पुनः उत्पन्न होने वाले नख आदि में होने वाली प्रत्यभिज्ञा से, विलक्षण होने के नाते प्रमा है ॥ ६४ ॥

नन्वेवमपि लूनपुनर्जातनख-केशादिषु प्रत्यभिज्ञावत् प्रकृतप्रत्यभिज्ञाप्यप्रमाणं भविष्यतीति संशयात् कथमर्थनिश्चयः? इत्यत आह—

मूलम्—प्रत्यक्षाभासभावेऽपि नाऽप्रमाणं यथैव हि ।
प्रत्यक्षं, तद्वदेवेयं प्रमाणमवगम्यताम् ॥ ६५ ॥

प्रत्यक्षाभासभावेऽपि='शुक्तौ रजतम्' इति मिथ्याप्रत्यक्षसद्भावेऽपि यथैव हि नाऽप्रमाणं प्रत्यक्षं='इदं रजतम्' इत्यादि समीचीनं प्रत्यक्षम् , तद्वदेवेयं=प्रत्यभिज्ञाभाससद्भावेऽपि प्रमाणमवगम्यताम्=प्रमात्वेन निर्णीयताम् , भ्रमप्रमासाधारणप्रत्यक्षत्वदर्शनजनितस्य प्रत्यक्ष इव तादृशप्रत्यभिज्ञात्वदर्शनजनितस्य प्रकृतप्रत्यभिज्ञायामपि प्रामाण्यसंशयस्याऽबाध्यत्वविशेषदर्शनेन निवर्तनादिति भावः ॥ ६५ ॥

[प्रत्यभिज्ञा में प्रामाण्यसंशय का निराकरण]

६५वीं कारिका में इस उक्ति का निराकरण किया गया है कि-'कटने के बाद पुनः उत्पन्न नख आदि में होने वाली प्रत्यभिज्ञा जैसे अप्रमाण होती है उसी प्रकार-पूर्वापर पदार्थ में होने वाली

प्रत्यभिज्ञा भी अप्रमाण हो सकती है इस प्रकार का संशय होने से विवादास्पद प्रत्यभिज्ञा के विषयभूत अर्थ का निश्चय नहीं हो सकता'। कारिका का अर्थ इस प्रकार है--शुक्तिसीप में रजत का प्रत्यक्षाभास होने पर भी जैसे वास्तव में रजत का यथार्थ प्रत्यक्ष, प्रत्यक्षत्व रूप से प्रत्यक्षाभास का समानधर्मी होने पर भी प्रत्यक्षाभास नहीं होता किन्तु यथार्थ ही होता है, ठीक उसी प्रकार कटने के बाद पुनः उत्पन्न नख आदि का प्रत्यभिज्ञाभास होने पर भी पूर्वापर पदार्थ में होने वाली 'सोऽयं' यह प्रत्यभिज्ञा, प्रत्यभिज्ञात्व रूप से प्रत्यभिज्ञाभास का समानधर्मा होने पर भी प्रत्यभिज्ञाभास नहीं हो सकती, अतः उसमें प्रामाण्य का अभ्युपगम ही न्यायसङ्गत है।

आशय यह है कि जैसे भ्रम और प्रमा दोनों में रहने वाले प्रत्यक्षत्व रूप साधारण धर्म के दर्शन से प्रमात्मक प्रत्यक्ष में प्रामाण्य का संशय उसमें उत्तरवर्ती प्रत्यय से अबाध्यत्वरूप विशेष धर्म के निश्चय से प्रतिबद्ध हो जाता है, ठीक उसी प्रकार भ्रम और प्रमा में रहने वाले प्रत्यभिज्ञात्वरूप साधारण धर्म के दर्शन से यथार्थ प्रत्यभिज्ञा में सम्भावित प्रामाण्य संशय भी 'उत्तरकालीन प्रत्यय से अबाध्यत्व' रूप विशेष धर्म के निश्चय से प्रतिबद्ध हो जाता है ॥ ६५ ॥

न चेयमतन्त्रसिद्धेत्याह—

मूलम्—मतिज्ञानविकल्पत्वान्न चानिष्टिरियं यतः।
एतद्बलात्ततः सिद्धं नित्यानित्यादि वस्तु नः ॥ ६६ ॥

यतो मतिज्ञानविकल्पत्वाद् न चेयमनिष्टिः=प्रत्यभिज्ञाङ्गीकारो नापसिद्धान्त इत्यर्थः, वासनाधारणाफलत्वेन तदुपगमात्, तत एतद्बलात्=प्रत्यभिज्ञान्यथानुपपत्तेः नः-अस्माकं नित्यानित्यादि वस्तु सिद्धम्, आदिना सदसदादिग्रहः। तदेवं सिद्धो वस्तुयाथात्म्यपरिच्छेदप्रवणः स्याद्वादः। एतदेकदेशालम्बना एव परस्परनिरपेक्षाः प्रवर्तन्तेऽपरिमिताः परसमयाः। तदुक्तम्—[सम्मति० ३/१४४]

* जावइआ वयणपहा तावइआ चेव हुंति णयवाया।
जावइआ णयवाया तावइआ चेव परसमया ॥ १ ॥ इति।

अस्यार्थः-यावन्तो वचनपथाः=वक्तृविकल्पहेतवोऽध्यवसायविशेषाः, तावन्तो नयवादाः=तज्जनितवक्तृविकल्पाः शब्दात्मकाः, सामान्यतो नैगमादिसप्तभेदोपग्रहेऽपि प्रतिव्यक्ति तदानन्त्यात्। यावन्तश्च नयवादास्तावन्त एव परसमयाः, निरपेक्षवक्तृविकल्पमात्रकल्पितत्वात् तेषाम्।

६६वीं कारिका में यह बताया गया है कि पूर्वापर पदार्थ में होने वाली 'सोऽयं' प्रत्यभिज्ञा जैनतन्त्र की दृष्टि में असिद्ध नहीं है। कारिका का अर्थ इस प्रकार है—यतः उक्त प्रत्यभिज्ञा मतिज्ञान का विकल्प होने से अनिष्ट नहीं है अर्थात् प्रत्यभिज्ञा का अभ्युपगम जैनतन्त्र की दृष्टि में अपसिद्धान्त नहीं है, क्योंकि वासना और धारणा के फलस्वरूप में प्रत्यभिज्ञा स्वीकृत है, इस लिये प्रत्यभिज्ञा की

*यावन्तो वचनपथास्तावन्त एव भवन्ति नयवादाः। यावन्तो नयवादास्तावन्त एव परसमयाः ॥

अन्यथानुपपत्ति रूप बल से वस्तु की नित्यानित्यरूपता और सद् असत् आदि रूपता जो जैन विद्वानों को मान्य है उसकी सिद्धि होती है। फलतः उक्त विचारों के निष्कर्ष रूप में वस्तु के यथार्थ स्वरूप का निर्णय करने में समर्थ स्याद्वाद सिद्ध होता है। इसके एक अंश को लेकर ही परस्पर निरपेक्ष अन्य अगणित सिद्धान्तों की प्रवृत्ति होती है।

यही बात सम्मति प्रकरण की 'जावइआ वयणपहा' आदि १४४वीं गाथा में कही गयी है। गाथा का अर्थ इस प्रकार है वचन के जितने पथ होते है अर्थात् जितने निश्चय वक्ता के विकल्प-- वैमत्य के हेतु होते हैं उतने ही नयवाद होते हैं. अर्थात् उतने ही वक्ता के तन्मूलक शब्दात्मक विकल्प होते हैं, क्योंकि नय के सामान्य रूप से नैगम-संग्रह आदि सात ही भेद का प्रतिपादन होने पर भी प्रतिव्यक्ति उनकी संख्या अनन्त होती है। और जितने नयवाद होते हैं उतने ही अन्य मत वादियों के सिद्धान्त होते हैं क्योंकि वे वक्ता के निरपेक्ष विकल्पमात्र से कल्पित होते हैं।

तथाहि—कापिलं दर्शनं निरपेक्षद्रव्यार्थिकनयविकल्पप्रसूतम्, बौद्धदर्शनं च निरपेक्ष-शुद्धपर्यायास्तिकनयविकल्पजनितम्, द्वाभ्यामपि च परस्परनिरपेक्षाभ्यां द्रव्यार्थिक-पर्यायार्थिकाभ्यां प्रणीतमौलूक्यदर्शनम्। तदाह—[सम्मति० ३।१४५-४६]

*जं काविलं दरिसणं एयं दव्वट्ठिअस्स वत्तव्वं।
सुद्धोअणतणयस्स उ परिसुद्धो पज्जवविअप्पो ॥ १ ॥
दोहि वि णएहि णीअं सत्थमुलूएण, तहवि मिच्छत्तं।
जं सविसयप्पहाणत्तणेण अन्नुन्नणिरवेक्खं ॥ २ ॥

एवमौपनिषददर्शनादीनामपि संग्रहनयादेः प्रादुर्भूतिर्भावनीया।

कपिल का सांख्यदर्शन निरपेक्षद्रव्यार्थिकनय के विकल्प से उद्गत है। बौद्धदर्शन निरपेक्ष शुद्ध पर्यायास्तिक नय के विकल्प से उत्पन्न है। और उलूक का वैशेषिक दर्शन परस्पर निरपेक्ष द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक नयों से प्रादुर्भूत है। यही बात सम्मतिप्रकरण की 'जं काविल' तथा 'दोहि वि' इत्यादि १४५, १४६वीं दो गाथाओं में कही गयी है जिनका अर्थ इस प्रकार है--कपिल का सांख्यदर्शन द्रव्यार्थिकनय का प्रतिपाद्य है और शुद्धोदन के पुत्र बुद्ध का दर्शन शुद्ध पर्यायास्तिक नय का विषय है। उलूक द्वारा रचित वैशेषिक दर्शन उक्त दोनों नयों से यद्यपि प्रादुर्भूत है तथापि वह भी मिथ्या है क्योंकि उसके मूलभूत दोनों नय अपने विषय का ही मुख्यरूप से प्रतिपादक होने से परस्पर निरपेक्ष है।

इसी प्रकार संग्रह नय आदि से वेदान्त दर्शन आदि की उत्पत्ति ज्ञातव्य है।

अत एव परदर्शनाभिमतेऽर्थे स्यात्कारमात्रेण स्वावधारणसंभवाद् भवति साम्यसंपत्तिः स्याद्वादिनः कर्मदोषादज्ञाननिमग्नं परं पश्यतः। परेषां तु स्वपक्षसिद्धावन्योन्यं कलहाय-

* यत्कापिलं दर्शनमेतद् द्रव्यार्थिकस्य वक्तव्यम्। शुद्धोदनतनयस्य तु परिशुद्धः पर्यवविकल्पः ॥ द्वाभ्यामपि नयाभ्यां नीतं शास्त्रमुलूकेन तथापि मिथ्यात्वम्। यत् स्वविषयप्रधानत्वेनान्योन्यनिरपेक्षम् ॥

मानानां यावज्जीवमपि वक्तृविकल्पानुपरमेन द्वेषानुच्छेदाद् नास्त्येव साम्यवार्तापि, इति संसारहेतुत्वात् तेषां ज्ञानमप्यज्ञानमिति परिभाषन्ते परमप्रावचनिकाः । ततो मिथ्यादर्शनगरलव्यथानिवृत्तये स्याद्वादामृतपानमेव विधेयं विवेकिना ॥ ६६ ॥

[स्याद्वाद से समभाव की सिद्धि]

उक्त रीति से अन्य दर्शनों के परस्पर निरपेक्ष नयों से प्रवृत्त होने के कारण ही उनके अभिमत अर्थ में 'यह तो अपना है' ऐसा केवल 'स्यात्' शब्द को जोड़ देने से उसका अवधारण सम्भव हो जाता है और इससे सर्व दर्शनों में स्याद्वादी की समदृष्टिता सिद्ध होती है, क्योंकि वह अन्य मतावलम्बी को कर्म-दोष से अज्ञान में निमग्न समझता है । किन्तु अन्य मतावलम्बी पंडित लोग तो अपने-अपने पक्ष की सिद्धि के लिए परस्पर में कलह करते रहते हैं अतः जीवनभर वक्ताओं के वैषम्य का उपरम न होने से उनके परस्पर द्वेष की निवृत्ति नहीं होती, अतः उनमें समभाव की कल्पना भी नहीं हो सकती । इसीलिए परम प्रवक्ता श्री जिनभद्र गणि क्षमाश्रमण ने अपने विशेषावश्यक भाष्य में अन्य मतावलम्बियों के ज्ञान को संसार का हेतु होने से अज्ञान कहा है । सारे विचारों का निष्कर्ष यह है कि मिथ्या दर्शन के विष की व्यथा को दूर करने के लिए विवेकीजन को स्याद्वाद के अमृत का ही पान करना चाहिए ।

व्यालाश्चेद् गरुडं प्रसर्पिगरलज्वाला जयेयुर्जवाद्
गृह्णीयुर्द्विरदाश्च यद्यविहठात् कण्ठेन कण्ठीरवम् ।
सूरं चेत् तिमिरोत्कराः स्थगयितुं व्यापारयेयुर्बलं
बध्नीयुर्बत दुर्नयाः प्रसृमराः स्याद्वादविद्यां तदा ॥१॥
नयाः परेषां पृथगेकदेशाः क्लेशाय नैवाऽऽर्हतशासनस्य ।
सप्तार्चिषः किं प्रसृताः स्फुलिङ्गा भवन्ति तस्यैव पराभवाय ॥२॥
एकश्छेकधिया न गम्यत इह न्यायेषु वाद्येषु यो ।
देशप्रेक्षिषु यश्च कश्चन रसः स्याद्वादविद्याश्रयः ।
यः प्रोन्मीलितमालतीपरिमलोद्गारः समुज्जृम्भते ।
स स्वैरं पिचुमन्दकन्दनिकरक्षोदाद् न मोदावहः ॥३॥
अभ्यास एकः प्रसरद्विवेकः स्याद्वादतत्त्वस्य परिच्छिदाप्यः ।
कषोपलाद् नैव परः परस्य निवेदयत्यत्र सुवर्णशुद्धिम् ॥४॥
माध्यस्थ्यमास्थाय परीक्षमाणाः स्वर्णं परे लक्षणमस्य किञ्चित् ।
जानन्ति तान्नन्तिमदुर्नयोत्था कुवासना द्राक् कुटिलीकरोति ॥५॥
अतो गुरूणां चरणार्चनेन कुवासनाविघ्नमपास्य शश्वत् ।
स्याद्वादचिन्तामणिलब्धिलुब्धः प्राज्ञः प्रवर्तेत यथोपदेशम् ॥६॥

यस्यासन् गुरवोऽत्र जीतविजयप्राज्ञाः प्रकृष्टाशयाः
भ्राजन्ते सनया नयादिविजयप्राज्ञाश्च विद्याप्रदाः ।
प्रेम्णां यस्य च सद्म पद्मविजयो जातः सुधीः सोदर-
स्तेन न्यायविशारदेन रचितस्तर्कोऽयमभ्यस्यताम् ॥७॥

इति पण्डितश्रीपद्मविजयसोदरन्यायविशारदपण्डितयशोविजयविरचितायां स्याद्वादकल्पलताभिधानायां शास्त्रवार्तासमुच्चयटीकायां सप्तमः स्तबकः ।

[स्याद्वादमत का उपसंहार]

शास्त्रवार्त्ता के व्याख्याकार विद्वद्वर्य यशोविजयजी ने प्रस्तुत स्तबक का उपसंहार करते हुए 'व्यालाश्चेद०' से लेकर 'यथोपदेशं' पर्यन्त के छः पद्यों से निम्न बातें कही हैं । (१) पहले पद्य में उनका कथन यह है कि विष की ज्वाला का प्रसार करने वाला सर्प शीघ्रता से गरुड़ के ऊपर विजय प्राप्त कर ले, और यदि हाथी हठात् सिंह को अपने गले में बांध ले एवं अन्धकारसमूह सूर्य को छिपा लेने के लिए अपने बल का प्रयोग करने लगे तो कदाचित् इतस्ततः फैले हुए दुर्नय स्याद्वादविद्या के विरोधी हो सकते हैं—जो एक असम्भव सी बात है । (२) दूसरे पद्य में उनका वक्तव्य यह है कि अन्य मतालम्बियों के नय स्याद्वाद के एक-एक अंश हैं अतः वे जैन शासन के लिए क्लेशकारक नहीं हो सकते, क्योंकि क्या यह सम्भव है कि सातज्वालाओं से जटिल अग्नि से हो इधर-उधर फैले अग्नि के छोटे-छोटे कण, उसी अग्नि का पराभव कर सकते हैं ? (३) तीसरे पद्य में उनका कथन यह है कि स्याद्वाद विद्या में जो एक कोई विलक्षण (अद्भुत) रस है वह एकदेशदर्शी बाह्य मतों में सामान्य घरेलू बुद्धि वाले को प्राप्य नहीं है । स्पष्ट है कि पूर्ण विकसित मालती लता के सुगन्ध का जो हर्षाधायक उद्गार अप्रतिहत रूप से प्रकट होता है वह पिचुमन्द–नीमवृक्ष के कन्द समूह के चूर्ण से नहीं होता । (४) चौथे पद्य में उनका कहना है कि स्याद्वाद तत्त्व को समझने के इच्छुक व्यक्ति को विवेकबहुल एकमात्र अभ्यास का ही आश्रय लेना चाहिए यदि वह स्वयं ऐसा नहीं करता तो उसे स्याद्वाद तत्त्व की उपलब्धि नहीं हो सकती, क्योंकि यह स्पष्ट है कि एक व्यक्ति सोना परखने वाले पत्थर पर सोना को कसकर दूसरे को उसकी शुद्धता नहीं बताता किन्तु सोने की शुद्धता जानने के लिए मनुष्य को स्वयं निकष पर सोने को कसना पड़ता है । (५) पांचवें पद्य में व्याख्याकार का कहना है—पलभर मध्यस्थता का अवलम्बन कर परीक्षा करने वाले अन्य मतावलम्बी स्याद्वाद का यत्किञ्चित् लक्षण जानते तो हैं किंतु अन्तिम दुर्नय से उत्पन्न मलिन वासना उन्हें कुटिल बना देती है । (६) छट्ठे पद्य में उन्होंने यह सम्मति दी है कि मलिन वासना के विघ्न का नाश गुरुजनों के चरणार्चन से ही होता है, अतः जिस प्राज्ञ पुरुष को स्याद्वाद चिन्तामणि के लाभ की चाह है उसे सदैव गुरु उपदेश के अनुसार स्याद्वाद तत्त्व को समझने के लिए प्रवृत्त होना चाहिए ।

यस्यासन्० इस श्लोक का अनुवाद पहले हो चुका है ।

पंडित श्रीपद्मविजय के सहोदर न्यायविशारद पंडितयशोविजय विरचित
स्याद्वादकल्पलतानामक शास्त्रवार्त्तासमुच्चय की व्याख्या में

सातवाँ स्तबक संपूर्ण

परिशिष्ट १–सप्तमस्तबकमूलश्लोक–अकारादिक्रमः

पृष्ठांक	श्लोकांश:
२३२	अतस्तद्भेद एवेति
५४	अत्राप्यभिदधत्यन्ये
१७८	अनेकान्तत एवात:
२	अन्ये त्वाहुरनाद्येव
२०६	अन्योन्यमिति यद्भेदं
२०३	अन्वयो व्यतिरेकश्च
२३४	इत्थं चालोचनं चेद
९६	इष्यते च परैर्मोहात्
५४-६६	उत्पादोऽभूतभवनं
९६	एकत्रैवैकदैवैत-
२३८	एकान्तैक्ये न नाना यद्
१४५	एतेन सर्वमेवेति
२२६	एतेनैतत्प्रतिक्षिप्तं
२१८	एवं न्यायाऽविरुद्धेऽस्मिन्
२१५	एवं ह्युभयदोषादि
५६	किंच स्याद्वादिनो नैव
२३२	किंचिन्निवर्तते ऽवश्यं
२२	घटमौलिसुवर्णार्थी
२२८	जात्यन्तरात्मकं चैनं
२२१	,, के चास्मि-
२१९	ततोऽसत्तत्तथा न्याया-
६७	तथैतदुभयाधार-
९८	तदित्थंभूतमेवेति
५७	तथाहुर्मुकुटोत्पादो
२३२	तस्यैति योगसामर्थ्याद्
१९०	तस्यैव च तथाभावे
२३३	,, तु ,,
२२६	द्रव्य-पर्यायियोर्भेदे
२३६	न च भेदोऽपि बाधायै
५७	न चोत्पादव्ययौ न स्तो
५८	न नास्ति ध्रौव्यमप्येव
११७	न मानं मानमेवेति
१४१	न स्वसत्त्वं पराऽसत्त्वं
२३७	न युज्यते च सन्न्यायात्
३२३	नाऽभेदो भेदरहितो
२३३	नानुवृत्ति-निवृत्तिभ्यां
२०५	नान्योन्यव्याप्तिरेकान्त
२२७	निवर्तते च पर्यायो
२१८	न्यायात् खलु विरोधो य:
२७	पयोव्रतो न दध्यत्ति
१४७	परिकल्पितमेत-
२२८	प्रतिक्षिप्तं च यद्भेदा-
२३६	प्रत्यभिज्ञाबलाच्चैत-
९७	भावमात्रं तदिष्टं चेत्
१२३	मानं चेन्मानमेवेति
२१९	मृद्द्रव्यं यन्न पिण्डादि
२२४	यतश्च तत्प्रमाणेन
२२७	यन्निवृत्तौ न यस्येह
१९१	युवैव न च वृद्धोऽपि
२२४	येनाकारेण भेद: किं
१९०	लज्जते बाल्यचरितै
११३	वासनाहेतुकं यच्च
५५	शोक-प्रमोद-माध्यस्थ्य
११३	सदाभावेतरापत्ति
१८८	संसाराद् विप्रमुक्तो
१८६	संसारी चेत् स एवेति
५६	संसार्यपि न संसारी

❖

परिशिष्ट २–सप्तमस्तवके उद्धृतसाक्षिपाठांशानामकारादिक्रमः

पृष्ठांक:	पाठांश:
१६९	अत्थतरभूएहि य [सम्मति-३६]
८६	अनादिनिधनं ब्रह्म [वाक्यपदीय]
९३	अनुविद्धैकरूपत्वाद् [,,]
११४	अन्यच्चतन्त्रविधं चेति [अने. ज. प.]
८९	अविभागा तु पश्यन्ती [वाक्यपदीय]
१७१	आइट्ठोऽसब्भावे [सम्मति० ३६]
१०७	उज्जुसुअस्स एगे [अनु. द्वार सू. १४]
६५	उप्पज्जन्ति वयंति अ [सम्मति १६]
३	उप्पाओ दुवियप्पो [सम्मति. ३-१२६]
१९८	कुम्भो ण जीवदवियं [सम्मति. ३/२१]
८८	केवल बुद्ध्युपादाना-[वाक्यपदीय]
१६८	गइपरिणयं गई चेव (सम्मति. ३-२९]
२२६	गुडो हि कफहेतुः [वी. स्तो. ८-६]
१९८	गुणणिव्वत्तिअसण्णा [सम्मति. ३-३०]
२०४	गुणसद्दमन्तरेण वि [,, ३-१४]
१०५	जत्थ य जं जाणिज्जा [अनु. द्वार]
१०१	,, वि य ण याणिज्जा [वि.आ.भा २६१८]
२०४	जं च पुण अरहया [सम्मति-३/११]
२०४	जंपंति अत्थि समये [,, ३/१३]
२०४	जह दससु दसगुणम्मि [,, ३/१५]
१०९	जीवो गुणपडिवन्नो [आ० नि०]
१९२	ण य होइ जोव्वणत्थो [सम्मति १-४४]
१०३	णामं आवकहियं होज्जा [अनु. द्वार]
११०	णामाइतियं दव्वट्ठिअस्स [वि आ.भा ७५]
१९६	णिअमेण सद्दहंतो [सम्मति ३-२८]
६३	णिययवयणिज्जसच्चा [,, १-२८]
५६	तम्हा सव्वे वि णया [,, १-२१]
२८	दव्वं पज्जवविउअं [,, १-१२]
२५	दव्वट्ठिआए सिय सासया [,,]
६३	दव्वट्ठिउत्ति तम्हा [,, १- ६]
६५	दव्वट्ठिअवत्तव्व [,, १-१०]
१८४	,, ,, [,, १५४]
२०४	दूरे ता अण्णत्तं [,, ३-९]
२०४	दो पुण नया [,, ३-१०]
९१	न च स्यात् प्रत्ययो लोके [समन्तभद्र]
४०	न शाबलेयाद् गोबुद्धि [श्लो.वा.वन.४५]
८७	न सोऽस्ति प्रत्ययो० [वाक्य.-१२४]
१११	नामं ठवणा दविए [सम्मति-५]
९९	नाम-स्थापना० [त. सू १-५]
३५	नाऽऽयाति न च तत्रासा–[प्र. वा. ३-१५२]
४०	नैकरूपा मतिर्गोत्वे [श्लो.वा.वन. ४८]
२५	नैकान्तः सर्वभावानां [ ]
१९२	पडिपुन्नजोव्वणगुणो [सम्मति १-४३]
२०४	परिगमणं पज्जाओ [,, ३-१३]
४०	पिण्डभेदेषु गोबुद्धि [श्लो. वा. वन. ४४]
१७६	पित्रादिविषयेऽपेक्षा [मंडनमिश्र]
४०	प्रत्येकसमवेताऽपि [श्लो. वा. वन. ४७]
४०	,, ,, र्थं [,, ,, ,, ४६]
८४	बहुआण एगसद्दे [सम्मति ३-१३७]
९१	बोधात्मता चेच्छब्दस्य [समन्तभद्र]
२५	भयणा वि हु भइयव्वा [सम्मति ३-१२४]
१०३-१११	भावं चिय सद्दणया [वि.आ.भा. २८४७]
१४१	भिन्ननिमित्तलक्षणओ [भाषा रह. २९]
१४४	मालादौ च महत्त्वादि [प्र. वा. २/१५७]
३५	यत्रासौ वर्त्तते भावः [प्र. वा. ३-१५२]
१०१	यद्यप्येकस्मिन् न० [तत्त्वार्थ टीका]
११४	यतः स्वभावतो जातं [अने. ज. प.]
२५	रयणप्पहा सिय सासया [आगम]
२०४	रूव-रस-गंध-फासा [सम्मति ३-८]
१७१	सब्भावाऽसब्भावे [,, १-४०]
१७०	सब्भावे आइट्ठो [,, १-३८]
९	साभाविओ वि समुदयकउ [स. ३-१३०]
१५२	सोऽप्रयुक्तोऽपि वा तज्ज्ञैः [ ]
१५२	वाक्येऽवधारणं तावद् [ ]
८७	वाग्रूपता चेद् व्युत्क्रामेद् [वाक्य. १२५]
१५	विगमस्स वि एस विही [स. ३-१३१]

❀ शुद्धिपत्रक ❀

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
१	७	चञ्चत्कता	चञ्चत्का
४	३	जाता कि	जाता है कि
१०	७	निरवयत्व	निरवयवत्व
१४	९	ऊर्वता	ऊर्ध्वता
१४	१५	द्रव्यभावा	द्रव्याभाव
१५	२०	नाश का	नाश के
१८	३२	शिराऽ	शिरोऽ
१९	२२	परिणाम	परिणम
२०	३३	तलो	तको
२७	४	आकार की उत्पाद और विनाश	उत्पाद और विनाश आकार की
२७	३०	पय:	न पय:
३६	१८	यथा,–प्राप्त	–यथाप्राप्त
४०	१२	नापि	ऽनापि
४१	३	कर यदि	कर
४२	२२	गोत्व । अश्वत्व	गोत्व-अश्वत्व
४३	१८	गत्वाभाव	गोत्वाभाव
४४	१४	भिद्ध	भिन्न
४८	३३	द्विथपृथक्त्व	द्विपृथक्त्व
५५	१७	नामित्त	नानिमित्त
६१	५	प्रामाण्यवाद्	प्रामाण्यवद्
६७	१५	बिना	बिना उसका
६८	२६	एकत्वाध्या	एकत्वाध्यव
७१	११	णात्मामना	णामात्मना
७७	२५	वाच्छिन्नत्व	वच्छिन्नत्व
७८	३०	अवच्छेद	अवच्छेदक
८०	८	पर पर	पर
८३	१५	परिणाम	परमाणु
८३	१७	घटकपरणाम	घटकपरमाणु
८८	७	प्राज्ञ	प्राण
९३	१२	शब्द–"ब्रह्म	–"शब्दब्रह्म
९७	३०	प्रियस्य	प्रियस्य न
९९	१२	गतत्व	गतत्व
१०७	८	पर्यायार्थि	पर्यायार्थिक
११५	१	व्यो-त्पादा	व्ययोत्पादा
११५	२३	जा कहा जा	जा
१२३	१२	आनध्यवसाय	अनध्यवसाय
१२७	११	यहा	कहा
१३०	३१	मद्भिन्न	मदभिन्न
१३१	१५	यूह्यम्' ।	यूह्यम् ।
१३१	१७	का दो	के दो
१३३	२८	अवथा	अथवा
१३६	२१	अन्यत्व	अन्यत्व
१३७	११	उत:	अत:
१४०	१४	नलं	नीलं
१४३	२१	सापेक्षा	सापेक्ष
१५५	४	एवकाल	एककाल
१५५	१	इत के	इस के
१६७	३३	वाच्य:,	वाच्या,
१७१	१७	अयक्तव्यश्च	अवक्तव्यश्च
१७२	३३	ततीय भग	तृतीय भंग
१७४	२	अभेदोपचारश्च	अभेदोपचारश्च
१७४	१२	कर	न कर
१७४	३०	पर्यापार्थिक	पर्यायार्थिक
१८७	२३	अमुक्त	मुक्त
१९२	१५	साधनों से	साधनों के
१९२	२१	विरोध	विरुद्ध
१९३	१६	प्रास्पद	आस्पद
१९८	१३	प्रचन	पचन
२००	३४	क्योंकि	क्योंकि वह
२०४	२७	पर्यायथास्तिको	पर्यायास्तिको
२११	१६	रसिद्ध	रसिद्धि
२११	२५	होने	न होने
२१३	४	द्वित्वव्यो:	द्वित्वयो:
२१९	४	विर्वाजतं	विवर्जितं
२१९	७	ऽप्रसिद्धि	ऽप्रसिद्धि:
२१९	२१	अननुभव	अनुभव
२२१	३४	वित्तस्य	विवित्तस्य
२२३	२७	बोध न	का बोध न
२२४	४	सिद्धि	सिद्ध
२२४	१०	योग: ?	योग: ।
२२४	१६	में कोई	में